चाणक्यसूत्राणि

[अर्थ और विवरण सहित]

महामति आर्य विष्णुगुप्त उपनाम चाणक्य (चणकात्मज)
कौटल्य (कुटलगोत्रिय)

★

भाषान्तरकार तथा व्याख्याकार
स्व० श्री रामावतार विद्याभास्कर
बुद्धिसेवाश्रम, रतनगढ (जि. बिजनौर)

स्वाध्याय-मंडल, पारडी

१९४३

मूल्य १०) रु.

भूमिका

आर्य चाणक्यने भारतसन्तानको ज्ञानदान करनेके लिये जिन दिनों भारतमें जन्म लिया था, संयोगसे उन्हीं दिनों यूनानके राजसिंहासनको कलंकित करनेवाले विश्वनिन्दित प्रसिद्ध आततायी सिकन्दरने भारतपर आक्रमण किया था। यह आक्रमण भारतके लिये वरदान सिद्ध हुआ। (१) आर्य चाणक्यने पश्चिमोत्तर भारतकी अश्वकजातिके नेता वीरयुवक चन्द्रगुप्तको कुख्यात भीषण सिकन्दरके विरुद्ध समराभियानके लिये प्रेरणा देकर उसकी क्षात्रशक्तिसे उसे विताडित कराकर देशसे बाहर धकेल दिया था, (२) सिकन्दरके राज्यलोभको उत्तेजित करनेवाले भारतीय देशद्रोहियोंको नामशेष बना डाला था, (३) विलासव्यसनासक्त राजाओंके भोगक्षेत्र बने हुए शतधा खण्डित परस्पर कलहायमान गणराज्योंमें विभक्त भारतको एक सुसंगठित आदर्श साम्राज्यका रूप देकर, चन्द्रगुप्तको उसका एकछत्र सम्राट् बनाकर संसारके समक्ष सूर्यके समान तेजस्वी सर्वश्रेष्ठ आदर्श राजचरित्रका जीवित उदाहरण उपस्थित किया था (४) और अन्तमें चन्द्रगुप्तके शासनके सौकर्य तथा सौष्ठवके लिये शासनविधानके रूपमें राजनैतिक साहित्यका शिरोमणि कौटलीय अर्थशास्त्र प्रस्तुत करके उससे साहित्य जगत्में अमरता प्राप्त की।

मानवका देहधारण तब ही सार्थक होता है या यों कहें कि मानवके देहधारणकी यही सार्थकता है कि उसका व्यक्तित्व उसे जन्म देने, पालने,

पोसनेवाले समाजके हितमें काम आये और इसीमें विलीन हो चुका हो। मानव अपने हितको समाजके हितसे अलग समझता हो और व्यक्तिगत सुखसुविधामें जीवन व्यय कर रहा हो इसमें उसका कदापि हित नहीं है। मूढ मानव अपनी भूलसे अपने हितको अपने समाजके हितसे अलग बनाये रखनेके शतधा प्रयत्न करता तो है, परन्तु उसकी इस दुष्प्रवृत्तिसे उसका व्यक्तिगत हित भी नष्ट हो जाता उसका निश्चित मानसिक अकल्याण होता है और परिणामस्वरूप उसकी मूल्यकता मानवता भी लुप्त हो जाती है। अपने हितको समाजके हितसे अलग रखना मूढ मनुष्यकी आपातमनोरम स्वाहितविरोधी प्रवृत्ति है। मानवके व्यक्तित्वका समाजहितसे विच्छिन्न होजाना उसे अनिवार्य रूपसे समाजद्रोही, आत्मघाती असुर बनाकर छोडता है। जीवनकी धन्यता तो वे ही लोग पा सकते हैं जो समाजके हितमें आत्मसमर्पण करके रहनेवाले ही जीवनकी धन्यता पा सकते हैं। व्यक्ति तथा समाजके हितका द्वैविध्य (अलगाव) ही मानव समाजका आत्मघात है। सुशिक्षा ही समाजको इस आत्मघाती रोगसे बचानेवाली एकमात्र रामबाण चिकित्सा है। देहका यह रोग सत्साहित्यके द्वारा सुशिक्षा से ही मिटाया जा सकता है। आर्य चाणक्यने राष्ट्रको सुशिक्षित करने ही के लिये अपना राजनैतिक साहित्य रचा है। सम्पूर्ण मानव समाजको सामाजिक सुशिक्षा देनेवाले भारतके राजनैतिक गुरु आर्य चाणक्यको उसकी महती राजनैतिक सेवाओंके कारण राजनैतिक जगद्गुरुका उच्चासन स्वयमेव प्राप्त हो गया है।

> नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते वने।
> विक्रमार्जितसत्वस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥

सिंहका वनमें कोई राज्याभिषेक नहीं करता और कोई उसे राज्यदीक्षा नहीं देता। अपने लिये अपने ही भुजबलसे सम्मानित पदका उपार्जन करनेवाला सिंह स्वयमेव ' मृगेन्द्र ' बन बैठता है। यह लोकोक्ति चाणक्य जैसे ही महापुरुषोंके लिये बनी है।

कौटल्यगोत्रिय ऋषि चणकके पुत्र आदर्श ब्राह्मण विष्णुगुप्तने ढाई सहस्र वर्ष पूर्व भारतके राजाओंको राजनीति सिखानेके लिये अर्थशास्त्र लघु-चाणक्य, वृद्ध चाणक्य, चाणक्यनीति, चाणक्यराजनीतिशास्त्र आदि ग्रन्थोंके साथ व्याख्यायमान चाणक्यसूत्रोंका भी निर्माण किया था।

राजाओंको राजनीतिकी शिक्षा देना वास्तवमें राजा बनानेवाले समाजको ही राजनीति सिखाना है। समाजको राजनीति सिखाना वास्तवमें समाजके अविभाज्य अंगों, समाजकी मूलभूत प्रथम इकाइयों अर्थात् व्यक्तियोंको ही राजनीति सिखाना है। राजनीतिमें ' सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः ' के अनुसार मानवसन्तानको मनुष्यतासे समृद्ध करनेवाले समस्त शास्त्र तथा समस्त धर्म स्वभावसे सम्मिलित हैं, राजनीतिपर ही समस्त धर्मोंके पालनका यही उत्तरदायित्व है।

> आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः। तस्य नीति दण्डनीतिः; अलब्धलाभार्था, लब्धपरिरक्षणी, रक्षित-विवर्धनी, वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च। तस्यामायत्ता लोकयात्रा तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्।
>
> (कौटलीय अर्थशास्त्र १-४)

दण्डनीतिका स्वरूप यही है कि आन्वीक्षिकी त्रयी तथा वार्ता तीनोंके योगक्षेम दण्ड (अर्थात् सुव्यवस्थित राजशक्ति) से ही सुरक्षित रहते हैं। संसार दण्डमय होनेपर ही आन्वीक्षिकी (आत्मविद्या) आदिमें प्रवृत्त होता है; नहीं तो नहीं। उस दण्डनीतिका उपदेष्टा शास्त्र भी दण्डनीति कहाता है। दण्डनीतिके अप्राप्तकी प्राप्ति, प्राप्तकी रक्षा, रक्षितका वर्धन तथा वर्धितका लोककल्याणी कार्योंमें विनियोग नामक चार फल हैं। लोगोंकी जीवनयात्रा दण्डनीतिकी सुरक्षा (सुप्रयोग) पर ही निर्भर होती है। इसीलिये राजनीति समस्त धर्मोंका मूल है। इस कारण राजनीति-सम्पन्न लोग सदा ही अन्याय अत्याचारके विरुद्ध दण्डप्रयोगके लिये उद्यत रहें।

क्योंकि राजनीति ही समस्त शास्त्रों तथा धर्मोंकी सुरक्षाका सुनिश्चित समाश्वासन है, इसीलिये ज्ञानकर्म समुच्चयवादी आर्य चाणक्यने अपने राष्ट्र को राजनीति सिखाना ही अपने जीवनका मुख्य लक्ष्य बना लिया था। आर्य चाणक्यकी राजनीतिका सारांश समाजको इस प्रकार सुशिक्षित करना है कि वह अपनी राजशक्तिको केवल उन लोगोंके हाथमें रहने देनेका सुनिश्चित प्रबन्ध करके रक्खे, जो अपने आपको समाजहितके सुदृढ बन्धनोंमें बांध रखनेमें न केवल हर्ष और गौरव अनुभव करते हों प्रत्युत इसीको अपना अहोभाग्य भी माने।

समाज ही व्यक्तिका विकासक्षेत्र है। जहां समाज नहीं है वहां व्यक्तियोंके पास सामाजिक कर्तव्य नहीं हैं। समाजहीन लोग क्षुद्र स्वार्थोंमें उलझे पडे रहते हैं। असामाजिक व्यक्तियोंके प्रमादसे उनके समाजके हितको अनधिकारी लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंका साधन बनानेका अवसर पा लेते हैं और परिणामस्वरूप लोगोंके व्यक्तिगत स्वार्थोंकी भी अकथनीय दुर्गति होती है।

समाजचिन्ताके प्रसंगमें यह जानना अत्यावश्यक है कि ग्राम ही समाजके निर्माता हैं, नगर नहीं। नगर तो समाजहीन (परस्पर सम्बन्धहीन) संस्था हैं। नगरोंका निर्माण भोगी राजाओंके स्वार्थोंसे हुआ है और होता है। भोगलक्ष्यवाली राज्यसंस्थायें नगरोंको तो बढावा देती चली जाती हैं और समाजरचनाके स्वाभाविक क्षेत्र ग्रामोंकी ओर दुर्लक्ष्य करके उन्हें उजडने और घटते चले जानेके लिये विवश करके रखती हैं। नगरोंको समाज न कहकर 'समज' कहा जा सकता है। समाज केवल उस मानव-समुदायका नाम है जो सम्पद्विपद्में परस्पर सहानुभूति रखता है। एक दूसरेके विपन्मोक्षमें सहायक बननेका सत्साहस न करनेवाले असहाय पशुओंका साहसी मानवसमूह समाज कहलानेका अधिकारी नहीं है। उसे तो पशुसमूहके समान 'समज' कहना ही उपयुक्त है।

ग्राम ही सामाजिकताकी स्वाभाविक जन्मभूमि है। सामाजिकताकी स्वाभाविक जन्मभूमि ग्रामोंमें उत्पन्न होनेवाला मानवसमाज ही समाज-

हितके बन्धनोंमें आबद्ध रह सकता है। ग्रामोंके इस बन्धनका टूटना या टूटने देना, शिथिल होजाना या शिथिल हो जाने देना अस्वाभाविक उधारी स्थिति है। ग्रामोंमें भिन्न भिन्न जातियों और सम्प्रदायोंके लोगोंका कौटुम्बिक सम्बन्धों जैसा परस्पर पवित्र घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इसीलिये ग्रामवासी लोग एक दूसरेको दादा-दादी चाचा-चाची ताऊ-ताई बहन-भाई आदि कौटुम्बिक उपाधियोंसे ही सम्बोधित करते हैं। यह सामाजिकता शहरोंमें कहां है? ग्रामवासी लोग आकस्मिक विपत्तियोंमें नगरवासियोंके समान आंख बन्द करके न बैठे रहकर परस्परके सहायक बननेके लिये एकत्रित होजाते हैं।

ग्रामवासी लोग एक दूसरेका विपद्वारण करनेमें अपने प्राण तक होम देते हैं। यही तो ग्रामोंकी सामाजिकता है। संकेतमात्र पर्याप्त है। नगरवासी सामाजिक बन्धनसे पृथक् रहते हैं। वे केवल व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थोंसे पूर्णरूपसे अभिभूत रहते हैं। उनके हृदयोंमें समाजहिताकांक्षा नामवाली कोई स्थिति नहीं होती। इनकी समाजहिताकांक्षा इनके नेता बन जाने तक सीमित रहती है। सामाजिक हितोंकी चिन्ता न रखना मानवका असाधारण अपराध है। इस रूपमें अपराध है कि सामाजिक हितोंकी चिन्ता न रखना ही तो समाजका अहितचिन्तक शत्रु बन जाना है। समाजकी उपेक्षा ही समाजसे शत्रुता है। हितकर कर्तव्यसे विमुख रहना ही तो अहित करना है। नगरवासी लोग समाजचिन्ताहीन होनेके रूपमें समाजके अहितचिन्तक शत्रु होते हैं।

आज जो भारतमें राजशक्ति हथियानेवाले दलोंकी बाढ आई है, वह मिथ्या महत्वाकांक्षी उज्ज्वलवेषी (सफेद पोश) नगरवासियोंके ही तो मनकी उपज है। राजशक्ति हथियानेवाले दलोंकी बाढ नगरवासियोंकी असामाजिक मनोवृत्तिका ही तो परिणाम है। शहरी लोगोंकी असामाजिक मनोवृत्तिने ही राजशक्ति हथियानेके इच्छुक दलोंकी सृष्टि की है। यही कारण है कि समस्त राजनैतिक संस्थाएं नगरोंमेंसे ही उपजती हैं और

शहरी लोग ही इनके नेता होते हैं। इनका परिणाम यह हुआ है कि ग्रामोंसे प्राप्त करोंसे नगर पाले और बढाये जाते हैं। नगरवालोंके प्रभुतालोभका ही परिणाम आजके द्विखंडित भारतको भोगना पड रहा है। आर्य चाणक्यकी नीतिको जो सर्वमान्यता मिली है वह समाजकी राजशक्तिको प्रभुतालोभी हाथोंमें न रहने देनेकी शिक्षा प्रचलित करना चाहनेसे ही मिली है। चाणक्य प्रभुतालोभियोंका प्रबल शत्रु था। इसी कारण उसने पर्वतकको नष्ट किया और चन्द्रगुप्तको राज्याधिकार सौंपा। राजशक्तिका नगरहितैषी न होकर समाजहितैषी होना अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। राजशक्तिके समाजहितैषी होनेपर ही समाजकी शान्तिकी सुरक्षितताका आश्वासन मिल सकता है।

यदि राजशक्ति समाजहितका ध्यान न रखकर प्रजाके धनका नगरसंवर्धनमें अपव्यय करती है तो वह समाजके सिरपर चढ बैठा हुआ एक अपसारणीय बोझ बन जाती है। इस प्रकारकी नगरपक्षपातिनी राजशक्ति समाजकी शान्तिको सुरक्षित नहीं रख सकती। सब मानते हैं कि राजशक्तिको समाजसेविका बनकर रहना चाहिये। जो राजशक्ति समाज तथा उसकी धनशक्तिको अपनी मिथ्या प्रतिष्ठा और बाह्याडंबर (दिखावा) पूरा करनेके काममें लाने लगती है, उसका सर्वभक्षी पेट सुरसाके पेटके समान बढता चला जाता है। वह भस्मक रोगीके समान राष्ट्रके समस्त खाद्यांशको स्वयं खाकर राष्ट्रको भूखा, नंगा, निर्बल बनाये रखती है। इस रूपमें वह समाजकी शत्रु होती है। समाजको बाह्य तथा आभ्यन्तरिक दोनों प्रकारके शत्रुओंसे सुरक्षित रखना राजशक्तिका महान् उत्तरदायित्व है।

जो राजशक्ति राष्ट्रको दोनों प्रकारके शत्रुओंसे सुरक्षित रखनेका उत्तरदायित्व पूरा नहीं करती, वह निश्चय ही राजशक्ति बने रहने योग्य नहीं है। ऐसी कर्तव्यहीन राजशक्तिके सिर पर आत्मसुधारका कर्तव्य लाद देना चाहिये। परन्तु ऐसा करना समाजके अतिरिक्त अन्य किसीका भी कर्तव्य नहीं है। राजशक्ति पर आत्मसुधारका कर्तव्य लादना जटिल कर्तव्य है।

राजशक्तिके सिरपर डाला जानेवाला इस प्रकारका दबाव वास्तवमें राज्य-संस्थाके निर्माता समाजपर ही आत्मसुधारका नैतिक दबाव डालना होता है। जो स्वयं नहीं सुधरा वह राज्यसंस्थाको कैसे सुधार सकता है ? कोई भी समाज आत्मसुधार किये बिना अपनी राजशक्तिको कदापि नहीं सुधार सकता। संशुद्ध उद्‌बुद्ध समाजका ही यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह अपने समाजमेंसे अनैतिकताका बहिष्कार करे और उसे बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकारके आक्रमणोंसे होनेवाली हानिसे सुरक्षित रक्खे।

व्यक्तियोंका हित समाजके हितसे पृथक् नहीं है और समाजका भी व्यक्तियोंके हितोंसे पृथक् कोई हित नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें यदि कोई राज्यसंस्था या समाज व्यक्तिके हितके प्रश्नको व्यक्तिगत प्रश्न कहकर टालता या उसकी उपेक्षा करता है, तो वह राज्यसंस्था और वह समाज दोनोंके दोनों अपराधी हैं, और दोनों ही आसुरी हैं। इसलिये हैं कि व्यक्तियोंसे अलग तो समाजका कोई हित ही नहीं है। आदर्शसमाजकी रची हुई राज्यसंस्थाको अनिवार्य रूपसे व्यक्तियोंकी व्यक्तिगत हानियोंसे अपने आपको ही क्षतिग्रस्त माननेवाली होना चाहिये। उसे किसी भी अत्याचारित नगण्य व्यक्ति तककी क्षतिपूर्तिके लिये एड़ीसे चोटी तकका समस्त बल लगा देना चाहिये। ऐसा करनेपर ही राज्यव्यवस्थाका लोगोंसे कर लेना वैध माना जा सकता है।

जो राज्यसंस्था अपने इस महान् उत्तरदायित्वको नहीं पालती उसके विषयमें इस प्रकार सोचिये कि जो अत्याचारित व्यक्ति आजतक इस राज्य-संस्थाको अपने करदानसे पालता आ रहा है, और जो राज्यसंस्था उससे कर लेना न केवल अपना अधिकार मानती आ रही है, प्रत्युत अत्याचारकी इस घटनाके पश्चात् भी उससे कर लेनेका लोभ छोड़ना नहीं चाहती प्रत्युत आगेको भी लेनेका प्रबन्ध किये बैठी है, इसमें कहां तक औचित्य है? निश्चय ही समाजके लोग आकस्मिक अत्याचारोंसे आत्मरक्षाके ही लिये राज्यसंस्थाओंको जीवनबीमा कम्पनियोंको दिये जानेवाली किस्तोंके रूपमें

कर देते हैं। जो राज्यसंस्था किसी भी व्यक्तिकी व्यक्तिगत सुरक्षाका उत्तरदायित्व पूरा करनेमें असमर्थ है, उसे न केवल इस अत्याचारितसे प्रत्युत किसी भी व्यक्तिसे कर लेते रहनेका कोई औचित्य या अधिकार नहीं।

यदि कोई राष्ट्र अपनी राज्यसंस्थाको पवित्र रखना चाहे तो उसे अत्याचारितोंकी व्यक्तिगत हानि या तो अत्याचारितोंसे पूरी करानी चाहिये या फिर राजकोषसे पूरी करना अनिवार्य बना लेना चाहिये। इसीके साथ एक भी किसी अत्याचारितकी असंशोधित हानि पर सम्बद्ध उत्तरदायी राजकर्मचारीको पदच्युत करनेका कठोर नियम बनाकर रखना चाहिये। इतना किये बिना राज्यसंस्थाको कर्तव्यतत्पर रखनेका अन्य कोई भी साधन नहीं है। राजशक्तिके सिरपर भी तो एक दण्ड होना चाहिये। तब ही वह कर्तव्यतत्पर रह सकती है। एक भी अत्याचारितके प्रति राज्यसंस्थाकी उपेक्षापूर्ण उदासीनता, उसे समस्त प्रजाका प्रच्छन्न वैरी सिद्ध करनेवाली आततायी मनोदशा है। प्रजाकी हानिका समाचार पाकर भी उसकी हानिके सम्बन्धमें निर्लिप्त रहनेवाली राज्यसंस्था स्पष्ट रूपमें राष्ट्रद्रोही है, प्रजापीडक है और आसुरी राज्य है।

चाणक्यके मन्तव्यानुसार राज्यसंस्थाके आदर्श राज्यसंस्था होनेकी यही कसौटी है कि वह राज्यसंस्थाके निर्माता समाजमें ऐसी शक्ति जगाकर रक्खे, उसे ऐसा ओजस्वी सतर्क और समाजहितचिन्तक बनानेके लिये विवश कर दे जिसके उद्दीप्त प्रभावसे वह नेता तंत्रके पंजेमें फंस ही न सके और अपने उपार्जित सार्वजनिक संपत्तिरूपी राजकोषको प्रतारणामयी लम्बी चौडी शोषक योजनाओंमें अपव्ययित होनेसे रोक सके और उसे केवल जन कल्याणमें व्यय होनेके लिये सुरक्षित कर दे। आदर्श राज्यसंस्था वही है जिसकी योजनायें प्रजाको उसके भूमि, धन, धान्यादि पाते रहनेके मूलाधिकारसे वंचित कर देनेवाली नहीं, उसे लंबी चौडी योजनाओंके नामसे कारभारसे आक्रान्त न कर डाले। राष्ट्रोद्धारक योजनायें राजकीय व्ययोंमेंसे बचत करके ही चलाई जानी चाहिये। राजग्राह्य भाग देकर बचे प्रजाके टुकडोंके भरोसे पर लम्बी चौडी योजना छेड बैठना प्रजाका उत्पीडन है।

प्रजामें बल, चेतना सतर्कता, अधिकारतत्परता पैदा करना, प्रजाशक्तिको प्रबल तथा उसे राजशक्तिका शासक बनाकर रखना ही चाणक्यकी राजनीति है। यही राजनीतिका अभ्रान्त आदर्श भी है यदि समाज राजनीतिके इस अभ्रान्त आदर्शको अपनाले तो निश्चय ही समाजमें स्वर्ग उतर आये। क्योंकि शान्तिप्रियता मानवस्वभाव है इसलिये प्रजाशक्तिका स्वभावसे दानव दलनकारीणी होना स्वतःसिद्ध है। यदि किसी देशकी राजशक्ति कर्तव्यपरायण हो तो वह प्रजाके दानवदलनी स्वभावके सदुपयोगसे देशमें शान्तिरक्षा कर सकती है। सुशिक्षाके द्वारा प्रजाशक्तिपर सत्यका नेतृत्व सुप्रतिष्ठित रखना ही प्रजाशक्तिको राजशक्तिका शासक बनाना है और यही समाजमें शान्ति तथा न्यायको सुरक्षित रखना भी है। प्रजाके सुशिक्षित होनेपर ही समाजमें शान्ति और न्याय सुरक्षित रह सकता है। राजनीतिके इस अभ्रान्त आदर्शकी शिक्षासे ही राष्ट्रमें मनुष्यता उत्पन्न हो सकती है। आर्य चाणक्यका साहित्य समाजमें शान्ति तथा न्यायकी रक्षा सिखानेवाला शिक्षाको सुप्रतिष्ठित रखनेवाला ज्ञानभंडार है। राजनैतिक शिक्षाका यह उत्तरदायित्व है कि वह मानवसमाजको राज्यसंस्थापन, राज्यसंचालन तथा राष्ट्रसंरक्षण नामक तीनों काम सिखाये। बिल्लीके भागसे टूटे छींकेके समान केवल राज्य पा जाना और बात है तथा राज्यसंचालन संरक्षण तथा संवर्धन दूसरी बात है।

दुर्भाग्यसे भारतने चाणक्यके इस ज्ञानभंडारकी उपेक्षा करके स्वदेशी विदेशी दोनों प्रकारके शत्रुओंको आक्रमण करनेका निमन्त्रण देकर अपनेको शत्रुओंका निरुपाय आखेट बनानेवाली आसुरी शिक्षा अपनाली है। उसने शिक्षामेंसे नैतिकतारूपी धर्मका बहिष्कार करनेमें गौरव अनुभव किया है। शिक्षामेंसे नैतिकता अर्थात् चरित्रको बहिष्कृत रखना उसे या तो सरकारी कार्यालयोंके लिये लेखक (क्लर्क) पैदा करनेवाली या सिद्धान्तहीन पेटपूजा सिखानेवाली बनाकर रखना है। केवल उक्त दो प्रकारके लोग पैदा करना ही तो शिक्षाका आसुरीपन या आसुरी शिक्षानीति है। नैतिकताहीन शिक्षा ही अर्थकारी (टका ढालनेवाली) विद्याका मूल है। आज जो

भारतवासी बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों प्रकारके शत्रुओंका आखेट बना है, वह इस अनीतिप्रसारक अर्थकारी विद्याके पीछे पड़नेके परिणामस्वरूप आसुरीसमाज बन जानेसे ही बना है। अर्थका दास सम्मान या आत्म-गौरव नहीं चाहता। वह तो केवल अर्थ चाहता है। अर्थकारी विद्या देशमें अनीतिका प्रसार किये बिना नहीं मान सकती और स्वाभिमानहीन मनुष्य पैदा करनेसे नहीं रोकी जा सकती।

स्त्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो दर्पयेन्मोहयेदपि।

स्त्रीसे मनुष्यमें दर्प और मोह उत्पन्न होना अनिवार्य है। स्त्रीका जीवनमें उपयोग होने पर भी उसे जीवनमें सर्वोपरि स्थान नहीं दिया जा सकता। स्त्रीको नैतिकताके बन्धनमें सीमित रखनेसे ही उसे मानवोपयोगी बनाकर रक्खा जा सकता है। नैतिक बन्धनोंसे हीन स्त्रीमहाविनाशका कारण बन जाती है।

भारतका समाजसुधार तथा राज्यसुधार तब ही संभव है जब राज-नीतिका भारतीय दृष्टिकोण अपनाया जाय और अध्यात्म तथा राजनीतिकी एकताको लेकर चलनेवाली भारतकी आर्यराजनीतिके प्रतीक चाणक्यसूत्रों को भारतसन्तानकी पाठविधिमें सम्मिलित किया जाय। मानवसन्तानको जीवनके नैतिक आधारोंसे सुपरिचित कराकर उसे ज्ञानालोकका दर्शन करा देना ही शिक्षाका उद्देश्य है। पाश्चात्य विचारोंसे प्रभावित लोग आध्या-त्मिकताके नामसे चौंकते हैं। उन्हें जानना चाहिये कि भारतकी राजनीति नैतिकता, मनुष्यता और आध्यात्मिकतामें कोई भेद नहीं है; ये सब अभिन्न हैं। ये एक ही वस्तुके विवक्षाभेदसे तीन अनेक नाम हैं। कर्तव्यपालनमें जिस दृढताकी आवश्यकता है वही अध्यात्म है। दृढता अध्यात्मकी ही देन है। दृढताके बिना राष्ट्र नहीं रह सकता। मानवीय यथार्थज्ञान आध्यात्म, नैतिकता, मनुष्यता या मुक्ति आदिका यही स्वरूप है कि मानव आठों प्रहर भोगभोजनान्वेषी होकर भटकते फिरनेवाले आत्मम्भरि पशुपाक्षियोंके समान न हो जाय और केवल अपने व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थोंमें फंसा न पड़ा

रहे, किन्तु मानवोचित्त मानसिक स्थितिमें रहनेके लिये समाजकल्याणको ही अपना वास्तविक कल्याण समझे।

अपने व्यक्तिगत क्षुद्र लाभोंको ही जीवनका लक्ष्य मान लेना मनुष्यका स्वविषयक घोर अज्ञान है। ऐसे मानवने नहीं पहचाना कि मानवताका सम्बन्ध केवल अपने देहसे न होकर सारे ही संसारसे है। मानवसे सारा ही संसार कुछ न कुछ आशा करता है। मानव संसारभरके कल्याणमें भोग देनेकी क्षमता रखता है। आपने देखा कि मानव बनना कितना उत्तर-दायित्व वहन करता है? व्यक्तिगत क्षुद्र लाभोंको ही जीवनका लक्ष्य मान लेनेवाले मानवने भगवान् व्यासकी 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' घोषणाका रहस्य नहीं समझा कि मानवीय सत्ता कितनी महामहिम सत्ता है और इस कारण उसका अपने, कुटुम्ब, ग्राम, समाज, देश तथा इस संसारके सम्बन्धमें कितना बड़ा उत्तरदायित्व है।

आजकल अपने विषयमें घोर अंधेरेमें रहते हुए भी स्वभिन्न संसारके विषयमें परिचय प्राप्त कर लेना ज्ञानकी परिभाषा बन गई है परन्तु निश्चय ही यह ज्ञान नहीं है; किन्तु अपने आपको जान लेना ही ज्ञान है। यह वह ज्ञान है जिसका मानवके चरित्रनिर्माण पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। शिक्षाका काम विद्यार्थीको अपने स्वरूपसे या यों कहें कि इस सृष्टिके विधाताके मानवदेह धारण कर लेनेके गुप्त उद्देश्यसे परिचित कराकर समाजमें अद्रोही शुद्ध आचारधर्मकी स्थापना करके सामाजिक शान्तिको सुप्रतिष्ठित करना है। पेटपूजा तो वे कछवे भी कर लेते हैं जिनके पास किसी यूनिव-र्सिटीकी कोई डिगरी नहीं होती। शिक्षा वही है जिसके प्रभावसे मानवके मनमें अपने पराये दोनोंके अस्तित्वके विषयमें किसी प्रकारका अशान्तिजनक, उत्तेजक, अत्याचारी, स्वार्थी, मूढ विचार शेष न रह जाये और शिक्षित मानव कर्तव्य त्यागने तथा अकर्तव्य अपनानेकी स्थितिसे अपना सुनिश्चित उद्धार करके सुदृढ निष्ठा रखनेवाला मानव बने। विज्ञ मानवकी अनुभविक आन्तरिक ज्ञानचक्षु उन्मीलित होजानी चाहिये और उसे त्रिनेत्र महादेव

बनकर व्यवहार भूमिमें अत्यन्त सतर्क होकर रहना चाहिये। उसे दीख जाना चाहिये कि यह जगत् प्रतिक्षण उत्पन्न हो होकर क्यों नष्ट होता चला जा रहा है ?

विज्ञ मानवके लिये यह जगत् विधाताकी अपने मानव विद्यार्थीको ज्ञान-दान करनेवाली पाठ्यसामग्री बन चुकना चाहिये। बात यह है कि जगत्का मानवहितैषी सर्वज्ञ विधाता जागतिक घटनाओंको ही द्वार बना बनाकर अपने मानव विद्यार्थीकी ज्ञानचक्षु उन्मीलित करके उसे ज्ञानी बना देना चाहता है। यह जगत् अपने निरन्तर उत्पत्ति विनाशोंसे मानव विद्यार्थीके सामने अपने मिथ्यात्व अर्थात् अस्थिरता (अविश्वास्यता) का डंका पीट पीटकर अपनी सांकेतिक अव्यक्त भाषामें अपने उत्पत्ति विनाशोंकी मूल भूमि अपने विश्वव्यापी अमर सनातन सच्चिदानन्दस्वरूप विधाताका विद्वद्गम्य यशोमान करता चला जा रहा है।

यह नितन्तर म्रियमाण जगत् अपनी नश्वरताके द्वारा अपने विधाताके जगद्रचनाके उद्देश्यका अमर डिण्डिम बना हुआ है। यह अपने विधाताकी गुणावलिका स्तुतिपाठक बन्दी (भाट) है। यह संसार मानवको अपने विधाताका गौरवमय परिचय देने ही के लिये उत्पन्न हुआ है। और नष्ट हो रहा है। मानवदेह धारण कर लेनेवाले देहीको संसारमें आकर इसी सत्यका दर्शन करना है जो संसारकी घटनावलिके पीछे छिपा हुआ है। मानवका देही इसी सत्यका दर्शन करके अखण्ड आत्मस्मृतिका लोकोत्तर आनन्द लेनेके लिये बार बार अनन्त बार देहधारणकी लीला करता चला आ रहा है। मानवीय अस्तित्वकी महिमाका कहीं पार नहीं है। यह समस्त संसार मानवीय अस्तित्वकी ही तो पृष्ठभूमि है। मानव इससे अपनेको पृथक् नहीं कर सकता और यह संसार भी उससे अलग होकर अपने आपको अस्तित्व और प्रकाशमें नहीं रख सकता। मानवीय अस्तित्व ही इस संसारका अस्तित्व और मानवीय अस्तित्वकी प्रतीति ही संसारकी प्रतीति है। यह संसार अपने अस्तित्व तथा प्रतीति दोनोंके लिये मानव पर आश्रित है ! यही मानवकी महामहिमा है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतो-ऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

मानव अस्तित्वके प्रतीत हो जानेके पश्चात् ही तो संसारका भान प्रतीति होता है । इतना ही नहीं उसीके प्रतीत्यात्मक प्रकाशसे इस जगत्में प्रकाशमानता आती है । स्वयं इस जगत्में प्रकाशमानता नहीं है । मानव यह जाने कि जगत्की प्रकाशमानता जगत् पर मानवके ही प्रकाश-स्वरूप अस्तित्वका उधार है । यहां हमने देखा मानव क्षुद्र वस्तु नहीं है । यहां हमने मानवके अभौतिक, अलौकिक, अनन्त असमाप्य अस्तित्वके दर्शन किये और दूसरी महामहिम स्थितिके सम्बन्धमें परिचय पाया । वास्तवमें मानवहृदय आश्चर्यकारी सामर्थ्य लिये बैठा है उसके शक्त्युन्मेष होनेमें संकल्पमात्रका विलम्ब है । वह संकल्पमें दृढता लाते ही दिव्य ज्ञानी लोकका दर्शन कर सकता और दिव्य बलका आवाहन कर सकता है । परन्तु मानवके देहाध्यासने (उसके मैं देह हूं इस भ्रान्त विचारने) तथा देहाध्यासजन्य क्षुद्र संकल्पों (इच्छाओं) ने उसके इस महामहिम सामर्थ्यको कुण्ठित कर रक्खा है ।

इस हीन स्थितिमें उत्साहवर्धक समाचार यही है कि मानवके पास या तो ज्ञानी या अज्ञानी बननेकी स्वतन्त्रता है उसकी यह स्वतंत्रता ही समस्त बलोंका भंडार है । मनुष्य ज्ञानी बननेकी स्वतन्त्रताकी शक्तिके सदुपयोगसे ही अपनी निकृष्ट स्थितिको विनष्ट कर सकता, स्वरूपबोधमयी भ्रान्तिशून्य स्थिति पा सकता और उससे संसारमें सत्कर्मोंकी भागीरथी बहा सकता है । मानव इच्छामात्रसे इस स्वतन्त्रताका सदुपयोग या दुरु-पयोग करता है । मानवको जो ज्ञानी या अज्ञानी बननेकी स्वतन्त्रता मिली है और उसे जो इस स्वतन्त्रताके सदुपयोग या दुरुपयोगका अधिकार प्राप्त हुआ है वह उसके लिये सदा ही दो विरोधी मार्गोंका संगमक्षेत्र बना रहता है । मानवको मिली यह स्वतन्त्रता उसे केवल एक क्षणमें इतना परिवर्तित कर डालती तथा कर सकती है कि वह या तो उसे चिर-

कालके लिये नित्य सुखी या उसे क्षणिक आत्मविस्मृतिके गहरे गर्तमें डुबोकर अनन्त दुःखी बना डालती है।

मानवमें जो यह क्षणिक स्वरूपविस्मृतिका आवेश आता है वही तो उसके सामने आपातमनोरम मिथ्या स्वार्थक्षेत्र रचकर खड़ा कर देता है। और उसे उसी स्वकल्पित क्षेत्रके बन्धनमें बंधकर पड़ जानेके लिये विवश कर डालता है। इस दृष्टिसे सच्ची शिक्षाका यही स्वरूप मानना पड़ता है कि वह मानव सन्तानको देहाध्यासजन्य आत्मविस्मृतिके गर्तमें गिर मरनेसे बचाये और उसे ऐसी उदार मानसिक स्थितिमें प्रतिष्ठित कर दे जिसमें उसे सच्चे व्यावहारिक अर्थोंमें आत्मबोध हो जाय और परिणामस्वरूप उसकी कर्मभूमिमें किसी प्रकारका भौतिक स्वार्थबन्धन उसके मन पर प्रभाव न जमा सके और उसे कर्तव्यपथसे भ्रष्ट न कर सके। चाणक्यसूत्रोंमें यही शिक्षा समाजकल्याणकारिणी ज्ञानज्योति लेकर विद्यमान है।

भारतकी वर्तमान स्वार्थमूलक तथा अज्ञान मूलक राजनैतिक दुर्दशामें एकमात्र चाणक्यका ज्ञानभण्डार ही भारतका पथप्रदर्शक बननेकी क्षमता रखता है। वही भारतवासियोंको राजनैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मुक्तिका मार्ग दिखा सकता है। भारतकी वर्तमान सदोष राष्ट्रीय परिस्थिति इसकी वर्तमान कुशिक्षा ही के कारण है। भारतकी वर्तमान राष्ट्रीय परिस्थिति आज भारतीय राज्य हो जानेके दस वर्ष पश्चात् भी उसी कुशिक्षाके कपटजालमें फंसी हुई है जिसमें इसे ब्रिटिश लोग अपने वैदेशिक स्वार्थसे फांस गये हैं। उसके कारण आजके भारतवासीके सिर पर राष्ट्रीय भावना राष्ट्रहित तथा मनुके आदर्शोंकी उपेक्षा करानेवाली स्वार्थचिन्ता आरूढ (सवार) हो गई है। भारतको राजनैतिक क्षेत्रमें व्यामोह (धोके) में डाल दिया गया है। भारतमें लोगोंको अपने पीछे चलानेवाले प्रभुताकोभी नेतापनके दूषित आदर्शको तो राष्ट्रीय शिक्षाका ध्येय बना दिया गया है तथा अर्थकरी विद्याको समस्त समाजका ध्येय बना दिया गया है, इससे देशमें सांस्कृतिक ध्वंस मच गया है। परिणामस्वरूप नैतिकता कान पकड़ कर समाजसे बहिष्कृत कर दी गई है।

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।

छओं अंगोंसहित वेदोंका अध्ययन तथा मर्मज्ञान प्राप्त करना विद्या-प्रेमी मानवका निष्कारण धर्म है। महर्षि पतंजलिका शिक्षाका यह निष्काम पवित्र आदर्श, जिसके बलसे भारत सदासे महापुरुषोंकी जन्मभूमि बनता आ रहा था, सर्वथा लुप्त हो गया है। आप भारतकी वर्तमान तथा भावी सन्तानोंके साथ विगत पीढियोंकी तुलना करके इस सत्यको प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

आजकी भारतकी मानसिक स्थिति हमारे राष्ट्रमें राष्ट्रीयताकी म्रियमाण और असामाजिकता तथा नीतिभ्रष्टताकी उदीयमान स्थिति है। भारतको इस स्थितिसे शीघ्र ही उबारनेकी आवश्यकता है। प्रभुतालोभी नेता-पनकी मदिराने भारतको नशेमें चूर बना डाला है। देशसे इस प्रभुता-लोभी मदिराका बहिष्कार करनेका एकमात्र उपाय उसकी पाठविधिमें चाणक्यकी राजनैतिक चिन्ताधाराको समाविष्ट करना ही है। यदि भारत-माताको सत्यानुगामी स्वतन्त्र विचारक स्वतन्त्रता प्रेमी वीरोंकी जननी होनेका गौरव देना हो तो उसका एकमात्र उपाय, देशको राष्ट्रसुधारक-शिरोमणि, राजनैतिक धन्वन्तरि चाणक्यकी विचारधारासे आप्लावित कर डालना ही है। यदि आजके भारतीय युवकोंको भारतीय राजधर्मके प्रकाण्ड पण्डित चाणक्यकी सुपरिमार्जित विचारसरणीसे सुपरिचित न कराया गया तो भारत भोगैकलक्ष्य दास कापुरुष उत्पन्न करनेवाला बना रहेगा।

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।

यह एक सुनिश्चित सिद्धान्त है। हितकारी वचनोंका मीठा होना अपनी वैज्ञानिक स्थिति है। इस लोकोक्तिमें दुर्लभका अर्थ असंभव है। इस लिये है कि भ्रान्त पथके अवरोधक उद्बोधक हितकारी वचनोंका कर्णकटु तथा गात्रदाहक होना न केवल अनिवार्य है प्रत्युत आवश्यक भी है। यदि कोई वक्ता या लेखक हितकारी वचनोंकी कटुताको घटा देना चाहता है, तो उससे उस वचनकी भ्रान्तपथ रोधकता तथा उद्बोधकता भी घटे विना

रहती । तब उसे अपने वचनोंमेंसे ये दोनों अंश घटा देने पड़ते हैं। ऐसी स्थितिमें श्रोता तथा पाठकोंके मनोंमें कटु आलोचना सुनने तथा पढ़नेका धीरज होना उनके सौभाग्य तथा उनकी वर्धिष्णुताका चिन्ह माना जायगा।

अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥

अप्रिय पथ्य कहने और सुननेवाले दोनों ही दुर्लभ होते हैं । हितकारी कटु आलोचना सुनना जैसे किसी एक व्यक्तिके लिये हितकारी तथा कल्याणकारी है इसी प्रकार वह समाज, राष्ट्र तथा राज्यसंस्थाके लिये भी तो कल्याणकारी है ।

कड़वी औषध बिन पिये मिटे न तनका ताप ।
हितकी कड़वी बिन सुने मिटे न मनका पाप ॥

कौन नहीं जानता कि उत्पथमें जानेवाली शक्तियोंके दूषित प्रवाहोंको रोक देनेके लिये प्रयुज्यमान उद्बोधन, कर्णकटु तथा गात्रदाहक होते ही हैं। रोगियोंको अनिच्छापूर्वक कटु औषध पिलानेवाले मद्वैद्यों या अभिभावकोंके समान ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक समाजका अहित करनेवालोंके कटु सत्य सुना कर उनकी विपरीत प्रवृत्तियोंको रोकना और उन्हें कर्तव्यका सच्चा मार्ग सुझाना समाजके निष्ठावान सेवकोंका अनिवार्य कर्तव्य है । कटु हित कहनेवालेकी यही भावना होती है कि अहितको हित समझ बैठनेवालोंके न चाहने पर भी उनकी मोहनिद्रा भंग करनेके लिये उन्हें झकझोर कर उठा दिया जाय और उन्हें मोहनिद्रा त्यागनेके लिये विवश कर डालनेवाली परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाय ।

अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयात् यस्य नेच्छेत् पराभवम् ।

मनुष्य जिसे पराभूत होता देखना न चाहे, उसके बिना पूछे भी उसे हितकी बात सुझाना उसके हितचिन्तकोंका अनिवार्य अत्याज्य कर्तव्य हो जाता है । किसीके हितचिन्तकोंका उसकी भ्रान्त प्रवृत्तियोंको न रोक कर

उदासीन रह जाना उससे शत्रुता करना है। निद्रितोंको असह्य प्रतीत होनेवाली जागरण प्रेरणाओंके समान मोहनिद्राओंमें अचेतन पड़े हुए व्यक्तियों, समाजों या राज्यसंस्थाओंकी भ्रान्त प्रवृत्तियोंकी आलोचनाओं से इन्हें अपनी मोहनिद्रा भंग किये जानेका असह्य प्रतीत होना स्वाभाविक है। मोह रजनीमें भी तो एक प्रकारका तामस सुख या सुखभ्रान्ति रहती है। वह सुखभ्रान्ति कल्याणकारी यथार्थ सुखको ढके रहती है। सच्ची आलोचनामें सदा ही असन्मार्ग छुड़ाने तथा सन्मार्ग ग्रहण करानेकी भावना होती है। उन्नतिशील लोग अपनी आलोचनासे अपना धीरज खोकर घबरा नहीं जाते। प्रत्युत वे हितकर्ता विरोधी पक्षका निम्न शब्दोंमें स्वागत करते हैं।

जीवन्तु मे शत्रुगणाः सदैव येषां प्रसादात् सुविचक्षणोऽहम्।
यदा यदा मे विकृतिं भजन्ते तदा तदा मां प्रतिबोधयन्ति॥

मेरे उद्देश्य या नीतिकी त्रुटि दिखानेवाला मेरा वह समालोचक शत्रु पक्ष सदा बना रहे जिसकी कटु आलोचनासे सदा सतर्क रहनेके लिये विवश हो जानेवाला मैं सुचतुर निर्दोष बन गया हूं। यह पक्ष जब मेरी त्रुटि देखता है तभी मुझे अपनी भूल सुधारनेके लिये सावधान कर देता है। संसारका अनुभव है कि कोई भी संस्था शत्रुवेशी सच्चे समालोचकोंके बिना निर्दोष रूपसे काम नहीं कर सकती। सच्ची आलोचनाओंसे लाभ उठानेवाले लोग कटु हितवादीके गुणग्राही और कृतज्ञ हो जाते हैं। इसी लिये आर्य चाणक्यने अपने अर्थशास्त्र (१-७) में कहा है।

मर्यादां स्थापयेत् आचार्यानमात्यान् वा य
एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः प्रमाद्यन्तमभितुदेयुः।

राजालोग किन्हीं ऐसे विद्यावृद्ध, वयोवृद्ध, तपोवृद्ध, अनुभववृद्ध, सत्करणीय विद्वानोंको अपने लिये अनुल्लंघनीय सीमा बना कर अपने पास रखें जो इसे प्रमाद न करने दें प्रत्युत प्रमाद करनेसे अधिकारपूर्वक टोकें और रोकें।

राष्ट्रकल्याण इसीमें होता है कि समाजका हित कर सकनेवाली दैवी शक्तियोंको ही राज्याधिकार मिले। परन्तु समाजके दुर्भाग्यसे सदा ऐसा नहीं होता। जनमतकी अनुद्बुद्धतासे बहुधा व्यावहारिक रूपमें समाजके शत्रुता करनेवाली वावदूक वार्ताविक्रयी, मक्कार, प्रतारक, आसुरी शक्तियें राज्याधिकार पा जाती हैं। राज्याधिकार पा जानेवाली आसुरी शक्तियें मोहनिद्राके कारण अहितको हित समझ बैठनेवाले भ्रमिष्ठ लोकमतकी मोहान्धतासे अनुचित लाभ उठा उठा कर समाजकी प्राणशक्तिका शोषण करने लगती हैं। समाज तथा राजशक्ति दोनोंके मोहान्ध बन जानेके विकराल कालमें राज्यसंस्थाके निर्माता मोहनिद्रासे अभिभूत समाजके कानोंको हितोपदेश सुनाना विचारधर्मी सेवकोंका ऐसा अनिवार्य कर्तव्य बनकर उनके सामने आ खडा होता है जिससे वे अपनेको रोक ही नहीं सकते। तब उन्हें समाज तथा राज्यशक्ति दोनोंके मोहनिद्राभिभूत जड मस्तिष्कोंपर तीव्र ज्ञानांकुशके उद्बोधक प्रहार करने पडते हैं। ऐसे विकट समयोंपर विष्णुशर्माके शब्दोंमें—

जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः।

राजरश्मि पकडे रहनेवाले लोग नहीं चाहते कि जनता स्वाधिकाररक्षाके लिये स्वयं उद्बुद्ध हो या कोई अन्य उसे उद्बुद्ध करे। बृहदारण्यकमें भी इसीके समान रोचक वर्णन आया है।

तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः।

यह देवताओंको प्रिय प्रतीत नहीं होता कि मनुष्योंको आत्मबोध हो जाय। जैसे देवताओंकी जीविका (इन्द्रियोंकी विषयकण्डूतिपूर्तिस्पृहा) अनुद्बुद्ध लोगोंके ही सहारेसे चलती है इसी प्रकार सुषुप्त लोकमत स्वार्थी राज्याधिकारियोंके स्वार्थका क्षेत्र हो ही जाता है। लोकमतके जाग उठनेपर तो राज्याधिकारियोंकी मिथ्या प्रतिष्ठाका धूलमें मिला दिया जाना अनिवार्य होजाता है। इसलिए जनजागरणकी सेवाको अपनानेवालोंको आसुरी राजशक्तिका रोषपात्र बन ही जाना पडता है। वह उनके भाषण तथा लेखनके

प्रचारमें बाधा उपस्थित करनेमें अपना हित समझनेकी भूल कर बैठती है। संसारमें राजशक्तिका दुरुपयोग करनेवाले समाजशत्रु सदासे होते आ रहे हैं। आर्य चाणक्यने ढाई सहस्र वर्ष पूर्व ज्वालामयी भाषामें सशरीर विद्यमान रहकर तत्कालीन भारतवासियोंकी मनोदशाको भारतकी शासधा-विच्छिना राजशक्तिका दुरुपयोग करनेवाले समाजके शत्रुओंके विषैले प्रभावसे मुक्त करनेका जगप्रसिद्ध महान् अभिनय करा दिखाया था और इस देशसेवात्मक यज्ञकी पूर्तिके लिए उसमें देशद्रोहियोंकी चुन चुनकर आहुति दी थी।

उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजङ्गमपुङ्गवाः।
अन्तः साक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः॥

कुछ उदारकर्मी लोग ऊपरसे देखनेमें तो विषधर सर्प तथा असिधाराकी लपलपाती कठोर आकृतिके समान महा क्रूर बनकर रहते हैं परन्तु इन लोगोंका अन्तरात्मा लोक हितके माधुर्यमें इतना पगा रहता है मानों इन्होंने द्राक्षाओंसे माधुर्यकी दीक्षा ले रक्खी हो। कर्मके तो कठोर परन्तु हृदयके मधुर विराटकर्मी लोग संसारमें अति न्यून होते हैं। आर्य चाणक्य इसी प्रकारके लोगोंमेंसे थे। आज हमारे राष्ट्रको राजनीति विशारद सुचतुर वैद्यकी गम्भीरतम आवश्यकता है। इसलिए है कि आज भारतवासी आसुरी प्रभावमें आकर अहितको हित समझ कर मोहनिद्रासे अभिभूत हुआ पड़ा है। इस विकराल स्थितिमें यह हमारा सौभाग्य है कि चाणक्यकी दुग्धकुम्भी ज्वालामयी भाषामें लिपिबद्ध राजचरित्र तथा राष्ट्रचरित्रका निर्माता चाणक्यसूत्र उनका प्रतिनिधित्व करनेके लिये आज भी हमारे पास है। इन सूत्रोंका प्रत्येक शब्द सुन्दर मणिमुक्तागर्भित सुगम्भीर भाव-सागरका वहन कर रहा है। पाठक इस व्याख्याको द्वार बनाकर यत्र तत्र देखेंगे कि इनमें आर्य चाणक्यका अभूतपूर्व राजनैतिक कौशल तथा व्याव-हारिकता कूट कूट कर भरी है।

चाणक्यके दूरदर्शी उदार मनमें राज्यव्यवस्था तथा राष्ट्रचरित्र निर्माणके सम्बन्धमें जितनी सुधारक योजनायें थी वे सब संक्षेपसे इनमें सन्निहित हैं।

इन सूत्रोंका प्रत्येक शब्द चाणक्यके हृदयस्थ जिस गम्भीर भावसागरका वहन कर रहा है, हमें इस व्याख्यामें उनके हृदयकी उस राजनीतिविशारद ध्वनिको अपने पाठकोंतक पहुंचा देनेके कर्तव्यसे विवश होकर कहीं कहीं भ्रान्तिशून्य विकल्पहीन अत्याज्य तीव्र भाषाके प्रयोगके द्वारा देशके अभिमत असत्योंपर कषाघात करके विश्वकल्याणकारी सत्यको प्रकाशमें लाना पड़ा है। इस कर्तव्यमयी विवश स्थितिमें इस भाष्यके इस कषाघातके समाजके यथार्थ हितकी ओरसे आंख मीचकर बैठे हुए कुछ लोगोंको कटु तथा दाहक प्रतीत होनेकी पूरी सम्भावना है। हम इसके लिये अपने पाठकोंसे विनयपूर्वक लेखनीके प्रेरक भावोंको समझनेकी प्रार्थना करते हैं। परन्तु साथ ही यह विश्वास हमारी लेखनीका वर्णनातीत सहारा भी बना हुआ है कि हमारी भाषाको समाजसेवक सुधी पाठकोंके मार्मिक भावोंको व्यक्त करनेवाली चाणक्य हृदयकी प्रतिध्वनि होनेका गौरव प्राप्त है। इसलिये इसके देशभक्त भारतीय समाजके लिये श्रवणमधुर हृदयग्राही तथा अनुमोदनीय होनेमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। अन्तमें हम निम्न दो लोकोक्तियोंके साथ अपना प्रास्ताविक समाप्त करते हैं—

> पुरुषाः सुलभा राजन् सततं प्रियवादिनः।
> अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १ ॥
>
> ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
> जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ॥
> उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा
> कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ २ ॥

राजन् सदा मुखपर मीठी बात बनानेवाले पुरुष तो सर्वत्र मिल जाते हैं परन्तु अप्रिय पथ्यको कहनेवाले और सुननेवाले दोनों ही दुर्लभ होते हैं। जो लोग हमारी इस रचनाको अवज्ञाकी दृष्टिसे देखते हैं उनका दृष्टिकोण दूसरा है। उनके लिए यह ग्रन्थ नहीं रचा जा रहा है। यह ग्रन्थ उनके लिये रचा गया है जो संसारमें हमारे जैसे विचारोंको लेकर जन्म ले रहे

है या लेंगे। निराशाका कोई कारण नहीं है, काल अनन्त है, पृथ्वी अति विस्तीर्ण है। कभी कहीं कोई तो हमारी बात सुनेगा ही।

चाणक्यके ग्रन्थ

१- लघुचाणक्य १०८ श्लोक, २- वृद्धचाणक्य २५० श्लोक, ३- चाणक्य नीतिदर्पण ३४८ श्लोक, ४- चाणक्य राजनीतिशास्त्र प्रायः १००० श्लोक, ५- कौटलीय अर्थशास्त्र ६००० श्लोक परिमाणग्रन्थ, ६- चाणक्यसूत्र ५७१ सूत्र।

चाणक्यसूत्रोंकी प्रामाणिकताके संबन्धमें—

इस व्याख्यामें १९१९ ई० में मैसूर विश्वविद्यालयसे प्रकाशित कौटलीय अर्थशास्त्रके अन्तमें मुद्रित सूत्रोंमें कई अपार्थक सूत्रोंके होते हुए भी उन्हींके सबसे अधिक प्रचारित होनेके कारण उन्हींकी ५७१ संख्याको प्रामाणिक मान लिया गया है। इसमें अन्यत्र उपलब्ध सूत्रान्तर तथा पाठान्तरोंका भी पूर्ण संकलन किया है। इस टीकामें मैसूर मुद्रित ५७१ सूत्रोंसे ४६ सूत्र अधिक हैं। उपलब्ध पाठभेद भी सब दिये हैं जो लगभग २५७ हैं। पाठभेद सुभीतेकी दृष्टिसे कहीं तो कोष्ठकोंमें तथा कहीं पाठान्तर शब्दके साथ दिये गये हैं। बहुतसे पाठान्तर मूल सूत्रोंसे अधिक युक्तिसंगत हैं। कहीं कहीं मूल सूत्र अपार्थक प्रतीत हो रहे हैं और पाठान्तर उचित हैं। इन सब तथ्योंका उल्लेख टीकामें यथास्थान किया गया है। ४६ अधिक सूत्रों तथा महत्वपूर्ण पाठभेदोंकी व्याख्या की गई है। साधारण पाठभेद अव्याख्यात छोड दिये गये हैं। अधिक सूत्रों तथा पाठान्तरोंको स्वतंत्र संख्या न देकर ५७१ संख्यामें ही अन्तर्युक्त कर दिया गया है। यह इस दृष्टिसे किया गया है कि पाठकोंको प्रचलित सूत्रसंख्यानुसार सूत्र ढूंढनेमें कठिनाई न हो। ये अधिक सूत्र तथा पाठ भेद श्री प. ईश्वरचन्द्र शर्मा शास्त्री, वेदान्तभूषणके १९३१ में कलकत्तेसे मुद्रित संस्कृत व्याख्या युक्त चाणक्यसूत्रोंसे लिये गये हैं।

उनके लेखानुसार उन्हें इन सूत्रोंकी चार आदर्श प्रति मिली थीं। उन्होंने उन्हींसे मूल सूत्रों तथा पाठभेदोंका संकलन किया है। किस प्रतिसे कौनसा पाठभेद लिया इस विषयमें उनकी लेखनी मौन है। कल्पना होती है मानना चाहिये कि उन्होंने चारोंसे ही पाठभेद लिये हैं। चारोंमेंसे कौनसीको मुख्य रखकर व्याख्यामें सूत्रसंख्या दी है यह निर्देश भी उनकी लेखनी नहीं कर रही है। उनको मिली चारों प्रति निम्न प्रकार है— (१) कालिकटनिवासी श्री गोविन्द शास्त्रीसे प्राप्त, (२) अनन्त शयनम् यन्त्रालयमें मुद्रित, (३) मैसूर राजकीय संग्रहालयके अध्यक्ष आर श्री महादेव शास्त्रीसे प्राप्त (४) मैसूर राजकीय मुद्रणालयमें द्वितीया वृत्तिके रूपमें १९२९ ख्रिष्टाब्दमें मुद्रित कौटलीय अर्थशास्त्रके अन्तमें संलग्न।

उन्होंने जिस प्रतिको मुख्य मानकर व्याख्या की है उसमें इन सूत्रोंको ६ अध्यायोंमें विभक्त किया है। उनकी व्याख्याधार प्रतिके अनुसार चाणक्यसूत्रोंकी संख्या ५९९ है। अर्थात् प्रथमाध्यायमें १००+ द्वितीयमें ११६+ तृतीयमें ७९+ चतुर्थमें १०८+ पंचममें ११३+ षष्ठमें ८३ = संकलन ५९९। इस टीकामें सूत्रोंको दी हुई ५७१ संख्याके अनुसार उनके अध्यायोंका स्थान निम्न है— १०१ सूत्रपर प्रथम, २१३ पर द्वितीय, २९० पर तृतीय, ३९२ पर चतुर्थ, ५०२ पर पंचम, तथा ५७१ पर षष्ठ अध्याय समाप्त होता है। परन्तु इस अध्याय विभागका कोई उचित आधार प्रतीत नहीं होता।

इन सूत्रोंमें विषयक्रम तथा अर्थसंगति दोनोंका प्रायः अभाव है। इनमें सूत्रकारने राजचरित्र निर्माणके साथ राष्ट्रचरित्र निर्माणकी प्रेरणा देनेकी दृष्टिसे मनमें समय समयपर आनेवाली विचारतरंगोंका ज्यों का त्यों संकलन किया प्रतीत होता है। संभावना है कि उन्हें इनको विषयानुसारिता देनेका अवसर नहीं मिल पाया। इनमें राजनीति, सामान्यनीति, समाजधर्म, अपत्यविनय, आदि विषयोंका विप्रकीर्ण वर्णन हुआ है।

इनमेंसे अव्याख्यात छोड़े हुए ग्यारह सूत्रोंकी कुरुचिपूर्णता नीतिविगर्हितता, समाजघातकता, अप्रासंगिकता तथा युक्तिहीनता अत्यन्त स्पष्ट है। इनकी व्याख्याको समाजके आदर्श ज्ञानी गुरु विश्वमानवके मनोराज्यके एकत्र सम्राट् ऋषि चाणक्यके पवित्र हृदयके निःश्वास अमृतवर्षी ज्ञानभंडारमें सम्मिलित करके इस भाष्यके कलेवरको कालिमा लिप्त करनेके लिये लेखनी उद्यत ही नहीं हुई। केवल मूल ग्रन्थके प्रचलित रूपतया संख्याको अक्षुण्ण रखनेकी दृष्टिसे सूत्रोंके मूल रूपका बहिष्कार उचित नहीं माना गया। विश्वास है कि इस व्याख्या त्यागसे भाष्यमें पूर्णाङ्गता आई है। प्रत्येक प्रकारके पाठककी दृष्टिसे पठन पाठनके दोषोंको दूर रखना ही भाष्यकी पूर्णाङ्गता मानी गई है।

कृतज्ञता-प्रकाश

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुरके प्रमुख अध्यापक श्री प. छेदी प्रसादजी व्याकरणाचार्य तथा वहीं के मेरे सब्रह्मचारी श्री प. उदयवीरजी शास्त्री, न्यायसांख्य योगतीर्थ इस व्याख्याको सुनकर कई उपयोगी सम्मतियोंसे इसकी शोभावृद्धिमें सहायक बने हैं। वाराणसीके श्री विश्वनाथ पुस्तकालयके अध्यक्ष श्रीकृष्णपन्तजी, साहित्याचार्यने उपयोगके लिये श्री ईश्वरचन्द्रशर्मा, शास्त्री वेदान्तभूषणकी सारार्थबोधनी टीका देकर अनुगृहीत किया। वे परम धन्यवादके पात्र हैं।

साहित्यचर्चा

लगभग पच्चीस वर्ष बीत रहे हैं बुद्धिसेवाश्रमके बालकोंमें विचारशक्तिको जगानेके उद्देश्यसे ब्रह्मविद्याग्रन्थमाला नामसे सर्वथा नवीन शैलीसे पाठ्यग्रन्थोंकी रचना की गई थी। उसमेंसे भारतकी अध्यात्ममूलक संस्कृति अर्थात् जाग्रत जीवन, सिद्धान्तसार, बालप्रश्नोत्तरी, बोधसार, पंचदशी, मनुष्यजीवनका लक्ष्य, गीतापरिशीलन, नारदभक्तिसूत्र, भारतीय संस्कृतिके अनुसार भारतीय संविधानकी रूपरेखा तथा वर्तमान विधानकी प्रजा-

तन्त्रिक आलोचना, शतश्लोकी, दशश्लोकी वाक्यसुधा तथा बालगीत मुद्रित हो चुके हैं। ईश्वरभक्ति, आदर्श परिवार (सन्तानपालनकी योग्य विधि), शिक्षकोंका मार्गदर्शक (आदर्श पाठशालाओंकी योजना) ग्रामसुधार (ग्रामोंको स्वतंत्र राष्ट्रोंका रूप देनेकी योजना), बालजागरण, बालोद्बोधन, जीवनसूत्र, भावसागर, समाजवाद, बेकारी हटें क्यों ? व्यवहारशास्त्र, भक्ति आदि स्वतंत्र ग्रन्थ अमुद्रित अवस्थामें योग्य प्रकाशकोंकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त उपदेशसाहस्री, गौडपादकारिका सनत्सुजातवाद, अध्यात्मपटल, विवेकचूडामणि, सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, प्रबोधसुधाकर श्री आद्य शंकराचार्यके समस्त प्रकरण ग्रन्थ वेदान्तस्तोत्र, योगदर्शन (श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वतीकी टीकाका हिन्दी रूपान्तर), पंचीकरण, पंचीकरणवार्तिक (श्री सुरेश्वराचार्यकृत), गीता गुटका आदिका भाष्य भी निम्न पते पर योग्य प्रकाशकोंको विना पारिश्रमिक देनेके लिये प्रस्तुत हैं—

बुद्धिसेवाश्रम
पो. रतनगढ
जि. बिजनौर (उ. प्र.)

निवेदक
रामावतार

ॐ

चाणक्यसूत्राणि ।

(सुखका मूल)

सुखस्य मूलं धर्मः ॥ १ ॥

धर्म (नीति या मानवोचित कर्तव्यका पालन) सुखका मूल है।

विवरण— जगत् (समाज) का धारण या पालन करनेवाली नीतिमत्ता या कर्तव्यपालन ही मनुष्यका धर्म है। धर्म (नीति) ने ही समस्त जगत्को धारण कर रखा है। नहीं तो वह कभीका लड-झगडकर नष्ट हो गया होता। अधर्म आपातदृष्टिसे सुखका मूल दीखनेपर भी दुःखका मूल है। धर्म-पालनसे दुःखदायी पापकी संभावनायें नष्ट हो जाती हैं। मानसिक अभ्यु-त्थान और ऐहिक अभ्युदय दोनोंको समानरूपसे साथ-साथ सिद्ध करने-वाली नीति " धर्म " कहाती है। इस लिये जो लोग राज्याधिकार लेना और उससे सुख अर्थात् दोनों प्रकारका अभ्युदय पाना चाहें वे सावधान हो जायें और उससे भी पहले धर्म (नीतिमत्ता) को अपनायें। नीतिका अनुसरण किये बिना मनुष्यको मानसिक अभ्युत्थानमूलक सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता। मानसिक अभ्युत्थानमूलक सुख ही सुख है। मानसिक पतनसे मिलनेवाला सुख सुख न होकर सुखभ्रम या अनन्त दुःखजाल ही है।

पुस्तकान्तरमें इससे प्रथम यह स्वतंत्र सूत्र उपलब्ध है ।

सा श्रीर्वोऽव्यात् ॥

वह परमसम्पत्तिदात्री ऐश्वर्यकी अधिष्ठात्री देवता राज्यश्री आप राज्याधिकारियोंको सुमति देकर रक्षा करे ।

विवरण— राज्यश्री आप लोगोंके पास आकर आपको श्रीमदमत्त न बनाकर, समाजसेवाके सर्वोत्तम क्षेत्र राज्यसंस्थाका सुचारुरूपसे संचालन करनेकी सुमति प्रदान करे । आप लोग राज्यको अपने राष्ट्रकी पवित्र धरोहर मानकर इसे राष्ट्रसेवाका तपोवन बनाकर रखें ।

(धर्मका मूल)

धर्मस्य मूलमर्थः ॥ २ ॥

धर्मका मूल अर्थ है ।

विवरण—धर्म अर्थात् नीतिमत्ताको सुरक्षित रखनेमें राज्यश्री (अर्थात् सुदृढ सुपरीक्षित सुचिन्तित राज्यव्यवस्था) का महत्त्वपूर्ण स्थान है । जगत्को धारण करने (जगत्को ऐहिक अभ्युदय तथा मानसिक उत्कर्ष देने) वाली नीतिको राष्ट्रमें सुरक्षित रखनेमें अर्थ अर्थात् राज्यश्री ही मुख्य कारण होती है । राजकोषमें दरिद्रता आ जानेपर प्रजामें अनीतिकी बाढ आ जाती है । क्योंकि तब राज्यके पास अनीति रोकनेवाला साधन नहीं होता । राज्यसंस्था जितनी ही संपन्न और तेजस्वी होती है, प्रजा उतनी ही नीतिपरायण रहती है । राजकोषमें दरिद्रता आ जानेपर राष्ट्र-व्यवस्था ग्रीष्मकालीन कुनदियोंके समान लुप्त हो जाती है ।

(अर्थका मूल)

अर्थस्य मूलं राज्यम् ॥ ३ ॥

राज्य (राज्यकी स्थिरता) ही अर्थ (धन-धान्यादि संपत्ति या राज्यैश्वर्य) का मूल (प्रधान कारण) होता है ।

विवरण— राज्यकी स्थिरता ही ऐश्वर्यको स्थिर रखनेवाली वस्तु है । ऐश्वर्यहीन राज्य परस्पर व्याहत अव्यावहारिक कल्पना है । राज्य तो हो पर

उसे स्थिर रखनेवाला ऐश्वर्य उसके पास न हो तो राज्य स्थिर नहीं रह पाता। राजा और प्रजा दोनों ही अर्थसे ऐहिक अभ्युदयवाले कर्म करके जीवनयात्रा करते हैं। राजाको राष्ट्र, दुर्ग, कुल्या, बांध, सेना, मन्त्री, राजकर्मचारी, शस्त्रास्त्र, रणपोत, अश्व, रथ आदि विविध प्रकारके यान आदि संग्रह करके तथा प्रजाकी रक्षा-शिक्षा भरण-पोषण आदिमें विपुल धनकी आवश्यकता होती है। क्योंकि अर्थागम राज्यके सुप्रबन्धपर ही निर्भर होता है, इस लिये राज्याधिकारी लोग राज्यको सर्वप्रिय बनाकर स्थिर बनानेमें प्रमादसे काम न लें।

(राज्यका मूल)

राज्यमूलमिन्द्रियजयः ॥ ४ ॥

अपनी इन्द्रियोंपर अपना आधिपत्य प्रतिष्ठित रखना राज्यका (राज्यमें राज्यश्री आने और उसके चिरकाल तक ठहरनेका) सबसे मुख्य कारण है।

विवरण— राज्याधिकारियोंकी स्वेच्छाचारिता, विषयलोलुपता और स्वार्थपरायणता राज्यके लिये हालाहलका काम करती है। जब भोगलोलुप राज्याधिकारी राजशक्तिके दबावसे अपनी व्यक्तिगत भोगेच्छा पूरी करनेके लिये प्रजासे धन ऐंठनेवाले बन जाते हैं, तब वह राज्य-संस्था प्रजाके अनुमोदनसे वंचित होकर नष्ट होजाती है। राज्य-संस्थाको प्रजाका हार्दिक अनुमोदन मिलते रहनेके लिये राज्याधिकारियोंमें स्वेच्छाचारिता नहीं आनी चाहिये। वे अपनी स्वेच्छाचारितापर पूरा अंकुश रखें तब ही किसी राज्यका राज्यैश्वर्य सुरक्षित रह सकता है। राष्ट्रमें राज्यश्रीको सुरक्षित रखनेके लिये राज्यके प्रत्येक कर्मचारीका इन्द्रियविजयी सन्त महात्मा होना अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। इतिहास साक्षी है कि जब जब राज्याधिकारियोंकी स्वेच्छाचारिता नहीं रोकी गई, तब तब राजाओंके ऐश्वर्य प्रकुपित प्रजाके द्वारा अनेकों बार धूलमें मिलाये जा चुके हैं। जबतक राज्याधिकारी लोग अपनी इन्द्रियोंको संयत रखना अपना पवित्र कर्तव्य नहीं मान लेते, तबतक

वे राज्यसंस्थाको कभी सुरक्षित नहीं रख सकते। इन्द्रियोंपर विजय न पानेवाले राज्याधिकारी लोग जनताको राज्यका शत्रु बना लेते हैं। अवशेन्द्रिय राजकर्मचारियोंकी भूलें, स्नान करके अपने ही ऊपर धूल फेंकनेवाले हाथीके समान राज्यसंस्थाको मलीमस बना देनेवाली होती है। विषयलोभी राजकर्मचारियोंकी भूलें अपनी राज्यसंस्थाको अपयश दिलानेवाली, उसे अश्रद्धेय तथा घृणास्पद बना डालनेवाली होती हैं।

पाठान्तर— राज्यस्य मूलमिन्द्रियजयः।

(इन्द्रियजयका मूल)

इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः ॥ ५ ॥

विनय ही इन्द्रियोंपर विजय पानेका मुख्य साधन है।

विवरण-विनीतोंकी संगतमें रहकर उनसे शासनसम्बन्धी सत्यासत्यका विचार सीखकर सत्यको पहचानकर, सत्यके माधुर्यसे मधुमय होकर, अहंकार त्यागकर सत्यके बोझके नीचे दबकर नम्र हो जाना विनय अर्थात् सत्याधीन होजाना है। पात्रापात्रपरिचय, व्यवहारकुशलता, सुशीलता, शिष्टाचार सहिष्णुता उचितज्ञता, न्यायान्यायबोध तथा कार्याकार्यविवेक आदि सब विनयके ही व्यावहारिक रूप हैं।

विनयी मनुष्यकी इन्द्रियां उसकी सुविचारित स्पष्ट आज्ञाके बिना संसारमें कहीं एक पैर भी नहीं डालतीं। उसकी इन्द्रियोंके पैरोंमें शमकी वह भारी शृंखला पडी रहती है जो उन्हें कुमार्गमें जाने ही नहीं देती। नम्रता सुशीलता आदि सब विनीत मनके धर्म हैं। मनके धर्मपरायण होते ही इन्द्रियां अपने आप विजित हो जाती अर्थात् विजित मनके प्रति आत्मसमर्पण करके रहने लगती हैं। विनयी मानव अपनी स्थिरता तथा धीरताके प्रभावसे अपनी इन्द्रियोंपर वशीकार पाकर रहता है। अविनीत मनुष्य अविमृश्यकारी होता है। उसकी इन्द्रियां प्रत्येक समय उसे अधिकारहीन

तथा अनुचित भोगोंके लिये उत्तेजित करती रहती हैं। राज्याधिकारी लोग अपने विनयसे ही राष्ट्रके लोकमतको वशमें रख सकते हैं। इतिहास बताता है कि बहुतसे राजा लोग अविनयसे ऐश्वर्यसहित ध्वस्त हो चुके हैं। इसके विपरीत बहुतसे लोग विनयके कारण झोंपड़ोंके निवासी होकर भी राज्य पाकर गये हैं। इसलिये राज्याधिकारी लोग पवित्र ज्ञानवृद्धोंकी संगत किया करें और उनसे विनय सीखकर विनीत बनें। यदि वे विनीत नहीं बनेंगे तो वे मस्तकसे मालाको उतार फेंकनेवाले मस्त हाथीके समान राज्यश्रीको नष्ट-भ्रष्ट कर डालेंगे। विनयके विना उनकी स्वेच्छाचारिता रुकना असंभव है और उसके रहते हुए उनका राज्य खो बैठना सुनिश्चित है।

(विनयका मूल)

विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा ॥ ५ ॥

ज्ञानवृद्धोंकी सेवा विनयका मूल है।

विवरण- विनय अर्थात् नैतिकता, नम्रता, उचितज्ञता, शासनकुशलता, आदि रूपोंवाली सत्यरूपी स्थिर संपत्ति अनुभवी ज्ञानवृद्ध लोगोंकी सेवामें श्रद्धापूर्वक बार बार ज्ञानार्थी रूपमें उपस्थित होते रहनेसे ही प्राप्त होता है। मनुष्यको ज्ञानवृद्धोंके सत्संगसे सत्यरूपी स्थिर धन प्राप्त होजाता है। मनुष्य विद्या, तपस्या और अनुभवसे ज्ञानवृद्ध बनता है। ज्ञानवृद्धोंके पास जाकर उनकी योग्य परिचर्या करते हुए जिज्ञासु या शुश्रूषु बने रहना वृद्ध सेवा कहाती है। ज्ञानवृद्धोंके पास बार बार जाते रहनेसे उनकी विद्या, तपस्या तथा उनके दीर्घकालीन अनुभवोंसे लाभ उठानेका अवसर मिल जाता है। ज्ञानवृद्ध लोग पात्रसे बाहर बहना त्यागकर भंडारमें आ जानेवाली शरत्कालीन नदियोंके समान मर्यादापालक तथा कार्याकार्यविवेकसंपन्न होते हैं। दण्डनीति तथा व्यवहारकुशलताके पाठ ऐसे ज्ञानवृद्धोंसे ही सीखे जा सकते हैं। ज्ञानवृद्धोंकी सेवासे विनीत राजा ही प्रजाको विनयके पाठ सिखा सकता है और राज्य भोग सकता है।

(शासन-कुशलता सीखनेका साधन)

वृद्धसेवाया विज्ञानम् ॥ ७ ॥

विजिगीषु मनुष्य वृद्धोंकी सेवासे व्यवहार कुशलता या कर्तव्याकर्तव्य पहचानना सीखे ।

विवरण— विज्ञान अर्थात् ज्ञानकी परिपक्वावस्था अर्थात् यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति किंवा अपने ज्ञानको व्यवहारभूमिमें ला खडा करनेकी कला अर्थात् कार्यकुशलता या कर्तव्याकर्तव्यका समुचित परिचय तब प्राप्त है, जब मनुष्य आग्रह और श्रद्धासे ज्ञानवृद्धोंके पास निरन्तर उठता बैठता रहता, उनके वातावरणका अंग बनकर रहता, उन्हें अपनी भूलें बताने और उनपर निः-शंक टोकते रहनेका अप्रतिहत असीम अधिकार देकर रखता है । ज्ञानवृ-द्धोंकी श्रद्धामयी सेवासे जहां विनय प्राप्त होता है वहां विज्ञान अर्थात् कार्यकुशलता भी आ जाती है ।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥

जिन सभाओं या समाजोंमें अनुभवी वृद्ध न होकर अवृद्धसेवी तथा अनुभवहीन लोग भर लिये जाते या उन्हींका बोलबाला हो जाता है, वे सभायें सभा, और वे समाज सभ्य समाज नहीं कहे जा सकते । वे वृद्ध वृद्ध नहीं होते, जो (आत्मविक्रय करके, दलगत राजनीतिके भाग [पुरजे] बनकर अपनी स्वार्थकलुषित महत्वाकांक्षा परितृप्त करनेकी दुरभिसंधिसे, व्यवस्थापरिषदोंमें व्यवस्थानिर्माता और सामाजिक विवाद प्रसंगोंमें निर्णायक बनकर जा तो बैठते हैं परन्तु) धर्म या न्यायकी बात मुँहपर नहीं ला सकते । (जो धर्मके निःशंक वक्ता नहीं होते, वे किसी भी प्रकार वृद्ध विद्वान् या विवेकी नहीं कहे जा सकते) वह धर्म धर्म नहीं है, जिसमें

सत्य नहीं है, (अर्थात् जिस धर्ममें मनुष्यकी अन्तरात्मा नहीं बोल रही है, जिसे मनुष्य किसी संसारी प्रभावमें आकर ऊपरवाले मनसे कहता है वह धर्म नहीं होता) वह सत्य सत्य नहीं है, जिसमें छलका मिश्रण होता है (और जिसमें बातोंको तोड-मरोडकर घुमा-फिराकर कहा जाता है ।)

(योग्य शासक बननेकी विधि)

विज्ञानेनात्मानं संपादयेत् ॥ ८ ॥

राज्याभिलाषी लोग विज्ञान (व्यवहारकुशलता या कर्तव्याकर्तव्यका परिचय) प्राप्त करके (अर्थात् सत्यको व्यवहार भूमिमें लाकर या अपने व्यवहारको परमार्थका रूप देकर) अपने आपको योग्य शासक बनायें ।

विवरण- आदर्शशासक तथा चतुरशासक बनना राज्याभिलाषियोंका सबसे मुख्य कर्तव्य है। अपनेको ऐसा बनाना राज्योपार्जनसे भी अधिक महत्वका काम है। बिल्लीके भारसे टूटे छींकेके समान राज्य तो अयोग्य लोगोंको भी मिल जाता है, परन्तु चतुर आदर्शशासक बनना उससे कहीं अधिक महत्व रखता है। इसलिये शासकीय विभागमें जानेके इच्छुक लोग शासन विभागको अपने स्वार्थसाधनका क्षेत्र न समझकर उसमें सेवाभावसे जायें। वे शासकीय योग्यता सम्पादनके महत्वपूर्ण काममें प्रमाद न करें। यदि वे इसमें प्रमाद करेंगे तो न तो स्वयं कहींके रहेंगे और न राज्यसत्ताको स्थिर रहने देंगे।

यदि राजकीय विभागोंमें जानेवाले लोग जितेन्द्रियताको अपना आदर्श बना लें, योग्य बनें, अपने आपको प्रजाके सामने अनुकरणीय चरित, आदर्श पुरुषके रूपमें रखें, तो अनुकरणमार्गी संसार राजचरित्रका अनुसरण करके धर्मारूढ हो जाय और तब दुश्चारित्र्य देशसे स्वयमेव निर्वासित हो जाय। राज्याधिकारी लोगोंके धर्मको पालने लगनेपर प्रजामें अपने आप धर्मकी रक्षा होने लगती है। भारतमें ठीक ही कहा है—

आत्मानमात्मना रक्षन् चरिष्यामि विशांपते ।

मैं अपने विज्ञानी विवेकी मनसे अपनी रोक-थाम करता हुआ राज्य-व्यवहार चलाया करूंगा ।

(आत्मविजयी)

सम्पादितात्मा जितात्मा भवति ॥ ९ ॥

शासकोचित सत्य व्यवहार करना सीख लेनेवाला ही जितेन्द्रिय हो सकता है ।

विवरण— मनुष्यकी सत्यनिष्ठा या कर्तव्यपरायणता ही उसकी जितात्मता या जितेन्द्रियता होती है । मनुष्यके अन्तरात्माकी प्रसन्नता निर्मलता स्वच्छता या निष्कामता ही उसकी जितात्मता है । जितात्मा होना ही संसार विजय है । नीति तथा विज्ञानसे युक्त मानवको संपादितात्मा कहा गया है । सत्य ही नीतिका सार या सर्वस्व है । सत्यके बिना मनुष्यका आत्मविकास नहीं होता । सत्यदर्शनके विना समस्त प्रजावर्गमें राज्याधिकारियोंकी वह आत्मबुद्धि (अर्थात् समस्त प्रजावर्गको अपना ही रूप देखनेकी वह उदात्त भावना) नहीं हो सकती जो एक अच्छा लोककल्याणी राज्य चलानेवाले राजाओं या राज्याधिकारियोंकी अनिवार्य आवश्यकता है । जितात्माका अर्थ सुपरिष्कृत मन तथा सुपरिष्कृत इन्द्रियोंवाला बनजाना है । जितात्मा मानव न्यायान्यायविवेक करके अपनी क्षुद्र प्रवृत्तियोंको, विषको अपने गलेमें ही रोक रखनेवाले विषकण्ठ महादेवके समान, कभी न उभरने देनेके लिये अपने मानसमें दाबकर बैठ जाता और स्वभावसे प्रजाका पूज्य, आदरणीय तथा श्रद्धेय बन जाता है। राजाको प्रजाकी दृष्टिमें पूज्यबुद्धि मिलनेसे राजकाज अपने आप हलका होता चला जाता है । तब राजाका आदर्श चरित्र ही प्रजापर शासन करने लगता है । यदि राजा लोग न्यायान्याय तथा कर्तव्याकर्तव्यका विवेक न रखकर केवल लोलुप होकर उत्तरदायित्वहीन मनसे राज्यशासन जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण काममें हाथ डाल देते हैं, तो वे

अपने साथ राज्यसत्ताको भी ले डूबते हैं। राजनीतिके आचार्य बृहस्पति कह गये हैं कि— "आत्मवान् राजा"— राजा लोग अच्छे शासक बननेके लिये प्रजापर शासन करनेसे भी पहले अपने ऊपर शासन करना सीखें। राजा या राज्याधिकारी लोग राजसत्ता हाथमें सिंभालनेसे पहिले अपने जीवनोंको वेद वेदान्तोंकी मूर्तिमती टीका तथा भाष्योंका रूप देकर रखें। राजकीय विभागोंमें जानेवाले लोग कान खोलकर सुन लें कि दुष्टनिग्रह और शिष्टपालन ही राज्यका मुख्य कर्तव्य है। सोचिये तो सही कि जो राजकर्मचारी अपनी ही दुष्ट अभिलाषाओंपर शासन नहीं कर सकता वह शासनदण्डका उचित प्रयोग कैसे कर सकता है? जिससे अपना अकेला मन वशमें नहीं रखा जाता वह विशाल राष्ट्रको कैसे वशमें रख सकता है?

> एकस्यैव हि योऽशक्तो मनसः सन्निबर्हणे।
> महीं सागरपर्यन्तां स कथं ह्यवजेष्यति॥

जो सबसे पहले अपनी दुष्ट अभिलाषाओंपर शासन कर सकेगा वही प्रजाकी दुष्ट प्रवृत्तियोंको पकड और रोक सकेगा। जैसे अपनी सन्तानको सुधारना पिताके आत्मसुधारसे अलग वस्तु नहीं है इसी प्रकार प्रजापर शासन करना राजाके आत्मशासनसे अलग कोई वस्तु नहीं है। राज्याधिकार संभालना बहुत बडा उत्तरदायित्व है। आदर्श मनुष्य ही राज्याधिकार संभाल सकता है। राजा राज्य-संस्थारूपी तपोवनका कुलपति है। समस्त प्रजाके कल्याण अकल्याणसे सम्बन्ध रखनेवाली राज्य जैसी सार्वजनिक संस्थाको अपने व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थोंसे बिगाड डालना देशद्रोह तथा आत्मनाश है। अपनेको बिना सुधारे राज्याधिकार संभाल बैठना अगारुडिक (सर्प विद्या न जाननेवाले) का सांपोंसे खेलने जैसा भयंकर अनिष्ट कर डालनेवाला व्यापार है।

(जितात्मताका लाभ)

जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्येत ॥ १० ॥

जितात्मा नीतिमान लोग समस्त संपत्तियोंसे संपन्न होकर रहें।

विवरण— अपनेपर विजय पा चुकनेपर राज्यसंस्थामें हाथ डालनेवाले

जितेन्द्रिय लोग जिस काममें हाथ डालते हैं उसे पूरा करके समस्त संपत्तियोंसे संपन्न हो जाते हैं। ऐश्वर्य और सिद्धियां जितेन्द्रियोंके पास आनेके लिये उतावली हो जाती हैं। वे लोग सामाजिक कार्योंको अपनी निर्लिप्त मानसिक स्थितिके सहारेसे पौरुषके साथ करनेकी योग्यता पा जाते हैं। इसीलिये आत्मविजय सम्पत्तिके अर्जनसे पहला काम है। अजितात्मा लोग अनिवार्य रूपसे सत्कर्मोंमें उदासीन होते हैं। ऐसे कापुरुषोंका अनीतिपरायण होना अनिवार्य होता है। अनीतिपरायणता ही राज्य-तन्त्रकी असफलता है। आचार्य बृहस्पतिने भी कहा है- "गुणवतो राज्यम्"- राज्यमें गुणी लोगोंका ही अधिकार है। जितेन्द्रियता ही राज्याधिकारकी योग्यता या गुण है। राज्य करना केवल वेतनार्थी, उत्कोच-जीवी, निर्गुण, उदरम्भरि भोजनभोगपरायण लोगोंका काम नहीं है। राज्य-संस्था तो सद्गुणी लोगोंकी तपस्याका पवित्र तपोवन है। घटना-चक्रवश निर्गुणोंको राज्याधिकार मिल जानेपर उनकी राज्य-संस्थाकी दुर्गति और प्रजामें असन्तोष, रोष तथा हाहाकार फैल जाना अनिवार्य हो जाता है। राजकीय गुणोंसे रहित लोगोंका राज्याधिकार तो एक प्रकारका लूटका ठेका होता है। राजशक्तिका अयोग्य हाथोंमें आ जाना राष्ट्रका महान् दुर्भाग्य है।

पाठान्तर- जितात्मा सर्वार्थैस्संयुज्यते।

(प्रजाकी संपन्नता तथा राजभक्तिका कारण)

अर्थसंपत् प्रकृतिसंपदं करोति ॥ ११ ॥

राजाओंकी अर्थसम्पत्तिसे प्रजाओंके भी अर्थकी वृद्धि स्वभावसे हो जाती है।

विवरण— शासनकी सुव्यवस्था राजा-प्रजा दोनोंको सम्पन्न बना देती है। राज्यकी आर्थिक संपन्नता या उसका ऐश्वर्यलाभ ही प्रजाकी अर्थवृद्धि कर सकता या प्रजाको राज्यसंस्थामें अनुरक्त बनाकर रख सकता है।

(प्रजाकी गुणवृद्धिका कारण)

पाठान्तर— स्वामिसंपत् प्रकृतिसम्पदं करोति।

राज्याधिकारियोंकी नीतिमत्ता सत्यपरायणता तथा विवेकितासे प्रजामें नीति, सत्यनिष्ठा तथा विवेककी वृद्धि हो जाती है।

यदि राजा राज्याधिकारी या स्वामी उक्त संपूर्ण राजकीय गुणोंसे सम्पन्न होता है (अर्थात् यदि वह नीतिमान विनयी ज्ञान-विज्ञान-संपन्न होता है) तो अमात्य, राजकर्मचारी तथा प्रजा भी इन सब गुणोंसे संपन्न बन जाती है। प्रजा पाप-पुण्य, नीति-अनीति, न्याय-अन्याय आदि प्रत्येक बात राजचरितसे सीखती है।

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥

राजाके धर्मात्मा होनेपर प्रजा धर्मात्मा, पापी होनेपर पापी, सम होनेपर सम बन जाती है। प्रजा तो राजचरित्रका अनुसरण किया करती है। जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा बन जाती है।

प्रकृति शब्द मन्त्रियों राजकर्मचारियों तथा देशके करदाता नागरिकोंका वाचक है। राजाके सुनिपुण तथा पूर्ण संयमी होकर राष्ट्रव्यवस्थाका संचालन करनेपर ही राष्ट्रकी मानसिक तथा बौद्धिक योग्यता बढ़ती है। राजाको समस्त प्रजाको अपने औरस पुत्रोंके समान पालना चाहिये। राजा वही सफल हो सकेगा और वही चिरकालतक राज्यश्री भोग सकेगा जो प्रजाको अपने ही विराट परिवारके रूपमें देखेगा और उसके हिताहितमें पूरा पूरा सम्मिलित होकर रहेगा। जो राजा या राजकर्मचारी अपने स्वार्थको प्रजा या राष्ट्रके स्वार्थसे अलग रखेगा, वह राष्ट्रका तथा अपना दोनों ही का नाश करके मानेगा। यही बात मार्कण्डेय पुराणमें " प्रजाः पुत्रानिवौरसान् " में कही है।

(प्रजाजनोंकी गुणवृद्धिसे राष्ट्रका महालाभ)

प्रकृतिसम्पदा ह्यनायकमपि राज्यं नीयते ॥ १२॥

प्रजाजनोंके नीतिसम्पन्न होनेपर किसी कारण राजाका अभाव हो जानेपर भी राज्य सुपरिचालित रहता है।

विवरण— नीतिमान राजाके प्रभावसे मंत्रिगण राजकर्मचारी तथा कर देनेवाली प्रजाके प्रमुख पुरुष भी राजोचित नीति, विनय, कर्मकौशल, न्यायान्याय कार्याकार्य विवेकसे संपन्न हो जाते हैं। तब राजाके असाध्य रोगी या अकस्मात् अन्त हो जानेपर भी उस राज्यका परिचालन यथापूर्व बना रहता है। देशका जनमत योग्य राज्यसत्ताके प्रभावसे सुशिक्षित होकर स्वयं ही राज्यसंस्थाका संचालक बन जाता है। बात यह है कि जनमतके अतिरिक्त राज्यसत्ताको जन्म देनेवाली और कोई शक्ति नहीं है। इसलिये नीतिमान लोकमत राजाके शून्य पदपर अधिकार करके अनायक राज्यका कर्णधार बनकर स्वयं ही प्रजामें शान्तिका संरक्षक बन जाता है। वह शान्त वातावरणमें लोक कल्याणकी दृष्टिसे राजाके योग्य उत्तराधिकारीका राज्याभिषेक करके राज्यको सनायक बना लेता है। प्रबुद्ध लोकमत, राजाका अन्त हो जानेपर राजसिंहासनको उसके अयोग्य पुत्रों या अन्य महत्वाकांक्षी लोगोंके आघात-प्रतिघातोंकी लीलाभूमि नहीं बनने देता। देशमें शक्तिशाली जनमत न होनेपर ही शून्य राजसिंहासनपर उसके उत्तराधिकारियोंको आत्मकलह करनेका अवसर मिलता है। राजाके अयोग्य उत्तराधिकारियोंको इस प्रकार कलह करने देनेके परिणामस्वरूप अयोग्य लोग राज्यकी बागडोर हथिया लेते और राष्ट्रको अधःपतित कर डालते हैं। इस प्रकारके दुष्ट उदाहरण इतिहासोंके पृष्ठोंको सदासे कलंकित करते आ रहे हैं।

अनीतिपरायण राजसत्ताके कुप्रभावसे प्रजाके अधःपतित हो जानेका वर्तमान उदाहरण स्वयं आजका भारत है। नीतिहीन विदेशी राजशक्तिने यहांके जनमतको जानबूझकर नहीं जागने दिया और वह भारत त्यागनेके अवसरपर भारतमें जो अनर्थ उत्पन्न करके गई है, उसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। यदि भारतका जनमत सुशिक्षित तथा राज्यशक्तिका स्थान ग्रहण करनेकी योग्यतासे समृद्ध होता, तो न तो भारतमाताको दो विवदमान (लडने-झगडनेवाले) खंडोंमें बंटना पडता और न दोनों भागोंकी राजसत्तापर पार्टीबाज स्वार्थी लोगोंका अधिकारसंघर्ष चल पाता।

सूत्र विशेष रूपसे इस बातका संकेत कर रहा है कि जनमत सुशिक्षित

होकर या तो स्वयं ही राजशक्ति बनकर रहे या राजशक्तिका सुदृढ नेतृत्व करे, यही राष्ट्रकी शान्तिको सुरक्षित रखनेका एकमात्र उपाय है। देशके लोकमतके इस आदर्शको अपनालेनेपर ही राज्यव्यवस्थाको अयोग्य हाथोंमें जानेसे रोका जा सकता तथा शक्तिशाली स्वतन्त्र राष्ट्रका निर्माण किया जा सकता है। वृद्ध कह गये हैं—

राजानं प्रथमं विन्द्यात्ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकेऽस्मिन् कुतो भार्या कुतो धनम्॥

सुखी जीवन बितानेके इच्छुक लोग सबसे पहले अपने देशमें न्यायकी संरक्षक, सुपुष्ट, अनभिभवनीय, अदम्य, अप्रकम्प्य, अधृष्य राजशक्ति खडी करें। इसीमें उनके कल्याणका रहस्य छिपा है। उससे पहले पत्नी और धनधान्यका संग्रह करनेका कोई अर्थ नहीं है। ये तो सुपुष्ट सुविश्वस्त राजशक्ति बनाचुकनेके पश्चात् संग्रह करनेकी वस्तु हैं। सुविश्वस्त राजशक्तिके बिना भार्या और धन अरक्षित हो जाते हैं। राजशक्तिकी निर्बलतासे अपना सर्वस्व लुटवा कर नष्ट हुआ पंजाब तथा बंगाल इस वृद्ध प्रतिपादित सिद्धान्तके दुःखद उदाहरण हैं। पंजाब बंगालवाले उदाहरणोंसे हमारे राष्ट्रके लोगोंको शिक्षा लेनी चाहिये और अपनी राजशक्तिको पवित्र और पुष्ट बनाये रखनेमें अबतकवाली उदासीनता न बरतनी चाहिये। यह जान लेना चाहिये कि राजशक्ति हमारी ही प्रतिनिधि संस्था है। उसका सुधार हमारा ही आत्मसुधार है। यदि हम लोग अपनी राजशक्तिको इसी प्रकार उत्तरदायित्वहीन ढीली-ढाली बनी रहने देंगे तो इस प्रकारकी दुर्घटनाओंकी पुनरावृत्ति होना केवल संभव ही नहीं प्रत्युत अनिवार्य है।

इस सूत्रके अनुसार ११ सूत्रका पाठान्तर उचित है।

प्रकृतिकोपः सर्वकोपेभ्यो गरीयान्॥ १३॥

राज्यके विरुद्ध जनरोष समस्त रोषोंसे भयंकर होता है।

विवरण— मन्त्रियों, राजकर्मचारियों या कर देनेवाली प्रजाओंमें राज्यके

विरुद्ध रोष उत्पन्न होजाना समस्त अनर्थोंसे भयंकर है। प्रजावर्गकी शुभेच्छा और स्वीकृति ही राज्यसंस्थाका मूल है। जनमतमें राज्यसंस्थाके संबन्धमें क्षोभ या रोष उत्पन्न होजाना, राज्यसंस्थाके लिये महा अनिष्टकारी है। जब प्रजावर्ग राज्यके दुष्प्रबन्ध तथा दुष्ट राजकर्मचारी रूपी भेड़ियोंके उत्पीडनोंसे त्रस्त होकर, कानूनको हाथमें ले लेनेके लिये विवश कर दिया जाता है तब राज्यसंस्थाओंके नष्ट होनेमें एक क्षण भी नहीं लगता। एक बलवान नारा लगनेकी देर होती है कि राज्यसंस्था धूलमें मिल जाती है। इसलिये राज्याधिकारी लोग जनतामें अपनी राज्यसंस्थाके प्रति क्षोभ पैदा करनेवाले कामोंसे बचें, प्रजा दुःशासन, अन्याय, उत्पीडन, दुर्भिक्ष, भूकम्प, महामारी, जलप्रलय, कुशिक्षा, भ्रष्टाचार, उत्कोच आदि कष्टोंसे कुपित हो जाती, राज्यसंस्थासे द्वेष मानने लगती, और अन्तमें द्रोह करनेपर उतर आती है। प्रजाका राज्यके प्रति रोष महामारियों तथा वैदेशिक आक्रमणोंसे भी अधिक विनाशक होता है। इसलिये प्रजाको शान्त तथा राज्यसंस्थाका प्रेमी बनाकर रखना राज्याधिकार संभाल कर बैठनेवालोंका सबसे पहला काम है। राज्यसंस्थाका जीवन और स्थिरता प्रजाकी मानसिक सन्तुष्टिपर ही निर्भर होता है। प्रजाके असन्तुष्ट रहनेपर अचिर भविष्यमें राज्यसंस्थाकी हानि तथा राष्ट्रकी दुर्गति अनिवार्य हो जाती है।

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तःप्रकृतिप्रकोपजः।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः॥

(भारवि)

जैसे वृक्षकी शाखाके अग्रभागके संघर्षणसे उत्पन्न अग्नि अकेले उसी वृक्षको नहीं किन्तु उस समस्त पर्वतको तथा उस समस्त वनको फूंक डालता है, जिसमें वह वृक्ष खड़ा होता है, इसी प्रकार राज्यके किसी भी क्षुद्रसे क्षुद्र व्यक्तिके न्यायसंगत रोषसे उत्पन्न छोटासा भी विग्रह समग्र प्रभुसत्ताको धूलमें मिला डालनेवाला बन जाता है। इसलिये राज्याधिकारी लोग प्रजाके रोषको

क्षुद्र रूपमें न देखकर भावी परिणामोंको सहस्रगुणा करके देखें और उसे उत्पन्न न होने देनेकी पूरी सावधानी रखें।

(पंचायती राज्यकी कल्पना)

अविनीतस्वामिलाभादस्वामिलाभः श्रेयान् ॥ १४ ॥

अयोग्यको राजा बनानेसे किसीको राजा न बनानेमें राष्ट्रका कल्याण है। अयोग्य एकाधिपत्यसे राज्यको पंचायती राजका रूप देना हितकर है।

विवरण— नीतिहीन, सत्यहीन, समुद्धत, अन्यायी, अत्याचारी, स्वार्थी मनुष्यको राजा बनानेसे राजहीन रहना ही राष्ट्रके लिये हितकारी होता है। राजा बनानेके लिये कोई विनीत व्यक्ति न मिले तो राजा बनानेकी योग्यता तथा अधिकार रखनेवाले सुशिक्षित जनमतका अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि राज्यतन्त्रको अपने ही हाथोंमें रखकर गणतन्त्रताकी स्थापना कर ले। किसीको राजा बनाना राष्ट्रकी अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। सुव्यवस्थामात्र राष्ट्रकी अनिवार्य रूपसे वांछनीय आवश्यकता है। सत्यहीन राजाको सिंहासनारूढ न रहने देना तथा सत्यनिष्ठको ही राजा बनाना जनमतका ही उत्तरदायित्व है और यह उसीका पवित्र कर्तव्य भी है। जनमतकी सत्यानुकूल सामूहिक इच्छायें ही राजशक्ति हैं। यों भी कह सकते हैं कि सत्य ही राजशक्ति है। देशका जनमत सत्यहीन व्यक्तिको राजा न बनाने या हटा देनेपर अपनी स्वतन्त्र सामूहिक चिन्ताशक्तिसे अशान्तिका दमन करनेवाली शक्तियोंको अपने हाथमें लेनेका अवसर पाता है। जब देशका सुशिक्षित जनमत मिल-जुलकर अपनी सामूहिक सदिच्छासे राज्यसत्ता संभालनेके लिये खडा हो जाता है तब उसके लिये राज्यसंचालन कठिन काम नहीं रहता। परिवर्तनसे डरकर सत्यहीन राजाको राजा रहने देने और सत्यहीन राजकर्मचारीको राज कर्मचारी बनाये रखनेमें, यह दोष रहता है कि ये लोग अपने पदोंपर रहकर प्रजाकी अशान्तिदमनकारिणी शक्तियोंको दाबकर बैठ जाते हैं और देशमें अशान्तिकी ज्वालाको भडकते रहनेकी

छूट देते रहते हैं। ऐसी अवस्थामें लोकमतका कर्तव्य हो जाता है कि सत्य-हीन व्यक्तिको राजा न रहने दें तथा सत्यहीन राजकर्मचारीको उसके पदसे हटाकर मानें।

राज्यसत्ताके दुष्टनिग्रह, शिष्टपालन तथा सुशासन ये तीन काम हैं। ये तीन काम न करनेवाली नीतिहीन राज्यसत्ता या राजाकी संपत्तियें शीघ्र नष्ट हो जाती हैं।

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
अरक्षितारं राजानं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥ (विदुर)

बिलके निवासी चूहे आदि जन्तुओंको खाजानेवाले सांपके समान भूमि भी अरक्षक राजा तथा गुणसंग्रहके लिये प्रवास न करनेवाले ब्राह्मण, इन दोनोंको ग्रस लेती हैं।

पाठान्तर— 'अविनीतस्वामिभावादस्वामिलाभः श्रेयान्।'
स्वामीके अविनीत होनेसे स्वामिहीन रहना श्रेष्ठ है।

सम्पाद्यात्मानमन्विच्छेत् सहायवान्॥ १५॥

राजा अपनेको राजोचित गुणोंसे सम्पन्न बनाकर अपने ही जैसे गुणी सहायकों या सहधर्मियोंको साथ रखकर राजभार लेना चाहे।

विवरण— जब राजा या राज्याधिकारी पहले अपने आपको अपनी इन्द्रियोंको तथा मनको नीति, सत्य, विनय आदि शासकोचित गुणोंसे सम्पन्न बना लें (जब वे सर्व प्रकारके कलुषित आचरणोंसे अतीत रहनेका सुदृढ निश्चय कर लें) तब ही राज्यसंस्थामें हाथ लगायें और तब भी योग्य गुणी साथि-योंको साथ लेकर उसमें जाना चाहें। राज्यसंस्थामें एकतन्त्रता एकछत्रता या निर्बाध भोगसुखके मूढ सपने न देखें। वे अपने आपको बुद्धिमान सदाचारी व्यवहारकुशल मन्त्री, पुरोहित, अमात्य, भृत्य आदि हितैषियोंकी सदिच्छाओंका अनुयायी बनाये रखकर ही सुखसमृद्धि चाहें और सहायक

हीन होनेकी भूल कभी न करें। अपने ऐसे धार्मिक प्रभावशाली गुणी साथी रखें जो राजकीय प्रमाद, अन्याय या अत्याचारका प्रबल विरोध कर सकें और उसे रोक सकें। चाटुकारोंको अपना साथी न बनायें। राज्योंकी स्थिरता, समृद्धि, यश और सफलता सहायकोंकी ही योग्य छांटपर निर्भर करती है। राजा लोग शौर्य, ज्ञान, विज्ञान तथा नीतिसे संपन्न सहकर्मियोंको लघुबुद्धिसे उपेक्षित न कर बैठें।

पाठान्तर- सम्पाद्यात्मानमन्विच्छेत् सहायान्।

राजा अपनेको योग्य बनाकर अपने योग्य सहकारी नियत करे।

नासहायस्य मन्त्रनिश्चयः ॥ १६ ॥

मन्त्रिपरिषद्की बौद्धिक सहायतासे हीन अकेला राजा अपने अकेले सीमित अनुभवोंके बलसे राज जैसे सुदूरव्यापी जटिल कर्तव्योंके विषयमें उचित निर्णय नहीं कर सकता।

विवरण— "सब, सबकुछ नहीं जान सकते" की लोकोक्तिके अनुसार एक मनुष्यके अपने पराये राष्ट्रोंकी परिस्थितियोंसे परिचित न होसकनेके कारण स्वपरराष्ट्रसंबद्ध कर्तव्योंके निर्णयमें स्वदेशसंबंधी तथा वैदेशिक दोनों प्रकारका अनुभव रखनेवाले सूक्ष्मदर्शी, प्रतिभाशाली, अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति, अनुभवी विद्वान् मन्त्रियोंसे मन्त्रणा करना आवश्यक होता है। स्वराष्ट्र पर्राष्ट्रके संबंधमें सोचते समय दोनों राष्ट्रोंकी समस्त परिस्थितियें तथा आवश्यकतायें चित्रलिखितके समान ध्यानमें होनी चाहियें और उस ध्यानसे अपने राष्ट्रकी समस्त आवश्यकताओंकी रक्षा होनी चाहिये। उन उन विषयोंके विशेषज्ञ मन्त्रियोंके बिना न तो स्वराष्ट्रपरराष्ट्रविषयक उचित संवाद चल सकते और न उन संवादोंमें से कोई लाभकारी परिणाम निकाला जा सकता है। इसलिये राज्याधिकारियोंको प्रभावशाली बुद्धिमान् मन्त्रियोंकी आवश्यकता रहती है।

"सहायसाध्यत्वं राज्यत्वम्" राज्यसंस्था व्यक्तिगत संस्था नहीं है।

इसमें सहायकोंकी अनिवार्य आवश्यकता है। राज्यकी समस्यायें समस्त राष्ट्रकी समस्यायें होती हैं। इसलिये राजा या राज्याधिकारी लोग अपने राज्यमें से व्यवहारकुशल चरित्रवान् सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमानोंका संग्रह करके, उनके अनुभवोंसे लाभ उठाकर, अपने राष्ट्रको विपत्तियोंसे भी बचायें और संपन्न भी करें। महामन्त्री, सेनापति, राज्यश्रेष्ठी, प्रधान न्यायाधीश, राज्यके चार सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति, सब प्रकारकी सेनाओंके एक एक मुखिया, पुरोहित, अमात्य आदि राजाके सहायक कहाते हैं। समाजके ललामभूत इन योग्य अधिकारियोंके कारण भारतके एकछत्र कहलानेवाले राज्य भी सदासे प्रजातंत्र रहते आरहे हैं। वयस्कमताधिकार नामवाला योरोपसे भारतमें उधार लाया हुआ प्रजातंत्र इसलिये प्रजातंत्र नहीं है कि वयस्क होजानेमात्रसे किसीका मन इतना संस्कृत नहीं हो जाता कि उसके मुखसे समस्त प्रजाकी सदिच्छायें व्यक्त होने लगें। राज्याधिकारपर प्रजाके तपस्वी व्यवहारकुशल विद्वानोंका प्रभावशाली होकर रहना ही प्रजातंत्र कहला सकता है। प्रजाकी सामूहिक सदिच्छाओंका राज्यतन्त्रपर प्रभावशाली (हावी) रहना ही तो प्रजातंत्रकी परिभाषा है। प्रजाके निष्कर्षभूत योग्य सदाचारी व्यवहारकुशल विद्वानोंके मुखसे प्रजाकी सदिच्छायें न केवल व्यक्त अपितु राज्यतंत्रपर प्रभाव रखनेवाली होकर उस एकतंत्र दीखनेवाले राज्यको भी प्रजातंत्र ही बनाये रखती हैं। राजाको व्यवहारकुशल सदाचारी विद्वानोंको सदा अपना सहयोगी बनाये रखना चाहिये। राष्ट्रीय कर्तव्योंके विषयमें इन सब लोगोंका ऐकमत्य होजाना ही 'मन्त्र' कहाता है।

नैकं चक्रं परिभ्रमयति ॥ १७ ॥

जैसे रथका अकेला चक्र रथको नहीं चला पाता इसी प्रकार राजा तथा मन्त्रिपरिषद्रूपी दो चक्रोंसे हीन एकतन्त्र राज्य रथ अकार्यकारी हो जाता है।

विवरण— राज्यमें एकतन्त्रताके सुपने देखनेवाला राजा राज्यसंस्थाको अव्यवस्थित करके राष्ट्रमें अराजकता फैलानेवाला बनजाता है। सहायसाध्य

सार्वजनिक कार्योंमें अकेले अकेले मनुष्योंकी कोई उपयोगिता नहीं होती। अनुभवी मन्त्रियोंकी व्यवहारकुशल सम्मतियोंके बिना अकेला राजा राष्ट्रमें अनर्थ खड़ा कर देता है। राज्य राजाओंकी पारिवारिक समस्या नहीं है। इसमें उन्हें राष्ट्रके व्यवहारकुशल दूरदर्शी विशिष्ट पुरुषोंकी सहायता लेनी ही चाहिये। इसीलिये कौटलीयमें कहा है—

सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम्॥

राजधर्म योग्य सहायकोंके साहाय्यसे ही पाला जाता है। इसलिये राजा आचार्यों तथा मन्त्रियोंकी बात ध्यानसे सुने और तदनुसार आचरण करके अपने राजदण्डधारणको सार्थक करे।

पाठान्तर— नैकं चक्रं परिभ्रमति।

सहायः समदुःखसुखः ॥ १८॥

सुख-दुःख दोनोंमें अभिन्नहृदय साथी होकर रहनेवाला मंत्री आदि सहायक कहाता है।

विवरण— सुख-दुःखका एकसा अनुभविता और दुःखका एकसा प्रतिकर्ता ही सहायक माना जाता है। सुख-दुःखमें तटस्थ रहनेवाला सहायक या हितैषी नहीं माना जासकता। सहायक लोग समशक्ति, हीनशक्ति तथा प्रबलशक्ति तीन प्रकारके होसकते हैं। यह भेद उनकी परिस्थितिपर निर्भर करता है। ये तीनों प्रकारके सहायक समानभावसे अपनानेयोग्य होते हैं।

पाठान्तर— सहायः समो दुःखसुखयोः।

(मन्त्रोत्पादन)

मानी प्रतिमानिनमात्मनि द्वितीयं मन्त्रमुत्पादयेत् ॥१९॥

समुन्नतचेता स्वाभिमानी राजा प्रबन्धसंबन्धी जटिल समस्याओंके उपस्थित होनेपर अपने ही भीतर दूसरे प्रतिमानी विचारात्मक मन्त्रको उत्पन्न कर लिया करे और निगूढ कार्योंके विषयमें सबसे पहले उस मन्त्रके सहारेसे सोचा करे।

विवरण— राजा विचारणीय समस्याके अनुकूल, प्रतिकूल दोनों रूपों या करने न करने अथवा अन्यथा करनेके समस्त परिमाणोंपर दृष्टि डालनेके लिये उपस्थित विचारणीय कर्तव्यका विरोध करनेवाली प्रतिकूल युक्तियोंको भी विचारचक्षुके सामने ला लाकर अपने निर्णयको अभ्रान्त तथा अखण्ड-नीय रूप देकर कर्तव्यका निर्णय किया करे। वह इन कार्योंके विषयमें अनु-कूल, प्रतिकूल दोनों पक्षोंको स्वयं ही उपस्थित करनेवाला स्वयं ही सम्मति मांगने और स्वयं ही सम्मति देनेवाला द्विभागात्मक बन बन कर कर्तव्यका निर्णय किया करे।

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः।
इति संचिन्त्य कर्माणि प्राज्ञः कुर्वीत वा न वा॥

बुद्धिमान् मनुष्य अपने उपस्थित कार्यके विषयमें मैं इस कामको करूंगा तो उसका क्या परिणाम और प्रभाव होगा? तथा न करूंगा और विपरीत करूंगा तो उसका क्या परिणाम और प्रभाव होगा? यह सब पूर्णांग रूपसे विचार चुकनेपर उचित समझे तो करे और उचित न समझे तो न करे। मनुष्य गहनकार्योंके विषयमें स्वयं ही दोनों पक्ष उपस्थित करनेवाला द्विभागात्मक बन बन कर कर्तव्यनिर्णय किया करे। इसी अभिप्रायसे "राजा प्रज्ञासहायवान्" कहा गया है। कर्तव्यकालमें कर्तव्यनिश्चयके लिये आत्माभिमुख होनेपर वहांसे मन्त्रार्थी मनुष्यको एक निरपेक्ष मन्त्र या स्वतन्त्र सम्मति प्राप्त होती है। यह सम्मति मानवके अन्तरात्मासे प्रसुत होकर आती है। इसीको "आत्मामें प्रतिमानीमन्त्रका उत्पादन" कहा जा-रहा है।

सूत्र कहना चाहता है कि विचारशील मनुष्य बाह्यमन्त्रणादाताके अभा-वमें अपनेको असहाय न मान लिया करे और मन्त्रियोंपर कर्तव्यका समग्र भार डालकर समस्यासे असंपृक्त न होजाया करे। वह समझे कि मन्त्रणा-दाता उसीके मनमें सदसद्विचारबुद्धिका रूप लेकर रहरहा है। अपने हृदयस्थ उस मन्त्रणादाताको अपनी उद्भावनी शक्तिसे अपनी कल्पनामें जाग्रत करके अपने ज्ञानकर्णसे उसका अव्यर्थ उपदेश सुना करे और उससे कर्तव्यपालनमें अभ्रान्त बने।

(मन्त्रीकी नियुक्ति)

पाठान्तर— **मानी प्रतिपत्तिमानात्मद्वितीयं मन्त्रिणमुत्पादयेत्॥**

स्वयं अपनी सूझबूझ रखनेवाला मानी (समुन्नतचेता सम्मानार्ह विचारशील स्वाभिमानी यशस्वी) राजा अपना दूसरा योग्य साथी बनानेके लिये सचिवलक्षणोंसे युक्त अपने अनुकूल किसी सद्गुणी स्वराष्ट्रवासी व्यक्तिको प्रधानमन्त्रीके रूपमें नियुक्त करे।

विवरण— यशस्वी, प्राज्ञ, समृद्ध, उत्साही, प्रभावसंपन्न, कष्टसहिष्णु, कठोरकर्मा, शुचि, मिष्टव्यवहारी तथा राजसंस्थाके साथ सुदृढ अनुराग रखनेवाला स्वराष्ट्रवासी व्यक्ति मंत्री होना चाहिये। यह कौटलीय अर्थशास्त्रमें वर्णित है। मन्त्रियोंके लक्षणोंके विषयमें मत्स्यपुराणमें लिखा है- कि मन्त्री भक्त, शुचि, शूर, आज्ञानुवर्ती, बुद्धिमान्, क्षमी, कार्याकार्यविवेकी, तर्कशास्त्र, वार्ताशास्त्र, त्रयी तथा दण्डनीति आदिका विद्वान् सुदेशज और स्वदेशज होना चाहिये।

राजाको चाहिये कि मुख्य मन्त्रीके अतिरिक्त अन्य मंत्रियोंसे मंत्रणा करनेके प्रसंगपर उन्हें कल्पित घटनायें बता बता कर उनपर इस प्रकार सम्मति लिया करे कि ऐसा हो तो क्या करना चाहिये? मंत्रके विषयमें मुख्य मंत्रीके अतिरिक्त किसीका भी विश्वास करना और किसीको भी मन्त्र बता देना कल्याणकारी नहीं है। इसलिये मन्त्रणाके विषयमें केवल इस एक सुपरीक्षित व्यवहारकुशल उपधाशुद्ध प्रधानमन्त्रीके साथ आलोचना करके ही किसी विषयका अन्तिम निर्णय करे और यह प्रधानमन्त्री उस निर्णयको गुप्त रखनेका पूर्ण उत्तरदायी हो। इससे निश्चय करना इसलिये आवश्यक है कि राजकीय निर्णयोंमें दूसरे विज्ञपुरुषोंकी बुद्धियोंका सहयोग अपेक्षित होता है। इसलिये राजा लोग स्वनिश्चित बातको भी अपने प्रधानमन्त्रीसे पुनर्निश्चय करायें। उस कर्तव्यके विषयकी सविस्तर आलोचनाके लिये प्रधानमन्त्री अपने विभागोंके बहुतसे विशेषज्ञोंके साथ मंत्रणा करके कर्तव्यका

स्वरूप तो निश्चित करलें परन्तु अन्तिम निर्णय न करे। उसके विषयमें अन्तिम निर्णय ही मन्त्र कहाता है। अन्तिमनिर्णय केवल दो व्यक्ति करें। वह मन्त्र केवल प्रधानमंत्री तथा राजाको ही ज्ञात हो। इन दोनोंके अतिरिक्त तीसरे किसी भी व्यक्तिको मन्त्रके स्वरूपका, फलसे पहले ज्ञान न होसकनेकी सुदृढ व्यवस्था होनी चाहिये।

(मन्त्रणाके अयोग्य)

अविनीतं स्नेहमात्रेण न मंत्रे कुर्वीत॥ २०॥

सत्यहीन (कार्याकार्यविवेकहीन) व्यक्तिको केवल स्नेही होनेसे हितकारी रहस्योंकी आलोचनामें सम्मिलित न करे।

विवरण— ऐसा करना संकटशून्य नहीं है। कौटल्यमें कहा है–"कार्यसामर्थ्याद् पुरुषसामर्थ्यं कल्पते"। कार्यकी गुरुता तथा उसके सम्पादनकी योग्यता अयोग्यतासे ही कर्ताकी शक्तिकी कल्पना होती है। उसीसे उसे योग्य या अयोग्य ठहराया जाता है। कार्योंकी निपुणता ही मन्त्रियोंका सामर्थ्य माना जाता है।

(मंत्रीकी योग्यता)

श्रुतवन्तमुपधाशुद्धं मन्त्रिणं कुर्यात्॥ २१॥

तर्कशास्त्र, दण्डनीति, वार्ता आदि विद्याओंके पारंगत तथा गुप्त रूपसे ली हुई लोभपरीक्षाओंसे शुद्ध प्रमाणित व्यक्तिको मंत्री नियुक्त करे।

विवरण— कौटलीयमें मंत्रीके गुण निम्नप्रकार वर्णित हैं। मंत्री स्वदेशज शुद्धवंशज उदात्त संबन्धियोंवाला, राजकीय प्रमादोंपर राजाको दृढतासे रोक और टोक सकनेवाला, समस्त प्रकारके यानोंके संचालन तथा वाहनमें कुशल, युद्ध, आयुध, गान्धर्व आदि विद्याओंमें पारंगत, अर्थशास्त्रका ज्ञाता, स्वाभाविक सूझवाला, अविस्मरणशील अविकत्थनशील शीघ्रकारी मधुरस्मितभाषी, अत्यन्त चतुर, प्रतिकार तथा प्रतिवचनमें समर्थ, पुरुषार्थी,

प्रभावयुक्त कष्टसहिष्णु, शुद्धस्निग्धव्यवहारी, सुदृढ राजानुरागी, शील, बल, आरोग्य तथा बुद्धिसंपन्न, गर्वहीन नम्र, स्थिरबुद्धि, सौम्यमूर्ति, तथा निर्वैर होना चाहिये।

मन्त्रमूलाः सर्वारम्भाः ॥ २२ ॥

भविष्यमें किये जानेवाले सब काम मंत्र अर्थात् कार्यक्रमकी पूर्वकालीन सुचिन्तासे ही सुसम्पन्न होते हैं।

विवरण— उस उस विषयके विशेषज्ञोंके साथ उन कर्मोंकी विधियों, साधनों तथा कर्ताओंकी सांगोपांग चिन्ता ही समस्त कर्मोंकी मूल अर्थात् प्रारंभिक आधारशिला है। कर्मोंके समस्त उपक्रम मंत्रपूर्वक होनेपर ही समीचीन होते हैं। तब उनके सुफलोत्पादक होनेका सुनिश्चित विश्वास होजाता है। सोचकर किये हुए कर्म ही समीचीन होते हैं। सुचिन्तित वचन तथा सुचिन्तित कार्य कभी नहीं बिगडते। सब कर्मोंकी स्थिरता और दृढताकी रक्षा करनेका मूल मन्त्रणामें ही रहता है।

हिताहितविचारकी गुप्त बातें "मन्त्र" कहाती हैं। अपने राष्ट्रकी सुव्यवस्था तथा परराष्ट्रके साथ सन्धि, विग्रह आदि कार्योंके स्वरूपकाका निर्धारण चिन्तापूर्वक करना पडता है। कर्म करनेसे पहले कर्मकी स्वरूपचिन्ता करलेनी चाहिये। उसके पश्चात् उसे करना चाहिये। यही सफलताका सुनिश्चित मार्ग है। इसलिये राजा लोग किसी अविचारित कामको हाथ न लगाकर प्रत्येक काममें, मन्त्रकी नीतिको अपनायें।

महामति चाणक्यने मन्त्रणामें विचारणीय पांच विषयोंका वर्णन इस प्रकार किया है—

कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपत्, देशकालविभागो, विनिपातप्रतिकारः कार्यसिद्धिश्चेति। १– कर्मोंको प्रारंभ करनेके उपाय, २– पुरुष तथा अपेक्षित द्रव्योंकी उपस्थिति, ३– कार्ययोग्य देश तथा कालका उचित निर्णय, ४– बिगडे कार्यका सुधार तथा ५– कर्मकी स्थिति, वृद्धि आदि तथा उसके उपायोंका निरीक्षण।

१–कर्मोंका आरम्भ और उनके उपाय– अपने देशमें कहां खाई, दुर्ग, भवन, कुल्या, प्रपात, झील, विद्यालय, आतुरालय, पान्थशाला, सेनानिवेश आदि बनाने हैं ? और वे कैसे बनाने हैं ? उनके लिये क्या क्या प्रारम्भिक कार्यवाही करनी है ?

२– दूसरे राष्ट्रोंसे सन्धि, विग्रह आदि करनेके लिये कहां किसे दूत बना कर भेजना है ? दुर्ग, पोत, कुल्या, बांध आदि निर्माणोंके लिये निर्माणकुशल शिल्पी लोग कहांसे कैसे प्राप्त करने हैं ? लोहा लकड़ी चूना पत्थर आदि निर्माणसामग्री कहांसे, कैसे लानी है ? देश विदेशोंसे समाचार लानेवाले दूत तथा सेनापति आदि महत्वपूर्ण पदोंपर किन किन पुरुषोंको नियुक्त करना है ? सोना, चांदी, धनधान्यादि कहांसे कैसे प्राप्त करने हैं ? किसे किस कामके लिये कितना धन, किस किस प्रकार कितने बारमें देना है ? इत्यादि ।

३– कौन काम, किस स्थानपर, किस ऋतु और किस परिस्थितिमें करना है ? कर्तव्यकी भौगोलिक स्थिति कैसी है ? वहां किस ऋतु और परिस्थितिमें काम ठीक होसकता है। देशमें सुभिक्ष रखने और दुर्भिक्ष हटानेके लिये क्या क्या उपाय करने हैं ? कर्म सदा ही देश, काल और विशेष परिस्थितिकी अनुकूलता चाहा करता है ।

४– अमुक बिगड़े कामको कैसे सुधारना है ? राष्ट्रीय कार्योंकी विपत्तियां कैसे हटानी हैं ? अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, शलभ, टिड्डी, तोते, आक्रामक राजा तथा आभ्यन्तर राष्ट्रकण्टकोंसे राष्ट्रको कैसे बचाना है ?

५– कौनसे कार्यकी कैसी स्थिति है ? कौनसे कामको कैसे वृद्धि देनी है ? कौनसे कामको साम, दाम, दण्ड, भेद आदि किस किस उपायसे सिद्ध करना है ?

ये मन्त्रके पांच अंग हैं । कार्य इन सबके पूर्णांग विचारसे ही सिद्ध होते हैं ।

कर्मसे पूर्व ही कर्मोपयोगी समस्त चिन्तन पूर्ण होजाना चाहिये। कर्मके मध्यमें उसके सम्बन्धमें कुछ भी सोचना शेष न रहजाना चाहिये ।

मन्त्ररक्षणे कार्यसिद्धिर्भवति ॥ २३ ॥

कार्यसंबन्धी हिताहितचिन्तारूपी मन्त्रको गुप्त रखनेसे ही कार्य सिद्ध होपाता है ।

विवरण— कार्योंके उद्देश्य, उनके साधन, उनके स्थान, उनकी विधि गुप्त रखनेसे ही कार्य निर्विघ्न होते हैं । कार्यसिद्धिसे पहले उसका पता शत्रुओंको चल जानेपर उन्हें उसे व्यर्थ करनेका अवसर मिल जाता और कार्य सिद्ध होनेसे रह जाता है । मन्त्ररक्षाका सुदृढ प्रबन्ध न होनेपर मन्त्र-फूट जाता है ।

यदि कोई उत्तरदायित्ववाला मंत्री मन्त्रभेद कर दे तो "उच्छिन्द्यात् मन्त्रभेदी" इस कौटल्यके अनुसार उसे मरवा डालना चाहिये । बृहस्पतिने कहा है कि "मन्त्रमूलो विजयः" विजय अर्थात् सब कार्योंमें सफलता मन्त्रोंसे ही मिलती है । मंत्रभेदसे राज्योंके योगक्षेम नष्ट होजाते हैं । मन्त्रियोंके भी कुछ मन्त्री होते हैं, तथा उनके भी कुछ श्रोता तथा मन्त्रणादाता होते हैं । यही परम्परा मन्त्रभेद किया करती है । इसलिये राजा जिस किसी मन्त्रीसे मंत्रणा न करके केवल प्रधानमन्त्रीसे करे और वह उसकी सुरक्षाका पूर्ण उत्तरदायी हो । उस प्रधानमन्त्रीको आवश्यकता प्रतीत हो तो वह अपने उस विषयके विशेषज्ञोंसे मन्त्रणा करके बातका मर्म जान कर उसपर राजाके साथ विचार विमर्श करके अन्तिम निर्णयपर पहुंचे ।

पाठान्तर— मन्त्रसंवरणे कार्यसिद्धिर्भवति ।

मन्त्रविस्रावी कार्यं नाशयति ॥ २४ ॥

किसी भी प्रकारकी असावधानतासे मन्त्रकी गोपनीयताको सुरक्षित न रख सकनेवाला कार्यको नष्ट भ्रष्ट कर डालता है ।

विवरण— असावधानता, मद, स्वप्नविप्रलाप, विषयकामना, गर्व, गुप्तश्रोता, मन्त्रकालमें मूढ या अबोध समझकर न हटाया हुआ व्यक्ति

एकान्तमें विचारसे निर्णीत गुप्त बातको बाहर फैला देता है। इन सबसे मन्त्रकी रक्षा करनी चाहिये।

इस विषयपर भारद्वाज, पाराशर, विशालाक्ष, पिशुन, बृहस्पति, उशना, मनु, वातव्यधि, कौटिल्य तथा बाहुदन्तीपुत्रोंके मन्तव्य, कौटल्य अर्थ-शास्त्र तथा औशनस सूत्रोंमें उल्लिखित हैं।

पाठान्तर— मन्त्रनिःस्रावः सर्वं नाशयति।

हानि करनेवालोंको गुप्तरूपसे विचारित मन्त्रणाका पता चल जाना चिन्तित समस्त कार्यको नष्ट कर डालता है।

प्रमादाद् द्विषतां वशमुपयास्यति ॥ २५ ॥

यदि राजा या राज्याधिकारी मन्त्ररक्षामें थोडासा भी प्रमाद करेंगे अर्थात् मन्त्र सुननेके अनधिकारी व्यक्तियोंसे कर्तव्यकी गोपनीयताको सुरक्षित न रख सकेंगे तो वे अपना रहस्य शत्रु-ओंको देकर उनके वशमें चले जायेंगे।

सर्वद्वारेभ्यो मन्त्रो रक्षितव्यः ॥ २६ ॥

मन्त्र फूट निकलनेके समस्त द्वारोंको रोक कर उसकी रक्षा करनी चाहिये।

विवरण— मन्त्र शत्रु या उसके किसी हितैषीके पास तक नहीं जाना चाहिये। मन्त्रकी रक्षा उसे किसीके भी पास न जाने देनेकी पूरी साव-धानीसे ही हो सकती है। शत्रु, पिशुन, लोभी, छिद्रान्वेषी लोग मन्त्रभेद किया करते हैं। अथवा-मन्त्रलेख आदि साधनोंकी अरक्षासे भी मन्त्रभेद होता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रका भेद लेनेके लिये नानाविध कुटिल उपा-योंका प्रयोग करता है। उन सब कुटिल प्रयोगोंसे अपने मन्त्रकी रक्षा करना अत्यन्त गम्भीर कर्तव्य है। जैसे कोषागारका प्रहरी भुशुण्डी हाथमें लेकर टहल टहल कर जागरूक रहकर उसकी रक्षा करता रहता है, उसी प्रकार राष्ट्रनिर्माता मन्त्रोंपर भी कठोर पहरा रहना चाहिये। चाणक्यने कहा

है– 'प्रच्छन्नोऽवमतो वा मन्त्रं भिनत्ति।' या तो शत्रु गुप्त रहकर मन्त्रको लेउडता है या कोई भेद जाननेवाला राजकर्मचारी किसी अपराधपर निर्भर्त्सित दण्डित या कार्यबहिष्कृत करदियेजानेपर द्वेषाधीन होकर मन्त्रको शत्रुओंको देदेता है। जैसे योगी लोग समस्त इन्द्रियद्वारोंको रोककर निरुपद्रव होकर योगानुष्ठान करते हैं, इसी प्रकार मन्त्रणा करनेवाले राजा या राज्याधिकारी लोग मन्त्रसंगोपनमें अपनी संपूर्ण बुद्धि और सतर्कता व्यय कर डालें।

तस्मान्नास्य परे विद्युः कर्म किंचिच्चिकीर्षितम्।
आरब्धारस्तु जानीयुः आरब्धं कृतमेव वा॥

कौटलीय अर्थशास्त्र.

राष्ट्रके किसी भी चिकीर्षित कामको उसकी चिकीर्षित अवस्थातक कोई भी दूसरा व्यक्ति न जानने पाये। आरम्भ करनेवाले लोग भी उसे केवल तब जानें जब वह काम प्रारम्भ कर दिया जाये। शेष लोगोंको तो वह काम पूरा किया जा चुकनेपर ही पता चलना चाहिये।

मन्त्रसम्पदा हि राज्यं वर्धते॥ २७॥

मन्त्रकी पूर्ण सुरक्षा तथा उसकी पूर्णाङ्गता अर्थात् निर्दोषतासे ही राज्यश्रीकी वृद्धि होती है।

विवरण— राष्ट्र या राजकाज ? मन्त्रनैपुण्यरूपी सिद्धि या मन्त्रप्रणिधानरूपी कौशलसे ही वृद्धि पाता है। इसीसे अर्थशास्त्रमें कहा है– 'तस्मान्मन्त्रोद्देशमनायुक्तो न गच्छेत्।' कोई भी अनधिकारी असंबद्ध मनुष्य मन्त्रस्थान या उसके आसपासतक न जाने पावे। यह भी कहा है—

नास्य गुह्यं परे विद्युः छिद्रं विद्यात्परस्य च।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि यत्स्याद्विवृतमात्मनः॥

कौटलीय अर्थशास्त्र.

कोई भी बाहरवाला विजीगीषुके रहस्यको न जानने पावे और वह अपने दूतोंके द्वारा शत्रुके रहस्य वा निर्बलताको जाना करे। ऐसा करनेसे अपना

प्रयोजन अनायास सिद्ध होगा। राजा मन्त्रित कार्योंको बाहर निकल जानेवाले अंगोंको थोडीसी भी शंका पर झट समेट लेनेवाले कच्छपके समान गुप्त रखे। आचार्य बृहस्पति कह गये हैं—

बालं दुष्टमसाहसिकं अज्ञातशास्त्रं मन्त्रे न प्रवेशयेत्।

बालक, दुष्ट, साहसहीन तथा अशास्त्रज्ञको मंत्रणामें सम्मिलित न करे।

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात्।
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्यान्न दीर्घसूत्रैः रभसैश्चारणैश्च॥
विदुर.

महाबली राजाको जो चार बातें छोडनी हैं पण्डित उन्हें जाने- वह अल्पमतियों, दीर्घसूत्रियों, विचारशून्यों, मुंहदेखी सम्मति देनेवालों तथा चाटुकारोंसे मन्त्रणा न करे।

पाठान्तर— मन्त्रसम्पदा हि राज्यं विवर्धते।

श्रेष्ठतमां मन्त्रगुप्तिमाहुः॥ २८॥

राजधर्मके आचार्य बृहस्पति, विशालाक्ष, बाहुदन्तिपुत्र, पिशुन प्रभृति विद्वान् लोग मन्त्रगुप्तिकी नीतिको अन्य सब नीतियोंका सिरमौर बता गये हैं।

विवरण— कर्तव्यमें शक्तिसंचार करनेवाली वस्तु मन्त्र ही है। राज्यकी सुरक्षा मन्त्रबलसे ही होती है। शत्रुको ज्ञात होजानेसे मन्त्रका व्यर्थ होजाना ही मन्त्रका नाश है। मन्त्रका नाश शक्तिका ही नाश है। इस अर्थमें मन्त्ररक्षा ही शक्तिरक्षा है। मन्त्रको सुरक्षित रखना ही शक्तिमान बनना है।

भोजराजका कहना है कि- 'मन्त्रमूलं यतो राज्यमतो मन्त्रं समाश्रयेत्' राज्यके मन्त्राश्रित होनेसे राजा श्रेष्ठ मन्त्र पानेकेलिये पूर्ण सजग रहे। बृहस्पति भी कह गये हैं- 'मूढा दुराचारास्तीक्ष्णा आत्मबुद्धयः क्षिप्रकुद्धा बाला न मन्त्रयोग्याः।' मूढ, दुराचारी, तीक्ष्णस्वभावी, आत्मबुद्धि (खुद-पसन्द) शीघ्र गरम होजानेवाले तथा बालक मन्त्रमें सम्मिलित करने योग्य नहीं होते।

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य नान्ये जना कर्म जानन्ति किंचित्।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः॥
विदुर.

पूरा होनेसे पहले जिसके चिकीर्षित तथा आरब्ध शत्रुविरोधी कामको दूसरे लोग जान ही नहीं पाते, जिसका मन्त्र काममें आचुकने तक पूरा पूरा गुप्त रहता है, उसका कोई भी काम अधूरा या खण्डित नहीं हो पाता।

कार्यान्धस्य प्रदीपो मन्त्रः॥ २९॥

मन्त्र अंधेरेमें मार्ग दिखानेवाले दीपकके समान कार्यान्ध (किंकर्तव्यविमूढ) को उसका कर्तव्यमार्ग दिखा देता है।

विवरण— जैसे गृहस्वामी दीपकके विना रात्रिके अंधकारमें अपने ही सुपरिचित घरमें अन्धा बना रहता है इसी प्रकार मनुष्य मन्त्र (सुविचार) के विना कर्तव्यपालनमें अन्धा बना रहता है।

पाठान्तर— कार्याकार्यप्रदीपो मन्त्रः।

यह कार्य इष्टसाधन है या अनिष्ट साधन है? इस प्रकारके संशयान्धकारके समय मन्त्र अंधकारविनाशक दीपकका काम करता है। जैसे दीपक अन्धकारको हटाता है इसी प्रकार मन्त्र प्रज्ञाकी मन्दतारूपी अंधेरेके समय, उसे हटाकर मनुष्यको बुद्धिकी प्रखरतारूपी प्रकाश देता है। इस लिये वृद्ध लोग कह गये हैं "सम्मन्त्र्य सूरिभिः सार्धं कर्म कुर्याद्विचक्षणः।" बुद्धिमान् मनुष्य, उन विषयोंके विशेषज्ञोंके साथ सम्मन्त्रणा करके काम करे तो पूरा होनेमें संशय न रहे। असमन्त्रित कार्योंकी स्थिति जलमें कच्चे घड़ोंकी सी होती है। सम्मन्त्रित कार्य तो जलमें पक्व कुम्भके समान अटल बने रहते हैं।

मन्त्रचक्षुषा परछिद्राण्यवलोकयन्ति॥ ३०॥

विजीगीषु राजा लोग मन्त्रियोंसे परामर्श करने रूप आंखसे प्रतिपक्षियोंकी राष्ट्रीय निर्बलताओंको जान लेते हैं।

विवरण— शत्रुकी निर्बलताका पूरा पता लगालेनेपर ही उसपर विजय पानेकी पूर्णांग सन्नद्धता होसकती है। राजाके लिये शत्रुकी निर्बलता जाननेका उपाय कुशलमन्त्रियोंके साथ विचारविनिमय करनेके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। राजा योग्यमन्त्रीके बिना राज्यरक्षाके सम्बन्धमें अंधा बना रहता है। देशविदेशके विशेषज्ञ मन्त्रियोंके लिये ही संभव है कि वे शत्रुशक्तिके विषयमें ठीक ठीक पता चलाकर या तो युद्धकी प्रेरणा दें या युद्धसे निवृत्त रखें। इसलिये मन्त्रियोंके साथ राजाका अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध रहना चाहिये। राजाको भी मन्त्रीकी सम्मतिपर विश्वास करके राज्यका परिचालन करना चाहिये। राजा शत्रुकी शक्तिका पूरा पता होनेपर ही अपनी शक्तिको अजेय बना सकता है। मन्त्रणा करते समय बालक, बन्दर, तोता, मैना आदि ऐसा कोई जीवजन्तु न हो जो मन्त्रको लेउडे और उसे शत्रुपक्षमें पहुंचादे।

मन्त्रकाले न मत्सरः कर्तव्यः ॥ ३१ ॥

मन्त्रग्रहण करते समय मन्त्रदाताके छोटे बडेपनपर ध्यान न देकर उसके अभ्रान्तपनेपर ईर्ष्या न करके श्रद्धाके साथ मन्त्रग्रहण करना चाहिये।

विवरण— उस समय किसीको दाबकर अपनी बात ऊपर रखनेका प्रयत्न न होना चाहिये। अच्छी बात सबकी सुननी चाहिये। मन्त्रके समय शाब्दिक संघर्ष नहीं होना चाहिये। उस समय अपने अभ्रान्तपनेपर डटनेसे धैर्यहानि तथा कार्यका व्याघात निश्चित होजाता है।

त्रयाणामेकवाक्ये सम्प्रत्ययः ॥ ३२ ॥

विचारणीय प्रस्तुत कर्तव्यके विषयमें, ऊपर वर्णित तीनों मन्त्रणाकर्ताओंका ऐकमत्य होजाना मन्त्रकी श्रेष्ठता है। उससे कार्यसिद्धि सुनिश्चित हो जाती है।

विवरण— 'मानी प्रतिमानिनं' इस सूत्रके अनुसार (१) मन्त्रग्रहीता, (२) अपना आभ्यन्तरिक ज्ञानस्वरूप मन्त्रणादाता तथा (३)

विश्वस्त हितैषी व्यवहारकुशल महामन्त्री इन तीनोंका किसी एक विषयमें ऐकमत्य होजाना कार्यका निष्पादक मानाजाता है।

कार्याकार्यतत्वार्थदर्शिनो मन्त्रिणः॥ ३३ ॥

कार्य, अकार्य दोनोंकी वास्तविकताको ठीक ठीक समझनेवाले (अर्थात् मन्त्रकी यथार्थताको स्वभावसे पहचान जानेवाले) अपने नियत वेतनसे अधिक न चाहनेवाले तथा मन्त्रके रहस्यको समझानेवाले मन्त्री होने चाहिये।

विवरण— मन्त्री लोग विद्याओंमें पारंगत विशुद्धकुलीन धर्म, अर्थ दोनोंमें प्रवीण सरल स्वभाववाले ब्रह्मवेत्ता होने चाहिये। मन्त्र जब प्रारंभमें ही भेद पा जाता है तब किसीके बसका नहीं रहता। इस दृष्टिसे मन्त्रियोंके निर्धारणमें बडी सावधानीकी आवश्यकता है। मन्त्रसंगोपनकी शक्ति ही मन्त्रियोंका एकमात्र मूल्य है।

पाठान्तर— अकामबुद्धयो मन्त्रतत्वार्थदर्शिनो मन्त्रिणः।

अकामबुद्धि (अर्थात राजकाजसे अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ निकालना न चाहनेवाले स्वार्थशून्य अलोलुप निर्मत्सर विवेकी) लोग मन्त्री बनाये जाने चाहिये।

षट्कर्णाद् भिद्यते मन्त्रः॥ ३४ ॥

मन्त्र छः कानोंमें पहुंचनेपर फूट निकलता है।

विवरण— मन्त्र राजा तथा मुख्यमन्त्रीके अतिरिक्त किसी भी तीसरे व्यक्तिके कानोंतक पहुंचते ही असार तथा हतवीर्य होजाता है। तीन मन्त्रियोंकी मन्त्रणाका फूट जाना प्रायः सुनिश्चित है। यही इस सूत्रका भाव है। इसके अनुसार जब मन्त्रणाको अन्तिम निश्चित रूप मिलना हो उस समय केवल दो उत्तरदायी मनुष्य ही उसे निश्चित अन्तिम रूप दें। जब कि दोकी मन्त्रणाके ही सुरक्षित रहसकनेका सिद्धान्त मान लिया जाय, तब "त्रयाणामेकवाक्ये संप्रत्ययः" इस सूत्रके "त्रयाणाम्" इस पदका

तथा " मानी प्रतिमानिनमात्मनि द्वितीयं मन्त्रमुत्पादयेत् " इस सूत्रका हमारा अर्थ ही युक्तिसंगत ठहरता है । यह पाठक विशेष ध्यानसे देखें ।

राजा और महामन्त्री अथवा महामन्त्री और विभागीय मुख्याधिकारी ये ही दो दो मिलकर किसी कार्यकी अन्तिम रूपरेखा नियत करें । अपने विभागीय मन्त्रियोंसे मन्त्रणा करके किसी कर्तव्यका निर्णय करना महामन्त्रीका काम होनेपर भी कार्यका अन्तिम निर्णय राजा और महामन्त्री करें । ये दोनों मन्त्रगुप्तिके लिये उत्तरदायी हों ।

पाठान्तर— षट्कर्णो मन्त्रश्छिद्यते ।

छः कानोंमें पहुँचा हुआ मन्त्र छिन्नभिन्न होजाता है ।

आपत्सु स्नेहसंयुक्तं मित्रम् ॥ ३५ ॥

विपत्तिके दिनोंमें (जब कि सारा संसार विपद्ग्रस्तको विपन्न होनेके लिये अकेला छोड भागता है) सहानुभूति रखनेवाले लोग मित्र कहाते हैं ।

विवरण— जो लोग विपन्नकी विपत्तिको अपने ही ऊपर आई विपत्ति मान लेते और आपत्कालमें विपद्ग्रस्तका साथ देते हैं, उन्हींको किसीसे मित्रताका संबन्ध जोडने या किसीको अपना मित्र कहनेका अधिकार होता है । इनके अतिरिक्त जो लोग आपत्तिके समय मित्रोंको अकेला विपन्न होनेके लिये छोड देते हैं वे किसीके मित्र बनने या कहलानेके अधिकारी नहीं होते। आनेवाली विपत्तियें ही विपन्नको शत्रु-मित्रकी पहचान कराती हैं और सच्चे मित्रसे मिलानेवाली सच्ची मित्र बनजाती है। आपत्तिके दिनोंमें विपन्नका साथ देना और इस साथ देनेमें जो संकट आ खडा हो उसे सहर्ष सहन करना ही सच्ची मित्रता है । सच्चे लोगोंके पारस्परिक संबन्ध ही मित्रता कहाते हैं । क्योंकि सच्चे लोगोंकी मानसिक स्थिति सत्यकी प्रेमिका होती है इस कारण ये लोग शरीरसे भिन्नाभिन्न होते हुए भी मनमें अभिन्न होते हैं । स्वार्थबन्धन मित्रता नहीं है । मित्रता सत्यनिष्ठोंका ही एकाधिकार है । दलीय कार्यक्रम (पार्टीप्रोग्राम) मित्रता नहीं

हैं। सत्यनिष्ठ लोग अपनी सत्यनिष्ठाके परिणामस्वरूप किसी भी सत्यनिष्ठ-पर आगई हुई विपत्तिको अपने ही ऊपर आई विपत्ति मानकर उस विपद्-द्धरण तथा विपद्वारणमें विपन्नके स्वभावसे साथी बनजाते हैं। कृत्रिम मित्र लोग जिस विपत्तिमें विपन्नको त्याग देते हैं वह विपद् वास्तवमें सत्यनिष्ठाके परिणामस्वरूप आई हुई होती है। मनुष्यकी सत्यनिष्ठा आसुरीसमाजमें अनिवार्य रूपसे राजाओं या शक्तिमानोंके रोषका कारण बनजाती है। आसुरी समाज तो आसुरी राज्य या अधिक शक्तिवाले लोगोंके सामने नतमस्तक होकर उसे स्वीकार किये रहता है इस लिये उससे राज्यशक्ति या बडे लोगोंके संघर्षका अवसर नहीं आता। परन्तु सत्यनिष्ठ व्यक्तिसे आसुरी राज्य और घमंडी लोग सहे नहीं जाते, इसीसे संघर्ष खडा होजाता है। वह प्राणोंपर खेलकर भी उस राज्य तथा भौतिक बलशालीके बलको अस्वीकार करना अपना अत्याज्य कर्तव्य माना करता है। उस समय उसका राजरोष या प्रबल व्यक्तिके रोषका पात्र बनजाना ही मित्रकी पह-चान करानेवाला होजाता है। "राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः।" उस समय, केवल समृद्धिके दिनोंवाले कृत्रिम मित्र उसे विपन्न होनेके लिये अकेला छोड देते और अपनेको मित्र होनेके अयोग्य घोषित कर देते हैं।

> स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपं हिताम्न यः
> संशृणुते स किं प्रभुः। सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं
> नृपेष्वमात्येषु च सर्वसंपदः॥

स्वामीके हितका अनुपदेष्टा अमात्य आदि नामोंवाला मित्र सच्चा मित्र नहीं है। अपने हितोपदेशी मित्रोंसे अपने कल्याणकी बात न सुननेवाला स्वामी खोटा स्वामी है। सच्चे मित्रोंको, राजाके हितकी बात, उसके सुन-नेको उद्यत न होनेपर भी, उससे बलपूर्वक कहदेनी चाहिये, तथा सच्चे स्वामीको अपने हितकी कटु बात भी मित्रोंसे श्रद्धापूर्वक सुननी चाहिये। तब ही राजा और उसके मित्रों अर्थात् मान्त्रियोंका ऐकमत्य रहसकता है।

राजा और अमात्योंके परस्परानुरक्त रहनेपर ही राष्ट्रमें सकल संपत्तियोंका वास होता है।

भिन्नभिन्न विद्वानोंने मित्रके निम्न लक्षण किये हैं।

तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यत्।

मित्र वह है जो संपत् और विपत् दोनोंमें पूरा पूरा साथ दे और समान प्रतिकार करे।

मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः।

मित्रोंके वे कर्तव्य जो एक बार अपने विपन्न मित्रकी सहायताके रूपमें स्वीकृत होजाते हैं कभी मन्द नहीं होते।

समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।

जिनके शील समान और जो एक विपत्तिके आखेट होते हैं, उनमें मित्रता होती है।

करावित्र शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी।
अविचार्य प्रियं कुर्यात् तन्मित्रं मित्रमुच्यते॥

जैसे शरीरपर चोट पडनेपर हाथ शरीरकी और आंखपर आघात आनेपर पलकें आखोंकी रक्षाके लिये बिना विचारे स्वभावसे कटिबद्ध होजाती हैं, उसी प्रकार जो मित्रको विपन्न देखकर बिना आगा पीछा देखे उसकी सहायताको दौड पडता है वही मित्र है।

शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः।
दाक्षिण्यं चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः॥

निष्कपटता, मित्रके लिये त्याग, मित्रके विपद्वारणके लिये शौर्य, सुख-दुःखमें समानता, उसके हितसाधनके लिये चातुर्य अनुराग तथा सत्यता ये मित्रके आठ गुण हैं।

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥

जो मनुष्य उत्सव, विपत्ति, दुर्भिक्ष, राष्ट्रविप्लव, राजद्वार तथा मृत्युके संकटमें भी साथ देता है वही बान्धव है।

शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम्।
केन सृष्टमिदं रत्नं मित्रमित्यक्षरद्वयम्॥

शोक शत्रु तथा भयसे रक्षा करनेवाली, प्रीति तथा विश्वासकी पात्र यह मित्र नामकी दो अक्षरोंकी जोडी किसने बनाई?

प्राणैरपि हिता वृत्तिरद्रोहो व्याजवर्जनम्।
आत्मनीव प्रियाधानमेतन्मैत्रीमहाव्रतम्॥

प्राणपणसे भी हितचेष्टा करना, द्रोह तथा छल कपटसे व्यवहार न करना मित्रका अपने समान प्रिय करना, यही मैत्री नामक महाव्रत है।

पापान्निवारयति, योजयते हिताय,
गुह्यं च गूहति, गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्गतं न च जहाति, ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

पापसे रोकता, हितमें लगाता, गोपनीयको छिपाता, गुणोंको प्रकट करता, विपत्तिमें फंसेको नहीं त्यागता, सहायताके सर्वोत्तम समयपर सहायता करता है, उसीको सन्त लोग सन्मित्र कहते हैं।

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः,
पात्रं यत् सुखःदुखयोः सह भवेन् मित्रेण तद्दुर्लभम्।
ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुलास्,
ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्॥

जो मित्र नयनको प्रीतिरस तथा चित्तको आनन्द देनेवाले, मित्रके सुख-दुःखको अपने ही सुखदुःख माननेवाले हों, ऐसे मित्र संसारमें दुर्लभ होते हैं। ये जो समृद्धिके दिनोंमें द्रव्याभिलाषासे आकुल होनेवाले मित्र नामक जन्तु होते हैं, ऐसे लोग तो संसारमें बहुत मिल जाते हैं। परन्तु विपत्ति

उन स्वार्थी मित्रोंकी कसौटी बनजाती और उनके मित्रताके ढोंगका भंडा-फोड कर देती है।

ऊपरवाले वचनोंमें मित्रके लक्षणोंका उल्लेख हुआ है। परन्तु आजके संसारमें मित्रोंके जो व्यवहार देखनेमें आते हैं वे सब इन लक्षणोंकी कसौटी-पर खरे नहीं उतरते। वे मैत्रीके नामपर सम्मानित होनेके स्थानपर वैरके नामसे निन्दित होने योग्य दिखाई देते हैं। संसारमें राष्ट्रोंके साथ राष्ट्रोंकी, पार्टियोंके साथ पार्टियोंकी तथा व्यक्तियोंके साथ व्यक्तियोंकी ऐसी ही धूर्ततापूर्ण मैत्री देखनेमें आती है। इन सब मित्रताओंमें स्वार्थमोह, स्वभावजमोह, या रूपज मोहोंमेंसे कोई एक बन्धन अवश्य रहता है। ये बन्धन कुछ सीमातक चलते हैं। इन मित्रताओंका कारण भौतिक सीमातक सीमित रहता है। जो स्वार्थ राष्ट्रों दलों या व्यक्तियोंको दलबद्ध करता है, उस स्वार्थकी संभावनाका अन्त होते ही मित्रताका बन्धन टूट जाता है। रूपज मोहवाला बन्धन भी अपनी सीमातक रहता है। वह भी उस सीमाको पार करते ही टूट जाता है। इसके विपरीत सच्ची मित्रताके बन्धनोंका कभी न टूट पानेवाला स्थायी बन्धन होना अनिवार्य होता है। सत्यनिष्ठकी सच्ची मित्रताका बंधन सत्यका ही बंधन होता है इसलिए वही बंधन अटूट और स्थायी होता है। सत्यनिष्ठ मित्र अपने सत्यनिष्ठ मित्रकी सेवामें सत्यकी ही सेवा और असत्यके विरोधके जिस अनुपम अमृतका आस्वादन करते हैं उसे वे समग्र संसारके विनिमयमें भी त्यागनेको उद्यत नहीं हो सकते। स्थायी मित्रताके अटूट बन्धनका रूप गीताके निम्न श्लोकमें स्पष्ट है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः॥

गीता बाह्यमित्रताओंके धोकेमें आजानेवाले लोगोंको सावधान कर देना चाहती है कि मनुष्यके शत्रुमित्र बहिर्जगत्में नहीं है। मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु या मित्र है। मन ही मनुष्यका स्वरूप है। सत्यनिष्ठ उचित व्यवहारी मन स्वयं ही अपना मित्र है। उसके विपरीत पापनिष्ठ मन स्वयं

ही अपना शत्रु है। स्वयं अपने मित्र बने हुए सत्यके प्रेमी लोग शरीरोंसे पृथक् होनेपर भी एक दूसरेके स्वरूप होनेके कारण, स्वाभाविक मित्र होते हैं। इन लोगोंका मित्रत्वबन्धन सुदृढ आध्यात्मिक आधारोंपर आधारित होनेके कारण अटूट अभ्रान्त तथा अनन्तशक्तिमान् होता है। मित्रकी इस परिभाषाका समर्थन ऊपरवाले सब लक्षणोंसे प्रमाणित होजाता है। इनमेंसे एक वचनकी सत्यतापर विचार करनेसे ही सब वचनोंकी सत्यता स्वयमेव प्रमाणित हो जायगी। जैसे हाथ शरीरकी और पलक नेत्रकी रक्षा बिना विचारे स्वभावसे करते हैं, इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनाये हुए दूसरे व्यक्तिकी बिना विचारे सब समय रक्षा करनेको उद्यत रहता है, वही मित्र है। शरीरपर आई विपत्तिमें शरीरकी रक्षा करना हाथकी आत्मरक्षा ही है। पलकके लिये आंखकी रक्षा करना पलककी आत्मरक्षा ही है।

इस रक्षाप्रवृत्तिमें हाथ और पलक दोनोंकी स्वाभाविकता है। इसलिये है कि यहां अपने परायेका विचार करनेका अवसर ही नहीं है। अपने आपमें भेदबुद्धि न होनेके कारण ही यहां विचारका अवसर नहीं आता। मनुष्य अपनेपर विपत्ति आनेपर स्वभावसे उसे हटानेको उद्यत होजाता है। जो इस विपद्को हटानेको उद्यत होजाता है वह कौन होता है? विपन्न व्यक्ति स्वयं ही अपना विपदुद्धारक बनजाता है। मनुष्यका अपना मन ही अपने ऊपरसे विपद्को हटानेके लिये स्वभावसे विवश होता है। जब मनुष्यका मन सत्यको अपने स्वरूपके रूपमें पहचान लेता है तब वह सत्यस्वरूप बनकर अपना मित्र बन जाता है। वही मन सत्यसे हीन बनकर अपना शत्रु बनजाता है। सत्यहीन दलबद्ध राष्ट्रों, राजनैतिक व्यक्तियों तथा स्वभावज अथवा भौतिक स्वार्थ रखनेवाले संबंधोंसे संबद्ध मनुष्यों तथा लूटनेवाले डाकुओंके समूहोंमें सत्यका अभाव होनेके कारण ये सब लोग एक दूसरेके मित्र कहलाने लगनेपर भी शत्रु ही होते हैं। मित्र केवल सत्यनिष्ठ व्यक्तियोंमें ही उत्पन्न होने और मिलने संभव हैं। जब कोई भी व्यक्ति अपनी सत्यनिष्ठाके कारण विपत्तिमें फंसता है तब संपूर्ण सत्यनिष्ठ समाज उस विपत्तिको अपने ऊपर आई विपत्ति मानकर उसका मित्र बनजाता है और

असत्यका विरोध करते हुए संपूर्ण मनुष्यसमाजका प्रतिनिधि बनकर आत्म-रक्षा करता हुआ संपूर्ण मनुष्यसमाजकी मनुष्यताका रक्षक बनजाता है। स्पष्ट शब्दोंमें सत्यनिष्ठ व्यक्ति जहां एक दूसरेके स्थायी हार्दिक संबंध रखनेवाले सच्चे मित्र होते हैं वहां वे संपूर्ण समाजके भी स्थायी मित्र होते हैं।

(मित्रसंग्रहका लाभ)

मित्रसंग्रहणे बलं संपद्यते ॥ ३६ ॥

सच्चे मित्रोंका संग्रह करने या सच्चा मित्र मिलजानेसे मनुष्यको बल प्राप्त होजाता है।

विवरण— सच्चे मित्र मिलनेसे मिलनेवाला बल स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सेना, तथा मित्र इन सातों या इनमेंसे कुछ रूपोंमें प्राप्त होता है, ऐसा कामन्दक नीतिकारका वचन है। अमरसिंहकी नीतिमें कर देनेवाली जनताको मिलाकर आठ प्रकारका बल कहा है। बल शरीर-सामर्थ्यका वाचक भी है। परन्तु यहांपर बल राजशक्तिसे संबद्ध बलका पारिभाषिक नाम है।

इससे पहले सूत्रमें सच्चे मित्रोंसे मिलानेवाले सत्यको ही मनुष्यको बलवान् बनानेवाला मित्र बताया है। इस सूत्रमें उसीका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है कि सत्यको अपनाकर असत्यका विरोध करते हुए विपक्ष होनेसे न डरना शक्तिमानोंका स्वभाव होता है। यों शक्तिमानोंकी शक्ति उनके किये हुए असत्य विरोधोंसे ही सूचित होती है। सच्चे मित्र भी असत्यके विरोधोंसे ही हाथ आते हैं। किसी असत्यका विरोध करने लगना ही संसारमेंसे सच्चे मित्रोंके मिलनेका उपाय बनजाता है। सत्यनिष्ठासे ही बलवान् बनाजाता है। सत्यनिष्ठासे सच्चा बल संगठित होजाता है।

(बलका उपयोग)

बलवानलब्धलाभे प्रयतते ॥ ३७ ॥

सत्य या सच्चे मित्रोंके बलसे बलवान् व्यक्ति अप्राप्त राज्यैश्वर्य पाने (अर्थात् उसे उत्पन्न करने तथा उसे निरन्तर बढाते

रहने) के लिये सत्यानुमोदित प्रयत्न किया करे, या किया करता है ।

विवरण— सत्यके बलसे बलवान् व्यक्ति अप्राप्त राज्यैश्वर्य पानेके लिये उचित उद्यम उत्साह तथा अध्यवसायसे युक्त होकर रहे, तब ही बलका यथोचित उपयोग और विकास संभव है । " बलेन किं यच्च रिपून बाधते " वह बल किस कामका जो पापी शत्रुओंका संहार करके अपनी राज्यश्री बढानेके काम न आता हो । बल अनुपयोगसे कुण्ठित होजाता है । जैसे अयात्रा घोडोंके लिये बुढापा है इसी प्रकार अनुपयोग बलकी मृत्यु है ।

पाठान्तर— बलवानलब्धलाभे प्रयतेत ।

(आलस्यसे हानि)

अलब्धलाभो नालसस्य ॥ ३८ ॥

अप्राप्त राज्यैश्वर्यको निरन्तर संग्रह करते चले जाना प्रयत्न-हीन शक्तिहीन मन्द आलसीका काम नहीं है ।

विवरण— मनुष्यमें सत्यनिष्ठा न होना ही आलस्य है । सत्यहीन व्यक्ति न करने योग्य काम करता तथा करने योग्य सत्यानुमोदित प्रयत्नोंमें प्रमाद करता है । अकर्तव्य अर्थात् न करने योग्य काम करना तथा कर्तव्यों अर्थात् करने योग्य कामोंसे बचे फिरना ही आलस्य है ।

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ विदुर

कल्याणकामी मानव इस संसारमें अतिनिद्रा (स्वास्थ्यकी आवश्यकतासे अधिक निद्रा) तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता ये छ दोष छोड दे ।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महा रिपुः ।

आलस्य मनुष्यके ही शरीरमें रहनेवाला मनुष्यका घरेलू महाशत्रु है ।

इसलिये कल्याणार्थी मनुष्य अपने शरीरस्थ शत्रु आलस्यको पददलित करके रखे, तब ही ऐहिक अभ्युदय और मानसिक उत्कर्ष पासकता है।

अलसस्य लब्धमपि रक्षितुं न शक्यते ॥ ३९ ॥

अलस सत्यहीन प्रयत्नहीन व्यक्तिके कर्तव्यपालनमें प्रमादी होनेसे उसका प्राप्त राज्यैश्वर्य भी सुरक्षित नहीं रहपाता।

विवरण— दैव यदि आलसीको कुछ दे भी दे तो उससे उस देवदत्त द्रव्यकी रक्षा नहीं होती।

अलसो मन्दबुद्धिश्च सुखी च व्याधिपीडितः।
निद्रालुः कामुकश्चैव षडेते कर्मगर्हिताः॥

आलसी मन्दबुद्धि सुखासक्त रोगी निद्रालु तथा कामुक ये ६ लोग निन्दितकर्मा माने गये हैं। उद्यम उत्साह तथा अध्यवसाय ही पुरुषके आलस्यका विरोध करते और उसे कर्ममें प्रवृत्त रखते हैं। इसलिये भूति-कामी लोग सदा उद्यम उत्साह तथा अध्यवसायसे सम्पन्न रहें।

न चालसस्य रक्षितं विवर्धते ॥ ४० ॥

अलस सत्यहीन प्रयत्नहीन व्यक्तिका दैववश संचित राज्यै-श्वर्य कुछ कालतक सुरक्षित दीखनेपर भी उसके बुद्धिमान्द्यसे वृद्धिको प्राप्त नहीं होता।

विवरण— उसके राज्यैश्वर्यकी वृद्धि न होना ही उसकी अरक्षितता अर्थात् अनिवार्य विनाश है। क्योंकि आलस्य देहस्थ अन्तःशत्रु है इसलिये मानव आलस्य रूपी दोषका सदा विष्ठा आदि दैहिक मलोंके समान त्याग करता रहे। सूत्र कहना चाहता है कि अनलस ही लब्धकी रक्षा करपाता है, और उसीकी वृद्धि होना अवश्यंभावी होता है।

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः॥ विदुर

मनुष्यको सत्य दान अनालस्य अनसूया क्षमा तथा धृति ये ६ गुण कभी न त्यागने चाहिये ।

पाठान्तर— न चालस्ययुक्तस्य रक्षितं विवर्धते ।

न भृत्यान् प्रेषयति ॥ ४१ ॥

अलस (सत्यहीन प्रयत्नहीन भोगासक्त) राजा या राज्याधिकारी राजकीय कर्मचारियोंको काम या उचित सेवामें लगाने तथा उनसे उचित सेवा लेनेमें प्रमाद कर बैठते हैं ।

विवरण— काम करनेसे बचना जिसका स्वभाव होजाता है, वह भृत्योंसे काम लेनेरूपी कर्मसे भी स्वभावसे बचता है । यही उसके आलस्यका स्वरूप है । आलस्य न त्यागना, भृत्योंसे यथोचित काम न लेना, राजाका राज्यव्यवस्थाको अव्यवस्थित कर देने रूपी भयंकर अपराध है।

पाठान्तर— न भृत्यान् पोषयति ।

आलसी राजा आलस्यजन्य दरिद्रतासे भृत्यपोषण करने अर्थात् यथोचित कार्योंके लिए भृत्य नियुक्त करनेमें असमर्थ होजाता है ।

विवरण— उससे उसकी राज्यव्यवस्था पंगु होकर नष्ट भ्रष्ट होजाती है । नीतिज्ञ सोमदेवके शब्दोंमें " अलसः सर्वकर्मणामनधिकारी । " आलसीको किसी भी कर्मका अधिकार नहीं है।

अधिक सूत्र— **न तीर्थं प्रतिपादयति ॥**

आलसी राजा राज्यके कर्मकुशल विचक्षण अनुभवी प्रधानपुरुषोंके अनुभवोंकी उपेक्षा करके उनसे लाभ उठानेसे वंचित होजाता है ।

विवरण— विद्या अनुभव और धर्मके केन्द्र तथा धर्मज्ञानसंपन्न लोग 'तीर्थ' कहाते हैं । आलसी राजा स्वभावसे मूर्ख तथा अवगुणी होनेके

कारण धर्म विद्या तथा अनुभवोंके केन्द्र गुणी पुरुषों, उनके गुणों, धर्मविद्या आदिकी संरक्षक तथा प्रचारक संस्थाओंको सुरक्षित न करके प्रत्युत उपेक्षा करके, समाजसे धर्म और ज्ञानको विलुप्त करके अज्ञान तथा अनीतिका प्रसारक बनजाता है।

महामन्त्री, मुख्यन्यायाधीश, सेनापति, राजश्रेष्ठी, ज्योतिर्विद्, राज्यका सबसे प्रभावशाली व्यक्ति, समाजोंके चार मुखिया, समस्त प्रकारकी सेनाओंके मुख्यपुरुष, पुरोहित, मन्त्री आदि राजाओंके तीर्थ होते हैं। इन्हें अपनी नीतिका पूर्ण समर्थक बनाये रहने या अपनी नीतिमें इन सबके अनुभवोंका समावेश होनेके लिये इनके घनिष्ट संपर्कमें रहना, यह एक असाधारण अवधान, परिश्रम, इन्द्रियसंयम, तथा निरलसताका काम है। यह काम आलसीसे नहीं होता।

(राज्यतन्त्रका लक्षण)

अलब्धलाभादिचतुष्टयं राज्यतन्त्रम् ॥ ४२ ॥

१- अलब्धका लाभ २- लब्धकी रक्षा ३- रक्षितका वर्धन ४- तथा रक्षितका राजकर्मचारियोंकी उचित नियुक्तिसे उचित कार्योंमें विनियोग या व्यय, ये राज्यव्यवस्थाके चार आधार हैं। ये चारों बातें मिलकर राज्यतन्त्र कहाने लगती हैं।

विवरण— राज्य इन्हीं चार बातोंपर निर्भर होते हैं। राज्यकी ये ही चार मुख्य समस्यायें होती हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि राज्याधिकारी लोग न तो अर्थवृद्धिमें प्रमाद करें न राजश्रीका असद्व्यय करें और न उसे अनुपयोगसे नष्ट होने दें। क्योंकि श्रीकी दान भोग तथा नाशसे चौथी गति नहीं है। राजा लोग सामादि उपायोंसे, फूलोंमेंसे अति क्षुद्र मात्रामें रस लेते फिरनेवाले मधुकरोंके समान सुसह्य उपायोंसे प्रजामेंसे धनसंग्रह करें और पृथ्वीपरसे जल सोखकर उसे पृथिवीपर ही बरसा देनेवाले मेघोंके समान उसे प्रजाकी ही श्रीवृद्धिमें व्यय कर डालें। उसे लूटके मालकी भांति अपनी

व्यक्तिगत सुख सुविधाओं तथा राजकीय आडम्बरोंमें व्यय करके नष्ट न कर डालें।

राज्यतन्त्रायत्तं नीतिशास्त्रम् ॥ ४३ ॥

समाजमें प्रचलित या व्यवहृत नीतिशास्त्र, राज्यव्यवस्थाकी नीतिके ही अधीन (अनुसार) होता है।

विवरण— राष्ट्र तब ही नीतिपरायण रहसकता है, जब कि उसका राज्यतन्त्र नीतियुक्त हो। यदि राज्यतन्त्रमें नीतिका प्रयोग न होरहा हो तो लोकमें नीति नामकी कोई वस्तु नहीं रहती। राज्यतन्त्रका अर्थ समाजकी नीतिमत्ता है। राज्यतन्त्रसे बाहर नीति नामकी कोई वस्तु नहीं रहती। नीति राज्यतन्त्रमें सीमित और राज्यतन्त्रसे ही सुरक्षित रहती है। राज्यतन्त्र मनुष्यसमाजके साथ साथ चलता है। राज्यतन्त्रहीन समाज मनुष्यसमाज कहलानेका अधिकारी नहीं होता। राज्यतन्त्रको न मानने या भंग करनेवाला, नीतिहीन कहाता है। समाजसे बाहर चलाजाना या समाजको अस्वीकार कर देना ही नीतिहीनताका अर्थ है। राज्यतन्त्रने ही नीतिको जन्म दिया है। पहले समाज बना पीछेसे नीति बनी। समाज और राजमें कोई भी भेद नहीं। नीतिने समाज नहीं बनाया किन्तु समाज अर्थात् राज्यतन्त्रने ही नीति बनाई। मनुष्योंका शान्तिके बंधनमें रहने लगना ही '**समाज**' कहाता है। समाजबद्ध रहना मनुष्यकी सामाजिक स्थिति है। अपने इस स्वभावसे समाजबद्ध होकर समाजसंगठनको सुरक्षित रखने अर्थात् समाजमें शान्तिका राज्य सुप्रतिष्ठित रखनेकी आवश्यकताने ही नीतिको जन्म दिया है। समाजबद्ध तो पशु भी रहता है। किन्तु पशुओंमें नीति नामकी वस्तु नहीं होती। नीतमत्ता मानवसमाजकी ही विशेषता है। राज्यव्यवस्था नीतिसम्पन्न हो तो उससे समाजमें नीतिमत्ताको जन्म देने तथा फलने फूलनेका अवसर मिलजाता है। राज्यसंस्थाके नीतिसंपन्न होनेपर ही देशमें नीति पालीजाती है। राज्यव्यवस्थासे नीतिके

हटते ही राष्ट्रभरमें दुर्नीति फैलजाती है। राज्यव्यवस्थाके अनीतिपरायण होनेपर समस्त समाजका सहस्रगुण अनीतिपरायण होजाना अनिवार्य होजाता है। नीति शब्द दण्डनीति, रणनीति तथा अर्थनीति तीनोंका वाचक है।

मनु, नारद, इन्द्र, बृहस्पति भारद्वाज, विशालाक्ष, भीष्म, पराशर, विदुर आदि पूर्वाचार्य धर्म, अर्थ तथा काम तीनोंको अबध्यघातक रखकर तीनोंपर सुनियन्त्रण रखनेके लिये शास्त्र बना गये हैं। इनके पश्चात् आचार्य विष्णुगुप्तने इन सब पूर्वाचार्योंका सार लेकर गभीराशय अर्थशास्त्र बनाया है। उसीका नाम कौटलीय अर्थशास्त्र है।

राज्यतन्त्रेष्वायत्तौ तन्त्रावापौ ॥ ४४ ॥

तन्त्र अर्थात् स्वराष्ट्रसंबन्धी तथा आवाप अर्थात् परराष्ट्र-सम्बन्धी कर्तव्य अपनी राष्ट्रव्यवस्थाके ही अंग होते हैं।

विवरण— स्वराष्ट्रसंबन्धी तथा परराष्ट्रसे व्यवहारविनिमयसंबन्धी दोनों प्रकारके कर्तव्य राज्यतन्त्रमें सम्मिलित होते हैं। अर्थात् उसके भले बुरेके अनुसार भले बुरे होते हैं। परराष्ट्रचिन्ताके बिना राज्यतन्त्र अधूरा रहता है। तन्त्र अर्थात् स्वराष्ट्र अर्थात् अपनी प्रजाके जीवनसाधनोंकी रक्षा तथा आवाप नामसे प्रसिद्ध परराष्ट्रचिन्ता या उससे व्यवहार ये दोनों बातें राज्यव्यवस्थाकी इतिकर्तव्यतामें सम्मिलित हैं।

पाठान्तर— राज्यतन्त्रेष्वायत्तौ मन्त्रावापौ।
मन्त्रावापौ पाठ अपपाठ है।

(तन्त्र)

तन्त्रं स्वविषयकृत्येष्वायत्तम् ॥ ४५ ॥

स्वराष्ट्रव्यवस्था तन्त्र कहाती और वह केवल स्वराष्ट्रसंबन्धी कर्तव्योंसे संबद्ध रहती है।

विवरण— राज्य स्वदेशसंबन्धी कर्तव्य करते रहने मात्रसे अपने आप व्यवस्थित होता चला जाता है। जहां राज्य अव्यवस्थित होता है, वहां

राज्याधिकारियोंकी स्वदेश संबन्धी कर्तव्योंकी अवहेलना ही उसका कारण होती है। उसीसे राष्ट्रमें अव्यवस्था फैलती है।

पाठान्तर— मन्त्रं स्वविषयकृत्येष्वायत्तम्।

मन्त्रवाला पाठ अपपाठ है।

(आवाप)

आवापो मण्डलनिविष्टः ॥ ४६ ॥

आवाप अर्थात् परराष्ट्रसंबन्धी कर्तव्य मण्डल अर्थात् पडौसी राष्ट्रसे संबन्ध रखता है।

विवरण— शत्रुचिन्तारूपी आवाप अर्थात् शत्रुओंके कार्यों या उनकी गतिविधियोंकी देखभालका संबन्ध मण्डल अर्थात् समीपवर्ती राष्ट्रोंके साथ और उन्हींपर निर्भर होता है।

यदि आसपासकी राजशक्तियां शत्रुकी सहायता करती होती हैं, और उन्हें शत्रुकी सहायता करनेसे साम दाम दण्ड भेद आदि उपायोंसे रोका नहीं जाता, तो शत्रु आलवालमें जलसिंचनसे बढनेवाले फली वृक्षके समान मण्डलसे बल पाता रहकर बढता चलाजाता है। इसलिये राजालोग अपने मण्डलको शत्रुओंके प्रभाव या वशमें न आने देने तथा उन्हें अपने अधीन या सहायक बनाये रखनेकी गम्भीर चिन्ता रखें। मण्डलको अपनी उपेक्षासे अपने प्रभावसे बाहर न होने दें।

कामन्दकीय नीति, बार्हस्पत्य सूत्र तथा कौटलीय अर्थशास्त्रमें यह विषय विस्तारसे वर्णित है।

पाठान्तर— आवापो मण्डले सन्निविष्टः।

(मण्डल)

सन्धिविग्रहयोर्निर्मण्डलः ॥ ४७ ॥

राज्यसंपृक्त वे पडौसी राज्य मण्डल कहाते हैं जिनके साथ सन्धि और विग्रह होते हैं।

विवरण— सन्धि विग्रहोंका व्यवहार पडौसी राष्ट्रोंके ही साथ होता है। सन्धिविग्रहके क्षेत्र राष्ट्र मण्डल कहाते हैं। सन्धिका अर्थ सन्धान तथा विग्रहका अर्थ विरुद्ध कर्म करना या विरोधीकर्म अपनाना है। धनदानादि उपायोंके द्वारा प्रेमका सम्बन्ध जोडना या मित्र बनाना सन्धि है। राजा लोग कुछ पदार्थ ले देकर आपसमें प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं। यह सन्धि कहाती है। उसीको पण भी कहते हैं। पणसे होनेवाली सन्धि पणबन्ध कहाती है। सोमदेवके शब्दोंमें "पणबन्धः सन्धिः। अपराधो विग्रहः"। जब कोई किसी राजाका अपराध करता है, तब ही विग्रह खडा होता है। दूसरे राष्ट्रमें दाह लूट मार आदि भी विग्रहके ही रूप हैं। सन्धि और विग्रहोंके बहुतसे रूप हैं। प्रकटविग्रह, कूटविग्रह, मौनविग्रह भेदसे विग्रहके भी तीन भेद बताये जाते हैं। कोई दुर्बल राजा बली राज्यको पणदानसे जब-तकके लिये सन्तुष्ट करता है तबतक उन दोनोंकी सन्धि रहती है। पडौसी राष्ट्रके साथ समयकी आवश्यकता तथा पडौसी राष्ट्रोंके बर्तावके अनुसार सन्धि विग्रह करते रहना राज्यव्यवस्थाका राष्ट्रीय कर्तव्य होता है। किसीसे न तो सदा सन्धि रह सकती है और न सदा किसीसे विग्रह ही रहता है। किस समय कौनसी नीतिकी आवश्यकता है यह देखते रहना ही नीतिमत्ता है।

पाठान्तर— सन्धिविग्रहयोर्योनिर्मण्डलम्।

सन्धिविग्रहोंके कारण बनते रहनेवाले पडौसी राष्ट्र मण्डल कहाते हैं।

(राजा)

नीतिशास्त्रानुगो राजा ॥ ४८ ॥

नीतिशास्त्रका अनुगामी होना राजाकी योग्यता है।

विवरण— हेतुशास्त्र, दण्डनीति, तथा अर्थशास्त्र नीतिशब्दसे कहे जाते हैं। शासनव्यवस्थासे सम्बन्ध रखनेवालेको इन सब राजशास्त्रोंका सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिये। यदि राज्याधिकारी लोग राजशास्त्रसे अपरिचित

रहकर तथा अपने कृत्योंपर कोई सामाजिक नियन्त्रण न रखकर स्वेच्छाचारितासे राज करेंगे तो प्रबल अनिष्ट उठ खड़े होने सुनिश्चित हैं। राजाको नीतिप्रोक्त नियमोंके अनुसार ही आत्मरक्षा तथा प्रजापालन करना चाहिये। मनुके शब्दोंमें "बहवोऽविनया नष्टा राजानः" वेन आदि बहुतसे राजा अविनय या दुर्नीतिसे विनाश पाचुके हैं।

(शत्रुराष्ट्र)

अनन्तरप्रकृतिः शत्रुः ॥ ४९ ॥

स्वदेशसे अव्यवहितदेशके राजा स्वभावसे शत्रु होते हैं।

विवरण— जिनसे हरघडीका सीमासंघर्ष आदि कलह होनेकी संभावना बनी रहती है वे परस्पर शत्रु बनजाते हैं। राज्याधिकारी लोग निकटवर्ती राज्योंसे सदा सतर्क रहें और उनकी स्वविरोधी गतिविधि देखते रहें।

अहिताचरण करनेवालोंकी परस्पर शत्रुता हो जाती है। सुखदुःखमें एकसा रहना मानवसमाजको संगठित करनेवाला स्वाभाविक बन्धन है। इस मधुर बन्धनमें आबद्ध न रहकर दूसरेका सुख छीनने तथा दुःख पहुंचानेकी स्वार्थी प्रवृत्ति रखनेवाले लोग पारस्परिक शत्रु बन जाते हैं। समाजबन्धनको अस्वीकार करने और उसे मिटा डालनेवाला होना ही शत्रुकी परिभाषा है। समाजका शत्रु स्वभावसे व्यक्तिका भी शत्रु होता है। यदि पडौसके राजा एक दूसरेके हितैषी हों तो वे परस्पर सहायक बनकर शक्तिमान् होसकते हैं।

इस आदर्शके अनुसार पर्वतों तथा समुद्रोंसे बनी हुई चार प्राकृतिक सीमावाले भारतराष्ट्रकी सीमाके प्रत्येक स्वतन्त्र राजाका अपने पडौसीसे शत्रुता न करके उसका मित्र बनकर सम्मिलित भारतका एक विशाल शक्तिशाली साम्राज्य बनजाना ही "भारतकी राष्ट्रीयताका आदर्श" है। भारतके वर्तमान राज्योंका पारस्परिक शत्रु बनजाना भारतकी राष्ट्रीयताका घातक है। जो राजा अपने पडौसी राज्यकी सुख समृद्धि अपहरण करनेकी भावना

रखता है वह जहां संपूर्ण राष्ट्रके सामूहिक संगठनका शत्रु है वहां वह अपने राष्ट्रका भी शत्रु ही है। जो राज्याधिकारी इस प्रकारकी क्षुद्र स्वार्थभावनासे पडौसी राष्ट्रपर आक्रमण करनेवाला बनता है वह निश्चय ही स्वभावसे लोभान्ध होकर अन्याय बुद्धिके द्वारा परराष्ट्रके ही भीतर नहीं अपने राष्ट्रके भीतर भी प्रजाके धन प्राण तथा शान्तिका अपहरण करनेवाली अन्यायी अत्याचारी आसुरी राजशक्ति बने बिना नहीं रह सकता। साम्राज्यविस्तार चाहनेवाले प्रत्येक लोभी राष्ट्रकी आभ्यन्तरिक प्रजामें भी असन्तोष तथा राजविद्रोह होना अवश्यंभावी स्थिति है। राज्याधिकारके लोभियोंने भारत-भूमिको दो भागोंमें बांटकर पृथक् सिंहासनोंपर बैठकर अपने अपने राष्ट्रोंकी प्रजामें जो अशान्ति उत्पन्न करडाली है, वह तबतक नहीं जा सकती जब-तक भारत फिर प्रजाहितकारी अखण्डशक्तिमान् राज्यशक्ति न बने।

(मित्रराष्ट्र)

एकान्तरितं मित्रमिष्यते ॥ ५० ॥

निकटवाले शत्रुराज्यसे अगला राज्य जिसकी हमारे शत्रुसे शत्रुता रहना स्वाभाविक है उस शत्रुके विरुद्ध, स्वभावसे ही हमारा मित्र बनजाता है।

विवरण— किसी शत्रुसे शत्रुता करनेवाले अनेक राष्ट्रोंका परस्पर मित्रताका बन्धन होना स्वाभाविक है।

हेतुतः शत्रुमित्रे भविष्यतः ॥ ५१ ॥

शत्रु मित्र अकारण न होकर कारणवश हुआ करते हैं।

विवरण— सदाचरण या उपकारसे मित्र, तथा असदाचरण या अनुप-कारसे शत्रु बन जाया करते हैं। नित्यमित्र, सहजमित्र, तथा कृत्रिममित्र तीन प्रकारके मित्र होते हैं। अकारण पाल्यपालक बन जानेवाले नित्यमित्र, कुलपरम्परासे चले आनेवाले मित्र सहजमित्र तथा प्रयोजनसे स्नेह करने-वाले कृत्रिममित्र होते हैं।

शत्रुमित्रपरिचयके निम्न कारण प्रत्यक्ष उपस्थित होजाते हैं। जो मनुष्य मित्रकी विपत्तिको अपनी विपत्ति मानकर, मित्रके चित्तको स्थिर तथा दृढ बनाये रखनेके लिये स्वयं दृढताके साथ उसका साथ देकर अपना कर्तव्य पूरा करता है वही सच्चा मित्र है। सच्चा मित्र संपत्तिके दिनोंमें मित्रकी संपत्तिको अटल बनाये रखता तथा विपत्तिके दिनोंमें उसकी विपत्को हटाये रखनेके उद्देश्यसे उसके सच्चे हितमें आत्मदान कर देता है। हितमें आत्मदान करनेवाला मित्र ही सच्चा मित्र है। जो व्यक्ति कृत्रिम मित्र बनकर मित्रके अच्छे दिनोंमें तो उसका धनशोषण तथा अपना स्वार्थोद्धार करता है और मित्रके दुर्दिनोंमें आखें फेर लेता, शत्रुसे मेलजोल रखता तथा मित्रकी निन्दा करता है, वह वास्तवमें शत्रु ही है। जो विश्वासपात्र बनकर विश्वासघात करता, सब बातोंमें मतभेद रखता, सदा धनशोषण करता, स्वयं कभी कुछ नहीं देता, सदा अपना ही गीत गाता, अपना ही रोना रोता, शत्रु पैदा करता, अपने ही संबन्धको प्रधानता तथा महत्त्व देकर रहता और समय पाते ही पैशुन्य करता है, उसे कभी मित्र न मानना चाहिये।

(निर्बल धार्मिक राजाकी संधिनीति)

हीयमानः सन्धिं कुर्वीत ॥ ५२ ॥

निर्बल नीतिमान् राजाका तात्कालिक कल्याण इसीमें है कि वह अधिक शक्तिशाली अन्यायी सशक्त राज्यके साथ सन्धिकी नीतिको अपनाकर आत्मरक्षा करे और उपस्थित संग्रामको टालदे।

विवरण— वह अपनी हीयमान अवस्थाका शत्रुको पता चलनेसे पहले ही अपनी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव करके आत्मरक्षाका प्रबन्ध करे। वह युद्ध स्थगित करनेके अवसरका अपनी शक्तिवृद्धिमें उपयोग करे। नीतिमान् राजाके लिये ये दोनों ही बातें अभीष्ट नहीं हैं कि वह सन्धिके द्वारा अपनेसे

बलवान् अधार्मिक शत्रुके हाथोंमें आत्मविक्रय करे या पराजय निश्चित होने-पर उससे संग्राम करके मिट जाय। ऐसे समय नीतिमान् राजाका कर्तव्य है कि शत्रुसे सामयिक सन्धिके सहारे आत्मरक्षा करके शक्तिसंचय करनेमें लगा रहे। यही उसकी सन्धिका उद्देश्य रहना चाहिये।

(सबल धार्मिक राजाकी सन्धिनीति)

अधिक सूत्र— **हीयमानेन न सन्धिं कुर्वीत।**

वर्धिष्णु नीतिमान् धार्मिक राजाका कल्याण इसीमें है कि वह अपनी विजय निश्चित होने तथा नीतिहीन शत्रुकी हीयमान अवस्थाका पता चल जानेपर उसके सन्धिप्रस्तावको स्वीकार न करे।

विवरण— नीतिमान् बलवान् राजाके लिये यह कदापि उचित न होगा कि वह अधार्मिक निर्बल शत्रुको संग्रामभूमिमें आखड़ा पाकर भी उसे न मिटाकर उसकी मीठी बातोंके चक्करमें आकर उससे सन्धि करके उसे भविष्यमें शक्तिमान् बनकर शत्रुता करते रहनेके लिये जीवित रहनेदे। शत्रुको उसकी प्रस्तावित सन्धिसे जीवित रहनेका अवसर देदेना राज-नैतिक मौतरूपी भयंकर प्रमाद है।

(सन्धिका कारण)

तेजो हि सन्धानहेतुस्तदर्थानाम् ॥ ५२ ॥

सन्धानार्थी दोमेंसे दोनोंकी तेजस्विता प्रभावशालिता तथा प्रताप ही सच्चा सन्धिका कारण होता है।

विवरण— कोष तथा दण्डज प्रताप तेज कहाता है। धनभंडार कोष कहाता है। दमन तथा सेना ये दो दण्डके भेद हैं।

अधिक्षेपावमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत्।
प्राणात्ययेऽप्रसहनं तत्तेजः समुदाहृतम्॥ (भरत)

दूसरेके किये अधिक्षेप तथा अपमानको न सहना तथा इस असहनमें प्राणोत्सर्ग तक करनेको प्रस्तुत होजाना 'तेज' कहाता है। "मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।" चिरकाल तक धूयेंके साथ निष्प्रभ होकर पछता पछताकर सुलगते रहनेकी अपेक्षा ज्वालामालाके साथ एक क्षणभर भी जीलेना शोभाकी बात है।

सूत्र कहना चाहता है कि जब कोई दूसरे पक्षमें अधिक तेज देखे और सन्धि करना आवश्यक माने तब अपने सम्मानको सुरक्षित रखकर हीयमान होते हुए भी शत्रुको अपनी हीयमानता न दिखाकर, बन्दरघुडकी दिखाते हुए ही उससे सन्धि करे। सन्धि करनेमें अपने सम्मान और अस्तित्वको सुरक्षित रखना अपना विशेष कर्तव्य माने। ध्यान रहे कि सम्मान सुरक्षित नहीं होगा, तो सन्धि सन्धि न होकर आत्मसमर्पण होजायेगा। सन्धिके समय हीयमानका कर्तव्य होता है कि वह सन्धिप्रस्तावमें अपनेको मिटाकर सन्धि न करे। किन्तु निर्विष होनेपर भी फुंकार मारना न त्यागनेवाले सांपकी भांति अपने तेजको अक्षुण्ण रखकर सन्धि करे।

पाठान्तर— तेजो हि सन्धानहेतुस्तदर्थिनाम्।

नातप्तलोहो लोहेन सन्धीयते ॥ ५४ ॥

जैसे बिना तपे लोहेकी बिना तपे लोहेसे सन्धि नहीं होती, इसी प्रकार दोनों पक्षोंमें तेजस्विता न हो तो सन्धि नहीं होती।

विवरण— यह तो ठीक है कि दोनोंमेंसे एकके प्रतापका अधिक होना अनिवार्य है तो भी उनमें सन्धि होना तब ही संभव होगा, जब हीयमान राजा अपने पौरुष ढीले न छोडचुका होगा। यदि वह पौरुष ढीले छोड देगा तो अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही खो बैठेगा। सन्धि तब ही होसकेगी जब निस्तेज राजा भी शत्रुसे संधिप्रस्तावमें अपनी तेजस्विताको अक्षुण्ण बनाये रखकर शत्रुपक्षपर सन्धिका दबाव डाल रहा होगा। बात यह है कि शत्रु-पक्ष अधिक बलवान् होनेपर भी युद्धके अनिष्टकारी परिणामोंसे बचना चाहा करता है। ऐसी स्थितिमें नीतिमान धार्मिक राजा अधार्मिक शत्रुपर

अपनी तेजस्विताके दबावसे अपनी निर्बलताको छिपाये रखकर सन्धिका प्रस्ताव करे। तब ही सफलमनोरथ होकर आत्मरक्षा करसकता है।

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥

महाकवि भारवि

जब मनुष्य अमर्षशून्य और पराभवसहिष्णु होजाता है, तब यथार्थमें वह सभ्य समाजके लिये तो मर ही जाता है। तब न तो मित्रपक्ष उसका आदर करता है, और न शत्रुपक्ष। जैसे एक गरम और एक ठंडा लोहा परस्पर सन्धि नहीं कर पाते, जैसे मिश्रित होनेके लिये दोनोंको आवश्यक मात्रामें उष्ण होना चाहिये, इसी प्रकार दोनोंमें आवश्यक तेजस्विता होनेपर ही सन्धि संभव है।

यदि मनुष्य अपना तेजस्वीपन खोकर बन्दरघुडकी देना भी छोडकर सन्धि मांगेगा तो प्रतिपक्षी युद्ध ही करेगा। सब जानते हैं कि सीधी अंगुलियोंसे घी नहीं निकलता। यदि सन्धिका इच्छुक शत्रुको अपनी विवशता दिखाबैठेगा और गिडगिडाकर सन्धि मांगेगा तो उसका आखेट बने बिना नहीं रहेगा। इस प्रकार यदि सन्धि हो भी जायेगी तो वह निस्तेज पक्षके लुण्ठनका कारण बनजायेगी।

पाठान्तर— **नातप्तलोहं लोहेन सन्धत्ते।**

(युद्धका अवसर)

बलवान् हीनेन विगृह्णीयात् ॥ ५५ ॥

बली राजा शत्रुको हीन पाकर ही उससे युद्ध ठाने।

विवरण— यदि शत्रु हीन न हो तो उससे युद्ध न ठानकर उसे उपायान्तरसे नष्ट करनेवाले बौद्धिक प्रयोग करे। मनुष्य यह जाने कि बुद्धिबल भौतिकबलसे अधिक महत्ववाला होता है।

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्ति राष्ट्रं सनायकम् ॥

धनुर्धारीका मारा एक तीर अपने लक्ष्यको मारसके या न मारसके, परन्तु बुद्धिमानोंकी प्रयुक्त बुद्धि नायकसहित राष्ट्रका ध्वंस कर डालती है।

मनुष्य विग्रह वहां न करे, जहां वह अशान्तिका कारण हो। क्योंकि अशान्तिदमन और शान्तिस्थापन ही विग्रहका उद्देश्य होना चाहिए। शान्तिप्रिय निर्बल व्यक्तिसे भी विग्रह करना कभी उचित नहीं है। हां, यदि निर्बल दुष्ट हो तब तो उससे विग्रह करना अनिवार्य कर्तव्य होता है। जब कि विग्रहका उद्देश्य शान्तिस्थापना और अशान्तिका दमन करना है तब अशान्तिकारक मनुष्यको क्योंकि वह निर्बल है केवल इसलिये क्षमा नहीं किया जा सकता। शान्तिद्रोही निर्बल शत्रुसे तो युद्ध प्रत्येक अवस्थामें करना चाहिये। परन्तु किसी बलवान्से हारजानेके लिये लडपडना भी नीति नहीं है। सुनिश्चित विजय होनेपर ही युद्ध करना चाहिये। सारांश यह है कि विग्रह सदा अपनेसे निर्बल दुष्टके साथ ही ठानना चाहिये। प्रौढ दुष्टसे तत्काल युद्ध न करके उसे अचिर भविष्यमें हरादेनेयोग्य बलवान बननेके लिये जागरूक होकर रहना चाहिये और युद्धको टालते रहना चाहिये।

युद्धका उद्देश्य अशान्तिकारकका दमन और शान्तिकी स्थापना होना चाहिये। शान्तिप्रेमी राजा अशान्त्युत्पादक शत्रुपर आक्रमण करनेसे पहले शत्रुकी शक्तिका ठीक ठीक पता लगाकर ही शत्रुदमनके लिये युद्धभूमिमें उतरे। शत्रुको अपनेसे बलवान् जानकर भी रणभूमिमें उसका आह्वान करके उससे पराजित होबैठना अशान्तिको ही विजयी बनानेवाला होजाता है। इस दृष्टिसे अपने बलवान् शत्रुके अशान्तिजनक होनेपर भी उसके विरुद्ध संग्रामघोषणा न करके, उससे अधिक शक्तिशाली बनकर ही उसके दमनके विषयमें निश्चित तथा निश्चिन्त होकर उससे विग्रह करे। अर्थात् उसका दमन करनेके लिये शक्तिसंचय करनेमें अपनी समस्त शक्तियोंका प्रयोग करे।

पाठान्तर— **बलवान् हीने न विगृह्णीयात्।**

'हीनेन' इस तृतीयान्त पाठके स्थानपर 'हीने न' इस प्रकार सप्तम्यन्त पाठ मान लेनेपर "बलवान् हीनसे विग्रह न करे" यह अर्थ होता

है। परन्तु यह अर्थ अव्यावहारिक होनेसे स्वीकरणीय नहीं है। इससे यह पाठ अपपाठ है। उसका कारण यह है कि हीन यदि दुष्ट हो तो उससे विग्रह क्यों नहीं करना चाहिये? यह बात इसमें नहीं बताई गई। अशान्तिका उत्पादक शत्रु चाहे बलहीन हो तब भी उसे बलहीन होनेके कारण उपेक्षित नहीं किया जा सकता। ऐसे समय उसकी बलहीनताको उसपर आक्रमण न करने या उसे उचित शिक्षा न देनेका कारण नहीं बनाया जा सकता। दुष्टको हीन देखकर उसकी उपेक्षा करना तो राष्ट्रद्रोह है। उसकी बलहीनताको ही उसपर आक्रमणका कारण बनाया जाना चाहिये। इसलिये बनाना चाहिये कि उसकी बलहीनताकी अवस्थामें ही तो विजय सुनिश्चित होती है।

न ज्यायसा समेन वा ॥ ५६ ॥

अधिक भौतिक बलवाले या समान बलवालेसे भी विग्रह न छेडे।

विवरण— जिसपर विक्रम, बल तथा उत्साहनामक तीन शक्ति अधिक या समान हैं उससे युद्ध ठाननेका अर्थ स्वनाश ही होता या होसकता है।

ऐसे अवसरपर तात्कालिक युद्धको स्थगित रखकर स्वयं तो शत्रुसे अधिक शक्तिशाली बनने तथा शत्रुको बलहीन बनानेके लिये जितना कालक्षेप आवश्यक हो उतना करके शत्रुदमनका प्रबन्ध करे। युद्धके विना शत्रुदमनका कोई उपाय संभव नहीं है। इसलिये युद्धको अनिवार्य मानकर संग्रामके लिये सदा सन्नद्ध रहना ही राजनीति है।

गजपादविग्रहमिव बलवद्विग्रहः ॥ ५७ ॥

बलवानसे युद्ध करना युद्धमें गजसेनासे निश्चित रूपमें हारजानेवाली पदाति सेनाके युद्ध जैसा निर्बलका ही विध्वंसक होता है।

विवरण— गजारूढ सैनिकोंके सम्मुख पदाति सेनाकी जो गति होती है, वही गति बलवान् शत्रुके सम्मुख निर्बलकी होजाती है। इस दृष्टिसे

अशान्तिजनक आततायीका दमन करनेके लिये उससे अधिक शक्तिशाली बनकर अर्थात् उसे हाथीके पैरके नीचे कुचल डालने जैसी उससे कई गुनी शक्ति एकत्र करचुकनेके पश्चात् ही उससे विग्रह करना उत्कृष्ट राजनीति है। इस सूत्रका भाव संग्रामविमुखताकी प्रेरणा देना नहीं है। इसमें तो सुनिश्चित विजय दिलानेवाली युद्धसज्जा (तैयारी) करनेकी प्रेरणा है।

पाठान्तर— **हस्तिनः पादयुद्धमिव बलवद्विग्रहः।**

बलवान्से युद्ध हाथीके पैरसे उलझनेके समान निर्बलका घातक बन जाता है।

आमपात्रमामेन सह विनश्यति ॥ ५८ ॥

जैसे, कच्चा पात्र कच्चे पात्रसे टक्कर लेने लगे तो दोनों ही टूट जाते हैं, इसी प्रकार समान शक्तिवालोंका युद्ध दोनों हीका विनाशक होता है।

विवरण— क्योंकि समान शक्तिवालोंके युद्धोंके परिणाम दोनों हीके लिये विनाशक होते हैं, इसलिये युद्धके बिना कोई गति शेष न रहनेपर ही युद्धका मार्ग अपनाना चाहिये। जब युद्ध न करनेका भी परिणाम विनाश ही सुनिश्चित दीखने लगा हो, तब वीरतासे युद्धमें जूझकर मरकर वीरगति पाना ही श्रेष्ठ नीति होती है। ऐसे भी समय आखडे होते हैं जब युद्ध करना अनिवार्य कर्तव्य होजाता है। ऐसे समय प्रतिपक्षीके यमराज बनकर उससे युद्ध ठानना कर्तव्य होता है।

इस दृष्टिसे शान्तिस्थापनाके इच्छुक राजाको अशान्तिदमन करनेके लिये कच्चे पात्रको मिटा डालनेवाले पक्के पात्रके समान मिटा डालनेकी शक्ति एकत्र करना उत्कृष्ट राजनीति है। संग्रामविमुखता तो कदापि राजनीति नहीं है।

पाठान्तर— **आमपात्रमापेन सह विनश्यति।**

अपक्व मृत्पात्र जलोंके सम्पर्कमें आते ही नष्ट हो जाता है। यह पाठ व्याकरण संगत नहीं है।

(शत्रुप्रयत्नोंका निरीक्षण)

अरिप्रयत्नमभिसमीक्षेत ॥ ५९ ॥

शत्रुओंके प्रयत्नों, चेष्टाओं, उद्यमों, राज्यलाभों, परराष्ट्रोंसे सन्धियों आदिको अपने गुप्तचरोंके द्वारा ठीक ठीक जाने (और आत्मरक्षामें पूरी सावधानी बरते)।

विवरण— विजीगीषु राजा सन्धि या विग्रह प्रत्येक अवस्थामें शत्रुओंके प्रयत्नोंपर पूरी दृष्टि रखे। वह शत्रुपक्षके श्वास प्रश्वासोंतकका परिचय प्राप्त करता रहे।

पाठान्तर— अरिप्रयत्नमभिसमीक्ष्यात्मरक्षयावसेत्।

राजा शत्रुके प्रयत्नोंपर दृष्टि रखता हुआ आत्मरक्षा करे।

सन्धायैकतो वा ॥ ६० ॥

विजिगीषु राजा सन्धि या विग्रह प्रत्येक अवस्थामें शत्रुके प्रयत्नोंपर सुतीक्ष्ण दृष्टि रखता रहे।

अरिविरोधादात्मरक्षामावसेत् ॥ ६१ ॥

राजा अपने राष्ट्रको बाहरी तथा आभ्यन्तरिक शत्रुके लूट, दाह, अनीति आदि पापोंसे बचाता रहे।

(सन्धिका अवसर)

शक्तिहीनो बलवन्तमाश्रयेत् ॥ ६२ ॥

शक्तिस्थापनाका इच्छुक राजा किसी धार्मिक शक्तिशाली राजाको मित्र बनाले और उससे अपनी स्वतन्त्रताको सुरक्षित करे।

विवरण— राष्ट्र, सेना, दुर्ग तथा कोषरूपी शक्तियोंसे असमृद्ध राजा इन सब शक्तियोंसे सम्पन्न किसी प्रतापी धार्मिक राजाके साथ मित्रता करके उसके सहयोगसे शत्रुदमनकारिणी विशालशक्तिकी सृष्टि करे।

दुर्बलाश्रयो दुःखमावहति ॥ ६३ ॥

दुर्बल (अर्थात् अपनी शक्तिमें विश्वास न रखनेवाले, स्वतन्त्रता या अशान्तिदमनके आदर्शको न अपनानेवाले) कापुरुषके साथ सम्मिलित होना दुःख (अर्थात् विनाश) का कारण बनजाता है।

विवरण— प्रायः देखनेमें आता है कि भौतिक शक्तिहीन दो दुर्बलोंके सच्चे मिलनसे नवीन महाशक्तिका जन्म होजाता है। इसीलिये इस सूत्रमें दुर्बल शब्दका " अपनी शक्तिपर भरोसा न करनेवाला " " कापुरुष " अर्थ किया है। इस सूत्रके दुर्बल शब्दका यह अर्थ मान्य नहीं है कि मानसिक शक्तिसंपन्न कुछ दुर्बल राष्ट्र संगठित होकर शक्तिमान् नहीं बन सकते।

पाठान्तर— दुर्बलाश्रयो हि दुःखमावहति।

(सन्धिमें सावधानता)

अग्निवद्राजानमाश्रयेत ॥ ६४ ॥

किसी राजासे आश्रयका सम्बन्ध जोडना आवश्यक होजाने पर भी उसकी ओरसे अग्निके संबंधके समान, उसे अपनी हानि न करने देनेके संबंधमें पूरा सावधान रहकर व्यवहार करे।

विवरण— उसे अपनी हानि करनेका अवसर न दे। उससे इतना न चिपट जाय कि वह चाहे जब गला घोट सके। जैसे आगमें स्वयं जलमरना आगका दुरुपयोग है, परन्तु जैसे आगकी दाहिका शक्तिको आत्मरक्षाका साधन बनालेना उसका सदुपयोग है, इसी प्रकार विजीगीषु मनुष्य अशान्तिकारक शत्रुका दमन करनेके लिये किसीका आश्रय करे। वह किसीका आश्रय लेकर अपनी शान्ति तथा स्वतन्त्रता न खोबैठे। जैसे अग्निके दाहक शोषक होनेपर भी जीवनमें उसके महत्वपूर्ण उपयोग हैं, क्योंकि उसके विना काम नहीं चलते। इसी प्रकार जब बली राजाका आश्रय लिये विना जीवन धारण असंभव होजाय तब बलहीन राजा राजलक्षणोंसे सम्पन्न

किसी धार्मिक तेजस्वी राजाके साथ मित्रताका सम्बन्ध जोड़ें और एक सम्मिलित वर्धित शक्तिसे शक्तिमान् बने। सोमदेवके शब्दोंमें राजाके लक्षण– 'धार्मिकः कुलाचाराभिजनो विशुद्धः प्रतापवान् नयानुगतवृत्तिश्च स्वामीति।' राजाको स्वधर्म तथा प्रजापालनमें रत कुलाचारका पालक अस्वेच्छाचारी कुलीन यतेन्द्रिय शौर्य, वीर्य, धीमता आदि गुणोंके युक्त प्रतापी तथा न्यायनिष्ठ होना चाहिये।

(राजद्रोह अकर्तव्य)

राज्ञः प्रतिकूलं नाचरेत् ॥ ८५ ॥

राजद्रोह न करे।

विवरण— राजाके प्रतिकूल आचरण न करे। राष्ट्रकी सम्मतिसे सिंहासनारूढ राजाका द्रोह राष्ट्रका ही द्रोह है। प्रश्न होता है कि क्या राजाके अनीतिपरायण होनेपर भी उसकी अनुकूलता करे? क्योंकि अनीतिपरायण होना तो मनुष्यताविरोधी स्थिति है, इसलिये अपनी मनुष्यताको तिलांजलि देकर अनीतिपरायण बने हुए राजाकी अनुकूलता करना चाणक्य जैसे आदर्श राजचरित्र तथा आदर्श समाजकी परिशुद्ध कल्पना करनेवाले मनस्वीके इस सूत्रका अभिप्राय कभी नहीं होसकता। फिर प्रश्न होता है कि क्या इस सूत्रका यह अर्थ है कि अनीतिपरायण राजाके तो प्रतिकूल आचरण करे और धार्मिक राजाकी प्रतिकूलता न करके उसकी अनुकूलता करे? वास्तविकता तो यह चाहती है कि धार्मिक मनुष्यमात्रकी अनुकूलता की जाय। चाहे वह राजा हो या सामान्य नागरिक हो। धार्मिक मनुष्यके लिये धर्मकी अनुकूलता करना स्वभावसिद्ध होता है। इस बातके लिये सूत्रकी कोई विशेष आवश्यकता स्वीकार नहीं होसकती। राजाके अनीतिपरायण होनेपर ही उसकी अनीतिपरायणताके संबन्धमें प्रजाका जो कर्तव्य बनता है उसीको स्पष्ट कर देना इस सूत्रका उद्देश्य है।

प्रजाकी राष्ट्रसेवा राजाको राष्ट्रके सामूहिक नैतिक प्रभावसे नीतिपरायण रखने तक ही सीमित है। राजद्रोह करके राष्ट्रकी शान्ति तथा शृंखलाको भंग करना तो राष्ट्रद्रोह है। यदि राष्ट्र राजाको नीतिपरायण रखनेमें असमर्थ

है, तो राजाकी अनीतिपरायणता राष्ट्रकी ही अनीतिपरायणता है। राजाके अनीतिपरायण होनेका अपराध राजाके व्यक्तित्व तक ही सीमित नहीं रहता। राजाके अनीतिपरायण होनेमें सारा ही राष्ट्र कारण होता है। राष्ट्रके स्वयं अनीतिपरायण रहनेतक राजाका अनीतिपरायण होना अनिवार्य है। राजा वास्तवमें राष्ट्रका ही प्रतिबिम्ब होता है। जैसा राष्ट्र होता है वैसा ही उसका राजा होता है। जैसे बिम्बको सुधारे विना प्रतिबिम्बका सुधार असंभव है इसी प्रकार राष्ट्रको सुधारे विना अकेले राजाको सुधारना असंभव है।

क्योंकि प्रजाकी निर्विघ्न जीवनयात्राके लिये राज्यसंस्थाका होना अनिवार्य रूपसे आवश्यक है इसलिये विवेकी लोग राज्यसंस्थाके सहायक बन कर रहें और उसका द्रोह न करें। यही सूत्रका तात्पर्य है। जहां तक और जब तक संभव हो राजाको नीतिपरायण रखनेके प्रयत्नोंको तो चालू रखें परन्तु उसका द्रोह करनेपर न उतरें। राज्यसंस्थाको सुधारकर रखना कर्तव्य होनेपर भी अराजकता फैलाना प्रजाके लिये कल्याणकारी नहीं है। नीतिवाक्यामृतके शब्दोंमें '**अस्वामिकाः प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरितुं न शक्नुयुः।**' समृद्ध भी राजहीन प्रजायें निर्विघ्न जीवनयात्रा नहीं कर सकतीं। इसलिये राज्यसंस्थाका द्रोह न करके जहां तक संभव हो उसका सहायक बनकर रहे। सूत्रकार सांकेतिक भाषामें कहना चाहते हैं कि दूषित राज्यसंस्थाको भी नष्ट करनेका उपक्रम न करके उसे भी सुधारनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। राज्यसंस्थाका सकलोच्छेद तो अगतिक या अन्तिम उपायके रूपमें ही काममें लाना चाहिये। अराजकताको उत्तेजना देनेवाले लोग जानें कि अराजकतासे देशको अकल्पित विपत्तियों और विनाशोंका सामना करना पड़ता है। भारत अपने विभाजनके दिनोंमें अभी अभी अराजकताका भयंकर रूप देख चुका है।

(सौम्य वेष)

उद्धतवेषधरो न भवेत् ॥ ६६ ॥

दृष्टिकटु (द्रष्टाके मनमें तिरस्कारबुद्धि उत्पन्न करनेवाले) रुचिविगर्हित असाधारण वेष न पहने।

विवरण— मनुष्य समाजानुमोदित सभ्य वेष धारण करे। साधारण रहनसहन, सार्वजनिक उत्सव, तथा राजसभा आदि सब ही इस सूत्रके व्यवहारक्षेत्र हैं। मनुष्य सभ्यसमाजानुमोदित वेषभूषा पहनकर ही व्यवहार करे। वह कहीं भी स्वेच्छाचारी वेषभूषा या अपनी शृंगारप्रियताका प्रदर्शन न करे। चाहे जितना समृद्ध होनेपर भी मनुष्यकी वेषभूषा राष्ट्रकी सार्वजनिक वेषभूषाकी प्रतीक होनी चाहिये। सार्वजनिक स्थानोंमें अनाकर्षक, सौम्य वेषभूषामें ही आना चाहिये।

पाठान्तर— नोद्धतवेषधरः स्यात्।

न देवचरितं चरेत् ॥ ६७ ॥

मनुष्य राजचरित्रका अनुकरण न करे।

विवरण— मनुष्य धनमदमें आकर मुकुट, छत्र, चामर, ध्वज, विशेष वाहन आदि राजचिन्होंका उपयोग न करे। राजाके ऐश्वर्यसे प्रतिद्वन्द्विता करनेवाले प्रदर्शन न करे। अथवा समाजमें व्यक्तिगत महत्वाकांक्षामूलक यशोलिप्सा, किसी साम्प्रदायिक या जातिगत स्वार्थी दलका नेतृत्व, प्रभुता आदि राष्ट्रसेवाविरोधी प्रदर्शनोंसे समाजकी भावनाको विपथगामी न करे।

(राजद्रोही संगठनोंका विनाश)

द्वयोरपीर्ष्यतोः द्वैधीभावं कुर्वीत ॥ ६८ ॥

अपने राज्यैश्वर्यसे ईर्ष्या करनेवाले, विरोधके ही लिये सम्मिलित होनेवाले माण्डलिक राजाओं या दो व्यक्तियों तकमें अपने कूटप्रयोगोंसे पारस्परिक द्वेष पैदा करके, उन ईर्ष्यालुओंकी महत्वाकांक्षाको तो पददलित तथा उनके अस्तित्वको विलुप्त करडाले।

विवरण— राज्यविरोधी बडे संगठनोंके संबन्धमें सतर्कताका तो कहना ही क्या राज्यविरोधी दो व्यक्तियों तकको विरोधी दल बनाकर संगठित होनेका अवसर न पाने दे।

(व्यसनासक्तिसे हानि)

न व्यसनपरस्य कार्यावाप्तिः ॥ ६९ ॥

व्यसनासक्तसे सफल कर्म नहीं होपाता।

विवरण— व्यसनासक्तका कर्म फलदायी नहीं होता। क्योंकि व्यसनासक्तका कर्म उत्साह, दृढता, संकल्प तथा आत्मविश्वाससे हीन होता है इसलिये उसके किये कर्म निष्प्राण होते हैं। उसका मन व्यसनासक्त होनेसे सब समय कर्तव्यबुद्धिसे भ्रष्ट बनकर रहता है। राजाकी राजकार्योंमें निष्ठा तब ही हो सकती है जब वह प्रजारंजनको अपनी तपश्चर्याके रूपमें स्वीकार करके तपस्वी जीवनको अपनाये। राजाके लिये राजधर्मपालनसे भिन्न या महत्वसंपन्न दूसरा कोई भी कर्तव्य धर्म स्वभाव या प्रवृत्ति स्वीकरणीय नहीं होसकती। राजधर्मपालन ही राजाके मनुष्यदेहधारणकी सार्थकता है। व्यसनी राजा स्वयं तो नष्ट होता ही है अपने साथ राष्ट्रको भी नष्ट कर डालता है। व्यसनहीन धीर राजा या राज्याधिकारी ही बुद्धिमान् माने जाते और प्रशंसा पाते हैं। उनके ही काम सुनिश्चित कर्मफलवाले होते हैं।

समय शक्ति या धनका गिरावटमें उपयोग 'व्यसन' कहाता है। कामज तथा कोपज दोष व्यसन कहाते हैं। मानवधर्मशास्त्रमें राजाके दस (१०) कामज तथा आठ (८) कोपज भेदसे १८ प्रकारके व्यसन गिनाये हैं। १– आखेट, २– जुआ (शतरंज ताश, लाटरी, घुड़दौड़, सट्टे आदि), ३– सकलकार्य विनाशक दिवानिद्रा, ४– परनिन्दा, ५– व्यभिचार, ६– मद्यपानजनित मद, ७– नृत्य, ८– गीत, ९– वादित्र, १० व्यर्थ भ्रमण ये दस कामज व्यसन हैं। १– किसीपर मिथ्या दोषारोपण, २– मिथ्याप्रतिष्ठाके दुराग्रहसे किसीकी सच्ची बात न मानना, ३– निरपराधसे व्यक्तिगत द्वेष, ४– परश्रीकातरता (दूसरोंके गुणोंका असहन), ५– दूसरोंके गुणोंमें दोषोद्भावन, ६– परधनापहरण तथा पराये धनका अप्रत्यावर्तन, ७– दुर्वचन, ८– ताडनादि ये आठ प्रकारके कोपज व्यसन हैं।

इन्द्रियवशवर्ती चतुरङ्गवानपि विनश्यति ॥ ७० ॥

इन्द्रियोंका आज्ञाकारी असंयतेन्द्रिय राजा समस्त प्रकारकी सेनाओंसे सुसज्जित होनेपर भी नष्ट होजाता है।

विवरण— इन्द्रियासक्तकी कर्मशक्ति कुण्ठित हो जाती है। यह बात सूत्रके " अपि " शब्दसे कही गई है। इन्द्रियासक्तकी समस्त कर्मशक्ति उसकी इन्द्रियासक्तिमें ही क्लान्त समाप्त और गतार्थ होकर दूसरा कोई भी महत्वपूर्ण कर्म करनेके योग्य ही शेष नहीं रहती। असफलता ही इन्द्रियासक्तोंकी अमिट ललाटलिपि या कर्मरेखा बनजाती है।

पाठान्तर— इन्द्रियवशवर्तिनो नास्ति कार्यावाप्तिः।

इन्द्रियाधीनका कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता।

पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, तथा मन प्रत्येक समय अज्ञानी मनुष्यके ज्ञान, संयम, विचार तथा शान्तिरूपी धनको चुरा चुरा कर उसे संसाररूपी पण्यशालामें व्यर्थ व्यय कर डालना चाहते हैं। इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाले राजा या राज्याधिकारियोंके इन्हें अपना ज्ञानधन चुरा लेने देने पर वे काम जिन्हें करना उनका कर्तव्य है निश्चित रूपमें फलहीन रहते हैं। कार्य तो संयतेन्द्रिय लोगोंके ही सफल होते हैं।

जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः
जितेषु ननु लोकोयं तेषु कृत्स्नस्त्वया जितः
परवानर्थसंसिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रपः।
अविधेयेन्द्रियः पुंसां गौरिवैति विधेयताम्॥ भारवि

तुम अपने ही देहमें रहनेवाले चक्षु आदि इन्द्रियरूपी घरेलू दुर्जय शत्रुओंको विजित बनाकर रखो। यदि तुम उन्हें जीतकर रखोगे तो निश्चय जानो कि तुम विश्वविजयी बन चुकोगे। अवशेन्द्रिय मानव स्वार्थसाधनमें पराधीन नीचवृत्ति निर्लज्ज होकर पशुओंके समान दूसरोंकी अधीनतामें आजाता है।

जिसकी अपनी इन्द्रियां तक अपने वशमें नहीं हैं, जो अपनी इन्द्रियों तकपर अपना शासन स्थापित करनेमें असफल हो रहा है, निश्चय है कि वह अपनी चतुरंग सेनाको भी कर्तव्यनिष्ठ न रखकर उसे भी अपनी इन्द्रियोंके समान ही कर्तव्यभ्रष्ट बनाये रखेगा। उसके असंयत मनका

कुप्रभाव सेनापर भी पडेगा और उसे भी असंयत कर्तव्यहीन उत्तरदायित्व-हीन निकम्मा बनाडालेगा । जैसे इन्द्रियासक्तका मन, काम, क्रोधादि रिपुओंके आक्रमणसे पतित होजाता है, इसी प्रकार उसके राज्याधिकारपर आक्रमण करनेवाले शत्रुके आक्रमणके अवसरपर उसकी सेनाका निकम्मापन उसके पतनका कारण बने विना नहीं रहता ।

(द्यूतसे हानि)

नास्ति कार्यं द्यूतप्रवृत्तस्य ।। ७१ ।।

द्यूतासक्त लोग कर्तव्यहीन होते हैं ।

विवरण— द्यूतासक्त लोग कर्तव्यका आह्वान आनेपर धैर्यच्युत हो जाते हैं । ऐसी कर्तव्यद्वेषिणी द्यूतासक्ति राजाका राष्ट्रघाती अपराध है ।

पाठान्तर— **नास्ति कार्यं द्रुतप्रवृत्तस्य ।**

अविचार और अधैर्यसे शीघ्रतामें आकर काम प्रारंभ कर देनेवालेके काम सिद्ध नहीं होपाते ।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥

भारवि

मनुष्य सहसा कोई भी काम न करे । अविवेक परम आपत्तियोंका घर बन जाता है । संपत्तियोंको भी गुणोंका लोभ होता है । गुणोंका लोभ रखनेवाली संपत्तियां विचारकर काम करनेवालोंको अपने आप आकर वरती हैं ।

सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतम् ।
सुदीर्घकालेपि न याति विक्रियाम् ॥ विष्णुशर्मा

सुचिन्तासे बोले वाक्य, तथा सुविचारसे किये काम लम्बे काल तक भी नहीं बिगडते । मनुष्य परिणामपर दृष्टि डाले विना तथा पूर्वापर पर्यालोचन किये विना किसी काममें हाथ न डाले । उपस्थित कर्मपर सूक्ष्म बुद्धिसे

विचार करके ही उसे करना चाहिये। सोचकर करना चाहिये। करके सोचनेका कोई अर्थ नहीं है। तब तो पछताना ही पछताना होता है।

कामज कोधज व्यसनोंके दोष दिखानेका प्रसंग चल रहा है, इस कारण द्युत शब्दको अपपाठ मान लेना पडता है। इस पाठसे विचारकी शृंखला टूट जाती है।

(मृगयासे हानि)

मृगयापरस्य धर्मार्थौ विनश्यतः ॥ ७२ ॥

आखेटव्यसनीके धर्म और अर्थ (कर्तव्यपालन तथा जीवन-साधनोंका संग्रह और रक्षा) दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

अर्थैषणा न व्यसनेषु गण्यते ॥ ७३ ॥

जीवनसाधनोंके संग्रहकी इच्छा व्यसनोंमें नहीं गिनी जाती।

विवरण— धन जीवनयात्रा, राष्ट्ररक्षा तथा राष्ट्रोन्नतिका साधन है। अतः धन कदापि त्याज्य नहीं है। धनासक्ति या कृपणता ही त्याज्य है।

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

मनुष्य अपनेको अजर, अमर मानकर विद्योपार्जन और धन संचय करता है। परन्तु धर्मका उपार्जन तो तत्काल करे और इस बुद्धिसे करे कि मौतने आकर मेरा केशपाश पकड लिया है, जो कुछ धर्म करना है इसी क्षण कर ले। मनुष्य फिरके लिये धर्मको न टाले।

अधिक सूत्र— **अर्थेषु पानव्यसनी न गण्यते।**

मदिरासक्त लोग महत्वपूर्ण कामोंमें विश्वास करने योग्य नहीं होते।

(कामासक्तिसे हानि)

न कामासक्तस्य कार्यानुष्ठानम् ॥ ७४ ॥

कामासक्त चरित्रहीन व्यक्ति किसी भी कामको ठीक नहीं कर सकता।

विवरण— यदि राष्ट्रको पवित्र रखना हो तो उसका एकमात्र उपाय यह है कि राज्यसंस्थाको राष्ट्रीय पवित्र तपोभूमिका रूप देकर रखो। जनता राज्यसंस्थाके अनुकूल अपना चरित्र बनाती है। राज्यसंस्थाका स्वभाव ही राष्ट्रका स्वभाव बनजाता है।

कामी लोग सूक्ष्म कामोंमें ध्यान नहीं दे सकते, उनका मन एकाग्र होना नहीं जानता। उन्हें सौंपे कार्योंमें राज्यको हानि होती और सुफलकी संभावनायें नष्ट हो जाती हैं।

> **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।**
> **महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥**
> (श्रीमद्भगवद्गीता)

काम ही क्रोध है। काम ही किसीसे प्रतिबद्ध होनेपर क्रोध बनजाता है। यह रजोगुणसे उत्पन्न होता है। यह महाभोजी है। कामका पेट सारा संसार पाकर भी नहीं भरता। यह महापापी है। यह अपने स्वार्थसे संसारभरका सर्वनाश करनेको प्रस्तुत होजाता है। यह यद्यपि ऊपरसे देखनेमें भोगदायी मीठा मित्र और हितैषी लगता है, परन्तु तुम इसकी मित्रताके धोकेमें मत रहो। तुम इसे अपना शत्रु मानो और इससे बचकर रहो। '**कामेन रावणो नष्टो देवराजोऽपि गर्हितः।**' कामकी दासतासे रावण तो अपनी जानसे ही हाथ धोबैठा और इन्द्रने कामकी दासता करके अपनेपर अमिट कलंक लगा लिया।

(कठोर वाणीसे हानि)

अग्निदाहादपि विशिष्टं वाक्पारुष्यम् ॥ ७५ ॥

किसीको मर्मभेदी अरुन्तुद वाक्य कहना अग्निदाहसे भी अधिक दुखदायी होता है।

विवरण— कठोर कर्कश अश्लील वाणी बोलना भी एक महा दुर्व्यसन है। मनमें क्रोधके उद्दीप्त होनेपर वाणीमें पारुष्य आजाता है। मर्मभेदी पुरुष कर्कश कटु अश्लील वाणी दुष्ट मनमेंसे ही निकलती है।

इससे श्रोताके मनमें क्रोध बढ़कर भावी विवादके बीज बो दिये जाते हैं। शस्त्रका घाव तो भरजाता है परन्तु वाणीका घाव जीवनभर नहीं भर पाता। परुष वाणीकी पैदा की हुई शत्रुता जीवनभर नहीं मिटती।

पाठान्तर— अग्निदाहादपि विशेष्ये वाक्पारुष्यम्।

वाक्पारुष्यको अग्निदाहसे भी अधिक क्षोभजनक जानना चाहिये।

(कठोर दण्डसे हानि)

दण्डपारुष्यात् सर्वजनद्वेष्यो भवति ॥ ७९ ॥

दण्डदाताके मनमें व्यक्तिगत द्वेष या रोष आजानेसे दण्डके कठोर होजानेपर वह न्यायाधीशके पवित्र आसनसे पतित होकर जनताका द्वेषभाजन बनजाता है।

विवरण— इसलिये दण्डाधिकारीको दण्डमें कठोर न होना चाहिये। राज्य प्रजाओंकी शुभेच्छाओंपर ही ठहरा रहता है। इसलिये राज्य-संस्थामें काम करनेवाले लोग सदा प्रजाका हार्दिक अनुमोदन पाते रहने तथा क्षोभ उत्पन्न न होने देनेवाली नीति अपनायें। प्रकृतिका क्षोभ अशान्ति तथा राष्ट्रविनाशका कारण बनजाता है। दण्डपारुष्यसे कौनसी बात किसको कितनी चुभ जाय और क्षुब्ध प्रकृतिमेंसे कब कोई क्या करबैठे इसकी कोई निश्चित कल्पना नहीं की जासकती। लोगोंमें अनन्त प्रकारकी शक्तियें और प्रवृत्तियें सोयी पड़ी रहती हैं। राज्यसंस्थाके कार्यकर्ताओंको अपनी भूलोंसे जनतामें राज्यविरोधी प्रवृत्तियें न जागने देनेकी सावधानता रखनेके लिये अपनी उत्तेजक उच्छृंखल दण्डप्रवृत्तियोंपर पूर्ण शासन रखना चाहिये तथा अत्यन्त सावधानतासे दण्डमें औचित्यका सुगंभीर सन्निवेश करना चाहिये। दण्ड सदा अपराधके अनुरूप होना चाहिये तथा अपराधीको ही मिलना चाहिये, निरपराधको नहीं। अपराधीका यथाविधि-निग्रह ही 'दण्ड' कहाता है। अभियुक्त व्यक्ति राज्याधिकारियोंके व्यक्तिगत द्वेषका पात्र होनेपर अन्यायपूर्वक दण्ड पाजाता है। इस सूत्रमें उस दण्डको ही निन्दित किया जारहा है।

(आर्थिक संतोषकी घातकता)

अर्थतोषिणं श्रीः परित्यजति ॥ ७७ ॥

राज्यलक्ष्मी अपर्याप्त राजकोषसे सन्तुष्ट होजानेवाले, उसकी वृद्धिमें उदासीन उपेक्षापरायण नैष्कर्म्यावलम्बी राजाको त्याग देती है

विवरण— राजकोषके असली स्वामी अगणित प्रजाका प्रतिनिधित्व करनेवाले राजाके लिए अपनेको राजकोषका स्वामी समझना तथा समझकर उसे पर्याप्त मान बैठना भ्रान्ति है।

राजकोषका सदुपयोग ही उसकी वृद्धिका अनिवार्य कारण होता है। राष्ट्रीय धनको राष्ट्रकी आवश्यकताओंपर व्यय न करके उसे कोषमें दबा बैठना चाहनेवाले कृपण राजाके धनागमके समस्त मार्ग अनिवार्यरूपसे अवरुद्ध होजाते हैं और उसका परिणाम उसका राज्यश्रीहीन होजाना होजाता है।

राज्यश्री, हस्तगत अर्थमात्रको पर्याप्त मानकर उसीसे सन्तुष्ट होबैठनेवाले तथा इस उद्योगको आगे न बढानेवाले एवं उपार्जित अर्थको राष्ट्रकी उचित आवश्यकताओंपर व्यय न करनेवाले राजाको छोड जाती है। "**असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभुजः।**" असन्तुष्ट ब्राह्मण तथा सन्तुष्ट राजा नष्ट होजाते हैं। राज्यसंस्थाका संबन्ध राष्ट्रके मनुष्यमात्रसे होनेके कारण उसकी आवश्यकतायें अनन्त हैं। राजाके लिये अर्थसन्तोषनामकी कोई स्थिति वांछनीय नहीं है। राज्यके सम्बन्धमें अर्थसन्तोष विनाशक कल्पना है।

पाठान्तर— अर्थदूषकं श्रीः परित्यजति।

श्री अर्थदूषक (अर्थात् धनको कुत्सित कामोंमें बहा देनेवाले अपव्ययी तथा कुत्सित उपायोंसे उपार्जन करनेके इच्छुक) मनुष्यसे मुंह मोड लेती है।

विवरण— कुत्सित उपायोंसे आनेवाला धन आता ही आता अच्छा लगता है। वास्तवमें तो वह घरके धनको भी नष्ट करनेवाला होता है।

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च लक्ष्मीः स्वयं मार्गति वासहेतोः॥
(विष्णुशर्मा)

लक्ष्मी निवासके लिये उत्साही, अदीर्घसूत्री, क्रियाकुशल, व्यसनोंसे अलग रहनेवाले, शूर, कृतज्ञ, दृढमित्र मनुष्यको ढूंढती फिरा करती है।

(शत्रुदमन दण्डनीतिपर निर्भर)

अमित्रो दण्डनीत्यामायत्तः॥ ७८॥

क्योंकि तुम्हारे शत्रुकी हानिप्रदता, प्रबलता या निर्बलता तुम्हारी दण्डनीतिकी ढिलाई या सतर्कतापर निर्भर करती है इसलिये अपनी दण्डव्यवस्थाको ठीक रखो।

विवरण— यदि तुम्हारी दण्डनीति ढीली होगी, यदि तुम राष्ट्रीय अपराध करनेवाले शत्रुओंके अपराधोंकी उपेक्षा कर रहे होगे, तो तुम्हारे शत्रु प्रबल होजायगे और उन्हें तुम्हारे विरुद्ध खुलकर खेलनेका अवसर मिल जायेगा। इस अवस्थामें तुम अपने ही राष्ट्रमें अपने शत्रु बढा रहे होगे। यदि तुम दण्डनीति अर्थात् शत्रुदमनकारी उचित उपायोंको नहीं जानोगे और पूर्ण सतर्क होकर उन्हें निरन्तर काममें नहीं लाओगे, तो तुम्हारे शत्रुओंका बल पकडजाना अनिवार्य होजायेगा। जब तुम्हारा सतर्क जागरूक दण्ड राष्ट्रसेवाकी भावनासे प्रेरित होकर दण्डनीय लोगोंके पास अनिवार्यरूपसे पहुंचता और उनके पापी सिरपर चढकर बैठा रहेगा तब ही तुम निर्वैर निष्कण्टक राज्य भोग सकोगे। राज्यकी रश्मि पकडनेवाले लोगोंको दण्डनीतिका ज्ञान तथा उसे प्रयोगमें लानेके ढंगोंका पूरा परिचय अनिवार्यरूपसे होना चाहिये। दण्डका उचित प्रयोग न जाननेवाले लोग हाथ पैर जोडनेमात्रसे उस प्रश्नकी राष्ट्रीय महत्ताको भूलकर उसे अपना व्यक्तिगत प्रश्न माननेकी भूल करके शत्रुओंको क्षमा कर बैठते हैं और अन्तमें उन्हींसे मारे जाते हैं। इतिहासमें इसकी बहुतसी साक्षी विद्यमान है।

दुर्भाग्यसे भारत बहुत दिनोंसे अपनी राजशक्तिमें दण्डनीतिका प्रयोग करना छोडबैठा है। वह अपनी दण्डनीतिकी ढिलाईरूपी भूलसे विनाश-

पर विनाश पाता चला आरहा है और उसकी राष्ट्रीयशक्ति छिन्नभिन्न होती चली आरही है। जब तक भारत दण्डनीतिका सच्चा पाठ नहीं सीखेगा तब तक उसकी स्वतन्त्रता मरुमरीचिका बनी रहकर वास्तविकतासे दूर खडी रहेगी और भारतके लोग शान्तिके सांस नहीं ले सकेंगे। ऐसी विकट स्थितिमें भारतके प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य है कि वह इस दण्डनीतिको अपने देशकी राजशक्तिमें प्रतिफलित करके देशकी सच्ची सेवा करे। परन्तु ध्यान रहे कि भारतवासी लोग इस दण्डनीतिको देशकी राज्यशक्तिमें तब ही मूर्तिमान कर सकते हैं जब वे अपने सामाजिक जीवनमें प्रत्येक सत्यद्रोही और देशद्रोहीके साथ, चाहे वह मित्र, पुत्र, भ्राता या घनिष्ट संबन्धीतक क्यों न हो, इस दण्डनीतिको राष्ट्रकल्याणकी भावनासे प्रयोगमें लायें। जब तक भारतके लोग देशद्रोहियोंके साथ भी सम्बन्ध बनाये रखनेवाली अपनी अमनुष्योचित दुर्बल भावनाको हृदयसे निकाल बाहर नहीं करेंगे तब तक भारतकी दण्डनीति भारतकी राष्ट्रशक्तिके ऊपर अपना सुप्रभाव स्थापित करनेमें अनंतकालतक असमर्थ बनी रहेगी।

(दण्डनीति प्रजाकी संरक्षक)

दण्डनीतिमधितिष्ठन् प्रजाः संरक्षति ॥ ७९ ॥

राजा दण्डनीतिका अधिष्ठाता रहकर ही प्रजाका संरक्षण करनेमें समर्थ होता है।

विवरण— राजा प्रजाके कल्याणकी दृष्टिसे दण्डनीतिका प्रमादशून्य सार्वदिक सार्वत्रिक प्रयोग करता रहकर ही प्रजापालन करसकता और अपने स्वामित्वको अटल रख सकता है। दण्डनीति ही राजाका अस्तित्व बनाये रखनेवाला एकमात्र साधन है। दण्डनीतिमें तिलबराबर भी प्रमाद हो जानेसे राज्यश्रीपर घातक प्रहार होने लगते हैं। उसका अनिवार्य परिणाम राज्यका नष्ट भ्रष्ट होजाना होता है। दण्डनीति ही राज्यके शत्रुओंको दमन करनेवाला एकमात्र साधन है।

राज्यसंस्थाको दुष्टनिग्रहका सतर्क कठोर कर्तव्य करना पडता है। उसके-ऊपर समस्त राष्ट्रकी रक्षाका गम्भीर उत्तरदायित्व रहता है। इसे राज्य-

कण्टकोंका मुखमर्दन करनेके लिये प्रत्येक समय सतर्क और सन्नद्ध रहना पडता है। उसे किसी भी दण्डनीय व्यक्तिके मिथ्याविनयसे प्रभावित होकर राष्ट्रीय अपराधियोंको भूलकर भी क्षमा न करनी चाहिये और निरपराधको दण्डित करके प्रजामें क्षोभ उत्पन्न नहीं होनेदेना चाहिये। दण्डनीयोंको दण्ड मिलनेकी अचूक व्यवस्था रहनी ही चाहिये। पापीको क्षमा तथा निरपराधको दण्ड मिलजानेसे देशमें पापकी वृद्धि, उसे प्रोत्साहन तथा राज्यकी शत्रुवृद्धि होती है। राज्यव्यवस्थाकी इस भूलसे देशकी राजशक्तिका दण्डनीय आततायी लोगोंके हाथोंमें फंस जाना अनिवार्य होजाता और प्रजामें हाहाकार मच जाता है। उसका अन्तिम परिणाम राष्ट्रविप्लव होता है। तब आततायियोंको शान्तिप्रिय जनताका आखेट करनेका अवसर मिल जाता, रक्तकी नादियों बह निकलती और स्त्रीबालहत्या, व्यभिचार, लूटपाट, हत्याकांड आदि अत्याचार बिना रोक टोक होने लगते हैं। आजका भारत यह सब आंखोंसे देख चुका है और देख रहा है। राष्ट्रमें नृशंसता भ्रष्टाचार, अत्याचार आदिका खुलमखुला नंगा नाच होने लगना ही राज्यशक्तिका आततायीके हाथोंमें चले जानेका स्पष्ट प्रमाण है।

जो राज्यसंस्था पापियोंको उचित दण्ड दिये बिना उनकी चाटूक्ति या उत्कोचसे वशमें आने लगती, पापियोंकी चाटुकारिता करने लगती और निरपराध शान्तिप्रिय नागरिकोंको अपना व्यक्तिगत शत्रु बनाकर उन्हें दण्डित करने लगती है, वह राज्यसंस्था स्वयं ही पापी और आततायी होती है। वह राज्यसंस्था लूटका ही ठेका होती है। ऐसी राज्यसंस्थाके प्रभावक्षेत्रमें प्रजापीडनकी महामारी फैले बिना नहीं रहती। सज्जन सताये जाने लगते और पापी शक्ति सिर उठा लेती है। उचित दण्डप्रयोगके बिना अराजकता फैल जाती और दुष्टोंके उत्साह बढ जाते हैं।

राजा या राज्यधिकारी जानें कि दण्ड उनकी व्यक्तिगत आवश्यकता नहीं है। दण्ड तो राष्ट्रमें मात्स्य न्यायकी रुकावट बने रहनेके लिये राष्ट्रभरकी आवश्यकता है। दण्डप्रयोगके बिना प्रजामें मात्स्यन्याय चलपडना अनि-

वार्य होजाता है। प्रजा जब राज्यसंस्थावालोंको भी प्रजाका आखेट करता देखती है तब उसकी देखादेखी आपसमें ही एक दूसरेका आखेट करने लगती है। राजा स्वभावसे ही राष्ट्रचरित्रका आदर्श बन जाता है। राजा समस्त प्रजाकी आंखोंके सामने अनुकरणीय कानूनोंका रूप लेकर आखड़ा होता है। राजाका पाप सहस्रगुण होकर प्रजापर बरसने लगता है। अधिक क्या कहें दण्डके अविवेक दुष्प्रयोग तथा ढिलाईसे राज्यसंस्था ही नष्ट भ्रष्ट होजाती है। राज्योंके अस्तित्व, दण्डनीतिके समुचित प्रयोगसे ही सुरक्षित रहते हैं।

पापीको क्षमा मिलना या दण्ड न मिलपाना ही निरपराधोंको दण्ड मिलना होजाता है। पापीका रक्षण निरपराधका वध बन जाता है। जिस राज्यसंस्थामें पापियोंको क्षमा मिल जाती है, जो राज्यसंस्था पापियोंका बाल बांका करनेमें असमर्थ होजाती है, मान लीजिये कि वह स्वयं ही आततायी बन गई है। पापीको क्षमा या अदण्ड ही राजाका आततायीपन है। पापको क्षमा मूढ लोगोंकी भ्रान्त दृष्टिमें शिष्टता प्रतीत होनेपर भी विचक्षणोंकी दृष्टिमें राजाका ही आततायीपन होता है। राष्ट्रमेंसे पापको देशनिकाला देनेकी दृष्टिसे पापीको क्षमा करना भयंकर राष्ट्रीय अपराध है। शिष्टरक्षा, अशिष्ट-दमन, राष्ट्रीय शान्तिरक्षा आदि सब दण्डका ही उत्तरदायित्व और माहात्म्य है। दण्डनीति या दण्डधर्ममें अपराधीको चाहे वह काली गाय ही क्यों न बनता हो, क्षमा करनेका कोई औचित्य नहीं है। इसलिये राज्यसंस्थाको शिष्टोंकी रक्षा, अशिष्टोंके दमन तथा राष्ट्रकी शान्तिरक्षाके लिये उचित दण्ड देनेवाली बनकर रहना चाहिये। राजनीतिके विद्यार्थी जानें कि अपराधीके प्रति अक्षमा शत्रुसे प्रतिशोधका अविस्मरण ये दोनों गुण राष्ट्रोंकी जीवन-रक्षाके लिये अनिवार्यरूपसे आवश्यक हैं। कोई भी राष्ट्र किन्हीं अनुभव-हीन मिथ्या उपदेशकोंके उपदेशसे प्रभावित होकर अपनी दण्डनीतिको ढीला न करे। राष्ट्ररक्षा नामक धर्मपालनके लिये शान्तिघातक पापी देशद्रोहियोंको मिटा डालना राजाका राष्ट्रीय कर्तव्य है। उस समय विशाल राष्ट्रके व्यापक कल्याणकी दृष्टिसे ये कठोर समझे हुए काम भी धर्मकी श्रेणीमें आते हैं।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ (मनु)

दण्डनीति ही प्रजापर शासन करती और वही दुःसाहसियोंसे प्रजाकी रक्षा करती है। दण्ड सोते हुओंमें भी जागता है। विद्वान् लोग दण्डको ही धर्म बताते हैं।

पाठान्तर— दण्डनीतिमनुतिष्ठन् प्रजाः संरक्षति।

(दण्डका माहात्म्य)

दण्डः सम्पदा योजयति ॥ ८० ॥

दण्ड ही राजा या राजको समस्त संपत्तियोंसे युक्त बनाता है।

विवरण— दण्ड न्यायका पर्यायवाची है। दण्ड ही न्याय है। प्रजा दण्डसे ही वशमें रहती है। प्रजाके राज्यसंस्थाके वशमें रहनेसे ही संपत्तियें राजाके पास अहमहमिकया होड लगाकर आने लगती हैं। राज्यमें दण्डव्यवस्था न रहनेसे क्रय, विक्रय, खान, आकर, आयकर, तटकर, ऋणदान, ऋणादान, न्यायान्याय, घट्ट, हाट आदि आयके समस्त मार्ग रुक जाते और बडे लोग छोटोंको लूटकर खाने लगते हैं। तब देशमें उपद्रव खडे होजाते हैं। यही राज्यनाश या सम्पद्विनाशकी स्थिति बनजाती है। उचित दण्डव्यवस्था ही राष्ट्रको विनाशसे बचाती और राज्य तथा राष्ट्र दोनोंको संपन्न बनाये रखती है।

पाठान्तर— दण्डः सर्वसम्पदा योजयति।

(दण्डभावसे हानि)

दण्डाभावे मन्त्रिवर्गाभावः ॥ ८१ ॥

राज्यमें दण्डनीतिके उपेक्षित होनेपर राजा सुमन्त्रियोंसे परित्यक्त हो (कर कुमन्त्रियोंके वशमें आ) जाता है।

विवरण— देशविदेशसंबन्धी दण्डनीतिके सदुपयोगके लिये श्रेष्ठ विचक्षण मन्त्रियोंकी आवश्यकता होती है। दण्डकी उपेक्षा करनेवालोंको सुमन्त्रियोंके स्थानमें दुर्मन्त्रियोंकी भीड घेर लेती है। तब राजाकी स्वेच्छाचारिता बढकर राज्यको निर्मूल कर डालती है।

पाठान्तर— दण्डाभावे त्रिवर्गाभावः ।

राष्ट्रमें दण्डव्यवस्थाका स्थान न रहनेपर त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तीनों अरक्षित होकर नष्ट होजाते हैं । दण्ड न होनेपर दुष्ट प्रबल होजाते हैं । तब प्रजाके त्रिवर्गके विनाशसे देशमें हाहाकार मचजाता है ।

राजभिः कृतदण्डास्तु शुद्ध्यन्ति मलिना जनाः ।
कृतार्थाश्च ततो यान्ति स्वर्गं सुकृतिनो यथा ॥

पापी लोग राजाओंसे दण्ड पा पाकर शुद्ध होनेसे कृतार्थ होकर पुण्यात्मा बनकर पुण्यात्माओंके समान ही स्वर्ग पाजाते हैं ।

अथवा— 'क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम्' के अनुसार क्षय स्थिति तथा वृद्धि नीतिज्ञोंके त्रिवर्ग हैं । दण्डकी उचित व्यवस्था न रहनेपर न तो शत्रुक्षय होपाता है, न अपनी शक्तिकी भित्ति दृढ प्रतिष्ठित होती है, तथा न शक्तिकी ही वृद्धि होती है । इन तीनोंके अभावका अवश्यंभावी परिणाम शत्रुकी वृद्धि, अपनी शक्तिहानि तथा राज्यव्यवस्थाका उन्मूलन होता है । दण्ड ही राज्यव्यवस्थाकी आधारशिला है । दण्ड और न्याय पर्यायवाची शब्द हैं । जो दण्ड है वही न्याय है । जो न्याय है वही दण्ड है । अन्यायी दण्डव्यवस्था तो आसुरी संगठन है । असुरविनाश ही राष्ट्रधर्म है ।

वधोऽर्थग्रहणं चैव परिक्लेशस्तथैव च ।
इति दण्डविधानज्ञैर्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः ॥

दण्डविधानके विशेषज्ञोंने प्राणदण्ड, अर्थदंड तथा ताडनादि भेदसे दण्डको तीन प्रकारका बताया है । राष्ट्रमें असुरविनाशिनी दण्डव्यवस्था न रहनेसे अष्टवर्गका विनाश हो जाता है ।

कृषिर्वणिक्पथो दुर्गः सेतुः कुंजरबन्धनम् ।
खन्याकरबलादानं शून्यानां च विवेचनम् ॥

कृषि तथा हाटकी व्यवस्था, दुर्ग, सेतु, यात्रासाधन, खान, कोष, सैन्यसंग्रह तथा शून्य संपत्तियोंका विवेक (अर्थात् उनका उपयोग तथा उनपर प्रजावर्गमेंसे किसीका स्वामित्वस्थापन) यह राज्यका अष्टवर्ग कहाता है ।

(दण्डके लाभ)

न दण्डादकार्याणि कुर्वन्ति ॥ ८२ ॥

अपराधशील लोग निग्रह, ताडन, वध तथा अर्थदण्डके भयसे विधानविरोधी नीतिहीन कार्योंसे निवृत्त रहने लगते हैं।

विवरण— पापशीलोंका दण्डभयसे पापसे निवृत्त रहना ही धर्मका राज कहाता है। क्योंकि धर्म ही धर्म, अर्थ और कामकी रक्षा करता है इसलिये धर्म ही त्रिवर्ग कहाता है।

दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका। (महाभारत)

राजशक्ति दण्डको अपने साथ रखकर ही लोकरक्षा करनेमें समर्थ होती है।

दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं विधानतः।
कामं संरक्षते यस्मात् त्रिवर्गो दण्ड उच्यते॥ (महाभारत)

क्योंकि दण्ड ही धर्म, अर्थ तथा काम तीनोंकी रक्षा करता है इसलिये दण्ड ही त्रिवर्ग कहाता है।

पाठान्तर— दण्डभयादकार्याणि न कुर्वन्ति।

(दण्ड आत्मरक्षक)

दंडनीत्यामायत्त मात्मरक्षणम् ॥ ८३ ॥

दण्डनीतिको ठीक रखनेपर ही आत्मरक्षा हो सकती है।

जिसकी दण्डनीति अभ्रान्त होती है, उसीकी आत्मरक्षा सुनिश्चित होती है। राजाका विपद्विजय केवल इसी बातपर निर्भर करता है कि उसकी दण्डप्रयोजक नीति क्या है? और कैसी है? प्रजाका कल्याण ही राजाका आत्मकल्याण तथा प्रजाकी रक्षा ही उसकी आत्मरक्षा है। प्रजाके कल्याणसे अलग राजाका कल्याण या उसकी रक्षासे अलग उसकी रक्षा नामकी कोई वस्तु नहीं है। प्रजाके अस्तित्वसे अलग राजाका कोई अस्तित्व नहीं है। राजा प्रजाका ही प्रतीक है।

राजा अपने राष्ट्रका सबसे पहला मुख्य नागरिक है। दूसरे शब्दोंमें प्रजा ही राजाका रूप ले लेती है और स्वयं ही अपना शासन या आत्म-

रक्षा करती है। राजा प्रजाके अनुमोदनसे ही राजा बनता है। यही कारण है कि प्रजाका अहित करनेवाले राजाका मिटजाना संसारकी अटल घटना है। जो राजा स्वेच्छाचारी बनकर राजपुरुषोंकी एक अलग शासक जाति बनानेकी भूल कर बैठता है, वह निश्चय ही अपने क्रूर हाथोंसे आत्महत्या कर लेता है। इस दृष्टिसे राजाको अपनी कर (टैक्स) देनेवाली प्रजा, मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, कारागाराधिपति, कोषाध्यक्ष, कार्य-नियोजक, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रपाल, अटवीपाल, गुप्तचर आदिपर अपना प्रभुत्व स्थिर रखते हुए तथा अपनी दण्डनीतिका यथायथ प्रभाव डालते हुए आत्मरक्षा करनी चाहिये। इन सबपर अपना प्रभाव बनाये रखना तथा इनमेंसे किसीको भी अपने ऊपर प्रभाव स्थापित करनेवाला न बनने देना, राजाकी राजकीय प्रासादोंमें बैठकर करनेकी सुमहती तपस्या है। यह तपस्या ही उसकी दण्डनीति है। इसमें वह जहां कहीं भूल करता है वहीं मार खा बैठता और अरक्षित होजाता है।

(राजाकी आत्मरक्षाका राष्ट्रीय महत्त्व)

आत्मनि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवति ॥ ८४ ॥

राजाकी आत्मरक्षा रहनेपर ही समस्त राष्ट्र रक्षित रहता है।

विवरण— राजा समस्त राष्ट्रकी सदिच्छाओं तथा शक्तियोंका मूर्त प्रतिनिधि होता है। उसपर प्रत्यक्ष आक्रमण होना राष्ट्रपर आक्रमण होना, उसका पराभूत होजाना राष्ट्रका पराभूत होना होजाता है। राजापर आक्रमण या उसका पराभव राष्ट्रकी अवस्थाको रात्रिमें दीपकहीन घरके समान अन्धकारमय बनाडालता है। इसलिये राजा लोग, अपनी दण्डहस्ततासे अहंकाराभि-भूत न बनें और दण्डनीतिका दुरुपयोग न करें। वे ऐसा करके प्रजाके शत्रु तथा दुराचारी स्वार्थी आततायियोंके मित्र न बनें और राज्यद्रोहरूपी आत्म-द्रोह करके आत्मघात न करें।

आत्मायत्तौ वृद्धिविनाशौ ॥ ८५ ॥

मनुष्यके वृद्धि और विनाश अपने ही अधीन होते हैं।

विवरण— राष्ट्रकी वृद्धि या समुच्छेद राजा प्रजा दोनोंकी योग्यता अयोग्यतापर निर्भर होते हैं। सुबुद्धिसे वृद्धि तथा कुबुद्धिसे विनाश होता है। राजाके योग्य होनेपर ही राज्यका विस्तार होता तथा उसके नीतिहीन मद्यप, दुराचारी, व्यभिचारी, आखेटव्यसनी, जुआरी तथा निर्गुण होनेपर सुशासन न रहनेसे राज्यकी निश्चित हानि होती है।

(दण्डप्रयोगमें सावधानता)

दण्डो हि विज्ञाने प्रणीयते ॥ ८६ ॥

दण्डका प्रयोग समझकर किया जाना चाहिये।

विवरण— दण्डका यथार्थ स्वरूप ही ऐसा है कि उसकी सम्यक् आलोचना करनेपर सदसद्विचाररूपी ज्ञानमयी स्थिति अनिवार्यरूपसे प्रकट होती है। देखते हैं कि छोटे छोटे झगडे उच्च न्यायालयोंतक पहुंचकर वहांके न्यायाधीशोंको चकरा देते हैं। वे किसे दण्ड दें यह समझनेमें असमर्थ रह जाते हैं। अपराधीका पकडा जाना तथा अपराध सिद्ध होना हंसी खेल नहीं है। इन सब दृष्टियोंसे दण्ड उत्तेजित होकर, किसी व्यक्ति, दल या संप्रदायसे प्रभावित होकर, या अपने किसी क्षुद्र स्वार्थकी भावनासे प्रेरित होकर प्रयोग करनेकी वस्तु नहीं है। दण्डका प्रयोग सूक्ष्म विचार कर लेनेपर ही उचित होता है। यदि दण्डको बाह्य प्रभावोंसे बचा लिया जाय तो वह स्वभावसे अभ्रान्त होजाता है।

पाठान्तर— **दण्डनीत्यादि विज्ञाने प्रणीयते।**

दण्डनीतिका प्रयोग सापराध निरपराधका पूर्ण विवेक हो चुकनेपर ही किया जाना चाहिये। नीलकण्ठ भट्टने ' दण्डनीतिः प्रजापालनविद्या ' दण्डनीतिको प्रजापालनकी विद्या नामसे कहा है। वास्तवमें प्रजापालनकी विद्या ही दण्डनीति कहाती है।

(राजाकी अवज्ञा राष्ट्रीय अपराध)

दुर्बलोपि राजा नावमन्तव्यः ॥ ८७ ॥

राजाको दुर्बल साधारण मानवमात्र मानकर उसकी अवज्ञा न करे।

विवरण—क्योंकि राजा अकेला ही समस्त प्रजाशक्तिका प्रतिनिधि होता है, इस कारण उसके अकेलेपनमें समस्त प्रजाशक्ति स्वभावसे सम्मिलित रहती है। यही राजाका वास्तविक स्वरूप है।

नास्त्यग्नेर्दौर्बल्यम् ॥ ८८ ॥

जैसे आग कभी दुर्बल नहीं होती, जैसे उसका क्षुद्र भी विस्फुलिंग ईंधनके संयोगसे महाग्नि बनकर विशाल वनोंको फूंक डालनेका सामर्थ्य रखता है, इसीप्रकार जिन लोगोंमें राज्यश्री प्रकट होती है, वे क्षुद्रशक्ति दीखनेपर भी अपनी अन्तर्निहित संग्रथनात्मक शक्तियोंसे जनताके सहयोगसे अनेक साधन पाकर प्रबल होकर अवमन्ताके लिये भयंकर बन जाते हैं।

विवरण— इसलिये राजशक्तिको थोडा मानकर उसे केवल व्यक्तिगत रूपमें देखकर उपेक्षा करना उचित नहीं है। जो राजा प्रजासे अलग अपना व्यक्तित्व रखनेकी भूल करके अपने क्षुद्र अनुयायियोंकी संकीर्ण शासकजाति बना लेता है, वह स्वयं ही जनताकी उपेक्षाका पात्र बनजाता है। जब तक राजा प्रजाके साथ रहता है तब तक प्रजा भी उसके साथ लगी रहती है और उसे महाशक्ति बनाये रहती है।

(राजाकी योग्यताका प्रमाण)

दण्डे प्रतीयते वृत्तिः ॥ ८९ ॥

राजाकी वृत्ति (अर्थात् सम्पूर्ण शासकीय योग्यता या विशेषता) उसकी दण्डनीति (अर्थात् उसकी प्रजापालनकी विद्या या कलामें या कला) से प्रकट होती है।

पाठान्तर—दण्डे प्रणीयते वृत्तिः।

प्रजाकी वृत्ति (अर्थात् प्रजाकी जीवनयात्रा) दुःसाहसी लोगोंपर न्यायदण्डका प्रयोग होते रहनेपर ही ठीकठीक चलती है। देशमें न्यायदण्डका अभाव होजानेपर लोगोंके पारस्परिक विवादोंसे जीविकाकी हानि

होकर लोकयात्रा रुक जाती है। तब प्रजा राजाके विरुद्ध विद्रोह करनेपर विवश होजाती है।

(राजचरित्र अर्थलाभका आधार)

वृत्तिमूलमर्थलाभः ॥ १० ॥

राज्यश्रीकी प्राप्ति राजाके चरित्रपर निर्भर होती है।

विवरण— राज्यैश्वर्यका लाभ चरित्रमूलक या दण्डनीतिके उचित प्रयोगसे ही होता है। राजा प्रजा दोनोंका चरित्र ठीक होनेपर ही दण्डनीतिका उचित प्रयोग होता रहकर दोनोंको ऐश्वर्यलाभ होता है। चारित्रिक सुव्यवस्था या देशमें मानसिक शान्ति और सदिच्छाओंके वातावरणके बिना ऐश्वर्यलाभ असम्भव है। राजशक्तिके भ्रष्टाचारी होजानेपर प्रजामें शान्ति, सौमनस्य, सदाचार धर्म आदिकी प्रवृत्तियें न रहने या पैदा न की जानेसे धर्मकी और उसीके साथ अनिवार्यरूपसे धनार्जनकी भी महती हानि होती है। प्रजाको जीवनके साधनोंके अप्राप्य होजानेसे विद्रोह तथा लोकक्षय होजाता है। राष्ट्रमें सुखशान्ति तथा समृद्धि रहनेके लिये राजा प्रजा दोनोंमें धार्मिक प्रवृत्तियोंका होना राष्ट्रके धनी होनेसे न्यून आवश्यक नहीं है। अधार्मिक राष्ट्रका बाह्यतः धनवान होना वास्तवमें धार्मिक जनताकी दरिद्रताका द्योतक होता है। किसी अधार्मिक राष्ट्रके धनी होनेका अर्थ यह है कि वहांके धार्मिक लोग दरिद्र हैं। परन्तु धार्मिक लोगोंकी दारिद्रता राष्ट्रका अभिशाप है। इसलिये है कि राष्ट्रकी धार्मिक जनता ही वास्तवमें राष्ट्रका सच्चा प्रतिनिधि है। राष्ट्रकी अधार्मिक जनता तो राष्ट्रकी शत्रु होती है प्रतिनिधि नहीं। वह स्वार्थवश होकर राष्ट्रकी हानिकी ओरसे आंख मीचलेती है। इस कारण उसे राष्ट्रके नामसे सम्मानित न करके राष्ट्रद्रोही ही समझना चाहिये। अधर्मसे उपार्जित धन देशके धार्मिकोंको सतानेवाला बन जाता है। धर्म-अधर्मका यह देवासुरसंग्राम आजका नहीं है। यह तो सदासे चला आ रहा है। अधर्मोपार्जित धनसे धनवान बनजानेवाले राष्ट्रके बाह्य दृष्टिसे धनवान बनजानेपर भी उस राष्ट्रकी आभ्यन्तरिक स्थितिमें राष्ट्रविप्लवके बीज वर्त-

मान रहते है और वे प्रजामें राष्ट्रनीतिके प्रति असन्तोषका रूप लेकर रहते हैं। ये राष्ट्रविप्लवके बीज अन्तमें राज्यको विध्वस्त करडालते हैं।

अथवा— राजा प्रजा दोनोंका ऐश्वर्य प्रजाकी जीवनयात्राके अक्षुण्ण चलते रहने अर्थात् प्रजाके उपार्जनसाधनोंके निर्विघ्न बने रहनेपर ही निर्भर होता है।

पाठान्तर— वृत्तिमूलोऽर्थलाभः।

अर्थलाभ प्रजाकी शान्त स्थितिपर निर्भर करता है।

(धर्म तथा कामका आधार)

अर्थमूलौ धर्मकामौ ॥ ९१ ॥

(ऐहिक कर्तव्योंके पालनके साथ साथ मानसिक उत्कर्ष रूप) धर्मका अनुष्ठान, तथा राष्ट्रकी कामनाओं (अर्थात् अभावों या आवश्यकताओं) की पूर्ति, राज्यैश्वर्यकी स्थिरतापर ही निर्भर रहा करती हैं।

विवरण— अर्थके बिना देशहितकारी कर्मोंमें दान तथा भोग नहीं होता। परन्तु इसका यह अर्थ न लिया जाय कि मनुष्य जिस किसी अभद्र उपायसे उपार्जन करे। इस प्रकारका धनोपार्जन मानवको अशुभ कर्मोंमें प्रवृत्त करके उसका सर्वनाश किये बिना नहीं मानता। इसीसे महाभारतमें कहा है— "परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ" मनुष्य उस अर्थ और उस काम या भोगको तिलांजलि देदे जो मानवधर्मके अनुरूप न हो, जो मनुष्यताकी हत्या कर दे। धर्म, अर्थ, कामका त्रिवर्ग समान भागमें पालित होनेपर ही राष्ट्रके लिये कल्याणकारी होता है। केवल धर्म, केवल अर्थ या केवल काम अव्यावहारिक तथा अन्तमें मानवको पछाड डालनेवाली प्रवृत्ति हैं। ये तीनों एक दूसरेके अवध्यघातक अर्थात् अभिन्नबुद्धिसे पाले जाते रहें, इसीमें मानवका कल्याण है। धर्म तथा कामके उपयोगमें आना ही अर्थका अभिप्राय या उसकी सार्थकता है। अर्थ तथा काम धर्मके अनुगामी होनेपर ही सार्थक होते हैं। अन्यथा अधर्मोपार्जित अर्थ तो अनर्थ

बनजाता तथा अधर्मप्राप्त काम अनर्थोत्पादक होनेसे राष्ट्रका कोई अभाव पूरा न करके, उसे अभावग्रस्त मनुष्यताहीन तथा कंगाल बनाकर नष्ट कर देता है।

(राष्ट्रीय कार्योंका आधार)

अर्थमूलं कार्यम् ॥ ९२ ॥

अर्थ कार्योंका मूल होता है।

विवरण— राज्यश्री ही राजशक्तिकी कर्मण्यताकी संरक्षिका होती है। लौकिक काम भी साक्षात् या परम्परया धनधान्यदिसे ही निष्पन्न होते हैं। जैसे पर्वतसे नदियां निकल कर बहने लगती हैं, इसी प्रकार प्रवृद्ध अर्थोंसे समस्त काम होने लगते हैं।

यदल्पप्रयत्नात् कार्यसिद्धिर्भवति ॥ ९३ ॥

राज्यश्री पानेपर कार्य अल्प प्रयत्नसे सिद्ध हो जाते हैं।

विवरण— क्योंकि राजकाजकी सिद्धि तथा राज्यश्री एक दूसरे पर समानभावसे निर्भर होती हैं (अर्थात् सुसंपन्न राजकार्योंसे तो राज्यश्रीकी प्राप्ति होती और राज्यश्रीकी प्राप्तिसे राजकाज सुसंपन्न होते हैं) इस दृष्टिसे अल्पप्रयत्नोंसे कार्य सिद्ध होनेकी बातका कोई अर्थ नहीं है। प्रयत्नमें अल्पता अधिकताका प्रश्न ही व्यर्थ है। कार्यसिद्धिमें उपायका ही प्रश्न उठता है। कार्य उपायोंकी अभ्रान्ततासे ही सिद्ध होते हैं। उपाय अभ्रान्त होनेपर जितना प्रयत्न आवश्यक होता है, उतना करना ही पडता है और करना ही चाहिये। उतना प्रयत्न किये बिना कार्य सिद्ध नहीं होपाता। इसीलिये अगले सूत्रोंमें उपायोंका प्रसंग आरहा है। इस दृष्टिसे अग्रिम पाठ ही प्रकरणसंगत है। यह पाठ महत्त्वहीन है।

(उपायका स्वरूप)

पाठान्तर— यत्प्रयत्नात् कार्यसिद्धिर्भवति स उपायः।

जिस प्रयत्नसे जो काम सिद्ध हो वही प्रयत्न उस कार्यका उपाय कहाता है।

विवरण— साम, दाम, दण्ड, भेद, माया, उपेक्षा तथा इन्द्रजाल नामक उपाय कार्यसिद्धिके परिस्थित्यनुसारी सात उपाय हैं। राजा लोग इनमेंसे कार्यसाधक उपायोंको ठीक ठीक पहचानें। उपायचिन्ता ही राज्यश्रीकी वृद्धिका एकमात्र कारण है। १– सुवचन तथा सुव्यवहारसे दूसरोंको अनुकूल बनाना 'साम' नामका उपाय है। २– स्वाधिकृत द्रव्य दूसरेको देकर विनिमयमें उसकी अनुकूलता प्राप्त करना 'दाम' नामक उपाय माना जाता है। ३– शत्रुका धनप्राणहरण तथा ताडन 'दण्ड' नामका उपाय है। ४– शत्रुओंमें परस्पर कलह पैदा करना 'भेद' नामका उपाय है। ५– जिह्म तथा अनृतसे शत्रुकी प्रवंचना करना 'माया' नामका उपाय है। ६– शत्रुसे असहयोग 'उपेक्षा' नामका उपाय है। ७– शत्रुके विरुद्ध षड्यन्त्र 'इन्द्रजाल' नामका उपाय है।

(उपायसे कार्यमें सुकरता)

उपायपूर्वं न दुष्करं स्यात् ॥ ९४ ॥

कार्य उपायपूर्वक करनेसे दुष्कर नहीं रहता।

विवरण— कार्य अभ्यर्थ उपायका अवलम्बन करनेपर सुगम हो जाता है। कर्तव्यमें दुष्करताका कोई अर्थ नहीं है। कर्तव्य सदा मानवीय सामर्थ्यके अधीन होता है। जो ऐसा नहीं होता वह कर्तव्य नहीं होता। दुष्कर समझे हुए कर्तव्यका अर्थ उसे करनेके लिये प्रस्तुत न होना या कर्तव्यभ्रष्टता ही होता है। किसी कर्तव्यके लिये प्रस्तुत न होना ही उसकी कठिनताका रूप होता है। ज्यों ही मनुष्य किसी कर्तव्यके लिये उद्यत होता है त्यों ही कर्तव्यसंपादक साधन अनिवार्य रूपसे संगृहीत हो जाते हैं। कर्तव्यमार्गके विघ्नको हटानेकी अनिच्छा ही कठिनता बन जाती है। कठिनताके प्रति कठोर होते ही कठिनता सुकरतामें परिणत हो जाती है। सच्चे लोगोंका हार्दिक संबन्ध कर्तव्यके बाह्यरूपसे न होकर केवल उसके निश्चयात्मक रूपके साथ होता है। कर्तव्यके बाह्य भौतिक रूपका कर्तव्यकी

परिभाषाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य कर्तव्यको बाह्यरूप देनेमें असमर्थ रह जाता है। परन्तु कर्तव्यको मानसिक रूप प्राप्त होते ही कर्तव्य साकार हो जाता है। कर्तव्यको बाह्यरूप मिलना प्राकृतिक स्वीकृतिपर निर्भर होता है। ज्ञानी तो कर्तव्यके आभ्यन्तरिक रूपको ही मुख्यता देता है। मनुष्यकी निश्चयात्मिका बुद्धि ही कर्तव्य तथा कर्तव्यक्षेत्र होती है। मनुष्यके पास निश्चयात्मिका बुद्धिका न होना ही कर्तव्यकी कठिनताका यथार्थरूप होता है। मानवमें निश्चयात्मिका बुद्धिका प्रकट हो जाना ही कर्तव्यकी सुगमता है।

मनुष्य कर्मोंमें या तो स्वार्थ या कर्तव्यबुद्धि दो ही बातोंसे प्रवृत्त होता है। इनमेंसे मूर्ख संसारका बहुमत केवल स्वार्थसे कर्म करता है और उपायोंके गर्हित अगर्हितपनेपर कोई ध्यान नहीं देता। परन्तु विचारसम्पन्न लोग करुणा आदि उदात्त मानवीय गुणोंसे प्रेरणा पा पाकर कर्तव्यबुद्धिसे कर्म किया करते और उपायशुद्धिपर अपना संपूर्ण ध्यान केन्द्रित रखते हैं। वे कामकी सफलताको इतना महत्व नहीं देते जितना उपायोंकी साधुताको देते हैं। वे तो प्राप्त साधनोंके सदुपयोगको ही सफलता मानते हैं।

पाठान्तर— उपायपूर्वं कार्यं न दुष्करं स्यात्।

(अनुपायसे कार्यनाश)

अनुपायपूर्वं कार्यं कृतमपि विनश्यति ॥ ९५ ॥

पहिले उपाय स्थिर किये बिना प्रारंभ किये हुए कार्य नष्ट हो जाते हैं।

विवरण— उपस्थित कर्तव्यमें कौनसे साधन या उपाय उपयुक्त होंगे? इसका निर्णय तभी होसकता है, जब पहले तात्कालिक कर्तव्यके सम्बन्धमें निश्चयात्मिका बुद्धि बन चुकी हो। कर्तव्यकी भ्रान्ति ही अकर्तव्य कराती है। कर्तव्यके सम्बन्धमें अन्धेरेमें रहकर कर्तव्य नहीं किया जा सकता। अपने कर्तव्यको ज्ञाननेत्रसे स्पष्ट देखनेवाला ही कर्तव्य कर सकता है। अकर्तव्य करना और कर्तव्य त्यागना ही स्वीकृत कर्तव्यके नष्ट होनेका

स्वरूप है। कर्तव्यनाश यही कहाता है कि मनुष्य कर्तव्यको तो त्याग दे और अकर्तव्य करने लगे। कर्तव्यसे भ्रष्ट होकर जो भी कुछ किया जाता है वह निष्फल ही होता है। सच्चे कर्तव्यमें निष्फलता नामकी कोई स्थिति संभव नहीं है। कर्तव्यकी यह कैसी महत्त्वपूर्ण स्थिति है कि कर्तव्य स्वयं ही सफलता है। सच्चे कर्तव्यशील लोग कर्तव्यके फलसे न बंधकर, उसके फलके मिलने न मिलनेके सम्बन्धमें उदासीन रहकर, कर्तव्यपालनको ही कर्तव्यका फल मानकर और उसीमें अपना जीवनसाफल्य जानकर, उसे अपना पूर्ण मनोयोग देकर करते हैं। कर्तव्यशील लोगोंकी अचूक सफलताका यही रूप होता है।

(जीवनमें उपायका महत्त्व)

कार्यार्थिनामुपाय एव सहायः ॥ ९६ ॥

उपाय ही कार्यार्थियोंका सच्चा सहायक होता है।

विवरण— उपाय कार्यार्थियोंको दसों दिशाओंमें सुरक्षित रखनेवाला तथा शत्रुपर विजय पानेकी योग्यता देनेवाला, सच्चा बल या साथी है। कर्तव्यशील लोग कार्यकी आवश्यकताके अनुसार अपनी निश्चयात्मिका बुद्धिसे सामादि उपयुक्त साधनोंका निर्णय करके अपनी विजयके सम्बन्धमें निःसन्दिग्ध, विजयोत्साहसे शक्तिमान तथा अनुकूल प्रतिकूल फलोंके प्रति निरपेक्ष होकर अपने आपको कर्तव्यमें झोंक देते हैं। इसलिये कार्यार्थी लोग सिद्धि तब ही पा सकते हैं जब वे कार्योपयोगी उपायोंको अभ्रान्त रीतिसे सोचकर कर्तव्यपालनके सन्तोषरूपी सिद्धिको पहलेसे ही अपनी मुट्ठीमें लेकर (अर्थात् सिद्धि असिद्धिमें निरपेक्ष रहनेवाली पूर्णतामयी स्थितिमें रहकर) ही कर्ममें प्रवृत्त हों। वे सिद्धि पानेका यह आवश्यक रहस्यमय सिद्धान्त कभी न भूलें कि सिद्धियां सिद्धोंको ही प्राप्त हुआ करती हैं। सिद्धियां अपनेको असिद्ध माननेवालोंके गलेमें जयमाला कभी नहीं डालतीं। भारवि कविने ठीक ही कहा है—

यशोधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुके वाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥

(१) सफलतायें या तो यशस्वी बनने, (२) भौतिक सुख पाने, या (३) श्रेष्ठतम मनुष्य बनजानेके लिये फलसिद्धिके संबन्धमें किसी भी प्रकारकी उत्सुकता न रखकर तन्मय होकर कर्तव्यपालनमें जुट पडनेवाले लोगोंकी गोदोंमें उत्सुक होकर स्वयमेव आविराजती हैं।

(कर्तव्यपालन ही जीवनका लक्ष्य)

कार्यं पुरुषकारेण लक्ष्यं सम्पद्यते ॥ ९७ ॥

कार्य पुरुषकारमें आजाने (अर्थात् कर्तव्यरूपमें स्वीकृत हो चुकने) के पश्चात् लक्ष्य बन जाता (अर्थात् फलका स्थान लेकर फलको गौणपक्षमें डाल देता या स्वयं ही मुख्य फल बन जाता) है।

विवरण— कर्तव्यको सुसंपन्न करलेना ही कर्तव्यनिष्ठ लोगोंका मुख्य ध्येय बन जाता और परिणाम अप्रधानपक्षमें चला जाता है। जब मनुष्य इस भावनाके साथ कर्तव्यपालनका सन्तोष उपार्जन करलेता है तब अपनेको इतनेसे ही कृतकृत्य मानलेता है। इसके अतिरिक्त कर्तव्य समाप्त होनेपर अनिश्चित रूपमें कभी आने और कभी न आनेवाले भौतिक फलकी दैन्य-जनक आकांक्षा उसके पूर्णकाम हृदयको अभावग्रस्त और प्रतीक्षक नहीं बनापाती।

कर्तव्यमें उद्यम उत्साह अध्यवसाय होनेपर ही कार्य बनता है। कार्य पुरुषार्थ हीके अनुसार संपन्न होता है। पुरुषार्थके बिना किसीको कुछ पानेकी आशा करनेका कोई वैध अधिकार नहीं है। जिस काममें जितनी शक्ति व्यय करनी आवश्यक हो उतनी अवश्य करना ही पुरुषार्थ कहाता है। इस सूत्रमें वर्तमान पुरुषार्थको ही उपादेय बताया गया है। नीतिज्ञोंने कहा है— "दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या" ओ मानव, तू दैवका हनन

अर्थात् उपेक्षा करके आत्मशक्तिसे पुरुषार्थ कर। "न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः" । मृग सोते सिंहकी भूक मिटानेके लिये उसके मुंहमें स्वयं नहीं आघुसते। यद्यपि प्राकृतिक प्रबन्धने उन्हें उसके लिये नियत कर रखा होता है तो भी उसे उन्हें भोज्यरूपमें पानेके लिये हाथपैर मारने ही पडते हैं।

शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतीम्।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः॥

क्रोधावेशपर विजय पालेनेवाले स्थिरचित्तलोग भविष्यमें निश्चित विजय दिलानेवाली नैराश्यहीन महत्वपूर्ण सफलताको अपनी मुट्ठीमें आचुकी हुई मानकर कल्याणकारी उपायोंको पुरुषार्थका रूप देदेते अर्थात् उन्हें कार्यरूपमें परिणत करदेते हैं।

(पुरुषार्थकी प्रबलता)

पुरुषकार मनुवर्तते दैवम् ॥ ९८ ॥

दैव पुरुषार्थके पीछे चलता है।

विवरण— दैवके भरोसेपर कर्तव्यनिर्णय नहीं होता। कर्तव्यपालनमें दैवका कोई स्थान नहीं है। मनुष्यको दैवको दृष्टिसे बाहर रखकर ही पुरुषार्थ करना पडता है। पुरुषार्थ ही मुख्य है। दैव गौण है। जो करना है वह पुरुषार्थ है, जो करचुके वह दैव है। मनुष्यका वर्तमानसे संबन्ध है। भूतके साथ उसका निर्भरताका संबन्ध नहीं है।

(कर्मका उत्तरकाल दैवका अधिकार क्षेत्र है, कर्मकाल नहीं)

दैवं विनातिप्रयत्नं करोति यत्तद्विफलम् ॥९९॥

दैव अर्थात् भाग्यकी अनुकूलताके बिना उत्तम रीतिसे किया हुआ कर्तव्य भी भौतिक फलसे रहित होता है।

विवरण— भाग्यकी अनुकूलताके भरोसेपर रहा जाय तो कर्तव्य प्रारंभ ही नहीं किया जासकता। यदि भाग्यकी अनुकूलतासे भौतिक सफलता

तथा प्रतिकूलतासे निष्फलता निश्चित होजाय तो कर्म करनेकी आवश्यकता ही न रहे। इस दृष्टिसे मनुष्यकी दैवाश्रितता पुरुषकारका विरोध करती है। पुरुषार्थसे कर्तव्य करना भवितव्यताकी उपेक्षा करके ही संभव होता है। भविष्यकालीन भौतिक सफलता, विफलता मनुष्यबुद्धिके लिये अज्ञेय होती है। भौतिक सफलता विफलताके साथ मानवजीवनके जयपराजयका कोई सम्बन्ध नहीं है। भौतिक सफलता विफलता दोनोंमेंसे कोई भी हो प्रत्येक परिस्थितिमें विजयी जीवन बिताते रहना मानवजीवनका लक्ष्य है।

अनेकवार पुरुषार्थ होनेपर भी कार्य सिद्ध नहीं होते। इसी कारण गीतामें दैवको कार्यके पांच कारणोंमेंसे एक कहा है।

> अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
> विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥

(१) आधारस्थान, (२) कर्ता, (३) भिन्न भिन्न कारण, (४) नाना प्रकारके पृथक् पृथक् व्यापार, तथा (५) दैव ये पांच कारण शारीर, वाचिक तथा मानस कर्मोंके कारण होते हैं।

चाणक्य जो कहना चाहते हैं वह यह है कि मनुष्य कर्मके प्रारम्भमें दैवाश्रित न हो। यदि वह प्रारंभमें ही दैवाश्रित हो जाय तो कर्म प्रारंभ ही नहीं हो सकता। यह आवश्यक है कि मनुष्य कर्मको प्रारंभ करते समय दैव अर्थात् अनिवार्य भौतिक प्रतिकूलता अनुकूलताकी उपेक्षा करे। जब कर्म प्रारंभ करदेनेपर तथा समस्त बुद्धिवैभव व्यय करदेनेपर भी काम न हो तब दैव अर्थात् भौतिक परिस्थितिकी प्रतिकूलताको कारण माने और उसे अपनी निष्फलता समझकर दुःखी न हो। मनुष्य पुरुषार्थ करनेसे पहिले दैवको न माने या उसपर ध्यान न दे। पुरुषार्थ समाप्त हो चुकनेके अनन्तर दैवका अधिकार होता है। कर्म प्रारंभ करनेसे पहिले दैवके विचारका कोई प्रसंग नहीं है। कर्मकी प्रारंभावस्थामें दैवका विचार करनेसे मनुष्य भाग्यभरोसे, दीन और अनुत्साही होकर नष्ट होजाता है। कर्मके

प्रारंभमें पुरुषार्थका काम है। कर्म करचुकनेपर वह दैवके अंधेरे क्षेत्रमें चलाजाता है।

(अव्यवस्थित चित्तताकी हानि)

असमाहितस्य वृत्तिर्न विद्यते ॥ १०० ॥

अव्यवस्थित चित्तवाले पुरुषके पास वृत्ति (अर्थात् सद्वृत्ति अर्थात् सद्व्यवहार करानेवाली सद्भावना) नहीं रहती।

पाठान्तर— अनीहमानस्य वृत्तिर्न विद्यते।

दैवाश्रित होकर निश्चेष्ट बैठे रहनेवालेके पास जीवनयात्राके साधनोंका अभाव होजाता है।

विवरण— अचेष्टमान अनुद्योगीका जीवन व्यर्थताका क्रीडाक्षेत्र बन जाता है। यह पाठान्तर प्रकरणानुकूल है।

(कर्तव्यतानिश्चयसे अनन्तर कार्यारम्भ)

पूर्वं निश्चित्य पश्चात् कार्यमारभेत् ॥ १०१ ॥

कार्यारम्भ करनेसे पहले उसकी अनिवार्यकर्तव्यता, उसके फलाफल, उसकी नीति तथा उपायके सम्बन्धमें अभ्रान्त होकर पीछेसे काममें हाथ डालना चाहिये।

विवरण— सोचकर करना चाहिये। करके सोचनेकी स्थिति पश्चात्ताप भरी निष्फल स्थिति है। "अविचारितकार्येषु प्रमादाः सम्पतन्ति हि।" विना विचारे कार्योंमें प्रमाद तथा प्रमादसे उत्पन्न होनेवाली विपत्तियां अनिवार्य रूपसे आखडी होती हैं। इसलिये पहले कर्मसंबद्ध समस्तसामग्रियों तथा चिन्ताओंका संकलन करके तब काम प्रारंभ करना चाहिये।

(विलम्बकारिता कार्यका दूषण)

कार्यान्तरे दीर्घसूत्रिता न कर्तव्या ॥ १०२ ॥

कर्मके मध्यमें कर्तव्यभ्रष्टतारूपी या अतिविलम्बकारितारूपी दीर्घसूत्रता न करनी चाहिये।

विवरण— कर्तव्यको लम्बा करना या "अभी शीघ्रता क्या है"

इस बुद्धिसे कर्तव्यके मध्यमें कर्तव्यान्तर छेडना या आलस्यके दुष्ट भोगके लिये कर्तव्यको स्थगित रखना दीर्घसूत्रता है। घण्टेभरके काममें दिनभर जितना समय न लगाना चाहिये। जब मनुष्य कर्तव्यको कर्तव्य नहीं सम‑झता तब उसमें कर्तव्यभ्रष्ट रहने तथा उसे अति विलम्बसे करनेका दोष आजाता है।

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् न शठा न च मानिनः।
न च लोकरवाद् भीता न च श्वः श्वः प्रतीक्षकाः॥

आलसी, दीर्घसूत्री, शठ, मानी, लोकरवसे भयभीत तथा कल कलकी प्रतीक्षामें कर्तव्यका समय खोनेवालोंके काम सिद्ध नहीं हुआ करते।

(चञ्चलचित्तताकी हानि)

न चलचित्तस्य कार्यावाप्तिः॥ १०३॥

चलचित्त (अर्थात् अस्थिर, अदृढ मनवाले आदर्शहीन लक्ष्यभ्रष्ट) व्यक्तिके काम पूरे नहीं हुआ करते।

विवरण— मनकी अस्थिरता, अदृढता, आदर्शहीनता, तथा लक्ष्यभ्रष्टतासे कार्योंका मध्यमें ही व्याघात होकर कर्मफल अप्राप्त रहजाता है। समस्त कार्य मनके स्थिर होनेसे ही सुसंपन्न होते हैं। मनकी स्थिरतासे बुद्धिका विकास और उससे कार्यमें दक्षता प्राप्त होती है। पवित्रता ही **मनकी स्थिरता** तथा अपवित्रता ही **मनकी अस्थिरता** है। मनको तत्वज्ञानसे परिचित रखना ही उसकी स्थिरताका एकमात्र उपाय है। गीताके शब्दोंमें "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"। इस संसारमें तत्वज्ञानसा पवित्र कुछ भी नहीं है। जीवनमेंसे आरोपित वस्तुओंका बन्धन हटकर अनारोपित वस्तुका परिज्ञान होजाना ही तत्वज्ञान है।

(प्राप्त साधनोंके अनुपयोगसे हानि)

हस्तगतावमाननात् कार्यव्यतिक्रमो भवति॥ १०४॥

हाथके साधनोंका सदुपयोग न करनेसे कार्यका नाश हो जाता है।

विवरण— कार्यसिद्धिमें प्राप्त साधनोंके सदुपयोगका जो महत्वपूर्ण स्थान है उसे ठीक ठीक समझना चाहिये। संसारके मूढ लोग प्रायः कार्य-सिद्धिके लिये अप्राप्त साधनोंके पीछे तो भटकते हैं, परन्तु प्राप्त साधनोंके मूल्यको नहीं आंकते और उन्हें अनुपयुक्त पडा रहने देते हैं। कार्य कभी भी प्राप्त साधनोंके सदुपयोगके बिना सिद्ध नहीं होता। कार्य हाथ लगे साधनोंकी अवज्ञा, अनवधान, हेयबुद्धि, महत्वहीनताकी कल्पना आदि दोषोंके कारण जैसा चाहिये वैसा नहीं होपाता। इसलिये मनुष्य कार्य हाथमें आते ही सबसे पहले मनको प्राप्त साधनोंके सदुपयोगमें अवहित करे तथा परिणाम निकलनेका समय आनेतक उसमें केन्द्रित रक्खे।

पाठान्तर— हस्तगतावमानात् कार्यव्यतिक्रमो भवति।

(निर्दोष कर्मोंकी दुर्लभता)

दोषवर्जितानि कार्याणि दुर्लभानि ॥ १०५ ॥

संसारमें निर्दोष कार्य विरल होते हैं।

विवरण— संसारमें निर्दोष (अर्थात् व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थरहित तथा सार्वजनिक कल्याणमें अपना कल्याण देखनेकी भावनासे किये जानेवाले) कर्मोंका प्रायः अभाव पाया जाता है। यदि समाजमें निर्दोष कर्म करनेवालोंकी आंखें खुल जांय तो उसमें सुखसंपत्तिकी मन्दाकिनी बहने लगे। प्रायः सारा ही संसार स्वार्थबुद्धिसे कलुषित होकर अचिन्ता तथा अविचारसे काम करता है। इसीलिये समाजमें सुखोत्पत्ति न होकर दुःखोंकी ही उत्पत्ति होजाती है। लोग अपनी क्षुद्र आपातदृष्टिके कारण व्यक्तिगत स्वार्थों-के ही पीछे दौडते हैं। वे अपने अकल्याणमें प्रवृत्त होकर सच्चे कल्याणके सम्बन्धमें अंधे बने रहते हैं। संसारका बहुमत करके पछतानेवालोंका है। परन्तु सोचकर करनेवालोंका संसारमें प्रायः अभाव है। मनुष्यकी इसी त्रुटिसे संसारमें निर्दोष कर्म विरल होगये हैं। यदि मनुष्य सोचकर काम करे तो उसके कर्मोंका निर्दोष होना असंभव नहीं है। निर्दोष कर्तव्य कर-नेमें ही मनुष्यकी मनुष्यताकी सुरक्षा और समाजका सच्चा कल्याण हो सकता है।

(अशुभ परिणामी कर्म अकर्तव्य)

दुरनुबन्धं कार्यं नारभेत ॥ १०६ ॥

मनुष्य निश्चित शुभ परिणाम न रखनेवाले कार्योंमें हाथ न डाले।

विवरण— इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य काम छेडनेसे पहिले उसकी सार्वजनिककल्याणकारिता, सत्यनुमोदितता, अनिवार्यकर्तव्यता, गुणागुण, श्रेष्ठता, दुष्टता, हानि, लाभ, यश अपयश आदि समस्त दृष्टि-कोणोंपर आद्योपान्त पूरा विचार करले। यदि वह कार्य इस परीक्षामें दुरनुबन्ध अर्थात् अशुभामिश्रित सिद्ध हो तो उसे निश्चित अशुभ समझ-कर ही नहीं अपनाना चाहिये। मनुष्य यह जाने कि उसके पास आनेवाले समस्त काम करनेके ही लिये नहीं आते। उनमेंसे कुछ अस्वीकृत होनेके लिये भी आते हैं। मनुष्यके पास कुछ काम ऐसे भी आते हैं जिन्हें त्यागनेमें ही उसका कल्याण होता है। अकल्याणकारी कर्तव्योंको त्यागना भी कर्तव्य ही होता है।

(कार्यसिद्धिमें अनुकूल समयका माहात्म्य)

कालवित् कार्यं साधयेत् ॥ १०७ ॥

अनुकूल समय (अनुकूल परिस्थिति) का पहचाननेवाला अपना काम अनायास बनालेता है।

> देशं कालं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम्।
> उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा कार्यं समारभेत्॥

मनुष्य देश, काल, आत्मशक्ति, द्रव्य तथा उसका उपयोग, उपाय और अवस्थाको जानकर कर्म करे—

> कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
> इति संचिन्त्य कर्माणि प्राज्ञः कुर्वीत वा न वा॥

बुद्धिमान् पुरुष क्या समय है? कितने सहायक हैं? क्या परिस्थिति है?

आयव्यय कितना है ? ये सब बातें सोचकर अपनी शक्तिमें समझे तो करे न समझे तो न करे।

कामका भी एक समय होता है। जैसे प्रत्येक मिट्टीसे पात्र नहीं बनते इसी प्रकार प्रत्येक समय प्रत्येक काम नहीं होते। कार्योपयोगी समय आ जानेपर ही कार्य होता है। वह कार्यके उचित समयको पहचाननेसे ही सिद्ध होता है। कार्यका समय बीत जानेसे करना निष्फल हो जाता है। कार्यसिद्धिमें कार्यके उचित समयको पहचाननेका बहुत बडा महत्त्व है।

पाठान्तर— देशकालवित् कार्यं साधयति।

अनुकूल काल तथा अनुकूल देश अर्थात् परिस्थितिको ··· शेष अर्थ समान है।

(कार्यकाल टलनेका दुष्परिणाम)

कालातिक्रमात् काल एव फलं पिबति ॥ १०८ ॥

कर्तव्यका काल टल जानेसे काल ही उसकी सफलताको चाट जाता है।

विवरण— कर्तव्य जिस समय सूझता है, वही उसका उचित काल होता है। उससे अच्छा उसका और कोई समय संभव नहीं है। सृष्टिकी व्यवस्था ही ऐसी है कि कर्तव्य उचित समयपर उसीको सूझता है, जिसका वह कर्तव्य होता और जिसे उसे अपने पूर्ण उत्तरदायित्वमें लेकर करना चाहिये। कर्तव्यके उचित समयको टालदेना उसके फलको नष्ट करडालना हो जाता है। सूझके समय ही कर्तव्यको करना चाहिये। उसे न तो फिरके लिये टालना चाहिये और न उसे कर्तव्यहीन मनुष्यके कंधोंका बोझा बनाकर उनसे उसे बिगडवाना चाहिये। कर्तव्यको फिरके लिये टालनेसे फिरके लिये उपस्थित कर्म उस स्थगित कर्मको नहीं होने देते।

> आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः।
> क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥

लेना देना और कर्तव्य तुरन्त न किये जांय तो तो काल ही इनका रस पी जाता है । टले हुए कर्तव्य कर्तव्य ही नहीं रहते । कर्तव्यका देश तथा कालसे अनिवार्य संबन्ध है । देश तथा काल परिवर्तित होते ही कर्तव्य भी अपना रूप बदल देता या नष्ट कर लेता है ।

पाठान्तर— कालातिक्रमात् काल एवं तत्फलं पिबति ।

(कर्तव्यपालनमें विलम्ब अकर्तव्य)

क्षणं प्रति कालविक्षेपं न कुर्यात सर्वकृत्येषु ॥ १०९ ॥

मनुष्य किसी भी निश्चित कर्तव्यमें क्षणमात्रका भी विलम्ब न करे ।

पाठान्तर— क्षणं प्रति कालस्वरूपं दर्शयति कालकृतेषु ॥

ठीक समयपर किये कर्तव्योंकी सफलता, मनुष्यको दिखा देती है कि यह काम जिस क्षणमें किया गया है वही इसका सर्वोत्तम काल था ।

कार्यके उचित समयको पहचानना ही मनुष्यके सीखनेकी सर्वोत्तम कला है ।

(कार्य प्रारम्भ करनेमें ज्ञेयतत्व)

देशफलविभागौ ज्ञात्वा कार्यमारभेत् ॥ ११० ॥

मनुष्य परिस्थिति तथा सफलताकी संभावना दोनोंको पूर्ण रूपसे समझकर काम करे ।

अधिक सूत्र— देशे काले च कृतं फलवत् ।

कर्मोपयोगी परिस्थिति तथा उपयुक्त कालमें किये काम ही सफल होते हैं ।

विवरण— कामकी उपयुक्त परिस्थिति समय तथा योग्य कर्ताको ढूंढ निकालना कार्यसिद्धिका मुख्य कारण है । सूत्रके चकारसे सूचित होता है कि कार्यके सम्बन्धमें पात्र (कर्ता) का विवेक करना भी आवश्यक है ।

योग्य व्यक्ति कर्मको करे तो वह सफल होता है । उसी कामको अयोग्य व्यक्ति करे तो उसका असफल होना निश्चित हो जाता है । योग्यको ही काममें लगाना तथा योग्यको ही दान करना सफल होता है । दान करनेके समय तथा दानके योग्य पात्रको पहचान लेनेपर ही दानकी सफलता निर्भर करती है । जो जिस वस्तुको पानेका वास्तविक अधिकारी है वही उस वस्तुको पानेका सच्चा पात्र भी है । देय वस्तु दानका सच्चा अधिकारी न मिलनेतक दाताके पास धरोहरके रूपमें रहती है । दानी उसे योग्य पात्रको देकर उसपर कोई कृपा नहीं करता, किन्तु उसकी धरोहर लौटाकर स्वयं ही ऋणमुक्त हो जाता है । इस तत्वको समझकर दिये हुए दानका अपूर्व महत्व है ।

(विपरीत परिस्थितिमें कार्य करनेसे हानि)

दैवहीनं कार्यं सुसाधमपि दुःसाधं भवति ॥ १११ ॥

दैवकी प्रतिकूलता होनेपर सुखसाध्य कर्तव्य भी दुःसाध्य दीखने लगते हैं ।

विवरण— परन्तु पुरुषार्थी मनुष्यको कर्मकी दुःसाध्यता अर्थात् भौतिकसाधनहीनता देखकर निराश न होकर अपने प्रबल पुरुषार्थसे उस कर्मको साध्यकोटिमें लाना है । पुरुषार्थके सामने दुःसाध्यता नामकी कोई वस्तु नहीं है । पुरुषार्थसे मनुष्योंने दुर्लंघ्य पर्वतोंको मार्ग देने तथा दुस्तर समुद्रोंको अपने ऊपरसे जाने देनेके लिये विवश किया है । लोग प्रायः प्रवाहपातित होकर चलनेवाले होते हैं । स्वयं मार्गनिर्धारण करना बहुत न्यून लोग जानते हैं । लोग संसारी प्रवाहके विरुद्ध चलनेको ही दुःसाध्यता तथा प्रवाहके साथ चलनेको सुसाध्यता मानते हैं । परन्तु पुरुषार्थीकी स्थिति इनसे निराली है । उसके सामने सब समय यही विचार उपस्थित होता रहता है कि क्या जो हो रहा है उसीके पीछे चलना मेरा कर्तव्य है ? या जो होना चाहिये उसीको करना मेरा कर्तव्य है ? पुरुषार्थीकी दृष्टिमें प्रवाहके

पीछे चलनेमें कोई पुरुषार्थ नहीं है। उसे तो कर्तव्याकर्तव्य विचारके द्वारा जो कि एक सच्चे मनुष्यको करना चाहिये उसे करनेमें ही अपना कर्त्तापन तथा कर्तव्यपालनका सन्तोष दीखता है। उसे तो जिस काममें सन्तोष मिलता है वही उसके लिये सुसाध्य तथा जिसमें असन्तोष दीखता है वही उसके लिये दुःसाध्य होता है। दैवाधीन रहनेसे तो कर्तव्य दुःसाध्य हो ही जाता है तथा पुरुषार्थपरायण रहनेसे कर्तव्य सुसाध्य बनजाता है। दैवाधीन रहनेमें कर्तव्यभ्रष्टता होती है और कर्तव्यको त्यागनेमें सुसाध्यताकी भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्तिके विरुद्ध मानवीय पुरुषार्थको जगाये रखना ही इस सूत्रका अभिप्राय है। सूत्रकार स्पष्ट भाषामें कह रहे हैं कि मनुष्य दैवाधीनतारूपी निकम्मेपनसे बचे। दैवाधीनता भयंकर अभिशाप है।

पाठान्तर— देशकालविहीन ....।

योग्य परिस्थिति, योग्यकाल तथा योग्यकर्तासे हीन कार्य अनायास साध्य दीखनेपर भी कष्ट साध्य तथा असाध्य होजाते हैं।

(कर्ममें देशकालकी परीक्षा कर्तव्य)

नीतिज्ञो देशकालौ परीक्षेत ॥ ११२ ॥

नीतिज्ञ अर्थात् व्यवहारकुशल मनुष्य परिस्थिति और अवसर दोनोंका पूर्ण परिचय पाकर काम करे।

विवरण— वह परिस्थिति तथा उपयोगी कालको बिना पहचाने काम न करे। कर्ताके पास कर्तव्यकी संपूर्ण विवेचना (साधन क्रम आदिका पूर्ण परिचय) होनी चाहिये कि यह काम अमुक समयमें, अमुक परिस्थितिमें अमुक साधनोंसे, इतने श्रमसे इस विधिसे होसकता है। भारविके शब्दोंमें " सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् " मनुष्य सहसा कोई काम आरम्भ न करे। मनुष्य कार्यविषयक अविवेकसे विपत्तियोंका घर बन जाता है।

(सुअवसरपर कर्म करनेका लाभ)

परीक्ष्यकारिणि श्रीश्चिरं तिष्ठति ॥ ११३ ॥

सुअवसर पहचानकर कर्म करनेवालेके पास श्री (अर्थात् सफलता) नियमसे रहती है।

अधिक सूत्र— **सर्वाश्च संपद उपतिष्ठन्ति ।**

देश, काल पहचानकर काम करनेवालेके पास समस्त संपत्तियां स्वयमेव आविराजती हैं।

(सर्वविधसंपत्ति संग्रह राष्ट्रीय कर्तव्य)

सर्वाश्च संपदः सर्वोपायेन परिग्रहेत् ॥ ११४ ॥

राजा साम, दाम आदि समस्त बुद्धिकौशलोंसे अपने तथा प्रजाके पास सब प्रकारकी मानवोचित संपत्तियोंके संग्रह करनेमें प्रयत्नशील रहे जिनसे समय पडनेपर अपने देशकी उत्तमोत्तम सेवा कर सके।

विवरण— भूमि, रत्न, मान, धर्म, कीर्ति, सुशील, स्वास्थ्य, शिष्टाचार, व्यवहारकौशल विद्या तथा देशविदेशोंकी भाषा आदि संपत्तिके अनेक भेद हैं। जब राजाको राज्यरक्षा आदि तात्कालिक महत्व रखनेवाले कामोंके लिये धनकी आवश्यकता पडे तब वह प्रजासे न्यायपूर्वक धन-संग्रह करे। विशेष आवश्यकता पडनेपर राज्यकोषको संपन्न बनानेके संबन्धमें शुक्राचार्यने कहा है—

देवद्विजातिशूद्राणामुपभोगाधिकं धनम् ।
क्षीणकोशेन संग्राह्यं प्रविचिन्त्य विभागतः ॥

क्षीण कोशवाला राजा लोगोंके उपभोगसे अधिक धनको आंशिक रूपसे इस प्रकार ले कि जिससे लिया जाय उसके पास जीविकाके साधनोंका अभाव न हो जाय।

पौराणां राष्ट्रजातानां ग्राह्यं साम्ना न चान्यथा ।
दर्शयित्वा तथा दायान् ग्राह्यं वित्तं ततो नृपैः ॥
तथा शाश्वतलक्ष्मीकान् पुरोहितसमन्त्रिणः ।
श्रोत्रियांश्चैव सामन्तान् सीमापालान् तथैव च ॥
गृहं गत्वा प्रयाचेत यथा ते तुष्टिमाप्नुयुः ।

राजा अपने पुरवासियोंका धन उन्हें सन्तुष्ट या सहमत करके ही ले। असंतुष्ट करके बलप्रयोगसे न ले। जो ले वह उन्हें दिखाकर ले। कुल परम्परासे श्रीमान् चले आनेवालों, पुरोहितों, श्रोत्रियों, सामंतों तथा सीमापालोंसे धन लेनेकी आवश्यकता उपस्थित होनेपर राजाको इनके घर जाकर राज्यरक्षाके नामपर धनयाचना करनी चाहिये कि जिससे इन लोगोंको दानका पुण्य तथा यश दोनों प्राप्त हो जांय, ये लोग देनेमें सम्मान तथा गौरव भी अनुभव करें और देना अपना कर्तव्य भी समझने लगें।

(अपरीक्ष्यकारिताकी हानि)

भाग्यवन्तमपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति ॥ ११५ ॥

श्री अर्थात् सफलता कार्यका सुअवसर न पहचाननेवाले अपरीक्ष्यकारी भाग्यवानको छोड जाती है।

विवरण— इसलिये मनुष्य सदा कर्मके भले बुरे परिणाम, अपनी शक्ति, देश काल आदि सब बातोंके सम्बन्धमें आदिसे अन्ततक भले प्रकार सोचकर कर्म किया करे।

पाठान्तर— भाग्यवन्तमप्यपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति।

(कर्तव्यपरीक्षाके साधन)

ज्ञानानुमानैश्च परीक्षा कर्तव्या ॥ ११६ ॥

अपनी ईक्षण (अनुभव) शक्ति तथा विचार (ऊहना) शक्ति दोनोंके सहारेसे परिणामके कारणोंका ठीक ठीक पता चलाकर किस कारणसे यह काम इस प्रकार होना है, अपना कर्तव्य स्थिर करे।

विवरण— अपने व्यावहारिक अनुभव तथा कल्पनाशक्तिसे कर्मकी पूर्ण विवेचना किये बिना कामको अपनानेसे निश्चित हानि होती है ।

(राजकर्मचारियोंकी नियुक्तिका आधार)

यो यस्मिन् कर्मणि कुशलः तं तस्मिन्नेव योजयेत् ॥ ११७ ॥

जो जिस कामको करनेमें कुशल हो उसे उसी प्रकारके कर्मका भार सौंपना चाहिये ।

विवरण— राष्ट्रके सत्यनिष्ठ बुद्धिमान् लोगोंको महत्वपूर्ण कर्तव्योंमें लगानेसे राजाको यश, सुख तथा पुष्कल धन प्राप्त होता है ।

स्थानेष्वेव नियोज्यानि भृत्याश्चाभरणानि च ।
न हि चूडामणिः प्राज्ञैः पादादौ प्रतिबध्यते ॥

भृत्य तथा आभरणादिका विनियोग यथोचित स्थानपर ही करना चाहिये । जैसे बुद्धिमान लोग चूडामणिको पैर आदिमें न बांधकर सिरमें धारण करते हैं इसी प्रकार राष्ट्रके उत्तम कोटिके लोगोंको निम्नस्थानोंपर न रहने देकर उत्तमोत्तम पदोंपर नियुक्त करना चाहिये ।

पाठान्तर— यो यस्मिन् कर्मणि कुशलस्तं तस्मिन्नेव नियोजयेत् ।

(उपायज्ञताकी महिमा)

दुःसाध्यमपि सुसाध्यं करोति उपायज्ञः ॥ ११८ ॥

उपायज्ञ अर्थात् कर्मके अव्यर्थसाधनोंको पहचाननेवाला बुद्धिमान व्यक्ति कठिन समझे हुए कामोंको भी सुकर बना लेता है ।

विवरण— योग्य लोगोंको काम सौंपनेका शुभ परिणाम ही यह होता है कि कठिन काममें लगाये हुए दक्ष लोग उसे बातकी बातमें (अनायास) कर डालते हैं ।

पाठान्तर— दुःसाध्यमपि सुकरं करोति ।

कुशल व्यक्ति दुस्साध्यको भी सुकर बना लेता है ।

(अनुपायज्ञोंके कर्मोंकी महत्वहीनता)

अज्ञानिना कृतमपि न बहु मन्तव्यम् ॥ ११९॥

अज्ञानीके कर्मकी सफलताको सफलता न मानकर उसे आकस्मिक घटना मानकर महत्व नहीं देना चाहिये।

विवरण— अज्ञानियोंके कामोंमें अयश, अर्थनाश तथा दुःख होना अनिवार्य है। इसलिये राजा लोग निर्गुण लोगोंके भरोसे सफलताके सपने न देखें।

यादृच्छिकत्वात् कृमिरपि रूपान्तराणि करोति ॥१२०॥

जैसे घुनका कीडा भी पदार्थोंके आकार आकस्मिक रूपसे अबुद्धिपूर्वक बना देता है, जैसे उसके बनाये आकारोंसे उसकी निर्माणकुशलता प्रमाणित नहीं होती, इसी प्रकार स्वेच्छाचार अविवेक और अभिमृश्यकारितासे कभी कोई काम संयोगवश बन भी जाय तो भी उस अविमृश्यकारी कर्ताको उस कामका श्रेय नहीं दिया जासकता।

विवरण— विवेकपूर्वक कर्म ही मानवकी विशेषता है। अविवेकपूर्वक किये कर्मकी सफलता काकतालीय न्यायवाली (काकके बैठनेसे ताडके गिर जाने जैसी) आकस्मिक घटना है। न तो यथेच्छ कर्म करनेमें कल्याण है और न करानेमें कल्याण है। किन्तु शिक्षा तथा विवेकपूर्वक कर्म करनेमें ही मानवका कल्याण है। यथेच्छ कर्म करनेसे काम अधूरा रहजाता और अनिष्ट होता है।

पाठान्तर— यादृच्छिकत्वात् कृमिरपि रूपान्तराणि किं न करोति।

क्या आकस्मिकरूपसे रेखा बनानेवाला कृमि जैसा मूढ प्राणी भी भिन्न भिन्न आकार नहीं बना लेता ?

(कार्यगुप्तिकी मर्यादा)

सिद्धस्यैव कार्यस्य प्रकाशनं कर्तव्यम् ॥१२१॥

कर्मको किये जा चुकनेके अनन्तर ही उसे लोगोंको जानने देना चाहिये।

विवरण— असम्पन्न कार्यको जगविदित होने देनेसे उसका नाश, क्लेश तथा शत्रुको उसे बिगाडनेका अवसर मिलजाता है। इसलिये कार्य संपन्न होनेसे पहिले उसका ढिंढोरा पीटना नीतिहीनता है। इससे विघ्न बढ जाते और कर्ता अयोग्य कहलाने लगता है।

पाठान्तर— सिद्धस्य कार्यस्य प्रकाशनं कर्तव्यम्।

ज्ञानवतामपि दैवमानुषदोषात् कार्याणि दुष्यन्ति ॥१२२॥

कभी कभी बहुतसे काम भवितव्यताकी प्रतिकूलतासे या किसी मानवीय त्रुटिसे दूषित हो जानेपर अधूरे रह जाते हैं।

विवरण— भवितव्यताकी प्रतिकूलता होनेपर कर्म पूरा होनेसे पहले उसका ढिंढोरा पीटनेसे कर्ता निन्दित होजाता है। इसलिये काम पूरा होनेसे पहले उसे किसीको न जानने दे। वज्रपात, भूकम्प, महामारी जल-प्रलय आदि दैवदोष हैं। हिंसा, द्वेष, विरोधियोंके षडयन्त्र तथा अपनी भूल आदि काम बिगाडनेवाले मानुषदोष हैं। इनसे मनुष्योंके काम बहुधा बिगड जाते हैं। प्रत्येक काममें बिगडनेकी संभावना रहती है। इस-लिये काम पूरा होनेसे पहिले उसे बडी सावधानीसे गुप्त रखना चाहिये। बृहच्चाणक्यने कहा है—

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपंडितः॥

मनुष्य अपनी भूलके प्रभावसे कार्यविरोधी परिस्थितियोंको पाकर दैवको तो कोसता है परन्तु वह मूढ यह नहीं जानता कि मैंने अपनी किस भूलसे अपना यह काम बिगाडा है।

(दैवी विपत्तियोंके सम्बन्धमें कर्तव्य)

दैवं शान्तिकर्मणा प्रतिषेद्धव्यम् ॥ १२३ ॥

भूकम्प, वज्रपात, जलप्रलय, झंझावात, राष्ट्रविप्लव तथा आतता- यीके आक्रमण आदि दैवी विपत्तियोंके दिनोंमें बुद्धिको स्थिर और शान्त रखकर उनका निवारण करना चाहिये ।

विवरण— बुद्धिमान् लोग दैवी विपत्तियोंसे घबराकर अपनी प्रति- कारबुद्धिको कुंठित न होने दें किन्तु अपनी स्वस्थ अक्षुब्ध बुद्धिका प्रयोग करके उसे टालनेका सुदृढ प्रयत्न करें और किसी भी रूपमें विपत्तिके सामने आत्मसमर्पण न कर बैठें । दैवी विपत्तिमें मरना अनिवार्य हो तो विजयी होकर मरें; कायर होकर न मरें ।

बत्ती, पात्र, तैल तथा अग्नि सब कुछ होनेपर भी दीपक प्रबल वायुसे बुझ जाता है । सुदृढ विशाल पोत झंझावातके थपेडोंसे डूब जाता है । यह विपत्ति आकस्मिक दैवीविपत्ति है । दैवीविपत्तिके समय बुद्धिको स्थिर रखनेकी आवश्यकता होती है । दैवी विपत्तिको स्थिरबुद्धितासे ही टाला जासकता हैं । विष्णुशर्माके शब्दोंमें– ' याति समुद्रेऽपि हि पोतभंगे सांयात्रिको वांछति तर्तुमेव । ' जब किसी पोतवणिकका पोत समुद्रमें भग्न होकर डूबने लगता है तब वह अपनी बुद्धिके अनुसार तैरकर जीवनरक्षाके समस्त उपाय एक एक करके देखता और जिस किसी प्रकार सागरको पार करना चाहता है । इसी प्रकार बुद्धिमान लोग विपत्तिको सामने खडा देखकर घब- रायें नहीं । वे अपनी समस्त बुद्धिका प्रयोग करके उस दैवी विपत्तिको टालनेका अत्याज्य प्रयत्न करें और किसी भी रूपमें निराश न हों । विप- त्तियाँ मनुष्योंसे अपना प्रतिकार करानेके ही लिये उसके सामने आती हैं । धीरतासे उनका प्रतिकार ही उनका सदुपयोग है ।

भवितव्यताकी प्रतिकूलताके कारण उत्पन्न होनेवाली मानसिक अशा- न्तिको व्यर्थ करनेका एकमात्र उपाय मनुष्यका स्थिरबुद्धिसे शान्तिको

अपनाये रहना तथा उसे किसी भी अवस्थामें न छोड़ना है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि दैवकी प्रतिकूलताकी आशंका, पुरुषार्थको व्यर्थ करनेका दुःसाहस करना चाहती हो तो उसे व्यर्थ करनेवाला एकमात्र उपाय मनुष्यका स्थिरतासे अपनी शान्तिपर स्थिर रहना ही है।

अथवा— दैवसे आये भूकम्प, वज्रपात, विनाशकआंधी, दुर्भिक्ष महामारी, राष्ट्रविप्लव आदि दैवी विघ्न हैं। उत्पन्न विघ्नोंका प्रतिकार करना तथा भावी अनिष्टोंको उत्पन्न होनेसे रोकना शान्ति है। जैसे कवचादि धारण करलेनेसे देहकी शस्त्रोंसे रक्षा होजाती है इसी प्रकार विशिष्ट उपायोंसे दैवी विघ्न भी शान्त किये जासकते हैं। जैसे संयमपूर्वक रहने और नियमपालनसे आयुकी वृद्धि, तथा असंयम और स्वेच्छाचारसे आयुका ह्रास होता है, इसी प्रकार मनुष्य शान्तिकारक, पुष्टिदायक लौकिक वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानसे दैवी विघ्नोंपर भी विजय पासकता है।

अथवा– दैवके विरोधी होजानेपर ईश्वरोपासना आदि विशेष अनुष्ठानों द्वारा अपने कर्तव्यको ईश्वरार्पण करके फलनिरपेक्ष होकर अपना तात्कालिक कर्तव्य उत्साहमें भरकर करना चाहिये। ऐसे समय निराश होकर कर्तव्यहीन नहीं होजाना चाहिये। दैवी आक्रमण भी विधाताकी शुभेच्छासे ही मनुष्यके पास आते हैं। दैवी आक्रमण विधाताकी मूढ इच्छामात्र नहीं है। वे इसलिये आते हैं कि मनुष्य अपनी स्थितिको ईश्वरार्पण करना सीखे और उसकी ओर प्रवृत्त हो। अपनी अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थितियोंको ईश्वरार्पण करदेनेसे मनुष्यकी अनन्त आत्मशक्ति उद्दीप्त होउठती है। मनुष्यपर दैवी आक्रमण इसीको उद्दीप्त करनेके लिये होते हैं। दैवी आक्रमणोंका यह भाव नहीं होता कि मनुष्यकी आत्मशक्तिको बुझा डाला जाय। यह सृष्टि मनुष्यसे निरर्थक छेड़छाड़ कभी नहीं करती। उसकी प्रत्येक चेष्टाका मानवजीवनमें महत्त्वपूर्ण उपयोग होता है। "न मानुषात् श्रेष्ठतमं हि किञ्चित्" (व्यासजी) मनुष्यसे श्रेष्ठ इस संसारमें कुछ भी नहीं है। मनुष्य इस संसारकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु होनेपर भी अज्ञानवश अपनेको क्षुद्र मानने लगता है। मनुष्यका अहंकार ही उसका अज्ञान है जो उसे क्षुद्र मनवाता है।

वह जब अज्ञानवश होकर अहंकारकी अधीनता मान बैठता है तब अपनी क्षुद्रता अनुभव करके या अपनेको क्षुद्र समझकर बाह्य परिस्थितियोंसे हार मानकर कर्म छोडकर बैठ जाता है। यदि मनुष्य अपनेको ईश्वरार्पण करनेकी कला जानता हो तो वह ऐसे समय अपनी समस्त परिस्थितिको ईश्वरार्पण करके ईश्वरकी अनन्तशक्तिसे शक्तिमान होकर विकटतम परिस्थितियोंमें भी कर्मोत्साही हुए बिना नहीं रहता। विपत्ति ईश्वरकी मनुष्यके लिये असाधारण महत्त्व रखनेवाली देन है। वह उसे विपद्विजयकी कला सिखानेके लिये आती है। विपद् भेजनेवाला विधाता नहीं चाहता कि विपद् भेजकर अपने मनुष्यबालकको विनष्ट कर डाला जाय। दैवकी प्रतिकूलताको अनुकूलता बनानेकी भी एक कला है। विपद् मनुष्यके पास दैवकी प्रतिकूलताको अनुकूलता बनाकर मानवजीवनमें पुरुषार्थको विजय दिलानेके लिये ही आती है। ये ही सब बातें आर्यचाणक्य कहना चाहते हैं।

(मानुषी विपत्तिका प्रतिकार)

मानुषीं कार्यविपत्तिं कौशलेन विनिवारयेत् ॥१२४॥

कार्य बिगाडनेवाले मानवीय विघ्नोंको अपनी सतर्कता तथा बुद्धिकौशलसे परास्त करे।

विवरण— इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य अपने कर्मकी त्रुटिहीनताके सम्बन्धमें पूर्ण सन्तुष्ट और निश्चिन्त बने। कर्मकी त्रुटिहीनताके सम्बन्धमें संशयित, अयोग्य और अकुशल बना रहकर कर्ममें हाथ लगानेसे निष्फलता होती है। बुद्धिकी निपुणता ही कौशल है। आग देना, विष देना, धनापहार, गुप्तषड्यन्त्र, जिघांसा, आदि मानुषी विपत्ति हैं। मनुष्य अपने प्रतिभाचातुर्यसे इन सब विपत्तियोंको हटाता रहे।

पाठान्तर— मानुषीं कार्यविपत्तिं कौशलेन वारयेत।

(मूढ स्वभाव)

कार्यविपत्तौ दोषान् वर्णयन्ति बालिशाः॥ १२५॥

मूढ लोग कार्यमें असफल होचुकनेपर या तो अपनी उन त्रुटियोंपर पश्चात्ताप करते हैं, जिन्हें उन्हें पहले ही हटाकर

फिर काममें हाथ लगाना चाहिये था या आपसमें एक दूसरेपर काम बिगाडनेका दोष लगाकर कर्ताको लांछित तथा स्वयं निर्दोष समीक्षक बनना चाहा करते हैं।

विवरण— कार्यारम्भसे पहले उसकी अग्रचिन्ता करके समस्त संभावित विघ्नोंके निवारणका प्रबन्ध करना ही बुद्धिमत्ता है और कर्मकी त्रुटिको समझजाना भी है। बिगडे कामकी हंसी उडा लेना तथा किसी दूसरेपर काम बिगाडनेका लांछन लगा देना, सुकर है परन्तु किसी बिगडे कामकी हंसी उडा लेना ही और किसीपर दोष थोपदेना ही कर्मकी त्रुटिको समझजाना नहीं है। विचारशील लोग कर्ममें विपत्ति आजानेपर दूसरोंपर दोषारोपण करनेकी क्षुद्र प्रवृत्तिको त्यागकर बिगडे कार्यका समाधान करके उसे सर्वांगपूर्ण सुसम्पन्न बनानेवाले समस्त संभावित उपायोंको अपनानेमें दत्तचित्त होजाते हैं।

गच्छतःस्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

कर्मकी रीतिमें किसी प्रकारका प्रमाद होनेपर कर्ममें विघ्न अनिवार्य रूपसे आता है। उस समय मूढ लोग तो हंसी उडाते और सज्जन उसे ठीक करनेके उपाय सुझाते हैं। मूढ लोग घावको खोज निकालनेवाली मक्खियोंके समान दोष ही दोष खोजते फिरा करते हैं। परन्तु उन्हें गुणदोषविवेक करनेका अधिकार नहीं होता। वह तो केवल बुद्धिमानोंको होता है। मूढोंको नहीं। दण्डीने कहा है—

गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।
किमन्धस्याधिकारोस्ति रूपभेदोपलब्धिषु॥

जैसे अन्धेको रूपोंके भेद जाननेका अधिकार नहीं उसी प्रकार बुद्धिहीन अशास्त्रज्ञको गुणदोष पहचाननेका अधिकार नहीं है। मूढ मानव कर्मकी त्रुटि समझनेमें पूर्ण असमर्थ है। ऊपर कह चुके हैं कि बिगडे कामकी हंसी उडा लेना ही कर्मकी त्रुटि समझ जाना नहीं है। कर्मकी त्रुटि समझनेकी कला विचारशील लोगोंका ही एकाधिकार है।

(व्यवस्थापक भोलापन न बरतें)

कार्यार्थिना दाक्षिण्यं न कर्तव्यम् ॥ १२६ ॥

कार्यार्थी राज्याधिकारियोंको शत्रुओंकी शंकासे भरे हुए देशमें भावुकतामें बहकर उदारता, सरलता, भोलापन और मिथ्या सचाई न बरतनी चाहिये ।

विवरण— वे विपक्षके दोष खोजने और अपनी निर्बलता छिपानेमें प्रमाद न करें, किसीका अनुचित विश्वास न करें और किसीको अपना भेद न लेने दें । ऐसा करनेसे उन और उनके राष्ट्रपर विपत्ति आजाना अनिवार्य होजायेगा ।

नात्यन्तसरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वने तरून् ।
सरलास्तत्र छिद्यन्ते कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥

मनुष्य सुपरिचित सुविश्वस्त लोगोंके अतिरिक्त अपरिचित संदिग्ध लोगोंके साथ सरल व्यवहार करनेकी भूल न करे । वह जाकर वनमें देखे कि वहां सरल वृक्ष तो सब काट डाले जाते हैं और कुब्ज ही खडे रह पाते हैं ।

दाक्षिण्य शब्द सरलता और उदारताका वाचक है । यहां जिस सरलता और उदारताको दोषके रूपमें उपस्थित किया है, वह तो चालाक लोगोंसे धोखा दिलानेवाला भोलापन है । दैवी संपत्तिरूपी सरलता या उदारताका निषेध नहीं किया जारहा है । दैवी संपत्तिरूपी सरलता या उदारताके व्यवहारका क्षेत्र केवल श्रेष्ठ लोग होते हैं । यहां विचारशून्यता तथा बुद्धिहीनताको ही सरलता, उदारता या भोलापन मानकर यह सूत्र लिखा गया है । भोले लोग सदा धूर्तोंके कपटजालमें फंसनेके लिये उद्यत रहते हैं । वे शत्रुको हितकारी मित्र और मित्रको वंचक शत्रु समझ लेते हैं । बुद्धिहीन लोगोंके विचारशून्य मन दुष्टोंकी दुष्टताको फूलने फलने देनेवाले उपजाऊ क्षेत्र बन जाते हैं । दुष्टों तथा देशद्रोहियोंके साथ की हुई सरलता या उदारता किसीकी व्यक्तिगत प्रशंसाका कारण बनकर भी राष्ट्रके साथ तो द्रोह ही है । देशद्रोही चापलूस

लोग देशपर आक्रमण करनेवाले शत्रुओंसे साधुपनका प्रमाणपत्र लेनेके लिये सरलता, अहिंसा आदिके नामसे देशके साथ कपट और उसकी हिंसा कर बैठते हैं।

क्षीरार्थी वत्सो मातुरूधः प्रतिहन्ति ॥ १२७॥

दुग्धपानार्थी गोवत्सको माताके स्तनोंपर आघात करना पडता है।

विवरण- जैसे दुग्धार्थी वत्स अपनी आवश्यकतासे विवश होकर अपनी प्यारी गोमाताके स्तनोंपर निर्मम प्रहार करता दीखनेपर भी उसका दूध पीता रहता है तथा उसके कोमल स्तनोंको पीडित करता दीखनेपर भी पीडित न करके उसे अपने सुखस्पर्शोंसे आनन्दित भी करता है, इसी प्रकार राष्ट्रपालनार्थी राजा राष्ट्ररक्षा नामक कठोर कर्तव्यसे विवश होकर बाह्यदृष्टिसे अधर्म दीखने या नृशंस समझे जानेवाले कापटिक तथा आभिचारिक प्रयोगोंसे राष्ट्रमाताके द्रोहियोंका पूर्ण विनाश तथा दमन करते समय अधर्माचारीसा दीखनेपर अपनी सत्यनिष्ठतासे अपनी धर्ममाताको आनन्दोद्वेलित करता रहता है। वह देशद्रोहियोंके साथ व्यवहारके समय असरल, अनुदार, सतर्क उनसे पूरा बदला लेनेवाला उनके प्रति क्रोधको कभी न भूलनेवाला, उनके मायाजालसे बचे रहनेके लिये सत्यको छिपाये रखनेवाला, पापकी भर्त्सनाके लिये कठोरभाषी, निर्दयव्यवहारी तथा पूरा कृपण बनकर रहता है। इतना किये बिना साधुपरित्राण तथा असाधुदमन संभव नहीं है। पापदमनके व्यावहारिक क्षेत्रमें दूसरोंसे धोका दिलानेवाली सरलता उदारता, भोलेपन, क्षमा, अक्रोध, सत्य, प्रियभाषण, दयालुव्यवहार आदि सद्गुणोंके प्रदर्शनका कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक गुणके प्रदर्शनके अलग अलग क्षेत्र होते हैं। सरलता सरलोंके ही साथ व्यवहारमें लानेयोग्य गुण है। सरलता, सरलोंका ही एकाधिकार है। असरल देशद्रोही लोगोंको देशप्रेमी स्वधर्मनिष्ठ लोगोंसे सरल बर्ताव पानेका कोई अधिकार नहीं है।

(कार्यविनाशका कारण)

अप्रयत्नात् कार्यविपत्तिर्भवति ॥ १२८ ॥

कार्यके लिये अपेक्षित सम्पूर्ण प्रयत्न न करनेसे कार्यका नाश होजाता है।

पाठान्तर— नास्ति दैवात् कार्यविपत्तिः।

प्रबल पुरुषार्थ करनेपर उतरपडनेवालोंके काम दैवसे नष्ट नहीं होपाते।

विवरण— दैव पुरुषार्थकी प्रबलता होते ही दुर्बल पडकर महत्वहीन होजाता है। दैव प्रबल पुरुषार्थसे हार मान जाता है। प्रबल पुरुषार्थसे किये कर्तव्यका परिणाम भौतिक दृष्टिसे शुभ अशुभ जो भी हो वही पुरुषार्थीके हृदयमें कर्तव्यपालनका आत्मसन्तोष बनाये रखता है। यदि दैववश भौतिक परिणाम शुभ हो तो उसका यश पुरुषार्थीको ही मिलताहै। यदि वह अशुभ हो तो उसके हृदयमें कर्तव्यपालनका जो सन्तोष रहता है, वह उसके हृदयमें असन्तोषका दावदाह पैदा नहीं होने देता। पुरुषार्थीके सामने अनुकूल प्रतिकूल, दैव आदि तथा अन्त दोनों ही समय महत्वहीन माना जाकर उपेक्षित रहता है।

(असफल होनेवाले लोग)

न दैवप्रमाणानां कार्यसिद्धिः ॥ १२९ ॥

पहिलेसे ही असफलताका निश्चय करबैठनेवालोंके काम सिद्ध नहीं होते या वे कोई नया काम प्रारंभ ही नहीं किया करते।

विवरण— पुरुषार्थ दैवाश्रित लोगोंमें निर्बल बनकर रहता है।

पाठान्तर— न दैवप्रमाणानां कार्यारम्भः।

दैवाश्रित या भाग्य भरोसे लोग दैवके भयसे अपनी कर्मशक्तिको तृणके स्पन्दनतकसे शंकालु कछुएके समान सकोडकर बैठ जाते है और कोई भी नया काम नहीं छेडते ।

(कर्तव्यसे भागनेका दुष्परिणाम)

कार्यबाह्यो न पोषयत्याश्रितान् ॥ १३० ॥

कर्तव्यसे भागते फिरनेवाला आश्रितोंका भरणपोषण नहीं करपाता ।

विवरण— जो व्यक्ति स्वभावसे कर्तव्यहीन होता है वह आश्रितोंके प्रति भी अपने कर्तव्यकी उपेक्षा करबैठता है । जबतक मनुष्य शिक्षा, रक्षा, शिल्प, वाणिज्य, कृषि आदि समाजोपयोगी कार्यमें अपने दिनका सर्वोत्तम समय व्यय करना अपना कठोर अत्याज्य कर्तव्य नहीं बनालेता, तबतक वह आश्रितपालन नहीं कर सकता और परिवारपर अपना प्रभुत्व भी नहीं रख सकता । ऐसा मनुष्य आधुनिक भाषामें " आवारा " कहाता है ।

(अन्धा मानव)

यः कार्यं न पश्यति सोऽन्धः ॥ १३१ ॥

जिसे अपनी विवेककी आंखसे अपना सामयिक कर्तव्य पहचानना नहीं आता, वह आंखोंके रहते हुए भी अन्धा है ।

विवरण— योग्य कार्य न पहचानना ही अंधापन है । 'अविश्रमो लोकतन्त्राधिकारः'— शासनसंबन्धी कर्तव्य करनेवालोंके पास प्रत्येक क्षण अनेकानेक कर्तव्योंकी समस्यायें उपस्थित होती रहती हैं । इतनेपर भी यदि किसीको करने योग्य कार्य नहीं दीखता तो उसे अन्धा ही समझना चाहिये । उसका अनिष्ट होना अनिवार्य है ।

अथवा— जो राजा राज्यसंबन्धी कामोंके विषयमें अपना आनुभविक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं रखता, जो स्वयं अपनी आंखोंसे अपना राजकाज नहीं

देखता, उसके राजकाजका बिगडजाना अनिवार्य है । उसके राज कर्मचारियोंमें स्वेच्छाचार बढकर प्रजामें रोष और राज्यकी हानि होना अनिवार्य होजाता है ।

(कर्तव्यनिश्चयके साधन)

प्रत्यक्षपरोक्षानुमानैः कार्याणि परीक्षेत ॥ १३२ ॥

उपस्थित अनुपस्थित साधनों तथा अनुमानों द्वारा विचार करके कर्तव्योंका निश्चय करे ।

विवरण— कौनसे साधन अपेक्षित हैं, उनमेंसे कितने हैं और कितने संग्रह करने हैं, वे सब मिल सकते हैं या नहीं, मिल सकते हैं तो कौनसे कैसे, कहांसे मिल सकते हैं ? इत्यादि सब बातोंका पूर्ण विचार करके मनुष्यको काम प्रारंभ करना चाहिये । इतना विचार करलेनेसे हानि या असफलताकी संभावनायें नष्ट होजाती हैं ।

(अपरीक्ष्यकारिताकी हानि)

अपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति ॥ १३३ ॥

श्री अर्थात् सफलता बिना विचारे काम करनेवालेको त्याग देती है ।

विवरण— जो लोग बिना सोचे समझे, केवल लोभ या स्वार्थके अधीन होकर, काम प्रारम्भ कर देते और इस उद्योगसे लोगोंको केवल अपनी कार्यतत्परतामात्र दिखाना चाहते हैं, वे अनिवार्यरूपसे प्रजाके घृणापात्र बनकर राज्यश्रीसे वंचित होजाते हैं । कार्यसे पहले उसके उद्देश्यकी सत्यासत्यता, अपना बलाबल, साधन सहयोगी, आयव्यय, देशकाल आदिकी परीक्षा करनी चाहिये ।

(अधिक सूत्र) **न परीक्ष्यकारिणां कार्यविपत्तिः ।**

ऊंचनीच सोचविचारकर कार्य करनेवालोंके कार्योंमें न तो विघ्न आता है और न उन्हें असफलता मिलती है ।

(विपत्ति हटानेका उपाय)

परीक्ष्य तार्या विपत्तिः ॥ १३४ ॥

विपत्ति (अर्थात् सफलताके मार्गके विघ्न) को विचारसे हटाना चाहिये।

विवरण— विचार सर्वशक्तिमान पदार्थ है। विपत्ति विचारशीलका कुछ नहीं बिगाड सकती। मनुष्य जहां कहीं अपनी सफलतामें विघ्न पडता देखे वहीं वीरताके साथ अपनी बुद्धि तथा शक्तिको परीक्षामें झोंक दे और देखे कि वह इस विपद्वारणमें क्या कुछ नहीं कर सकता ?

विपत्ति मनुष्यका असाधारण मित्र है। संसारमें आजतक जितने महापुरुष हुए हैं सब विपत्तियोंकी कृपाके शुभ परिणाम हैं। यदि उनके जीवनोंमें विपत्ति न आई होती तो उनके गुणग्राम संसारको विदित ही न हो पाते और वे लोग संसारके लिये अपरिचित ही रह जाते। विपत्तियोंने ही संसारको महापुरुषोंसे सम्पन्न बनाया है। ओ मानव ! तुम अपनी विपत्तियोंके विषयमें इस प्रकार सोचा करो कि तुमपर जो यह विपत्ति आई है वह यों ही नहीं आगई। वह तुम्हारे विधाताकी सदिच्छा अर्थात् तुम्हारी स्वरूपसंरक्षक विजयेच्छासे आई है। वह तुम्हें विपद्वारणकी कला सिखाने और सिखाकर तुम्हें भी विघ्नविजेता महापुरुषोंकी श्रेणीमें खडा कर देनेके लिये आई है। विपत्ति नामवाले ऐसे परमहितैषी मित्रसे जी चुराना अपना ही अकल्याण करना है। मानवजीवनकी सफलताका रहस्य वीरताके साथ विपत्तिका साम्मुख्य करनेमें ही छिपा है।

(कर्म प्रारंभ करनेकी अवस्था)

स्वशक्तिं ज्ञात्वा कार्यमारभेत ॥ १३५ ॥

अपनी शक्तिके विषयमें पूरी तथा सच्ची जानकारी पाकर, उसके विषयमें किसी प्रकारके मिथ्या विश्वासमें न रहकर काम प्रारंभ करे।

विवरण— शक्तिबाह्य कर्म न करनेमें ही मानवका कल्याण है। "जितनी शक्ति उतना काम। उससे अधिक दुःखोंका धाम।" इस लोकोक्तिके अनुसार शक्ति ही कर्तव्यकी सीमा है। तुम यह जानो कि जितनी तुममें शक्ति है उतना ही तुम्हारा कर्तव्य है। तुम्हारा कोई भी कर्तव्य तुम्हारी शक्तिसे अधिक नहीं हो सकता। तुममें जिस कामकी शक्ति नहीं है वह तुम्हारा कर्तव्य भी नहीं है। यदि तुम ऐसा काम छेड बैठोगे तो निश्चित रूपमें असफल होओगे और हाथ मल मल पछताओगे। तुम भूल कर भी ऐसे काममें हाथ मत डालो, जिसे पूरा करनेकी तुम्हारे पास शक्ति न हो। तुम पहले अपने मनमें शक्तिको तोल देखो। यदि तुम्हारे पास कर्मसे अधिक शक्ति हो तो तुम निःशंक होकर कामको अपना लो।

राजनीतिमें प्रभाव, उत्साह तथा मन्त्र भेदसे शक्ति तीन प्रकारकी मानी जाती है। कोष, दण्ड तथा बल ये तीन प्रभुशक्ति (प्रभावजनक शक्ति) कहाती हैं। विक्रम तथा बल ये दो उत्साहशक्ति नामकी दूसरी शक्ति कही जाती हैं। पांचों अंगोंसे संपन्न मन्त्र मन्त्रनामकी तीसरी शक्ति कहाती है। राजा इन तीनों शक्तियोंसे सम्पन्न रहकर राजकाज करे। "मन्त्रमूलाः सर्वारम्भाः" इस २४ वें सूत्रमें मन्त्रके पांचों अंगोंका सविस्तर वर्णन हो चुकनेसे, यहां ग्रन्थविस्तारभयसे पुनः वर्णन नहीं किया।

(अमृतभोजी मानव)

स्वजनं तर्पयित्वा यः शेषभोजी सोऽमृतभोजी ॥ १३६ ॥

अपने उपार्जनमेंसे स्वजनों, बन्धुओं, अतिथियों, पोष्यों, दीन-दुःखियों तथा समाजकल्याणकारी संस्थाओंका भरणपोषण करनेके पश्चात् शेष धनसे जीवनयात्रा करनेवाले लोग अन्नभोजी होनेपर भी अमृतास्वादी या अमृतभोजी होते हैं।

विवरण— "केवलाघो भवति केवलादी" केवल अपना पेट भरनेवाला और अपने आश्रित उपाश्रितों तथा अपने उपजीव्य समाजके भरण-पोषणकी चिन्ता न रखनेवाला केवल पापका उपार्जन करता है। केवल

उदरंभरि होना पापी तथा हीन जीवन है। "तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः"। जो देवोंके दिये भोजनको उन्हें न सौंपकर स्वयं खाजाता है वह चोर है।

पाठान्तर— यः स्वजनं भोजयित्वा शेषं भुंक्ते सोऽमृतभोजी।

(आय बढानेके उपाय)

सर्वानुष्ठानदायमुखानि वर्धन्ते ॥ १३७ ॥

राष्ट्रमें भूमि, धन, व्यापार, शिल्प आदि समस्त प्रकारके राष्ट्रहितकारी कर्तव्योंके सुसंपन्न होते रहनेपर ही राज्यकी आयके द्वार बढते हैं।

विवरण— जो राज्याधिकारी प्रजाका शोषण करके केवल अपनी जेब भरना ध्येय बनाकर आलसी बन जाते हैं और राज्यकी कर्मशक्ति बढवानेके लिये अपेक्षित उद्यम नहीं करते उनकी राज्यश्रीकी वृद्धि होनेकी कोई आशा नहीं है। उनका संचित धन तो कम होने लगता और आयके द्वार तथा संभावनायें घटने लगती हैं।

पाठान्तर— सर्वकार्यानुष्ठानादायमुखानि वर्धन्ते।

राष्ट्रकी कर्मशक्तिके काममें आते रहनेसे राष्ट्रके आयके द्वार बढ जाते हैं।

(कापुरुषकी कर्तव्यहीनता)

नास्ति भीरोः कार्यचिन्ता ॥ १३८ ॥

भीरु कापुरुष अपने मनमें वीरोचित कर्तव्यकी चिन्ताको स्थान नहीं देता। वह कर्तव्यहीन रहनेका कोई न कोई बहाना बना लेता है।

विवरण— कापुरुष शत्रुदमन करके सत्यरक्षा करनेमें असमर्थ होता है। वह अपने मनमें सत्यरक्षाकी कल्पनातकको स्थान नहीं देता। उसका शत्रुओंका चरणचुम्बन करना अनिवार्य है।

अथवा— भयाक्रान्त मनुष्य मनमें कर्तव्यकी आलोचना नहीं कर सकता। भयसे बुद्धि मन्द होती और कर्तव्यचिन्ता क्षीण होजाती है।

पाठान्तर— नातिभीरोः कार्य चिन्ता।

(स्वामीके स्वभाव परिचयका लाभ)

स्वामिनः शीलं ज्ञात्वा कार्यार्थी कार्यं साधयति ॥ १३९ ॥

कार्योंमें नियुक्त लोग अपने आश्रयदाता स्वामीकी रुचिको पहचानकर तदनुसार कार्य किया या कराया करते हैं ।

विवरण— राजाके वीर होनेपर उसके अनुयायी लोग उसकी रुचिके अनुयायी वीर होकर उसकी नियुक्तिके अनुसार कार्यको सुसंपन्न कर लेते हैं । इसके विपरीत राजाके कापुरुष होनेपर उसके अनुचर भी कार्यक्षेत्रमें कापुरुषताका ही प्रदर्शन करते हैं ।

पाठान्तर— स्वामिनः शीलं विज्ञाय कार्यार्थी कार्यं साधयेत् ।

धेनोः शीलज्ञः क्षीरं भुंक्ते ॥ १४० ॥

जैसे दुग्धार्थी धेनुके स्वभावको जानकर जिस रीतिसे संभव होता है, उसी रीतिसे उससे दुग्ध प्राप्त करलेता है इसी प्रकार राजसेवक राजाकी रुचिके अनुकूल राजसेवा करके अपना राष्ट्रसेवा नामक उद्देश्य पूरा किया करते हैं ।

पाठान्तर— धेनोः क्षीरं शीलज्ञो भुंक्ते ।

(गुह्य बतानेके अनधिकारी)

क्षुद्रे गुह्यप्रकाशनं आत्मवान्न कुर्वीत (कुर्यात) ॥१४१॥

मनस्वी धीमान् मनुष्य मन्दमति, अनीतिज्ञ, नीच, चंचलबुद्धि अनुचरको अपनी गुह्य बात न बता दे ।

विवरण— फूटे पात्रमेंसे जलके समान क्षुद्रके पेटमें गुह्य बात नहीं खपती । गुह्य बात उसके पेटमें रेचक औषधका काम करती है । उससे उसे सर्वत्र घोषित किये बिना नहीं रहा जाता । क्षुद्रके पास गुह्य बात पहुंचनेसे बातका उद्देश्य तो नष्ट होजाता है और उसके स्थानपर अनर्थकी सृष्टि होजाती है ।

पाठान्तर— क्षुद्रे गुह्यप्रकाशनमात्मवता न क्रियेत ।

(मृदुस्वभावसे हानि)

आश्रितैरप्यवमन्यते मृदुस्वभावः ॥ १४२ ॥

मृदुस्वभाव (अर्थात् अपात्रोंतकको प्रसन्न करके संसारभरका प्रेमपात्र बननेका महत्त्वाकांक्षी पात्रापात्रविवेकहीन अदृढ) मनुष्य अपने आश्रितोंसे भी अनादर पाता है ।

विवरण— प्रबन्धके काममें अपात्रोंको डाटने तथा सुपात्रोंका आदर करनेकी दृढता अनिवार्यरूपसे होनी चाहिये । परन्तु ये मृदुस्वभावी लोग अनिवार्यरूपसे अपात्रोंसे चिपटते और सुपात्रोंसे त्यक्त हो जाते हैं ।

प्रबन्धसम्बन्धी समस्यायें ही ऐसी होती हैं कि सबको प्रसन्न नहीं किया जा सकता । अन्यायतत्पर लोगोंको डाटना और रुष्ट करना ही पड़ता है । अन्यायपक्षको अनुत्साहित भर्त्सित ताडित और अवहेलित तथा न्यायपक्षको उत्साहित और अनुमोदित रखना ही राजाओंका जप, तप, सन्ध्या, भजन, पूजन तथा श्रेष्ठ भागवत आराधन है । बुरोंके भी भला बनना चाहनेवाले मृदुलोग सफल शासक नहीं बन सकते । प्रबन्धकको जो पापदमनका महायज्ञ करना पड़ता है उसके लिये उसे अपनी दृढता और सत्यनिष्ठा नहीं त्याग देनी चाहिये । उसे अन्यायी पक्षके सामने अपनी राजोचित शक्ति प्रकट करनी चाहिये ।

(लघु अपराधमें कठोर दण्डसे हानि)

तीक्ष्णदण्डः सर्वैरुद्वेजनीयो भवति ॥ १४३ ॥

लघु अपराधमें कठोर दण्ड देनेवाला शासक सबकी घृणाका पात्र तथा अपने प्रभावक्षेत्रमें उपद्रव खड़ा होनेका करण बन जाता है ।

विवरण— राजाको राष्ट्रमें सुव्यवस्था रखनेके लिये अपराधियोंको वध, अर्थग्रहण तथा शरीरताडन तीन प्रकारके दण्ड देने पड़ते हैं । यों तो दण्ड अपराधीका नित्य साथी है । अपराधीका अपराध करना ही दण्डको

अपने पास बुलाना है। परन्तु दण्डके संबन्धमें राजाका यह बड़ा सावधान कर्तव्य है कि दण्ड औचित्यकी सीमाका उल्लंघन भी न करे और अपराधसे न्यून भी न हो। उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि आततायी लोगोंके साथ मृदु बर्ताव न किया जाय।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥ मनु

आततायीको आता देखकर और इसके आततायी होनेका निश्चय हो जानेपर उसे बिना आगा पीछा देखे मार डाले। आततायीके वधसे हन्ताको कोई दोष या अपराध नहीं लगता। रक्षात्मक आक्रमण करनेवाला आक्रमण-जन्य वधका अपराधी नहीं होता।

(दण्डमें औचित्यकी आवश्यकता)

यथार्हदण्डकारी स्यात्॥ १४४॥

उचित यही है कि राजा यथायोग्य दण्ड देनेवाला हो।

विवरण— उचितकारी ही सफल शासक बन सकता है। क्योंकि कठोर दण्ड जनतामें उद्वेग तथा राजद्रोह फैलाता है, इसलिये दण्डमें अपराधकी गुरुता लघुताका पूरा ध्यान रहना चाहिये। लघु अपराधमें गुरु दण्ड, निरपराध अवस्थामें तीव्र या लघु दण्ड, गुरु अपराधमें लघु दण्ड या दण्डाभाव न होनेका पूरा ध्यान रखना चाहिये। कहा भी है—

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति।
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्वतः
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्॥

राजा दण्डनीयोंको दण्ड न देने और अदण्डनीयोंको दण्ड देनेसे बड़ा अपयश पाता और कष्टपरम्परामें उलझ जाता है। राजा पहले तो अपराधके कारणों तथा अपराधकी परिस्थिति और कालको देखे फिर अपराधीकी

दण्डसहनकी शक्ति और अपराधके स्वरूप तथा उसके राष्ट्रपर पड़नेवाले प्रभावको समझकर दण्ड दे। स्मृतिमें कहा है—

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत् परिवर्जयेत्॥

क्योंकि अधर्मपूर्वक दिया हुआ दण्ड, यश, कीर्ति तथा सुख तीनोंको नष्ट कर डालता है इसलिये अधर्मपूर्वक दण्ड देनेसे बचे। कल्पतरुमें कहा है—

दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं विधानतः।
कामं संरक्षते यस्मात् त्रिवर्गो दण्ड उच्यते॥

क्योंकि दण्ड ही धर्म अर्थ, तथा काम तीनोंका वैधानिक संरक्षक है, इस लिये दण्डको ही त्रिवर्ग कहा जा सकता है। कल्पतरुमें यह भी कहा है— 'राजदण्डभयात् पापाः लोकाः पापं न कुर्वते' — पापी लोग राजदण्डके भयसे ही पापसे रुकते हैं। यही मनुने भी कहा है। सोमदेव सूरीने अति सुन्दर कहा है— 'चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः' — जैसे आयुर्वेद दोषोंके सन्निपातको नष्ट कर देता है इसी प्रकार अपराधियोंको दिया हुआ दण्ड उनके सकल दोषोंको धो डालता है। गर्गने भी कहा है—

अपराधिषु यो दण्डः स राष्ट्रस्य विशुद्धये।
विना येन न सन्देहो मात्स्यन्यायः प्रवर्तते।
शूले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः॥

अपराधियोंको दिये दण्डसे राष्ट्रकी शुद्धि होती है। यदि उन्हें दण्ड नहीं मिलपाता तो संसारमें मात्स्यन्याय चल पड़नेमें कोई सन्देह नहीं रहता। तब बलवान् दुर्बलोंको काँटेमें मछलियोंके समान बींधकर भून डालते हैं।

पाठान्तर— ततो यथार्हदण्डः स्यात्।

इस कारण यथायोग्य दण्ड देनेवाला बने।

(अगम्भीरतासे हानि)

अल्पसारं श्रुतवन्तमपि न बहु मन्यते लोकः ॥ १४५ ॥

लोक अगंभीर मनुष्यके विद्वान् होनेपर भी उसे प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे नहीं देखता।

विवरण— जिस विद्वान्‌की विद्वत्ता उसके हृदयको प्रभावित करनेमें सफल नहीं होपाती वह उसके स्वभावपर भी अपना प्रभाव डालनेमें असमर्थ ही रह जाती है। विद्या यदि सच्ची हो तो उसे मनुष्यके हृदय और स्वभाव दोनों ही पर प्रभावशालिनी होकर रहना चाहिये। विद्या जब तक विद्वानोंके हृदयों तथा स्वभावोंमें स्थान नहीं लेपाती, तब तक वे विद्याका दुरुपयोग करते चले जाते हैं। उनकी विद्या रोगोत्पादक अजीर्ण भोजनके समान उनकी अप्रतिष्ठाका कारण बनजाती है।

(बहुतोंका कर्तापन कार्यनाशक)

(अधिक सूत्र) सारं माहाजनः संग्रहः पीडयति।

माहाजनसंग्रह अर्थात् किसी राजकाजके विषयमें बहुत लोगोंका सम्मिलित होना (अर्थात् कर्तापन होजाना) उद्देश्यको नष्ट कर डालता है।

विवरण— राष्ट्रके प्रबन्धसम्बन्धी कामोंमें मतदाताओंके हाथ यन्त्रके समान उठवाकर अथवा ढोरोंकासा जीवन बितानेवाले पशुतुल्य लोगोंसे परची डलवाकर बहुमत संग्रह करनेकी आवश्यकता राजकाजकी सारवत्ता तथा उद्देश्यको नष्ट कर डालती है। ऐसा करनेसे राजकीय निर्णयोंमेंसे औचित्य जाता रहता तथा स्वार्थरूपी अनौचित्य आघुसता है। प्रबन्धसंबन्धी निर्णय बहुतके निर्णयोंसे असार होजाते हैं। अज्ञबहुमतसे उसके अज्ञात विषयपर सम्मति लेकर कोई नियम या कर्तव्यशास्त्र बनाना संकटपूर्ण घातक अशास्त्रीय परिपाटी है।

राष्ट्रका विधान बनाने या राष्ट्रप्रबन्धसंबन्धी गम्भीर प्रश्नोंका समाधान करनेके संबन्धमें मतभेद रखनेवाले, भिन्न भिन्न स्वार्थी संप्रदायों, दलों या व्यक्तियोंको सम्मिलित करलेना (अर्थात् उनका कर्तापन करलेना) तो उसका उद्देश्य ही नष्ट करलेना होजाता है। राष्ट्र शक्तिमान् तब ही रह सकता है जब कि राष्ट्रकी प्रतिनिधि राज्यशक्तिको शक्तिमान् बनाकर रखा जाय। व्यवस्थानिर्माताओं तथा व्यवस्थाकर्ताओंका ऐकमत्य ही निर्दोष राजशक्ति होती है। राजशक्तिमें भिन्न भिन्न राजनैतिक मन्तव्य रखनेवालोंका सम्मिलित रहना तो स्पष्ट ही राजशक्तिकी निर्बलता है। राजशक्तिकी निर्बलता राष्ट्रकी ही निर्बलता है। यह निर्बलता राष्ट्रके ध्वंसका कारण बन जाती है। राष्ट्रप्रबन्धकों तथा व्यवस्थाकर्ताओंका ऐकमत्य राष्ट्रकी महत्वपूर्ण आवश्यकता है। जब राज्यसंस्थामें इस प्रकारके प्रतिनिधि सम्मिलित रहते हैं, तब राष्ट्रकी हिताकांक्षा अनेक मकराकृष्ट शवदेहके समान खण्डित और विभाजित न होकर, एक व्यक्तिकी व्यक्तिगत हिताकांक्षाके समान निर्भेद होकर एकाकार बनी रहती है। राष्ट्रके सच्चे हितैषी निःस्वार्थ प्रतिनिधियोंके व्यक्तित्वकी भिन्नता पारस्परिक विरोधका कारण न बनकर समस्त राष्ट्रसंस्थाको ऐकमत्य या एकसूत्रमें बांध डालनेवाली बनजाती और राष्ट्रके प्रत्येक प्रतिनिधिके मनमें राष्ट्रहितैषिता सशरीर होकर आविराजती है। यदि राष्ट्रव्यवस्थाको लोककल्याणकारी बनाना हो तो उसका सच्चे राष्ट्रहितैषियोंकी सर्वसम्मतिसे होना अत्यावश्यक है। यदि राष्ट्रव्यवस्थाके प्रश्नमें मतभेद रह जाता है तो उसमें वह सर्वजनहितकारिता नहीं रह सकती जो कि राष्ट्रव्यवस्थाकी अनिवार्य आवश्यकता है।

इस दृष्टिसे अल्पमतके विरुद्ध बहुमतको मान्यता देनेकी परिपाटी राष्ट्रव्यवस्थाके सर्वजनहितकारी होनेके सिद्धान्तके विरुद्ध सिद्ध होजाती है। इस प्रकारका बहुमत एकत्रित कर लेना राष्ट्रके अल्पमतवाले भागपर आक्रमण करनेवाली मनोवृत्ति है। यह सेवक मनोवृत्ति नहीं है। राष्ट्रके सेवक ही राष्ट्रके कर्णधार होनेकी योग्यता रखते हैं। बहुमतको राष्ट्रका कर्णधार बनानेकी

कल्पना राष्ट्रद्रोही अभारतीय कल्पना है। भारतीय एकतन्त्रवादमें यद्यपि ऊपर-से देखनेमें राज्यव्यवस्थाका कर्णधार राजा नामका एक व्यक्ति ही दीखता है, परन्तु वह अपने मन्त्री, पुरोहित, दूत, सेनापति, राजगुरु आदि राष्ट्रके योग्य-तम सहयोगियोंके रूपमें राष्ट्रके हितैषियोंको अपने प्रगाढ संपर्कमें रखकर स्वयं ही सम्पूर्ण राष्ट्रका मूर्तिमान कल्याण बनकर राजकार्यका सुचारुरूपसे परिचालन करता रहता है। उसके बाह्यदृष्टिसे अकेले दीखनेपर भी उसके अकेलेपनमें भी समग्र राष्ट्र सम्मिलित रहता है। उसका अकेलापन भी वास्तवमें समग्र राष्ट्रके ऐकमत्यमें सम्मिलित होता है। विस्तारभयसे इस प्रसंगको यहीं छोड़-कर प्रकृतमें आते हैं। राष्ट्रव्यवस्थाके लिये राष्ट्रहितैषियोंकी सर्वसम्मति ही योग्यतम परिपाटी है। सच्चे व्यवस्थापकोंमें राज्यव्यवस्थासंबन्धी आलो-चनामें मतभेद होनेपर भी निर्णयावस्थामें मतैक्य या अविरोध होजाना अनिवार्य है। जिनमें अन्ततक मतभेद रहता है वे लोग वस्तुतः व्यवस्था-पक बननेके अयोग्य होते हैं। मतविरोध राष्ट्रघाती स्थिति है। अल्पमतकी उपेक्षा करके बहुमतके अनुसार राष्ट्रव्यवस्था करनेकी परिपाटी सचमुच विनाशक, अनार्य, आसुरी परिपाटी है। हमारे देशके दुर्भाग्यसे सर्वसम्म-तिसे राष्ट्रव्यवस्था करनेकी भारतीय परिपाटीको तो त्याग दिया गया है और योरोपको राजनीतिका गुरु मानकर उसीकी देखा देखी बहुमतसे राष्ट्रव्य-वस्था करनेकी परिपाटी हमारे देशमें उधारी लाई गई है। ऐसी स्थितिमें देशकी शान्तिके ईश्वर ही प्रभु हैं। यह परिपाटी राज्यप्रबन्ध तथा नियम-विधान दोनोंमेंसे सारवत्ता या औचित्यको निश्चित रूपमें लुप्त कर देती है।

बहुमतसंग्रहसे बने विधान तथा प्रबन्धसंबन्धी निर्णयोंका निःसार होना अनिवार्य है। यदि राज्यके नियमविधानों तथा प्रबन्धोंको सारवान बनाना हो तो यह काम उस उस विषयके ऐसे विशेषज्ञोंसे करा-नेमें ही राष्ट्रकल्याण है जिनमें न तो स्वार्थी प्रवृत्तियें हों, और न जिनमें भ्रम प्रमाद विप्रलिप्सा तथा मतविरोध ही हो। अल्पके विरोधमें बहुमत सचमुच भयंकर स्थिति है। यह राष्ट्र, प्रान्त, जिले तथा ग्रामोंको विरोधी

दलोंमें बांट डालनेवाली अत्यन्त दूषित परिपाटी है। भारतके ग्रामोंतकको पार्टियामें बांट डालनेवाली इस परिपाटीके कुफल प्रत्यक्ष हैं अल्पके विरोधमें बहुमतीय निर्णयकी इस परिपाटीको योरोपसे भारतमें उधारी लानेवालोंकी अनात्मज्ञ बुद्धिकी जितनी निन्दा की जाय थोडी है। राष्ट्रव्यवस्थामें सर्व-सम्मत निर्णय ही भारतीय परिपाटी है। बहुमतीय निर्णयोंको राष्ट्रघाती कहनेका तात्पर्य यह है कि बहुमत सदा ही अज्ञानियोंका होता है। बहुमत सदा उन साधारण लोगोंके हाथोंमें चला जाता है जो केवल पेटपूजा तथा वंशवृद्धि करनेसे अधिक कुछ भी नहीं जानते। राष्ट्र देखे कि सामाजिक प्रश्नों तथा उन्हें सुलझानेके सिद्धान्तोंसे सर्वथा अपरिचित रहनेवाले भोजन-भोगपरायण पशुओंकीसी स्थिति लेकर जीवनके दिन काटनेवाले लोगोंको राष्ट्रीय समस्याओंके सम्बन्धमें सम्मति देनेका अधिकार दे देना तथा इन्हें फुसलाकर इनके मतोंका क्रय करके राष्ट्रप्रतिनिधि बने हुए उत्तरदायित्वहीन अप्रामाणिक व्यक्तियोंसे देशके कर्तव्यशास्त्र (अर्थात् व्यवस्थायें) बनवाना तथा राज्यप्रबन्धमें सम्मति लेना बन्दरोंके हाथोंमें छुरा पकडा देने जैसी प्रलय मचा देनेवाली कल्पना है।

(शक्तिसे अधिक भार उठानेसे हानि)

अतिभारः पुरुषमवसादयति ॥ १४६ ॥

अतिभार (शक्तिसे अधिक कर्मका भार) मनुष्यको हतोत्साह तथा क्लान्त करके उसके कर्मको अनिवार्यरूपसे निष्फल बना डालता या नष्ट कर देता है।

विवरण— इस प्रसंगमें अतिभार तथा उचित भारके स्वरूपका प्रश्न स्वभावसे उपस्थित होता है। भार कर्मका स्वाभाविक साथी है। कर्मके साथ भार स्वभावसे लगा रहता है। उत्तरदायित्व ही भार है। यह भार मूलतः भौतिक न होकर मानसिक होता है। कर्ता अपने विवेकके सम्मुख अपने कर्मका उत्तरदायी होता है। जब उत्तरदायित्व अपना सीमोल्लंघन

करता है तब वह विवेकसे स्थानान्तरित होकर अविवेकाश्रित होजाता तथा करनेवालेको थका डालता है। तब वह उससे कर्तव्यपालनका सन्तोष छीनकर कर्मको अतिभारका रूप दे देता है। ऐसा कर्म कर्ताके सन्तोषका कारण न बनकर दुःखका कारण बनजाता (अर्थात् कामनाको अपूर्ण रख देता) है। कामनाका अपूर्ण रहजाना ही दुःख है। किसी भौतिक फलकी अभिलाषा ही कामना है। यहां यह बात विशेषरूपसे ज्ञातव्य है कि कर्मके संबन्धमें मनुष्यका अधिकार कहां तक है ? मनुष्यको जानना चाहिये कि कर्तव्यका भौतिक फल कर्म करनेवालेके अधिकारमें नहीं होता। यह हम इसलिये कहते हैं कि वह कभी मिलता है और कभी नहीं भी मिलता। जब वह नहीं मिलता, तब फलाकांक्षी मानवका दुःखी होना अनिवार्य हो जाता है। परन्तु यह दुःख मनुष्यका स्वाधीन दुःख है। यदि मनुष्य दुःखी होना न चाहे तो उसके पास दुःखी होने या दुःख आनेका कोई कारण नहीं है। जानबूझकर स्वाधीन दुःखका वरण करना ही मनुष्यकी मूढता है। मनुष्यको यह भूलना नहीं चाहिये कि उसका अधिकार कर्तव्य-पालन तक ही है। फल तक नहीं। जब वह अपनी इस अधिकारसीमाको भूल जाता है तब ही फलकी अनुचित इच्छा करबैठता है। यही कर्मका अतिभार है। अपनी कार्यनीतिसे अपने विवेकको सन्तुष्ट रखना मनुष्यका कर्तव्य है और यही उसका महान उत्तरदायित्व है। यदि मनुष्य अपने विवेकको सन्तुष्ट करनेके उत्तरदायित्वको भूल न गया हो तो उसका कर्म उसके सामर्थ्य तथा अधिकार तक ही सीमित रहता है फिर वह उसे मर्यादासे अधिक नहीं बढाता। फिर वह अतिभारका रूप धारण नहीं करता और सुखदायी बन जाता है। अपने विवेकको सन्तुष्ट रखनेवाले इस प्रकारके अफलाकांक्षी मनुष्यका कर्मोत्साह, आग्रहपूर्वक अपनाये जानेवाले, स्वयं ही अपना फल बन जानेवाले, बडेसे बडे कर्तव्यको सुखसाध्य बनाकर उसके सम्मुख उपस्थित कर दिया करता है।

संसारमें दो प्रकारके कर्ता पाये जाते हैं। एक तो वे जो भ्रान्त सुखके लिये कर्म करते हैं। ये ही लोग सकाम या सदोष कर्ताकी श्रेणीमें आते हैं।

भ्रान्त सुख और अभ्रान्त सुखके भेदसे सुखकी भी दो श्रेणी हैं। उन्हींको कल्पित और अकल्पित सुख भी कहा जाता है। भ्रान्त सुखके लिये कर्म करनेवालेका कल्पित सुख, कर्म करनेमें नहीं होता किन्तु कर्मके परिणामके रूपमें आनेवाली अनिश्चित अप्राप्त अधिकारबाह्य वस्तु ही उसका सुख होता है। क्योंकि उसका अभिलषित सुख उसके अधिकारमें नहीं है और उसके मिलनेका कोई निश्चित आश्वासन भी नहीं है, इसलिये उसकी मानसिक स्थितिको या तो दुःख या सुखाभाव इन दोनोंमेंसे किसी भी एक नामसे कहना पड़ता है। इनके विपरीत दूसरे वे लोग हैं जो अभ्रान्त सुखसे सुखी होकर अर्थात् सुखेच्छु न रहकर प्रतिक्षण कर्म करते हैं। इन लोगोंकी दृष्टिमें इनका कर्म स्वयं ही सुखरूपी लक्ष्य होता है। इन लोगोंके मन्तव्यमें उस कर्मको न करना ही दुःख माना जाता है। सुखके लिये कर्म करनेवाला सदा ही अकर्तव्यपरायण होता है। जो सुखके लिये किया जाता है वही अकर्तव्य होता है। सुखलोभीका अकर्तव्यपरायण होना अनिवार्य है। अकर्तव्यपरायण होना ही अतिभाराक्रान्त बन जाना है। कर्तव्य पहचानना ही समस्त विद्याओंका सार है। कर्तव्य पहचाननेके पश्चात् फिर कोई भी कर्म मनुष्यके लिये भार नहीं बनपाता। कर्तव्यको कर्तव्यरूपमें पहचानते ही वही स्वयं सुखस्वरूप ध्येय बन जाता है। फिर उसके कर्ममें अवसादरूपी दुःख कभी भी उपस्थित नहीं होता। अवसादरूपी दुःख तो अकर्तव्यमें ही आता है।

शक्तिसे बाहर कर्मभार पुरुषके कर्मोत्साह तथा कर्म दोनोंको नष्ट कर देता है। शक्ति ही बोझ उठानेकी मर्यादा है। शक्तिसे बाहर कर्मभार स्वयं उठाना या किसीपर लादना कर्तव्यसे अपरिचय तथा कर्तव्यभ्रष्टता है। कर्तव्य यदि सचमुच कर्तव्य है तो उसका सामर्थ्याधीन होना अनिवार्य है। कर्तव्यनिष्ठको सामर्थ्याधीन कर्तव्यमें अटूट उत्साह रहता है। वह कर्तव्यपालनकी सन्तोषरूपी सफलताको हस्तगत देखता रहकर विजयोल्लाससे परिपूर्ण रहता है। मनुष्यको सामर्थ्यबहिर्भूत अर्थात् फलाकांक्षी बनकर कर्तव्य नहीं अपनाना चाहिये। क्योंकि फल मनुष्यकी शक्तिके अतीत

है। " अयथाबलमारंभो निदानं क्षयसम्पदः " शक्तिसे बाहर कामका बोझ उठाना विनाशका मूलकारण होता है।

(सभामें व्यक्तिगत कटाक्ष हानिकारक)

यः संसदि परदोषं शंसति स स्वदोषबहुत्वं प्रख्यापयति ॥१४७॥

जो राजसभामें दोषालोचनका प्रसंग होनेपर भी आलोच्य प्रसंगसे बाहर जाकर अपने व्यक्तिगत शत्रुकी दोषालोचना करने लगता है, वह स्वयं अपनेको अपराधी घोषित कर देता है।

विवरण— राजसभामें सार्वजनिक कल्याणकी भावनासे कर्तव्यनिर्णय किया जाता है। वह स्थान इसी प्रयोजनके लिये होता है। उसमें सम्मिलित होनेवाले राष्ट्रसेवकोंकी योग्यता इसीमें मानी जाती है कि वे राष्ट्रके किसी व्यक्तिके प्रति अपनी व्यक्तिगत शत्रुताको हृदयमें स्थान न देकर सार्वजनिक कल्याणकी भावनासे राजतन्त्रका परिचालन करें, और इसके लिये कर्तव्यका निर्णय करनेमें अपनी विचारशक्तिको उपयोगमें लाकर न्यायको ही सर्वोपरि स्थान देकर राज्यतन्त्रमें सहयोग दें। इस आदर्शको उपेक्षित करके अपने अधिकारका दुरुपयोग करनेवाले व्यक्ति राज्यतन्त्रमें सहयोग देनेके अयोग्य राष्ट्रद्रोह नामक अपराधके अपराधी बन जाते हैं।

जो सभामें किसी व्यक्तिके पक्षका खंडन न करके, उसके कार्योंके दोष तथा उसके दुष्परिणामोंपर प्रकाश न डालकर, उसके व्यक्तिगत दोष दिखाने या व्यक्तिगत आक्रमण करनेपर उतर आता है, वह अपनेको सभामें किसी पक्षके समर्थनके अयोग्य होनेसे सभामें भी सम्मिलित होने तथा सभाको किसी यथार्थ निर्णयपर पहुंचानेके अयोग्य घोषित करदेता है।

सभामें दोषी व्यक्ति या सदोष पक्षके प्रतिनिधिपर व्यक्तिगत आक्रमण न करके, उसके कार्योंकी सदोषता तथा उससे होनेवाले दुष्परिणाम सप्रमाण दिखा कर सभाकी सभ्य भाषामें उन्हींकी पूर्ण भर्त्सना करनी चाहिये। सभामें

नम्र, उदार, सारवती, सभ्य तर्कसंगत गंभीर अकाट्य अनधिक्षेप्य भाषाका प्रयोग होना चाहिये । यह बडी गर्हित परिपाटी है कि सभामें किसी वक्तव्यके समय किसीपर व्यक्तिगत कटाक्ष जैसे हल्के अस्त्रोंसे प्रतिपक्षीका मुखमुद्रण करना चाहा जाय और संसद्के किसी निर्णयपर पहुंचनेके मुख्य उद्देश्यको पीछे डाल दिया जाय । ऐसा करनेसे संसद् संसद् न रहकर मल्लयुद्धका अखाडा बनजाती और उसका मुख्य उद्देश्य समाप्त या नष्ट हो जाता है । संसदकी बैठकें सदा नहीं होतीं । वे जब कभी हों तब समस्त सदस्योंकी एकाग्र चिन्ताशक्तिके पूर्ण सदुपयोगसे विचारणीय विषयका सारभाग मक्खनके समान उद्धृत होकर सबको प्राप्त हो, इस बातका सभासंचालकोंको पूरा ध्यान रखना चाहिये और व्यक्तिगत कटाक्ष करनेवाले वक्ताको बोलनेसे रोककर किसी दूसरे योग्य वक्ताको प्रकृत पक्षके प्रतिपादनका अवसर देना चाहिये । सभामें व्यक्तिगत दोष दिखानेपर उतर आनेवाला व्यक्ति अपने इस आचरणसे सिद्ध करता है कि उसके पास विचारणीय पक्षको अनुचित सिद्ध करनेवाली युक्ति नहीं है । वह अपने इस क्षुद्र ढंगसे प्रतिपक्षीको अवसर देदेता है कि वह भी सभाके सामने उसके व्यक्तिगत दोषोंको खोलकर रखे । दूसरके व्यक्तिगत दोष दिखानेका परिणाम प्रतिपक्षीसे अपने दोषोंका बखान कराना होता है ।

जब सभामें किसी मनुष्यके वक्तव्यको परदोष दिखानामात्र पाओ तब निश्चय जानो कि यह अपने दोष हटानेमें उदास है और अपनेमें दोषाधिक्य सिद्ध कर रहा है । जिन लोगोंका लक्ष्य निर्दोष रहना होता है, उनके वक्तव्योंमें परदोषदर्शन नहीं रहता । परदोषदर्शन लक्ष्यवालोंका अपने दोषोंकी उपेक्षा करनेवाला होना अनिवार्य होजाता है । अभियुक्त कह गये हैं—

> यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा ।
> परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥

यदि तुम संसारको एक ही कर्मसे वशमें करना चाहो तो तो अपनी वाणीरूपी गौको दूसरोंके दोषचर्चारूपी सस्योंसे दूर रखो ।

इस सूत्रमें किसी राष्ट्रशत्रुको अपराधी सिद्ध करके उसे दण्डित करनेके ही लिये ही बुलाई हुई सभामें उसके विरुद्ध अनिवार्यरूपसे आवश्यक उसके व्यक्तिगत दोषोंकी आलोचनाका निषेध नहीं किया जारहा है। क्योंकि उस समय ऐसा करना वक्ताओंका अनिवार्य कर्तव्य होता है।

पाठान्तर— **यस्संसदि परदोषं वक्ति......।**

(क्रोध करनेसे अपनी हानि)

आत्मानमेव नाशयति अनात्मवतां कोपः ॥ १४८ ॥

असंस्कृत मनवाले अविवेकी लोगोंका क्रोध उन्हींके आत्मकल्याणका विनाशक होता है।

विवरण— हिताहितबुद्धिसे शून्य लोग स्वभावसे सत्यद्रोही तथा असत्यप्रेमी होते हैं। वे अपनी विपरीत बुद्धिसे जहां सचाई, स्वाभिमान, अपमानासहिष्णुता आदि उदार गुण देखते हैं, वहीं सत्यका सिर नीचा करनेके लिये उसपर आक्रमण करते और असत्यमें लिप्त रहते हैं। इस प्रकारके लोगोंका प्रत्येक आचरण सत्यद्रोह होता और आत्मघाती क्रोधका रूप धारण कर लेता है।

सत्यसे सम्मिलित रहनेरूपी उदार स्थितिसे वंचित रहना ही मनुष्यका आत्मनाश है। यह उसका ऐसा विनाश है कि जो कभी कभी भौतिक उन्नतिका रूप धारण किये हुए भी हो सकता है। असत्यके अधीन न होना मनुष्यकी आत्मरक्षा है। यही विनाश तथा रक्षा अथवा अहित और हितकी अभ्रान्त परिभाषा है। इस परिभाषाके अनुसार विवेकहीन हृदयवाले पापी लोग अपने पीडितका कुछ न बिगाड कर सदा अपना ही अहित करते रहते हैं। ये लोग जिस सत्पुरुषपर आक्रमण करते हैं उसकी भौतिक परिस्थिति या देहके आक्रान्त हो जानेपर भी उसका साधुहृदय आक्रमणातीत तथा पतनातीत बना रहता है। उस पापीके क्रोधसे साधु पुरुषकी भौतिक हानि होती दीखनेपर भी उसकी कोई भी मानसिक हानि नहीं

होती। मानवताकी दृष्टिमें मानसिक हानि ही सच्ची हानि होती है। भौतिक हानिलाभोंके प्राकृतिक परिस्थिति तथा प्राकृतिक कर्तापनके अधीन होनेके कारण उनका मनुष्यके मानसिक हानिलाभोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्यका मानसिक हानिलाभ तो उसके अपने ही कर्तृत्वके अधीन रहता है अविवेकीका सम्पूर्ण जीवनव्यवहार ही आत्मद्रोह होजाता है। आत्मद्रोह ही परिस्थितिके अनुसार कभी कभी क्रोधका रूप धारण करलेता है। इसके विपरीत विवेकसम्पन्न व्यक्तिके सत्यप्रेमी तथा असत्यद्रोही होनेके कारण उसका असत्यद्रोह कभी कभी परिस्थितिके अनुसार क्रोधके रूपमें दीखनेपर भी उस क्रोधमें चित्तकी स्थिरता भी होती है, अखण्ड शान्ति भी रहती है, तथा आत्मकल्याणकी भावना भी अलुप्त बनी रहती है। विवेकीका सम्पूर्ण जीवनव्यवहार सत्यनिष्ठा तथा असत्यद्रोहरूपी अक्रोध स्थितिमें अटल रहकर होता है।

पाठान्तर— आत्मानमेव पीडयति ...... ।

(सत्यकी महत्ता)

नास्त्यप्राप्यं सत्यवताम् ॥ १४९ ॥

सत्यधनसे सम्पन्न व्यक्तियोंके लिये कोई भी प्राप्तव्य वस्तु अप्राप्त नहीं रह जाती।

विवरण— सत्यको पालेना ही संसारकी सर्वश्रेष्ठ संपत्तिसे संपन्न हो जाना है। इस कारण सत्यनिष्ठोंको कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता उनकी दृष्टिमें सत्य ही एकमात्र प्राप्तव्य वह वस्तु होती है, जिसे वे पा चुके होते हैं। उनकी बुद्धि उन्हें संसारकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु सत्यको प्राप्त करानेके उपयोगमें आकर उन्हें स्वभावसे सत्यसे मिलाये रखने तथा असत्यका त्याग करानेके काममें आती रहती और अस्थायी मिथ्या वस्तुओंकी कामनाके जालसे बचाती रहती है। उनकी बुद्धि उन्हें क्षुद्र अस्थायी उद्देश्योंकी ओरसे विमुख बना देती है।

जब मनुष्यके पास सत्यसे तृप्तिकी अवस्था आती है तब असत्य (असार) पदार्थ स्वभावसे उपेक्षापक्षमें चले जाते हैं ।

पाठान्तर— **नास्त्यप्राप्यं सत्यवताम् ।**

कर्तव्यके लिये उचित उद्योग करनेवाले पुरुषार्थी सत्यनिष्ठ मनीषी बुद्धिमान किसी भी प्राप्य वस्तुके लिए अभावग्रस्त नहीं रहते । उनका पुरुषार्थ उन्हें सब समय सत्यधनसे धनवान बनाए रखकर कर्तव्यपालनके संतोषसे पूर्णकाम बनाए रहता है ।

(केवल भौतिक शक्ति कार्यका उपाय नहीं)

साहसेन न कार्यसिद्धिर्भवति ॥ १५० ॥

साहस (अर्थात् केवल भौतिक शक्तिपर निर्भर हो जाने) मात्रसे काम नहीं बनता ।

विवरण— भौतिक शक्ति सदा अन्धी होती है । वह अपनी सफलता तथा कृतकृत्यताके लिये सुनेतृत्व चाहा करती है । सुबुद्धि ही भौतिक शक्तिका नेतृत्व तथा सदुपयोग कर सकती है । भौतिक शक्तिको सुबुद्धिका नेतृत्व न मिले तो मनुष्यका साहस दुःसाहस बनजाता है । इस सूत्रमें दुःसाहसको ही अकार्यसाधक कहा जारहा है ।

कर्ममें साहसके आवश्यक होनेपर भी केवल उसीसे काम नहीं चलता । उसके लिये अन्य भी बहुतसे साधन अपेक्षित होते हैं ।

(साहसमें लक्ष्मीका वास)

(अधिक सूत्र) साहसे लक्ष्मी (खलु श्री) र्वसति ।

लक्ष्मी साहसमें बसती है ।

विवरण— वह नियतरूपसे साहसियोंके पास रहती है । साहसके सकटमें पडनेसे बचनेवाले लोग शुभदर्शनके अधिकारी नहीं बनते । सुबुद्धिके

नेतृत्वमें प्रयुक्त हुई भौतिक शक्तिमें ही राज्यलक्ष्मीका वास है। दुष्कर कर्ममें हाथ लगाना साहस कहाता है। जब तक मनुष्य विघ्नोंकी उपेक्षा करके सत्कार्यसम्पादनमें सोत्साह आत्मसमर्पण नहीं करता, तब तक उसे शुभ प्राप्त नहीं होता।

> न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
> संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति॥

मनुष्य अपने आपको संकटग्रस्त बनाये बिना शुभ नहीं पाता। अपनेको संकटमग्न बना देनेपर यदि जीवित रह जाता है तो भौतिक शुभ परिणामका दर्शन करता है। मरनेका अवसर आजाय तो "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" गीताके शब्दोंमें शुभभावनाके नामपर मर मिटनेके सन्तोषको अचूक साथीके रूपमें अन्ततक साथ रखकर मरता है।

(व्यसनासक्तिसे हानि)

व्यसनार्तो विस्मरत्यप्रवेशेन॥ १५१॥

व्यसनासक्त मनुष्य ध्यानाभावसे कर्तव्यविमूढ हो जाता है।

विवरण— व्यसनासक्त मनुष्यका बहिर्मुख मन अपनी बहिर्मुखतासे कर्तव्यके मर्मस्थलमें प्रवेश न कर सकनेके कारण उसके लिये भीतरसे उत्साह न पाकर अपना कर्तव्य भूल जाता है।

व्यसनासक्त मनुष्य व्यसनासक्तिजन्य उत्साहहीनतासे कर्तव्यके मर्म या सम्पत्तिके मार्गतक न पहुंचा होकर कर्तव्यको भूल जाता या उसे समझ ही नहीं पाता। मनुने आखेट द्यूत (शतरंज ताश पहेली) दिवास्वप्न परनिन्दा परचर्चा विषयलोलुपता तथा मद आदि व्यसन गिनाये हैं। राजा या प्रजा प्रत्येक व्यक्ति इन महादोषोंसे बचे।

(समयके दुरुपयोगसे हानि)

नास्त्यनन्तरायः कालविक्षेपे ॥ १५२ ॥

कालके दुरुपयोगमें निर्विघ्नता नहीं है। दीर्घसूत्रता विघ्न संकुल है।

विवरण— कर्तव्योंको ठीक समयपर न करके उन्हें टालते चलेजाने (अर्थात् उनका काल खोते चले जाने) में निश्चित रूपसे विघ्न आखडे होते हैं। कर्तव्योंको टालते रहना अपना काम बिगडवानेके लिये विघ्नोंको नौतना है। विघ्नको अन्तराय कहा जाता है। विघ्नविजेता मानव ही कर्तव्य करसकता और उसका फल पासकता है। जो मनुष्य उचित समयपर काम करके अपनेको अपने पुरुषार्थसे निर्विघ्न रखता है, उसके कामोंका उचित समय कभी नहीं चूकता और उसे कभी असफलताका मुंह देखना नहीं पडता। जो काममें विघ्न न आने देना चाहें वे कर्तव्यका काल न बीतने दें। कर्तव्यका काल न बीतने देनेमें ही कर्तव्यकी सफलताका रहस्य छिपा हुआ है। विचारशील लोग जबतक अपने पास आनेवाले प्रत्येक क्षणपर सदुपयोगकी मुद्रा नहीं मार देते, तबतक जीवनके एक भी क्षणको बीतनेकी आज्ञा नहीं देते। उनके जीवनका एक भी क्षण उनके पाससे व्यर्थ भाग जानेका दुःसाहस नहीं कर सकता। इस प्रकार प्रत्येक क्षणका सदुपयोग करनेवालेके जीवनका महान बनजाना सुनिश्चित होजाता है। संसारके अच्छे कामोंके समस्त उदाहरण समयरूपी धनके सदुपयोगके ही परिणाम हैं। मनुष्यके जीवनको एक विशाल भवनके रूपमें कल्पना करें तो यह भवन जिन ईंटोंसे बनता है वे ईंटें हमारे पास एक एक करके आनेवाले क्षण हैं। इन क्षणोंके सदुपयोगसे ही विशाल स्वर्गीय दिव्यजीवन नामका दिव्यभवन बनकर खडा होजाता है।

पाठान्तर— **नास्त्यनन्तरायः कालक्षेपः।**

कालक्षेप करनेवाला मनुष्य निर्विघ्न नहीं होता। दूसरे शब्दोंमें निर्विघ्न वही मनुष्य होता है जो कालक्षेप नहीं करता।

(सुनिश्चित विनाशसे अनिश्चित विनाशमें लाभ)

असंशयविनाशात् संशयविनाशः श्रेयान् ॥ १५३ ॥

संग्रामविमुख निश्चित मौतसे सांग्रामिक अनिश्चित मौत मनुष्यके लिये श्रेयस्कर है।

विवरण — आज या सौ वर्ष पश्चात् मृत्यु तो मनुष्यकी होनी ही है। इसलिये इस निश्चित मृत्युका प्रतीक्षक न रहकर धर्मरक्षा करनेके लिये उपस्थित संभावित (अर्थात् अनिश्चित) विनाशयुक्त संग्राम क्षेत्रमें वीरगति पानेके सुअवसरको न खोकर, अपने अन्तिम श्वासोंतक शत्रुके दम्भको चूर्ण करनेके लिये उद्यत रहनेमें ही वीरजीवनकी सार्थकता है। यदि विपत्तिसे बचकर भी मरण निश्चित हो तो विपत्तिका साम्मुख्य करते हुए या तो विजय या वीरगति पाना अच्छा है। विपद्विजयके अनन्तर मिली मौत मनुष्यका सौभाग्य है। इस मौतमें विजय पाने तथा विजित न होनेका आत्मसन्तोष तो है।

संग्रामसे बचनेसे मौतसे नहीं बचा जाता। जिस अनिवार्य मौतसे बचा ही नहीं जा सकता, उस मौतका विजयी मनसे आह्वान करनेसे ही मानव-जीवन सफल होता है और यही मौतको व्यर्थ बनाडालनारूपी मृत्युंजय बनना भी कहाता है। मृत्युंजय बनना ही वीर पुरुषोंकी एकमात्र पहचान है। अवीरोचित आत्मप्रतारणा करके जीवनरक्षाके नामसे धर्मयुद्धस्थलसे भाग निकलनेका समर्थन करना चाणक्य जैसे हुतात्माके इस सूत्रका अभिप्राय नहीं हो सकता।

(दूसरोंका उत्तरदायित्व स्वार्थमूलक)

अपरधनानि निक्षेप्तुः केवलं स्वार्थम् ॥ १५४ ॥

दूसरेके धनको धरोहर रूपमें रखनेवाला यदि धरोहर रखनेके साथ स्वार्थभेद और दूसरोंके प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं समझता होगा तो वह निश्चित रूपमें प्रत्येक समय अपना ही स्वार्थ खोजता रहेगा।

विवरण— धरोहर रखनेवालेके साथ भेदबुद्धि रखकर (अर्थात् उसे केवल अपना स्वार्थ निकालनेका साधनमात्र समझकर और अपनेपर उसका कोई उत्तरदायित्व न लेकर) व्यक्तिगत या राष्ट्रीय धरोहर रखनेवाले स्वार्थी लोगोंका केवल स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण रहता है ।

क्योंकि वस्तु जिसके पास धरोहर रखी जाती है, उसके साथ विश्वासका संबन्ध जुडा रहता है, इसलिये विश्वास ही सच्ची धरोहर है। यह सूत्र विश्वासरूपी अपनी धरोहरको उपयुक्तपात्रोंको समर्पित करनेकी प्रेरणा देरहा है और चाहता है कि किसी राष्ट्रके लोग अपनी विश्वासरूपी धरोहरको अपात्रोंको सौंपनेकी भूल न कर बैठें। पात्र अपात्रका विवेक करके विश्वासका संबन्ध सुपात्रके साथ ही जोडना चाहिये। किसीको धरोहर सौंपनेके संबन्धमें इतनी सावधानी बरतनेपर कटुता और कर्तव्यहीनताका दोष लगानेकी संभावना नष्ट होजाती है। जो मनुष्य आंख बन्द करके किसीके भी साथ धरोहर रखनेका संबन्ध अन्धाधुन्ध जोड लेता है उसके संबन्धमें कटुता आना और शिकायतका अवसर पैदा होना अनिवार्य है। स्वार्थभेदकी दूषित चोरबुद्धि लेकर दूसरोंकी धरोहरका उत्तरदायित्व लेना पाप है। ऐसा उत्तरदायित्व लेनेवालोंके मनमें उस धरोहरमेंसे केवल अपना स्वार्थ निकालनेके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ? जैसे स्तनोंपर चिपटनेवाली जोख गौके थनमेंसे दूध न पीकर रुधिर ही पीती है इसी प्रकार मनमें स्वार्थभेदको रखकर धरोहर संभालनेवाले लोग सेवा या कर्तव्यपालनका सन्तोष न लेकर सब समय उस धरोहरमेंसे कुछ न कुछ या अधिकसे अधिक चुरा लेनेके विचार रखते हैं। ऐसे लोगोंको पहचानना तथा ऐसोंके पास धरोहर न रखना जनताका स्वहितकारी महत्वपूर्ण कर्तव्य है। धरोहर तो ऐसे लोगोंके पास रखी जानी चाहिये जो धरोहर रखनेवालेके हितमें अपना हित समझनेवाले धार्मिक (ईमानदार) हों। धरोहरका अर्थ ही विश्वास है। विश्वासका संबन्ध उन्हीं लोगोंसे जोडना चाहिये जिनकी ओरसे विश्वासघातकी कोई संभावना न हो। सूत्रका व्यापक अभिप्राय यही है

कि जिससे प्रेम या विश्वासका संबन्ध जोडा जाय उसे भले प्रकार पहचान कर ही जोडना चाहिये। विचारों और स्वार्थोंकी एकता ही प्रेम है। जहां मतभेद और स्वार्थभेद है, वहां विश्वासघात होना अनिवार्य है।

राजधर्मके प्रसंगमें सूत्रार्थ इस प्रकार होगा- राष्ट्रके राज्याधिकारको धरोहर रूपमें अपने उत्तरदायित्वमें लेनेवाले राज्याधिकारी यदि अपनी परायी भेदबुद्धि रखते होंगे और राष्ट्रीय कार्योंको परायी धरोहरमात्र समझते होंगे तो यह निश्चित है कि वे उसमेंसे केवल अपना ही स्वार्थ खोजते रहेंगे और उस राज्याधिकारको भ्रष्टाचारका (अड्डा) आगार बना डालेंगे।

राष्ट्रव्यवस्था राष्ट्रकी धरोहर है। राष्ट्रके धन, प्राण तथा शान्तिकी रक्षा करना ही राष्ट्रव्यवस्थाका रूप है। राष्ट्रने इसी राष्ट्रव्यवस्थाको राजशक्तिके पास धरोहर रूपमें रखा हुआ है। यह धरोहर जिन लोगोंके पास रहती है, उनके व्यक्तिगत स्वार्थी होनेकी प्रबल संभावना रहती है। इसी संभावनाके विरुद्ध जनताको चेतावनी देना इस चाणक्यसूत्रका निगूढ अभिप्राय है। धरोहर रखनेवालोंमें वही श्रेष्ठ माना जाता है जो धरोहरको सुरक्षित रखकर उसके वास्तविक स्वामीको लौटा देनेके लिये प्रत्येक समय सन्नद्ध रहे तथा धरोहरके संरक्षणमें समर्थ बने रहनेके लिये पारिश्रमिकके रूपमें अपना समाजानुमोदित प्राप्य पाता रहे। जो मूढ राज्याधिकारी धरोहरकी सुरक्षा तथा उसे उसीके स्वामीको लौटानेमें आत्मकल्याण न समझता हो वह क्षुद्र स्वार्थी कहाता है। जो दूसरेके धन अर्थात् सुरक्षित रखनेके योग्य प्रिय वस्तुको धरोहर रूपमें स्वीकार करके भी अपने स्वार्थको धरोहर रखनेवालोंके स्वार्थसे अलग समझनेकी भूल करता है, वह अपने क्षुद्र स्वार्थके वशमें होकर दूसरोंके स्वार्थका घातक बनकर विश्वासघात कर बैठता है। धरोहर रखने तथा उसे स्वीकार करनेवाले दोनोंके स्वार्थोंकी एकता ही निःस्वार्थ प्रेमका संबंध होता है। सब सबके स्वार्थको अपना ही स्वार्थ समझें इसीमें सबका यथार्थ कल्याण है। राज्याधिकारी लोग प्रजाके कल्याणमें ही अपना कल्याण देखें, राज्यव्यवस्थामें अपने स्वार्थको प्रधानता न

दे बैठें, यही राज्यव्यवस्थाके प्रजाकल्याणकारी होनेकी कसौटी है। जब राजकर्मचारियोंका तथा प्रजाका इस प्रकार प्रेमका आदान प्रदान होने लगे तब इसीको प्रजातन्त्र या रामराज्य कहा जासकता है। राजा प्रजामें इस प्रकारका प्रेमका आदान प्रदान होते रहनेपर विश्वासघातका अवसर नहीं रहता।

राज्यतन्त्र समस्त राष्ट्रकी धन, प्राण, शान्तिकी एक पवित्र धरोहर है। राज्यतन्त्र रूपी यह धरोहर अत्यन्त धार्मिक निक्षेपियोंके पास रखनेकी वस्तु है। उत्तम निक्षेपियोंको खोजनिकालना तथा राष्ट्रमें उत्तम निक्षेपी लोगोंके निर्माणका प्रबन्ध बनाये रखना, राष्ट्रका स्वहितकारी कर्तव्य है। वही राजा और वे ही अमात्य आदि राजकर्मचारी वर्ग राष्ट्रकी इस पवित्र धरोहरको स्वीकार करनेके योग्य हैं जो राष्ट्रके कल्याणमें ही अपना कल्याण समझते हों। यदि राज्यके कर्णधार लोग राष्ट्रकी इस धरोहरके प्रति अधार्मिक (बेईमान) हो रहे हों; अपने व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थको महत्त्व दे रहे हों, यदि वे शासितोंसे अलग अपनी लोभी शासक जाति बना बैठे हों, तो वे देशद्रोही हैं, राष्ट्रघाती हैं, और दण्डनीय हैं। राष्ट्रकी इस पवित्र धरोहरमेंसे स्वार्थसाधन करनेवालोंको दण्डित और पदच्युत करना प्रत्येक चक्षुष्मान् राष्ट्र तथा राष्ट्रप्रेमीका महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। राष्ट्रीय धरोहरके साथ विश्वासघात करनेवाले राजकर्मचारियोंको दण्ड मिलना और उनका दण्ड पानेसे न बचपाना राष्ट्रशोधक वह लंकादाह है जिसमें पापका वध करके उसे फूंक दिया जाता और राष्ट्रकी पवित्रताकी रक्षा होती रहती है। जब राष्ट्र अपने इस महत्त्वपूर्ण कर्तव्यके पालनमें उदासीनता बरतता है, तब राष्ट्रमें शासकोंकी शासितोंसे अलग एक ऐसी जाति बन जाती है जिसके स्वार्थ राष्ट्रीय स्वार्थसे अलग होकर टकराने लगते हैं। यदि राष्ट्र अपने धन, प्राण तथा शान्तिकी धरोहरकी रक्षाके कामको स्वार्थी, अधार्मिक तथा अयोग्य हाथोंमें सौंप देता है तो वह कौओंसे दहीकी रक्षा करानेकी भूल कर बैठता है। राष्ट्रकी धरोहरको अयोग्य लोगोंको सौंपना उन्हें जान बूझकर अपराधी बननेका अवसर देना है।

राजा या राजकर्मचारी जहां अपराधी हैं वहां उन्हें अपराध करने देने वाला राष्ट्र ही उस पापका उत्तरदायी है। क्योंकि जनताके सहयोगके बिना कोई भी राजा या राजकर्मचारी राष्ट्रीय धरोहरका स्वार्थमूलक उपयोग कर ही नहीं सकता। जो राज्याधिकारी इस पवित्र धरोहरका दुरुपयोग करते हैं, वे राष्ट्रको तो हानि पहुंचाते ही हैं साथ ही स्वयं भी नष्ट होनेसे नहीं बचपाते। इसलिये नहीं बचपाते कि उनके तथा राष्ट्रके कल्याणमें कोई अन्तर नहीं है। यदि उन्होंने राष्ट्रकी हानि की है तो वह उनकी भी तो हानि ही है। यदि वे राष्ट्रके साथ न्याय करें तो उसमें राष्ट्रके साथ उनका भी तो कल्याण हो। क्योंकि उनका कल्याण राष्ट्रकल्याणसे पृथक कोई वस्तु नहीं है। कल्याणको व्यक्तियोंमें खण्डित नहीं किया जा सकता। कल्याण अखण्ड वस्तु है। कल्याण सबके साझेकी वस्तु है। जिसमें एकका कल्याण है उसमें सभीका कल्याण है।

इस दृष्टिसे राष्ट्रके सच्चे प्रतिनिधि विज्ञ लोगोंका कर्तव्य होता है कि सबसे पहले राष्ट्रको अपना हित अहित तथा शत्रु मित्र पहचानना सिखायें, सुयोग्य हाथोंमें राज्यशक्तिरूपी राष्ट्रीय धरोहर सौंपें और इसे अयोग्य हाथोंमें न रहसकने की सुदृढ व्यवस्था करें। इतना किये बिना राज्यशक्तिको अयोग्य हाथोंमें जानेसे नहीं रोका जासकता।

राजसत्ताका निर्वाचन राष्ट्रका ही उत्तरदायित्व है। जहां राजसत्ता दोषी है वहां राष्ट्र ही अयोग्य हाथोंमें सत्ता सौंपने तथा रहने देनेका उत्तरदायी है। जब कि राष्ट्रकी सम्मतिसे राज्यशक्ति बननेकी परिपाटी है तब राष्ट्रशक्ति बननेका अधिकार सार्वजनिक कल्याणबुद्धि रखनेवाले सेवकोंको ही सौंपना चाहिये। उसे अविवेकी हाथोंमें नहीं जाने देना चाहिये। राष्ट्रशक्तिके राष्ट्रनिर्माणके काममें ही प्रयुक्त होनेकी सुदृढ व्यवस्था होनी चाहिये।

आर्य चाणक्य इस सूत्रके द्वारा लोकमतसे कहना चाहते हैं कि राष्ट्र राष्ट्रीय धरोहर अपने पास रखनेवालोंके व्यक्तिगत स्वार्थोंकी ओरसे पूरा सचेत रहे और राज्यसंस्थाको उनका व्यक्तिगत स्वार्थ पूरा होनेके काममें न आने दे।

(दान स्वहितकारी कर्तव्य)

दानं धर्मः ॥ १५५ ॥

दान (अर्थात् योग्य पात्रकी सहायता करना) धर्म (मनुष्यका स्वहितकारी कर्तव्य) है ।

विवरण— सत्यके हाथोंमें आत्मदान किये रहनेवाले दाता तथा प्रतिग्रहीताका सत्यार्थ व्यवहारविनिमय ही सच्चा दान है । धनार्थी सुपात्रको ही धनका सच्चा स्वामी जानकर दीयमान धनको अपने पास रखी हुई योग्य पात्रकी धरोहर मानकर उसकी धरोहर उसीको सौंप देना दानकी परिभाषा या दानका आत्मा है । किसी संसारी लाभकी दृष्टिसे किसीको कुछ धन या भोजन, वस्त्रादि दे देना दानका आत्मा नहीं है । दाताके घमंडी आसन पर बैठे रहने और दानका कुछ विनिमय चाहते रहनेसे दानका स्वरूप प्रकट नहीं होता । दानका आत्मा तब पूरा होता है जब वह दातासे आत्मदान करा लेता है । जो मनुष्य अपना दातापन भूलजाता है और कार्यार्थी होकर आनेवालेको ही स्वाधिकारान्तर्गत वस्तुका यथार्थ स्वामी जानकर अर्थात् उस पदार्थको उसीकी धरोहर मानकर ऋणमुक्त होनेकी भावनाके साथ दान करता है, उसके मनमेंसे दाता और प्रतिग्रहीताका भेद ही लुप्त होजाता है । यही दानका सच्चा रूप होता है ।

मनुष्यके साथ मनुष्यका लेने देनेका व्यवहार चलता ही रहता है । इस व्यवहारविनिमयमें स्वार्थकी भावना भी रह सकती है और मानवधर्मरूपी दानधर्म भी विराजता रह सकता है । पिताके साथ पुत्रका पालनपोषण, तथा सेवा आदिका, आचार्योंके साथ अन्तेवासियोंका आचार, शिक्षा तथा सेवाका, मित्रोंके साथ दान प्रतिदान सहयोग सहायता आदिका, समाजके साथ व्यक्तिका आदान प्रदानका संबन्ध चलता रहता तथा राष्ट्रके साथ नागरिकोंका सेवाका संबन्ध बना रहता है । इस पारस्परिक व्यवहारविनिमयमें कहीं तो स्वार्थकी भावना पाई जाती है, तथा कहीं मानवधर्म-

रूपी दानधर्म पाया जाता है। सच्चा व्यवहारविनिमय ही दान है। जब व्यवहारविनिमयमें सचाई आजाती है तब ही वह दान कहानेका अधिकारी बनता है। दाता तथा प्रतिग्रहीता दोनोंमेंसे किसीके भी मनमें पारस्परिक लुण्ठनका विचार न आकर व्यवहारविनिमय होना ही दानधर्मका सर्वोत्तम क्षेत्र है। दानकी इस परिभाषाके अनुसार सच्चा दाता वही है जो विनिमयके लोभसे आत्मप्रतारित नहीं होता, तथा दानके नामसे किसीका लुण्ठन करना नहीं चाहता। सच्चा प्रतिग्रहीता वही है जो भिखारी बनकर दाताको ठगने या किसी दाता नामधारीकी ठगाईमें आनेकी भ्रान्तिके अतीत है। यही दाता तथा प्रतिग्रहीताके पात्रापात्रकी सच्ची कसौटी है।

जो मनुष्य इस प्रकार दान करना या उसे स्वीकार करना जान जाता है, वह अमर धनका स्वामित्व पालेता है। वह दाता और ग्रहीताकी एकताको पहचान कर समस्त धनोंके एकमात्र अक्षय स्वामीके साथ सम्मिलित होजाता है। उसके सर्वभूतात्मदर्शी विशाल मनमेंसे किसी भी धनपर व्यक्तिगत स्वार्थमूलक अधिकार रखनेकी भावना लुप्त होजाती है। अधिक क्या, यह सारा ही संसार उसकी संपत्ति बन जाता है। "सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्।" संसारमें जितने भी धन हैं वे सब ब्रह्मदर्शी विद्वानोंकी सम्पति हैं। जो इस प्रकार दान करना जान जाता है वह अमर धनका स्वामित्व पालेता है। यह सारा ही संसार उसकी संपत्ति हो जाता है। ऊपर कहा जाचुका है कि दूसरोंका अधिकारपहरण न करना अर्थात् सार्वजनिक कल्याणमें अपना कल्याण समझना ही दान या मानवधर्म है।

आइये राज्यतन्त्रके सम्बन्धमें दानधर्मपर विचार करें। राज्यतन्त्रमें राज्याधिकारी इस दान नामक मानवधर्मसे हीन होजाय तो वह कार्यार्थियोंपर राज्यशक्तिका दबाव डालकर उनसे अनधिकारपूर्वक धनापहरण करनेकी सुविधा पाजाता है। यही अयोग्य राज्याधिकारियोंकी वह दानविरोधी अधार्मिक मनोवृत्ति होती है जो उनसे राष्ट्रका अपहरण कराती और अपने क्षुद्र पेटके लिये राष्ट्रके चरित्रका विनाश करती है। दूसरोंका अधिकारा-

पहरण न करने तथा सार्वजनिक कल्याणमें ही अपना कल्याण समझनेवाले व्यक्ति ही आदर्श राज्यतन्त्रके धारक तथा निर्माता नागरिक होसकते हैं। इनके विपरीत अपने व्यक्तिगत स्वार्थको सार्वजनिक कल्याणसे अलग समझ कर कार्यार्थी समाजपर राजशक्तिके दबावसे आक्रमण करना अदान है, अधर्म है और आसुरिकता है। राज्यव्यवस्थापकोंमेंसे कोई किसी प्रजाके साथ छीना झपटी न करे, यही दानका सामाजिक तथा राजनैतिक रूप है। दूसरेके अधिकारपर हस्तक्षेप न करनेरूपी यह दान किसीको कुछ न देनेपर भी दानकी परिभाषामें आजाता है। यह दान द्रव्यात्मक न होकर भावनात्मक है। यह सूत्र राज्यव्यवस्थामें इसी भावनामय दानको प्रयोगमें लाना आवश्यक बतानेके लिये ही बना है। चाणक्यने राजनीतिमें धर्मके नामसे दानको रखकर दानके इस राजनैतिकरूपकी ओर जो संकेत किया है वह भारतीय संस्कृतिके मार्मिक चाणक्यकी राजनैतिक प्रतिभाकी विशेषता है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि दानधर्मका यह महत्त्वपूर्ण यथार्थरूप आजतक चाणक्य भिन्न किसी भी आधुनिक लेखकको नहीं सूझा और किसीने भी इस दानधर्मसे राज्यतन्त्रके पवित्रीकरणके द्वारा राष्ट्रशोधनका उपक्रम नहीं किया।

(दानका उचित मार्ग)

(अधिक सूत्र) **अपरधनानपेक्षं केवलमर्थदानं श्रेयः ।**

बदलेमें दूसरेसे कुछ पानेकी अपेक्षा न रखकर निःस्वार्थ शुद्ध अर्थदान ही श्रेष्ठ (अर्थात् कल्याणकारी) होता है।

विवरण— गीतामें दानके सात्त्विक, राजस, तामस तीन भेद वर्णित हैं;

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

बदलेमें उपकार पानेकी आशा न रखकर, केवल कर्तव्यबुद्धिसे देश, काल, पात्र देखकर दिया हुआ दान शुद्ध सात्विक दान है। प्रत्युपकारके लिये या फलभावनासे तथा क्लेशपूर्वक दान राजस दान है। अदेश, अकाल तथा अपात्रको असत्कार और अवज्ञाके साथ दिया दान तामस दान होता है।

(अनार्यप्रचलित व्यर्थ आचरण अनर्थजनक)

नार्यागतोऽर्थवद्विपरीतोऽनर्थभावः ॥ १५६ ॥

अनार्य (अज्ञानी) समाजमें प्रचलित परम्परागत व्यर्थ आचरण ही मानवजीवननाशक अनर्थ हैं।

विवरण— अनार्योचित व्यर्थ आचरणोंसे बचनेमें ही मानवजीवनकी सार्थकता है। उन्नतिकामी मनुष्य रुचिविरुद्ध नाच, गान, खेल, तमाशे तथा ताश, शतरंज, जुआ आदि व्यर्थ अनार्य आचरणोंसे बचे।

(सच्चा धन)

(अधिक सूत्र) न्यायागतोऽर्थः।

न्याय अर्थात् धर्म सुनीति और समुचित उपायोंसे समुपार्जित धन ही धन कहलाने योग्य है।

विवरण— अन्याय अनीति तथा दूसरोंको उद्विग्न करडालनेवाले अनुचित उपायों तथा उद्वेजक ढंगोंसे उपार्जित धन धनके रूपमें महान् अनर्थ है। 'परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।' मनुष्य धर्महीन अर्थ और धर्महीन कामसे सुखी होनेकी आशा न बांधे। धर्माचारहीनोंका धन मलसंचय मात्र है।

(अधिक सूत्र) तद्विपरीतोऽर्थाभासः।

हीन उपायों मार्गों या प्रकारोंसे प्राप्त धनको अर्थरूपधारी अनर्थ मानना चाहिये।

विवरण— क्योंकि मनुष्यतासे पतित होकर ही अर्जित होनेवाला धन मूर्तिमान् अनिष्ट है, इसीलिये मनुष्यका चोरी, दस्युता, शठता, कुटिलता, माया तथा अनृतसे धनोपार्जन करना निन्दित है। हीन उपायोंसे आनेवाला धन नीचाशयको अच्छा लगता है।

पाठान्तर— तद्विपरीतोऽनर्थसेवी।

असन्मार्गसे धनोपार्जन करनेवाला मनुष्य निश्चित रूपसे अधःपतित होकर अकथ्य हानि उठाता है।

(अपाजकल्याणकारी त्रिवर्गान्तर्गत काम)

यो धर्मार्थौ न विवर्धयति स कामः ॥ १५७ ॥

जो धर्म, अर्थ दोनोंकी वृद्धि न करे वह काम है।

विवरण— इस पाठमें अर्थ संगतिका अभाव है। पीडयति पाठान्तरमें अर्थसंगति है। इससे यह अपपाठ है।

पाठान्तर— यो धर्मार्थौ न पीडयति स कामः।

जो काम मानवोचित धर्म तथा मानवोचित अर्थनीति दोनोंमेंसे किसीको भी विकृत नहीं करता वही स्वीकरणीय काम है।

यथार्थ 'काम' वही है जो धर्म और अर्थ दोनोंमेंसे किसीको बाधा न करे या हानि न पहुंचाये। धर्म (अर्थात् अनपहरण या दूसरोंके अधिकारपर अनाक्रमण) तथा अर्थ (अर्थात् धर्मपूर्वक उपार्जित जीवनसाधनों) का विरोध या अपघात न कर बैठनेवाले, समाजकी शान्तिके संरक्षक सुखोपभोग 'काम' कहाते हैं।

धर्म, अर्थ तथा काम ये नीतिज्ञोंके त्रिवर्ग या तीन पुरुषार्थ हैं। 'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः'। धर्म, अर्थ तथा काम तीनोंको सन्तुलितरूपमें सेवन करना चाहिये, इन तीनोंमें पारस्परिक सहकारिता और अवध्यघातकता रहनी चाहिये। गीतामें कहा है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

हे अर्जुन, मैं प्राणियोंमें पाया जानेवाला धर्मका अविरोधी काम हूं। मनुष्य उस अर्थ तथा उस कामको परित्याग करदे जो धर्मसे हीन हो। धर्मविरोधी कामके सेवनसे भोगलौल्य बढता है, इन्द्रियें विषयके पंकमें फंस जाती हैं, और भोगीके हृदयको अशान्त करके उससे समाजकी शांतिका भंग करवाती हैं।

मानवकी इन्द्रियोंका विषयलोलुप होकर विषयोंमें प्रवृत्त होजाना और उनपर मानवका प्रभावशाली नेतृत्व या नियन्त्रण न रहना कामका दूषित रूप है। उसका यह दूषित रूप धर्म तथा अर्थको तिलांजलि मिलजाना निश्चित कर देता है। कामके मात्रासे बढे हुए इस दूषित रूपसे मनुष्य-जीवन स्वयं कलुषित होकर समाजकी शान्तिका घातक शत्रु बनजाता है और व्यक्ति तथा समाज दोनोंकी आपत्तियें बढजाती हैं। इसलिये श्रेष्ठ मानवके जीवनमें कामको धर्म, अर्थके अनुरूप या इनका अविरोधी बनकर रहना चाहिये।

(अधिक सूत्र) **तद्विपरीतः कामाभासः।**

अधर्मोंका उत्पादक तथा अर्थनीतिका विनाशक काम आपाततः सुख प्रतीत होनेपर भी अतृप्तिजनक शान्तिघातक दुःख ही है।

विवरण— इस उच्छृंखल कामसे मानवकी भोगेच्छाओंका संबंध तो है परन्तु इसके साथ मानवके कल्याण और शान्तिका कोई भी संबंध नहीं है। ऐसे अधर्मजनक अर्थनाशक तथा अशान्त्युत्पादक कामसे मानवका अनिष्ट ही होता है। अपना अनिष्ट करनेवाली वस्तुकी इच्छा काम नहीं दुष्काम है। इसी प्रकार दूसरेका अनिष्ट करनेकी इच्छा भी काम नहीं दुष्काम ही है।

(कामकी दासतासे हानि)

तद्विपरीतोऽनर्थसेवी ॥ १५८ ॥

धर्मार्थाविरोधी कामसे विपरीत कामना करनेवाला मानव, अपने जीवनको व्यर्थ करता, समाजमें अशान्ति उत्पन्न करता तथा समाजकी शान्तिकी शृंखलाको नष्ट कर देता है।

(समाजमें निष्कपटोंकी न्यूनता)

ऋजुस्वभावो जनेषु दुर्लभः ॥ १५९॥

सत्पुरुषके साथ निष्कपट निर्व्याज, सभ्य, बर्ताव करनेवाला, कर्तव्यपालनमात्रपर दृष्टि रखनेवाला ऋजु व्यक्ति मनुष्योंमें दुर्लभ होता है।

विवरण— संसारमें सचाईसे ही सचाईका विनिमय देनेवाले व्यक्ति विरल होते हैं।

सत्पुरुषोंके साथ सचाईसे बर्ताव करनेवाला शुद्धबुद्धि मनुष्य अनिवार्य रूपसे सत्यका तो पक्षपाती तथा असत्यका विरोध करनेवाला होता है। उसको ऋजुता उसे असत्यका विरोध करनेसे रोकनेवाली दिखावटी ऋजुता नहीं होती। वह असत्यारूढ परिचितोंको क्षणभरमें अपरिचितके समान त्याग देता है। वह किसी दूसरेके लिये ऋजु नहीं है। वह तो अपने आराध्यदेव सत्यनारायणकी आराधनाको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये ऋजु है और केवल उसीके सामने ऋजु है। परप्रदर्शन या पराराधन उसकी ऋजुताका स्वरूप नहीं है। वह पराराधननिरपेक्ष होकर जहां कहीं अपने आराध्य सत्यको पाता है, वहीं ऋजु और जहां सत्यको नहीं पाता, वहां क्रूर, कठोर, अक्षमी, असहिष्णु और प्रतिविधाता बननेसे नहीं चूकता। संसारमें ऋजुताके कृत्रिम प्रदर्शन बहुधा होते हैं। परन्तु सत्यारूढोंसे बनावटी शिष्टाचारवाली ऋजुतासे संबन्ध नहीं रखाजाता। सदसद्विचार न रखनेवाले मनुष्यकी दिखावटी ऋजुता वास्तवमें ऋजुता न होकर निर्बुद्धिता, विचारहीनता, कुटिलता और परवंचनका दुष्ट कौशलमात्र होता है।

कुछ लोग दुष्टोंके साथ भी सरल बर्ताव करनेका उपदेश देनेकी धृष्टता करते हैं और वे इस मूढताको भी ऋजुताके अर्थमें लानेका दुःसाहस करना चाहते हैं। परन्तु दुर्जनोंके साथ निष्कपट बर्ताव करनेका यशोलोलुप अव्यावहारिक संसारमें कोई स्थान भले ही हो, व्यावहारिक संसारमें तो उसका

कोई भी स्थान नहीं है। जो मनुष्य दुर्जनके साथ भी निष्कपट बर्ताव करनेका दिखावा करता है वह दुर्जनकी दुर्जनताका ही समर्थक सत्यघातक विपरीतव्यवहारी होकर स्वयं भी दुर्जन श्रेणीमें चला जाता है। दुर्जनोंके साथ निष्कपट बर्ताव करनेका प्रदर्शन करनेवाले लोग या तो यशोलोलुपता रूपी मानसिक निर्बलतासे आक्रान्त अथवा दुर्जनोंके प्रतिविधान (बदले) से भयभीत रहनेवाले कायर लोग होते हैं। सबके भले महात्मा बननेकी भावना इन लोगोंका विवेक हरलेती है। इस प्रकारके लोग सबके भले बने रहनेकी यशोलिप्सासे दुर्जनोंके प्रभावमें आकर उनके तो सहायक तथा सचाईके घातक बनकर समाजके शत्रुओंमें ही सम्मिलित होजाते हैं। किसी भी चक्षुष्मान् व्यक्तिका श्रेष्ठ दुष्ट दोनों पक्षोंमें सम बर्ताव करनेवाला होना किसी भी प्रकार संभव नहीं है। दोनों पक्षोंमें समभाव अव्यावहारिक कल्पना है। अच्छे बुरेकी असंभव समता ऋजुताके अर्थमें आ ही नहीं सकती। किन्तु सत्यकी सक्रिय अनुकूलता तथा असत्य अन्याय या पापकी प्रभावशालिनी क्रियात्मक प्रतिकूलता ही ऋजुताका मर्म है।

जिस विषयलोलुप स्वार्थी संसारको सत्यका पक्ष अपनानेसे अपनी भौतिक परिस्थितिको हानि पहुंचनेकी संभावना देखती है वह उससे डर-कर दुष्टोंकी दुष्टताका विरोध न करनेकी नीति अपनालेता है। वह अपने वैषयिक संसारपर चोट न आने देनेके लिये अपने इस अविरोधको आध्यात्मिकता, निःस्पृहता, असंगता और उदासीनताके रंगमें रंगकर महात्मा बनना चाहता है। समाज सदासे समाजसंरक्षक तथा समाजघातक दो श्रेणियोंमें अनिवार्यरूपसे विभक्त होता आरहा है। परन्तु इस भ्रान्त आध्यात्मिकताने धर्मका ठेका लेरखनेवाली एक और तीसरी श्रेणी पैदा करडाली है जो सदासे लाखों कपटी महात्मा पैदा करती रही है। यह श्रेणी शान्तिप्रिय-ताका ढकोसला करके दुष्टविरोध न करनेकी नीतिको अपनाये रहती है और आश्चर्य तो यह है कि यह सब भ्रान्त आध्यात्मिकताके सृष्ट असंगता अविवादरुचिता आदि उदात्त धर्मोंकी दुहाई देकर या ढकोसला करके करती

है। ये लोग अपनी इस भ्रान्त धारणा तथा भ्रान्त प्रवृत्तिके कारण स्वयं भी समाजद्रोही श्रेणीमें सम्मिलित होजाते हैं। समाजके आध्यात्मिक कहलाने वाले वे लोग जिनका अधर्मविरोध करना मुख्य कर्तव्य है, अपनी इस प्रवृत्तिसे देशद्रोहियोंकी ही शक्ति बढा डालते हैं।

संसारके भ्रान्त आध्यात्मिक लोग सारे मनुष्यसमाजको धर्मके नामपर कापुरुषताके समर्थक निकम्मे नपुंसक बनानेमें लगे हुए हैं। आसुरी शक्तिका विरोध करनेसे बचनेवाले वास्तवमें आसुरी शक्तिके ही उपासक हैं। संसारभरमें जहां कहीं आसुरी राज्य ठहरे हुए हैं, वे इन धार्मिक मिथ्याचारियोंके भ्रान्तधर्मविषयक मिथ्याप्रचारसे ही ठहरे हुए हैं। ये भ्रान्त आध्यात्मिक लोग ही आसुरी राज्योंको स्थिर रख रहे हैं। इन लोगोंको भ्रान्त आध्यात्मिकताके प्रचारने लोगोंको धर्मका यथार्थ रूप समझनेसे वंचित करडाला है। इन लोगोंके मिथ्या प्रचार समाजकी आध्यात्मिक दृष्टि खुलने ही नहीं देते। ये समाजकी आंखोंको खुलनेसे रोकनेवाले अंधौटे बने हुए हैं। यदि समाजमें भ्रान्त आध्यात्मिकता न फैली होती तो समाज आसुरी राज्योंको कभीका उखाड फेंकता; समाजमें सच्चे धार्मिक ऋजु लोगोंकी दुर्लभता ही मनुष्यसमाजके अधःपतनका कारण है। मनुष्यसमाज लाख सिर पटकनेपर भी तब तक देशमें आदर्श राज्यतन्त्र स्थापित नहीं करसकता; जबतक वह अपने व्यक्तियोंके समाजकल्याण रूपी ज्ञाननेत्रका उन्मीलन न करले और देशमें मनुष्यताके आदर्शकी उज्ज्वल मूर्तिको सुप्रतिष्ठित न कर दे। इस सूत्रमें वेदोंके रहस्यवेदी चाणक्यने समाजकी इसी त्रुटिपर स्पष्ट कशाघात करके उसको सावधान करना चाहा है।

जितने भी मानव धर्म हैं सबके सब परिस्थितिके भेदसे भिन्न भिन्न नाम पाजानेपर भी सत्यके ही स्वरूप हैं। सत्य ही परिस्थितिके भेदसे उन उन भिन्न भिन्न धर्मों या गुणोंके रूपमें प्रकट होता है। क्योंकि सत्य ही मनुष्यकी एकमात्र कल्याणकारिणी स्थिति है और क्योंकि ऋजुता भी मानव कल्याणकारिणी प्रवृत्ति मानी जाती है, इसलिये यों भी कह सकते हैं कि

सत्य ही ऋजुता है और धार्मिकता ही ऋजुता है। परन्तु भ्रान्त आध्यात्मिकताने अपने अनुरूप कपट आध्यात्मिकताकी सृष्टि की है। उसने समाजको मनुष्यकी कामप्रवृत्तियोंको या यों कहें कि उसकी अमर्यादित भोगलालसाको आश्रय देनेकेलिये पाप अन्याय अत्याचार आसुरिकता आदिके विरोधोंके संकटमें पडनेका निषेध करके उस दुष्ट कामको खुलकर खेलनेकी पूरी छूट देडाली है जिसे संयत रखकर समाजकी शान्तिका संरक्षक बनाकर रखना चाहिये था। इस भ्रान्त आध्यात्मिकताने संसारके निष्क्रिय नपुंसक असाहसी अप्रतीकारपरायण अशान्त्युत्पादक कापुरुषोंका समाज रच डाला है और उसमें भ्रान्त शान्तिका प्रचार किया है। उसने शान्ति अन्याय अत्याचार उत्पीडन आदि पापोंका दमन करनेके कामको शान्तिकी परिभाषामें न रहने देकर, अशान्तिदमनके कर्तव्यसे भागते रहनेको ही शान्ति या आध्यत्मिकताका नाम देकर समाजमें प्रचारित किया है। इस प्रचारने समाजमें चिरकालसे रहते रहते उसका अशान्तिका विरोध करनेका स्वभाव छीन लिया है और उसे एक निर्विरोध नपुंसक समाजका रूप देडाला है। उनका यह सहस्रों वर्षोंसे लगातार चला आनेवाला दूषित प्रचार ही राजशक्तिके असुरोंके हाथोंमें जाने और रहनेका एकमात्र साधन बनता चला आरहा है।

जिन्हें अपने देशका शासन असुरप्रकृतिके लोगोंके हाथोंमें रहना खटकता हो, और जो आसुरी राजशक्तिको नष्ट करना चाहें, वे आसुरी राज्यको छिन्न भिन्न करनेके योग्य बननेकेलिये सबसे पहले आपको इस कामके लिये योग्य बनायें। उसके लिये यह अनिवार्य रूपसे आवश्यक है कि वे सबसे पहले अपनी भोगलालसापर उस संयमका शासन स्थापित करें जिस संयमसे अज्ञानी समाजको छुट्टी देदेना ही भ्रान्त आध्यात्मिकता है। इस भ्रान्त आध्यात्मिकताका प्रचार करनेवाले महात्मा वेषधारी असुरोंको पहचान लेनेवाला ज्ञाननेत्र खोलकर समाजको असुरविद्रोही बनानेवाली सच्ची ऋजुताका कल्याणकारी पाठ पढाना ही इस सूत्रको यहां रखनेका गूढ अभिप्राय है। ऋजुता दुर्लभ है, इस निराशवर्धक समाचारका प्रचार करना

इस सूत्रका अभिप्राय नहीं है। किन्तु मनुष्योंका ध्यान सच्ची ऋजुताकी ओर आकृष्ट करके कापटिक ऋजुताके मूलोच्छेद करनेका मार्ग दिखाना ही इस सूत्रका एकमात्र अभिप्राय है।

पाठान्तर— ऋजुस्वभावः परिजनो दुर्लभः।

ऋजुस्वभाववाले सेवक प्रजावर्ग तथा पारिवारिक लोग दुर्लभ होते हैं। ऐसे लोग किसी भी राष्ट्रसंस्था या परिवारके प्राण तथा सौभाग्य होते हैं। ये मानवसमाजके सामने अपने व्यावहारिक जीवन द्वारा उसके जीवनका आदर्श उपस्थित करदेते हैं। किसी राजाके ऐसे राजकर्मचारी हों, किसी समाजमें ऐसे लोग हों; किसी परिवारके पारिवारिकोंमें ऐसे स्वभाववाले व्यक्ति हों तो उसकी यशोवृद्धिके साथ साथ कार्यसिद्धि भी अवश्यंभाविनी होती है। जिस राज्यमें ऐसे सेवक नहीं, जिस समाजमें ऐसे लोग नहीं, जिस परिवारमें ऐसे सदस्य नहीं, उसके सब काम विपत्तियोंसे घिरे रहते हैं।

मातापिता गुरुर्भार्या प्रजा दीनाः समाश्रिताः।
अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्ग उदाहृतः॥

माता पिता गुरु पत्नी प्रजा दीन आश्रित अभ्यागत अतिथि तथा अग्नि ये सब परिजन कहाते हैं।

यह समस्त विश्व एक विराट परिवार है। प्रत्येक मानव इस विराट परिवारका पारिवारिक है। उसे अपने इस विश्वपरिवारमें अपना अहंकारी आपा खोकर ऋजुतासे व्यवहार करना चाहिये।

(साधुपुरुषोंकी अर्थनीति)

अवमानेनागतमैश्वर्यमवमन्यते साधुः॥ १६०॥

साधु अर्थात् सत्यनिष्ठ कर्तव्यपालक ऋजु व्यक्ति वह है, जो अपनी साधुतापर कलंक लगा देनेवाले उत्कोच आदि गर्हित ढंगोंसे आनेवाले ऐश्वर्यको तृणके समान अस्वीकार करदेता है।

विवरण— सत्यनिष्ठ लोग अपयश फैलानेवाले अपमानसे मिलनेवाले ऐश्वर्यको तृणके समान अस्वीकार करदेते हैं। वे उस ऐश्वर्यसे अपने चरित्रपर कलंक लगता तथा अपने सम्मानकी हानि होती देखकर उसे किसी भी रूपमें स्वीकार नहीं करते। "मानो हि महतां धनम्।" मान ही महापुरुषोंका धन है। वे अपने मानधनकी रक्षा अपने प्राणपणसे भी करते हैं। ये स्वाभिमानके साथ अपने न्यायागत धनसे सन्तुष्ट रहकर अपने मानधनकी रक्षा करके निर्धन जीवन बितानेको सौभाग्य मानते और इसीमें स्वाभिमान अनुभव करते हैं।

पाठान्तर— अवमानागतमैश्वर्यं ......।

(एक प्रधानदोष समस्तगुणनाशक)

बहूनपि गुणानेको दोषो ग्रसते ॥ १६१ ॥

मनुष्यका एक भी दोष बहुतसे गुणोंको दोष बनाडालता है।

विवरण— एक दोष दूसरे गुणोंको छुडवा देता है। मनुष्यमें एक भी दोष होना सिद्ध कर रहा है कि दूसरे गुण गुणोंका दिखावा ही दिखावा हैं। वे गुण उस दोष जैसे ही अनिष्टकारी हैं। गुणदोषोंका वध्यघातकभाव होनेसे दोनोंका एकत्रावस्थान असंभव है। यों भी कह सकते हैं कि जिसमें एक भी दोष है उसमें कोई भी गुण नहीं है। गुण, दोष दोनोंका ही यह स्वभाव है कि ये यूथभ्रष्ट होकर नहीं रहते। इसलिये दोषका संपूर्ण बहिष्कार करके रखनेमें ही मानवका कल्याण या निर्दोषता संभव है। किसी कविके शब्दोंमें 'एको हि दोषो गुणराशिनाशी।' एक भी दोष मनुष्यकी गुणराशिको नाश करडालता है। यदि किसी शासक या राजकर्मचारीमें राजशक्तिके दबावसे व्यक्तिगत धन बटोरनेकी प्रवृत्ति है तो उसके अन्य समस्त गुण नपुंसक होजाते हैं।

चाणक्य इस सूत्रमें समाजकी हीनावस्थाकी ओर संकेत करके देशमेंसे बडे प्रयत्नसे ऋजुओंको ढूंढ ढूंढकर राज्यसंस्थामें रखनेकी प्रेरणा दे रहे हैं।

ऋजुपुरुषोंको ही राज्यसंस्थामें रखनेका राष्ट्रपर ऐसा मनोवैज्ञानिक दबाव पडता है कि सारा राष्ट्र भलाईकी ओर प्रवाहित होजाता है और राष्ट्रमें सतयुग आविराजता। ऋजुस्वभाववाले अर्थात् निष्कपट कर्तव्य पालनेवाले लोग समाजके भूषण और सौभाग्य होते हैं।

पाठान्तर— बहूनपि गुणानेको दोषो ग्रसते।

(महत्वपूर्ण काम अपने ही भरोसेपर)

महात्मना परेण साहसं न कर्तव्यम् ॥ १६२॥

सत्यनिष्ठ वर्धिष्णु महात्मा लोग दुष्कर दीखनेवाली सत्यरक्षा दूसरे साथियोंके भरोसे न करके अपने ही भरोसेपर करें।

विवरण— बडे बननेके इच्छुक लोग दूसरोंके भरोसेपर साहस न कर बैठा करें। परनिर्भरशील होना महत्व नहीं दिला सकता। साहस सदा अपने ही भरोसेपर करना चाहिये।

सत्यनिष्ठ महात्मा लोग दुष्कर दीखनेवाली सत्यरक्षा दूसरे साथियोंके भरोसेसे न करें। सत्यनिष्ठा स्वयं ही विश्वविजयीपन है। सत्यनिष्ठका सत्य स्वयं ही उसकी पूर्णता है। उसमें ऐसी कोई न्यूनता नहीं है कि जो साथियोंके सहयोगसे पूरी होनेवाली हो। सत्यकी मिठासमें इतनी शक्ति है कि वह सत्यनिष्ठको सत्यरक्षाके संबन्धमें परनिरपेक्ष बनाकर उसे संग्रामक्षेत्रमें अकेला ही लेजाकर खडा करदेती है और उसके मनमें चिन्ताको स्थान नहीं लेने देती कि मेरे साथ कोई चल रहा है या नहीं?

एकोऽहमसहायोऽहं कृशोऽहमपरिच्छदः।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते॥

मृगेन्द्रको, मैं अकेला हूं, मेरा कोई साथी नहीं है मैं, कृश और सामग्रीहीन हूं इस प्रकारकी चिन्ता सपनेमें भी नहीं होती। सत्यके पीछे चलना, सत्य उद्देश्य रखना, यही सत्यनिष्ठकी अभ्रान्त अनन्तशक्तिमत्ता है। सत्यनिष्ठका न तो कोई नेता होता है और न कोई अनुयायी। जब कभी

सत्यनिष्ठोंके समूह एकत्रित होजाते हैं तब वहां भी कोई किसीका नेता या अनुयायी नहीं होता। कहीं भी एकत्रित होनेवाले सबके सब सत्यनिष्ठ सत्यके ही नेतृत्वमें अटूट संघ बनाकर रहते हैं।

पाठान्तर— महता साहसं न परेण कर्तव्यम्।

अधिक शक्तिशाली शत्रुके साथ संग्रामके अवसरपर साहस (अर्थात् निर्बुद्धिता) न करे।

दुष्ट शत्रु अपनी भौतिक शक्तिके घमंडमें आकर ही सत्यनिष्ठ धार्मिक पर आक्रमण करता है। सत्यनिष्ठ धार्मिकके लिये केवल भौतिक शक्तिका भरोसा करना निर्बुद्धिता है। उसे उस समय उपायान्तरोंसे काम लेकर आत्मरक्षा करनी चाहिये। उसके पास विश्वविजयिनी बुद्धिशक्ति स्वभावसे रहती है। उसे कौशलसे ही शत्रुविजय करना चाहिये। शत्रुदमनके लिये जिस समय जिस अस्त्रका प्रयोग करना उचित होता है वही उसका सत्यनिष्ठारूपी रणकौशल होजाता है।

(विषम परिस्थितिमें भी चरित्ररक्षा कर्तव्य)

कदाचिदपि चरित्रं न लंघयेत्॥ १६३॥

मनुष्य काम, क्रोध आदि विकारोंकी आधीनता स्वीकार करके अपने चरित्र (स्वभाव-स्वधर्म-मानवीय कर्तव्य) के विपरीत कोई ऐसा काम न कर बैठे कि वह जीवनभर हृदयमें चुभनेवाला कांटा बन जाय।

विवरण— मनुष्य अपनी सुशीलता, सज्जनता और चरित्रको न त्यागे। सज्जनता, सुशीलता, सच्चारित्र्य इस अपार संसारसागरमें तैरनेवाले मानवके निष्कपट साथी माता, पिता, बन्धु, बान्धव और सर्वस्व हैं। अपने चरित्रकी रक्षा मानवका सबसे महत्वपूर्ण काम है। वृद्धोंने कहा है–'सर्वदा सर्वयत्नेन चरित्रमनुपालयेत्' मनुष्य अपना समस्त प्रयत्न करके अपने चरित्रकी रक्षा करे। "शीलेन सर्वं जगत्" शील एक ऐसा दिव्य साधन

है कि इससे समस्त संसारपर वशीकार प्राप्त होजाता है। चरित्रलंघनसे संसारमेंसे मनुष्यका विश्वास उठ जाता है। संसारमें सच्चरित्रको ही आदर मिलता है।

क्षुधार्तो न तृणं चरति सिंहः ॥ १६४ ॥

जैसे सिंह बुभुक्षासे व्याकुल होनेपर भी अपना मांसाशी स्वभाव त्यागकर तृणभोजी नहीं बनजाता इसी प्रकार जीवनमें चरित्रकी बहुमूल्यताको समझनेवाले लोग मनुष्यको बिलो-डालनेवाली उत्तेजना और विपत्तिके अवसरोंपर भी अपने सत्यको नहीं त्यागते और सच्चरित्रता तथा तेजस्विताको तिलांजलि नहीं देबैठते।

विवरण— वे मन्थनकारी होकर पथभ्रष्ट बनाडालनेवाले अवसरोंपर भी धीरजसे अपनी सत्यनिष्ठा तथा उज्ज्वल चरित्रको समुज्ज्वल रखते हैं। "सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता" बडे लोग क्या अच्छे और क्या बुरे दोनों दिनोंमें अपना चरित्र एकसा उदार बनाये रखते हैं।

पाठान्तर— न क्षुधार्तोऽपि सिंहस्तृणं चरति।

(विश्वासपात्र रहना प्राणरक्षासे अधिक मूल्यवान्)

प्राणादपि प्रत्ययो रक्षितव्यः ॥ १६५ ॥

मनुष्य अपने प्राणोंको संकटमें डालकर भी ऋजुओंके साथ ऋजुतारूपी अपनी विश्वासपात्रताकी तथा राष्ट्रके साथ अपनी नागरिकतारूपी विश्वासपात्रताकी रक्षाको अपने जीवनमें मुख्य स्थान देकर रखे।

सूत्रमें अपि शब्द अवश्य अर्थमें व्यवहृत हुआ है।

(पिशुनकी हानि)

पिशुनः श्रोता पुत्रदारैरपि त्यज्यते ॥ १६६ ॥

सुनी हुई गुप्त बातोंके आधारपर लोगोंमें झगडे लगानेवाले विश्वासघातीको उसके पारिवारिक तक त्याग देते हैं।

विवरण— यदि वे उसे न त्यागें तो उसके कारण उनपर भी विपत्तियां आखडी होती हैं। पैशुन्य एक प्रकारका मानसिक पाप अर्थात् ओछापन है।

(उपयोगी बात नगण्यकी भी सुनो)

बालादप्यर्थजातं शृणुयात् ॥ १६७ ॥

उपयोगी बातें नगण्य व्यक्तियोंसे भी सुन लेनी चाहियें।

विवरण— बालादपि सुभाषितम्-- हितकारी वाणी बालकों तकसे अवश्य सुननी चाहिये।

> युक्तमुक्तं तु गृह्णीयात् बालादपि विचक्षणः।
> रवेरविषयं वस्तु किं न दीपः प्रकाशयेत् ॥

बुद्धिमान् मनुष्य उचित बात बालकोंसे भी सीखे। जहां सूर्यका प्रकाश नहीं पहुंचता क्या वहां दीपकका प्रकाश लाभकारी नहीं होता ?

ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः। भारवि

गुणैकपक्षपाती विद्वान् लोग बातके संबन्धमें वक्ताके व्यक्तित्वके विषयमें निःस्पृह होते हैं। वे वक्तव्य विषयके सत्य होनेमात्रसे उसे श्रद्धाके साथ स्वीकार करलेते हैं।

(सत्य अश्रद्धालुसे मत कहो)

सत्यमप्यश्रद्धेयं न वदेत् ॥ १६८ ॥

बात सत्य होनेपर भी यदि किसी अयोग्य सत्यद्रोही श्रोताको अश्रद्धेय, कर्णकटु लगे तो उससे मत कहो और सत्यका अपमान मत करवाओ।

विवरण— सत्यके अश्रद्धालुको सत्यसे लाभ पहुंचानेकी भ्रान्ति करना उससे झगडा मोललेना है। यदि तुम्हारा विवक्षित सत्य तुम्हारे श्रोताकी श्रद्धा न पासके या उसे अनावश्यक लगे तो उससे मत कहो। मनुष्य

अपात्रके समक्ष सत्यका प्रचार कभी न करे। सत्य सुपात्रों या सत्यप्रेमियोंकी दृष्टिमें ही श्रद्धा पाता है। सत्य सुपात्रकी दृष्टिमें कभी अश्रद्धेय नहीं होता। श्रद्धालुसे सत्य कहनेमें ही सत्यकी उपयोगिता है। अश्रद्धालुसे सत्य कहना भैंसके सामने बीन बजाना है। अनावश्यक सत्यवचन वक्ताकी विचारशून्यता होनेसे व्यर्थ भाषण होजाता है। मिथ्या अनावश्यक होना ही व्यर्थ बातकी व्यर्थताका स्वरूप है। औचित्य अनौचित्यसे वचनकी सत्यासत्यताका निर्णय किया जाता है। अदेश अकाल तथा अपात्रमें प्रयुक्त सत्य वचन भी असत्य वचन जितना ही अनिष्टकारी होकर असत्य बन जाता है। सत्य या असत्य, बातों या शब्दोंमें सीमित न होकर उद्देश्यमें सीमित रहता है। उद्देश्यसे ही सत्यासत्यको जाना जासकता है।

(सत्यकी अश्रद्धेयता अनिवार्य)

(अधिक सूत्र) **नाग्निमिच्छता धूमस्त्यज्यते।**

जैसे धूम और अग्निका नित्यसाहचर्य होनेसे अग्निसंग्रहार्थी लोगोंसे धूमसे नहीं बचा जासकता, इसी प्रकार सत्य और अश्रद्धेयताका नित्यसाथ होनेसे सत्यकी रक्षा करनेके इच्छुक उसे अश्रद्धेयता दोषसे मुक्त नहीं करसकते।

विवरण— उन्हें सत्यकी अश्रद्धेयताका ध्यान रखकर उसे बचा बचा-कर सत्यकी प्रतिपालना करनी पडती है। सत्यके साथ अश्रद्धेयता तथा अमान्यता नियमसे लगी रहती है। साधारण लोग सत्यको अव्यवहार्य आदर्श कहकर उससे बच जाते हैं। सत्यका यह अनादिकालीन दूषण है कि वह सर्वसाधारणको अपने लिये हानिकारक और प्रतिकूल लगता है। सत्यके इस दूषणको हटानेका एकमात्र यही उपाय है जो ऊपरवाले सूत्रमें वर्णित हुआ है कि अनधिकारीसे सच्ची बात न कही जाय। योग्यदेश, योग्यकाल तथा योग्यपात्रसे बात कहनेमें ही बात कहनेकी सार्थकता है।

सत्य भी हो और श्रद्धेय अर्थात् प्रिय भी हो यह संभव नहीं है। जब तक सत्य मनके अपनाये किसी असत्य अर्थात् मोहात्मक विचारपर घातक

चोट नहीं करता तब तक वह सत्य ही नहीं होता। वह सत्य क्या हुआ जो अपराधी मनपर शल्यक्रिया न करे और अपराधी श्रोताको सहसा सह्य होजाय। सत्यकी इस कर्णकटुता और अग्राह्यताको बचानेका एकमात्र उपाय यही है कि मनुष्य सत्यका बखान जिस किसीके सामने न करके उसे केवल सत्यप्रेमी श्रद्धालुसे कहे।

सत्यके साथ जैसे अश्रद्धेयताका दूषण लगा है इसी प्रकार उसके साथ कटुता और तेजस्विता नामके दो ऐसे कठोर स्वभाव संयुक्त हैं जो सत्यको पातित्यप्रेमी सर्वसाधारणका प्रिय नहीं बनने देते। सत्यप्रेमीको सत्यके साथ उसकी तेजस्विता और कटुता भी विवश होकर अपनानी पडती है। सत्य असत्यप्रेमियोंको अवश्य ही कटु और अग्राह्य लगता है। सत्य असत्यप्रेमीकी भूलों या भ्रान्त धारणाओंपर मर्मभेदी घातक प्रहार करनेवाला होनेसे सदा ही उसके अप्रेम और अस्वीकृतिका भाजन बना रहता है। सत्यप्रेमी कुछ थोडेसे लोग ही उसकी तेजस्विता और कटुताको सहार सकते हैं। इसी कारण कहा जाता है कि 'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।' कटु सत्यके श्रोता और वक्ता दोनों ही दुर्लभ होते हैं। ऐसे ही लोग सत्य सुनने और सुनानेके यथार्थ अधिकारी होते हैं। सत्यको कडुवा माननेवाले लोग सत्यके अनधिकारी हैं।

(गुणियोंका आदर करना सीखो)

नाल्पदोषाद् बहुगुणास्त्यज्यन्ते ॥ १६९ ॥

किसीके साधरण दोष देखकर उसके महत्वपूर्ण गुणोंको अस्वीकार नहीं करना चाहिये।

विवरण— किसीमें कुछ साधारण दोष दीखें तो उसके अनेक महत्वपूर्ण गुणोंकी उपेक्षा न करनी चाहिये। यदि सच्चे गुणी मनुष्यका कोई व्यवहार दूषित लगता हो या न रुचता हो तो यह निश्चय है कि यह गुणीके चरित्रको न समझनेका दोष है। जब उसपर शान्त कालमें निर-

पेक्ष विचार होगा तो स्पष्ट समझमें आजायेगा कि वास्तवमें उसका दोष नहीं है। किन्तु वह उस गुणीकी देशकालपात्रानुसारिणी व्यवहार-कुशलता ही है। ऊपर कह चुके हैं कि दोष और गुण दोनों ही यूथचारी हैं। ये यूथभ्रष्ट होकर नहीं रहते। जहां एक गुण होता है, वहां सभी गुण आ इकट्ठे होते हैं।

(विद्वान् भी निन्दकोंके लाञ्छनोंसे नहीं बचते)

विपश्चित्स्वपि सुलभा दोषाः ॥ १७० ॥

स्थूल दृष्टिसे ज्ञानीके व्यवहारोंमें भी दोष निकालना सहज है।

विवरण— गुणदोषका विचार आपात दृष्टिसे करनेकी वस्तु नहीं है। कार्याकार्यविवेकके द्वारा गहराईमें जाकर विचार करनेसे ही सच्चे गुण दोषोंका परिज्ञान हो सकता है। सूत्र यह कहना चाहता है कि ज्ञानीको दोषी सिद्ध करके स्वयं दोषी और अविचारशील बननेकी भूल न करनी चाहिये। इस वाक्यका उद्देश्य किसीके दोषोंका समर्थन करना नहीं है। किन्तु दोषारोपण द्वारा दोषसमर्थन करनेकी प्रवृत्तिको निन्दित करना है।

अथवा— विस्मृति, व्यग्रता, तात्कालिक शीघ्रता, अनभिज्ञता, तथा शारीरिक असमर्थता आदि कारणोंसे ज्ञानीके व्यवहारमें भी आपाततः दोष दिखाई देसकते हैं। इस प्रकारके दोष, दोषों (अर्थात् अक्षम्य अपराधों) की श्रेणीमें नहीं आते। दोष तो वही है जो मनुष्यकी दोषी भावनासे होता है। विद्वानोंकी निर्दोषता तो उनके मनमें रहती है। विद्वान् वही है जो मानस या भावनाश्रित दोष कभी नहीं करता। शरीर, इन्द्रिय तथा मनकी विकृति दोष कहाती है। इन तीनोंमें अयथार्थता, अनभिज्ञता तथा अनृतका समावेश होसकता है। रोग असामर्थ्य आदि शारीरिक दोष हैं। उनसे भी कुछ भूल हो सकती है। अन्धता, बधिरता आदि इन्द्रियदोष हैं। ये भी भूलका कारण बन सकते हैं। दूरता आदि विषयदोष हैं। इनके कारण भी भूलें होती हैं। अनभिज्ञता, अनवधानता, क्रोध, असूया, ईर्ष्या, लोभ, मोह आदि मानस दोष हैं। मानस दोष दो प्रकारके होते हैं। कुछ तो

अनभिज्ञता, व्यग्रता, अनवधानता आदिसे जन्य होते हैं, कुछ ईर्ष्या, लोभ, मोह आदिसे बुद्धिपूर्वक आचरित होते हैं। अक्षम्य अपराध करानेवाले ये ही दोष होते हैं। विद्वानोंमें इन बुद्धिपूर्वक आचरित अक्षम्य अपराधोंके करानेवाले दोषोंका होना असंभव है। इस दृष्टिसे जहां कहीं ये अक्षम्य अपराध करानेवाले दोष दृष्टिगोचर हों वहीं दोषयुक्त लोगोंको अविद्वान् तथा समाजके शत्रु समझना चाहिये।

इस प्रसंगमें भूल विषयक विश्वव्यापी किंवदन्तीपर विचार करना अप्रासंगिक न होगा— "भूल मनुष्यसे हो ही जाती है" यह एक अविचारित भावना संसारभरमें प्रचार पाये हुए है। भूल दो प्रकारकी होती हैं एक दैहिक दूसरी मानसिक। जहांतक दैहिक या ऐन्द्रियिक भूलोंका संबंध है वहां तक तो यह बात स्वीकार की जासकती है। परन्तु जहां इस वाक्यका मानवकी मानस भूलोंसे संबन्ध है, वहां यह वाक्य अत्यन्त भ्रामक तथा असत्यका प्रचारक है। वह मनुष्य मनुष्य ही नहीं जो अपनी भावनाको विकृत (बुरी) होलेने देता है। भावना कभी भी अबुद्धिपूर्वक (भूलसे) बुरी नहीं होती। इन सब दृष्टियोंसे ऐसे वाक्योंका बहिष्कार होना चाहिये। ऐसे वाक्योंसे मनुष्य अपनी भूलोंका समर्थन करते पाये जाते हैं। ऐसे निर्बल वाक्य भूलोंके समर्थनमें ही काम आते हैं। मानवके चरित्रनिर्माणमें इन वाक्योंका बड़ा ही दूषित स्थान है।

(विद्वान्की निन्दा निन्दकका अपराध)

नास्ति रत्नमखण्डितम् ॥ १७१ ॥

जैसे प्रत्येक रत्नमें मलिनता, वक्रता, विषमता आदि कोई न कोई त्रुटि निकाली जा सकती है, जैसे सर्वजात्युत्कृष्ट मणि भी सर्वथा निर्दोष नहीं होती इसी प्रकार विद्वानोंकी भी शारीरिक ऐन्द्रियिक भूलें पकड़ी जासकती हैं।

विवरण— जैसे रत्नका दोष निकालकर अर्थात् उसे उस दोषसे अलिप्त करके ही उसकी अकृत्रिमता प्रतिष्ठित होती है, जैसे पहले रत्नमें कृत्रिमताका आरोप करके, पीछेसे उसका अपवाद करके उसे अकृत्रिम सिद्ध

किया जाता है, इसी प्रकार सच्चे विद्वानोंपर किया दोषारोपण अन्तमें उन्हें निर्दोष घोषित करनेवाला बनजाता है।

जैसे कोई भी रत्न अखण्डित नहीं रहपाता, जैसे उसे कोई न कोई खण्डित करनेवाला मिल ही जाता है इसी प्रकार धार्मिक श्रेष्ठ विद्वानोंको भी कोई न कोई निन्दक मिल ही जाता है। जैसे खण्डित होना रत्नापराध नहीं है इसी प्रकार धार्मिक विद्वान्का अधार्मिक अविद्वानोंसे निन्दा पाजाना विद्वान्का अपराध नहीं है किन्तु निन्दकका ही धर्मद्वेष या अज्ञान है।

(विश्वासके सदा अयोग्य)

मर्यादातीतं न कदाचिदपि विश्वसेत् ॥ १७२ ॥

सामाजिक नियमोंके उल्लंघक, विवेकका शासन न माननेवाले निर्मर्यादका कभी विश्वास न करो।

पाठान्तर— **मर्यादाभेदकं** ....।

(अविश्वासीको विश्वासपात्र बनाना अकर्तव्य)

अप्रिये कृतं प्रियमपि द्वेष्यं भवति ॥ १७३ ॥

शत्रुके मीठे दीखनेवाले बर्ताव (उपकार दीखनेवाली क्रिया) को पयोमुख विषकुम्भके समान द्वेष ही मानना चाहिये।

विवरण— आजका शत्रु सदाके लिये शत्रु है। इसलिये शत्रुके मीठे बर्तावके धोखेमें नहीं आजाना चाहिये। शत्रुका आलिंगन भी पेटमें छुरा भोंकनेवाला होता है। इस बातका ध्यान रखकर शत्रुपक्षकी ओरसे आनेवाले मित्रताके प्रस्तावको भी प्रतिहिंसाको चरितार्थ करनेका अस्त्रमात्र समझकर उसका ऐसा उचित उत्तर देना चाहिये जिससे शत्रुकी दुरभिसन्धि व्यर्थ होजाय।

पाठान्तर— अप्रियेण कृतं ....।

शत्रुका किया मिष्ट बर्ताव भी द्वेष ही माना जाता है।

(कपटपूर्ण नम्रताका विश्वास मत करो)

नमन्त्यपि तुलाकोटिः कूपोदकक्षयं करोति ॥ १७४ ॥

जैसे सिर झुकाकर नम्रतापूर्वक कूपमें घुसनेवाली ढीकली उसका पानी रिता देती है, इसीप्रकार स्वार्थी लोगोंको दिखावटी शिष्टाचारयुक्त भाषण करता देखकर उन्हें लूटनेके ही लिये आनेवाले प्रच्छन्न लुटेरे मानकर उनके मायाजालसे बचना चाहिये।

विवरण— जैसे चोरका ओढा रामनामी दुपट्टा भी चोरी हीका साधन होता है, इसीप्रकार दुष्टोंकी नम्रता और उनके गुण दुष्टताके ही साधन या अंग होते हैं। शत्रुओं या दुष्टोंकी नम्रता विश्वास करने योग्य नहीं होती। उनसे सदा ही सावधान रहना चाहिये।

पाठान्तर— नमत्यपि तुलाकोटिः कूपस्योदकक्षयं करोति।

(सत्पुरुषोंके निर्णयके विरुद्ध चलना अकर्तव्य)

सतां मतं नातिक्रामेत् ॥ १७५ ॥

अनुभवी सत्पुरुषोंके सिद्धान्तोंके विरुद्ध आचरण न करे।

विवरण— मनुष्यका अपना विवेक ही उसकी कर्तव्याकर्तव्यकी समस्याका अन्तिम समाधान करनेवाली वस्तु है। मनुष्य बडेसे बडे अनुभवी विद्वानोंकी बातको केवल उस अवस्थामें मानता है जब वह बात उसके विवेकको स्वीकृत होजाती है। यदि उसका विवेक उसे स्वीकार न करे तो वह किसीकी भी बात माननेको प्रस्तुत नहीं होता। सबका अनुभव साक्षी है कि बात अपने मन या विवेकके अनुकूल होनेपर ही मन्तव्य कोटिमें आती है। मनुष्य दूसरे व्यक्तिका अनुसरण करता दीखनेपर भी वास्तवमें अपना ही अनुसरण करता है। विवेक ही मानवहृदयमें सच्चे मार्गदर्शक सत्पुरुषका रूप लेकर रह रहा है। विवेकी होना ही इस बातका कारण है कि संसारभरके सत्पुरुषोंके कर्तव्यनिर्णय एक दूसरेके अविरोधी तथा अभिन्न होते हैं।

कर्तव्याकर्तव्यकी समस्या सब किसीके पास नहीं होती। वह केवल विवेकियोंके सम्मुख उपस्थित होती है। अविवेकियोंके सम्मुख कर्तव्याकर्तव्य नामका कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अविवेकीके मनमें तो केवल यह प्रश्न उपस्थित होता रहता है कि स्वार्थमूलक परस्वापहरण नामका आचरण किस रीतिसे सफल हो सकता है? वह इस दृष्टिसे कभी भी नहीं विचारता कि मुझे परस्वापहरण करना चाहिये या नहीं? स्पष्ट बात यह है कि उसके मनमें विवेकसापेक्ष प्रश्न कभी उपस्थित ही नहीं होता। जब कोई विवेकी किसी दूसरे विवेकीसे किसी कर्तव्यनिर्णयमें सम्मति लेने जाता है तब वह किसी आचरणके विवेकानुमोदित होनेका समाधान पहले स्वयं करके पीछेसे किसी दूसरे विवेकीके समर्थनकी आवश्यकता अनुभव करता है। ऐसे अवसरपर उसे जो अपने जैसे सुविचार रखनेवाले अनुभवी सत्पुरुषोंका समर्थन प्राप्त होजाता है यह समर्थन उसके हृदयकी ही प्रतिध्वनि होता है और इसीलिये अनिवार्यरूपसे ग्राह्य भी होजाता है।

यह सूत्र अविवेकियोंको सत्पुरुषोंके मन्तव्यका अनुसरण करनेकी प्रेरणा देनेके लिये नहीं है, किन्तु अनुभव न रखनेवाले परन्तु सद्बुद्धि-संपन्न लोगोंको अनुभवी विद्वानोंकी सम्मतिके अनुसार आचरण करनेकी प्रेरणा देते हुए यह कहना चाहता है, कि विवेकी लोग अपनी जैसी सुरुचि रखनेवाले विवेकियोंसे ही सम्मति लें। वे अविवेकियोंसे सम्मति लेनेकी भ्रान्ति न करें।

अनुभवी सत्पुरुषोंके कथनकी अवहेलनामें कल्याण नहीं है। प्रमाद या अविवेकके कारण विद्या तथा प्रज्ञाके पारदर्शी संसारकी वस्तुस्थिति पहचान चुकनेवाले साक्षात् कृतधर्मा लोगोंकी सम्मतिकी अवहेलना करना विनाश तथा दुःख बुलाना है। मनुष्यको सत्पुरुषोंके व्यावहारिक अनुभवसे लाभ उठाना चाहिये और आग्रहके साथ उनका अनुसरण करना चाहिये।

(अनुभवीके सत्संगसे लाभ)

गुणवदाश्रयान्निर्गुणोऽपि गुणी भवति ॥ १७६ ॥

निर्गुण दीखनेवाला भी गुणवान्‌के संसर्गमें रहता रहता गुणी होजाता है।

विवरण— विवेकीके अनुभवहीन होनेपर भी यदि वह अनुभवी लोगोंके संसर्गमें रहे, तो अनुभवी बनजाता है ।

विद्वत्ता, शूरता, महत्ता, चिन्ताशीलता आदि मानवोचित गुण हैं । इन गुणोंसे संपन्न गुणीके संपर्कमें रहनेवाला गुणप्रेमी व्यक्ति उसके वातावरणका अंग बनकर रहता-रहता, उसे अपने आपको सुधारनेके लिये सौंपकर, उसे अपनी भूलोंपर रोकने-टोकनेका अबाध अधिकार देकर उसी जैसा गुणी, चतुर, व्यवहारकुशल तथा विचारक बनजाता है ।

राजनीतिमें सन्धिविग्रह, यान, आसन, संश्रय तथा द्वैधीभाव गुण कहाते हैं + । इन गुणोंसे परिचित राजनीतिज्ञोंके साथ रहनेसे राजनीतिसे अपरिचित निर्गुण व्यक्ति भी इनका उचित प्रयोग करना जानजाता है । गुणसंग्रहार्थी व्यक्ति गुणीके संपर्कमें आजानेपर निर्गुण नहीं रहसकता ।

पाठान्तर— गुणवन्तमाश्रित्य ...... ।

गुणवान्‌का आश्रय करके निर्गुण भी गुणी होजाता है ।

क्षीराश्रितं जलं क्षीरमेव भवति ॥ १७७ ॥

जैसे दुग्धाश्रित जल भी दुग्ध ही होजाता है इसीप्रकार गुणीके हाथोंमें आत्मसमर्पणका सम्बन्ध जोडनेवाला गुणप्रेमी व्यक्ति स्वयं उस जैसा गुणी बनजाता है ।

विवरण— गुणप्रेमी ही स्वभावसे गुणीके संगका अधिकारी तथा अन्वेषी होता है । गुणी व्यक्तिके नित्यसंसर्गमें रहते रहनेसे मनमें उसके गुणोंका बार-बार आरोप होने लगता है इसलिये वह काल पाकर उसीके समान गुणी तथा प्रधानपुरुष बनजाता है ।

पाठान्तर— क्षीराश्रितमुदकं ...... ।

+ संधि (समझौता) विग्रह (लडाई) यान (शत्रुपर आक्रमण करनेकी कुशलता) आसन (आक्रमणके विरुद्ध आत्मरक्षाकी चतुराई) संश्रय (अवलम्बन) द्वैधीभाव (भावगोपन) शत्रुको भेदकी नीतिसे सहायकहीन बनाकर निर्बल करना ।

मृत्पिण्डोऽपि पाटलिगन्धमुत्पादयति ॥ १७८ ॥

जैसे गन्ध-ग्रहणमें समर्थ निर्गन्ध भी मृत्पिड सुगन्ध पुष्पके संपर्कमें आकर उसका सुगन्ध ग्रहण करलेता है, इसीप्रकार स्वभावसे गुण-ग्रहणमें समर्थ निर्गुण अज्ञ भी मानव-हृदय सद्गुण-संपन्न विद्वान् व्यक्तिके संपर्कमें आकर उसके सद्गुणोंको ग्रहण करलेता और ज्ञान-संपन्न बनजाता है।

अथवा— जैसे निर्गन्ध मिट्टी भी अवसर मिलनेपर अपने भीतरसे सुगन्ध पुष्प उत्पन्न करदेती है, इसीप्रकार गुण दिखानेका अवसर मिलनेपर गुणी लोगोंके गुण छिपे नहीं रहते। मिट्टी सुगंधित कुसुमोंको अंकुरित करनेका अवसर आनेपर अपनी सुगन्धोत्पादक शक्ति प्रकट करती है। गुणियोंके गुण सच्चे गुणग्राहियोंके संपर्कमें आनेपर ही प्रकट होते हैं।

रजतं कनकसंगात् कनकं भवति ॥ १७९ ॥

जैसे चांदी, सोनेके साथ मिश्रित होजानेसे (वह मिश्रित वस्तु) सोना ही बनजाती है। चांदी नहीं रहती।

विवरण— जैसे सोनेके साथ मिलते ही उसके चांदीपनका अन्त हो जाता है, इसीप्रकार महत्वयुक्त मनुष्यसे संबद्ध होनेपर अनुभवहीन गुणग्राही व्यक्ति गुणानुभव-संपन्न होजाता है।

पाठान्तर— **रजतमपि कनकसंपर्कात् कनकमेव भवति।**

(दुष्टोंका नीच स्वभाव)

उपकर्तर्यपकर्तुमिच्छत्यबुधः ॥ १८० ॥

मन्दमति क्रूर अज्ञानी अपने बुद्धिदोष (अर्थात् हिताहित-विवेकहीनता) से हितकर्ताको भी हानि पहुँचाकर अपना नीच स्वार्थ सिद्ध करनेसे विमुख नहीं होता।

विवरण— अपकारस्वभाववाला मनुष्य उपकारका बदला अपकारसे ही दिया करता है। मनुष्यसे अपना स्वभाव नहीं छूटता। इसलिये अज्ञानियोंका हित करनेकी भ्रान्ति करनेवाले लोग उनके इस उपकारके बदलेमें

अकृतज्ञता अर्थात् शत्रुता करनेके दूषित स्वभावसे पूर्ण परिचित रहकर, सावधान रहें। वे इस भ्रममें आकर प्रमाद न करें कि "हम तो इनका उपकार कर रहे हैं इसलिये इनकी ओरसे अनिष्टकी कोई संभावना नहीं है, प्रत्युत इष्टकी संभावना है। हम उन्हें उपकारोंके बदलेमें अपनाकर अपना बनालेंगे।"

(बुद्धिमानका कृतज्ञ स्वभाव)

(अधिक सूत्र) **तद्विपरीतो बुधः ॥**

ज्ञानी लोग उपकर्ताके भी अपकारक अज्ञानियोंसे विपरीत आचरण करनेवाले होते हैं। उन्हें उपकर्ताका प्रत्युपकार किये बिना शान्ति नहीं पडती।

विवरण— इसी प्रसंगमें लंकाविजयमें महत्वपूर्ण उपकारक श्री हनुमानजीके प्रति मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रका कृतज्ञतापूर्ण वक्तव्य सुवर्णाक्षरोंमें अंकित करने योग्य है—

मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं हरे।
नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकांक्षति ॥

हे हनुमान, लंकाविजय और सीताके प्रत्यावर्तनमें आपने जो मेरा उपकार किया है आपका वह उपकार मेरे सिर खडा रहे। मैं चाहता हूँ मुझे उस उपकारका बदला कभी भी न देना पडे। बदल देना चाहनेवाले लोग मित्रको विपद्ग्रस्त देखना चाहते हैं। मित्रको बदला विपत्तिमें ही दिया जा सकता है।

(पापियोंकी निर्लज्जता)

न पापकर्मणामाक्रोशभयम् ॥ १८१ ॥

पापियोंको निन्दाका भय नहीं हुआ करता।

विवरण— पापी लोग कुछ सीमा तक अपनेको लोकनिन्दासे बचाते हैं, किन्तु जब लोकनिन्दाकी उपेक्षा करके प्रसिद्ध पापी बनजानेमें अधिक लाभ देखते हैं, तब लोकनिन्दाका भय त्यागकर प्रसिद्ध पापी बननेमें संकोच नहीं करते। उनकी प्रवृत्ति हीन होजाती है। पापीको निन्दाका भय तब ही होता है, जब उसे उस निन्दासे दण्डित भी होना पड जाता है।

पापी लोग दण्ड-भय न रहनेपर निन्दाकी ओरसे पूरे निर्भय होजाते और उसकी उपेक्षा करते हैं।

अधार्मिक राज्योंमें बड़े पापी तो दण्डदाता बनजाते हैं और छोटे पापी तथा कुशासन-विरोधी धर्मात्मा लोग दण्डभोक्ता बनजाते हैं। जहां संयोग-वश पापी ही दण्डदाता बनजाते हैं वहां वे अपने पापोंको दण्डसे बचा-बचा कर पाप करते रहनेका अवसर पालेते हैं। इसप्रकारके राज्याधिकारी राष्ट्रीय पापी या राष्ट्रकंटक कहे जाते हैं। इन कंटकोंका संशोधन किये बिना राज्यकी जनताको शान्ति नहीं मिल सकती। ये लोग राज्याधिकारकी शक्तिसे शक्तिमान होकर असंगठित जनमतको दबाकर अपने प्रभावसे राजकीय पापियोंका एक कृत्रिम जनमत (गुट) प्रस्तुत करलेते हैं। दण्डाधिकारी पापियोंकी चाटुकारिता करके ही जीविकार्जन करनेवाले पापी लोग जनमतके ठेकेदार बनकर इन लोगोंकी पापी घटनाओंको प्रकाशमें न आने देनेवाली ढाल बनजाते हैं। ये लोग इनकी ढाल बनकर इनकी स्तुतियों, जयन्तियों और नारोंके आडंबरोंसे इन लोगोंको लोकनिन्दासे बचाये रखते हैं। पापी राज्याधिकारियोंकी यह पापलीला (पापचरित्र) दूषित राज्यसंस्थाओंमें ऊपरसे नीचे तक महामारीकी भाँति व्याप्त रहती है।

इक्के-दुक्के, चोर-डाकू तो लोगोंकी दृष्टिसे छिपाकर ही अपना पाप करते हैं। परन्तु पापी राज्याधिकारी लोग अपने हाथोंसे प्रजाका रक्त-शोषण भी करते हैं और लंबे-चौड़े वेतन-भत्ते आदियोंसे अपनी थैलियाँ भी भरते रहते हैं। इन लोगोंको राष्ट्रीय पाप करनेसे रोकना जनमतका ही उत्तरदायित्व है। जब इन्हें रोकने टोकने तथा संयत रखनेवाला जनमत नहीं रहता, तब इन लोगोंका दुःसाहस बढ जाता और देशमें करोंकी भरमार होती चली जाती है। नाना प्रकारकी लोकहितकारी लंबी-चौड़ी दिखावटी योजनायें बना-बनाकर अपना ढिंढोरा पीटकर गुप्त प्रकारोंसे अपनी जेबें भरते रहना ही इन लोगोंका उद्देश्य होजाता है। जहाँ लोकमत सुप्त होता है वहाँके राज्याधिकारका निन्दासे न डरनेवाले पापियोंके हाथोंमें चला जाना अवश्यम्भावी होजाता है।

लोकमत राजासे भी अधिक शक्तिमान होता है। लोकमत राजशक्तिका या तो निन्दक या प्रशंसक बनकर अपनी शक्तिका प्रदर्शन किया करता है। वह इसी रूपमें राजासे भी अधिक शक्तिमान होता है। राजाकी शिष्टता या दुष्टताका पूर्ण परिचय राजशक्ति हाथमें आनेपर ही मिलता है। शक्तिहीन व्यक्ति लोकमतके सामने निन्दित होनेके साथ ही राजदण्डसे दण्डित भी होजाते हैं। नागरिकोंमें राजदण्डके भयसे पापसे बचकर दण्डसे बचे रहनेकी प्रवृत्ति स्वभावसे होती है। पापी नागरिक समाजकी शान्तिका हरण करनेवाले तथा लोगोंके व्यक्तिगत शत्रु होते हैं। लोकमतकी प्रतिनिधि राजशक्ति ही उन्हें इस कर्मसे रोकती है। परन्तु ऐसे राज्याधिकारी समाजके सार्वजनिक शत्रु होते हैं, जो लोकमतकी उपेक्षा करके राजशक्तिको शान्ति-स्थापनाके काममें न आने देकर, उसका समाजकी शान्ति-हरणमें दुरुपयोग करते हैं। "एकां लज्जां परित्यज्य त्रिलोकीविजयी भवेत्" की लोकोक्तिके अनुसार लोकनिन्दाका भय न माननेवाले निर्लज्ज राज्याधिकारी इक्के-दुक्के चोर-डाकुओंसे भी अधिक भयानक चोर-डाकू होते हैं। इन लोगोंके हाथोंमें आया राज्याधिकार लूटके ठेकेका रूप लेलेता है। ये लोग जब राजगद्दीपर बैठकर लोकमतको असावधान पाते हैं, अर्थात् जब यह देखते हैं कि हम लोग राज्याधिकारका दुरुपयोग करके भी तथा लोकमें निन्दित होकर भी न केवल दण्डातीत रहसकते हैं, प्रत्युत लाभवान बने रहनेका अवसर भी पारहे हैं, तब ये समाजके शत्रु चोर-डाकुओंके रूपमें निःशंक होकर आत्मप्रकाश कर बैठते हैं।

इस सूत्रका मुख्य उद्देश्य लोकनिन्दाका भय न माननेवाले पापी राज्याधिकारियोंको दण्ड देनेकी शक्ति रखनेवाले लोकमतको सावधान (सचेत) रखनेके लिये समाजको सावधान करना है। राजशक्ति पापका दमन तब ही कर सकती है जब वह लोकमतका भय मानती हो अर्थात् जब वह स्वयं पाप न करनेवाली हो। जो राजशक्ति स्वयं पापी होती है वह पाप-दमन नहीं कर सकती। उसका पापोंको प्रोत्साहन देनेवाली होना अनिवार्य होजाता है।

जिस समाजमें पापियोंको खुलकर खेलनेका अवसर मिल जाता है और राह-घाटोंमें स्वेच्छाचारकी छूट मिलजाती है, जिस समाजके प्रहरी (पुलिस) तथा न्यायालय पापियोंके संबंधमें उदासीनता या उपेक्षा धारण करलेते हैं, वहाँके राज्यके मुखिया लोगोंको भी पापी न मान लेनेका कोई कारण नहीं रहता। जब तक किसी देशका लोकमत पापी राज्याधिकारियोंके विरुद्ध सुतीक्ष्ण दण्ड-प्रयोग करनेवाला नहीं बनता, तब तक समाजकी शान्तिका अपहरण करनेवाले इकले-दुकले पापियोंको भी पापोंसे रोककर नहीं रक्खा जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस देशके राज्याधिकारी पापी होते हैं वहां पापियोंका ही राज्य होता है। राज्याधिकारियोंका पापी होना और उन्हें पापी रहने देना किसी देशकी ऐसी दैन्यमयी अवस्था है कि समाजके लोग अकेले-अकेले बैठकर देशकी दुर्दशापर वन्ध्य चर्चामात्र करके अपना निकम्मापन सिद्ध किया करते हैं। ऐसे देशमें संगठनशक्तिको जगाना ही इस सूत्रका प्रासंगिक अभिप्राय स्वीकृत होसकता है। इकले-दुकले पापियोंको दण्डित करनेसे भी आवश्यक तो उन पापी राज्याधिकारियोंको दण्डित करना है जिनका पाप सहस्रगुण होकर प्रजाको अभिभूत कर लेता है। व्यक्तिगत पाप करनेवाले इक्के-दुक्के पापी लोग पापी राज्याधिकारियोंसे ही प्रोत्साहन पाते हैं। पापी राज्याधिकारियोंसे प्रोत्साहन पानेवालोंको पापसे रोकना, तब तक संभव नहीं होता, जब तब कि पहले पापी राज्याधिकारियोंको पूर्णतया दण्डित न कर दिया जाय।

पाठान्तर— न पापकर्मणां संक्रोशभयम्।

(उत्साहके लाभ)

उत्साहवतां शत्रवोऽपि वशीभवन्ति ॥ १८२ ॥

दुर्दान्त शत्रु भी उत्साहवालोंके वशमें आजाते हैं।

विवरण— उत्साह भौतिक शक्ति नहीं है। मनोबल ही उत्साह है। मनोबल भौतिक शक्तिपर निर्भर न रहकर सत्यनिष्ठामें ही रहता है। सत्यकी शक्तिसे शक्तिमान व्यक्ति अजेय होता है। वह

सांसारिक भौतिक शक्तिकी उपेक्षा करता और शक्तिमान विजयी बना रहता है। उसके सम्मुख समग्र संसारकी भौतिक शक्तिको हार माननी पड जाती है। इसके विपरीत असत्यनिष्ठ व्यक्तिका दुर्बलहृदय होना अनिवार्य है। असत्यनिष्ठ व्यक्ति बडीसे बडी भौतिक शक्ति पाकर भी अपनेसे अधिक भौतिक शक्तिके सामने सिर झुकानेके लिये विवश होता है। दृढता सत्यनिष्ठमें ही होनी संभव है।

आत्मशक्तिमें विश्वासी वही हो सकता है जो अकेला ही समग्र विश्वके विरोधकी उपेक्षा करके विजयी बने रहनेमें समर्थ होता है। सत्यनिष्ठासे अलग आत्म-पौरुष नामकी कोई वस्तु नहीं है। जिसके पास सत्यनिष्ठा है वह अपने अभिलषित उच्चतम सिंहासनपर आरूढ है। उसके उत्साहका सच्चा रूप यही है कि भौतिक जगत्में उसके आसनको डुलानेकी शक्ति नहीं है। सत्यनिष्ठा, सच्चरित्र, इन्द्रियसंयम, कार्याकार्य-विवेक, व्यवहार-कुशलता ही राजसिंहासनकी एकमात्र योग्यता और अधिष्ठात्री देवी है। क्योंकि समाजका प्रत्येक नागरिक राज्यशक्तिको संगठित रूप देनेवाला है, इसलिये पहले तो प्रत्येक नागरिकका स्वयं ही उस सत्यनिष्ठारूपी शक्तिसे शक्तिमान होना अत्यावश्यक है। इसलिये जो भी कोई व्यक्ति राजा या राज्याधिकारीका निर्वाचन करे वह राज्याधिकारकी संपूर्ण योग्यताको पहले तो अपनेमें मूर्तिमान करके रखे। इसलिये रखे कि गुणी ही गुणीको पहचानकर उसका निर्वाचन कर सकता है। इसलिये समाजमें राज्याधिकारियोंका निर्वाचन करनेवाली शक्तिका जाग्रत रहना अत्यावश्यक है।

शत्रु लोग पराभवके भयसे उत्साहीके वशमें आनेमें ही अपना कल्याण समझने लगते हैं। दृढचित्त लोग शत्रुओंके वशमें न आकर उन्हें ही अपने वशमें करके छोडते हैं। अपनी शक्तिमें महत्ता होनेपर ही दूसरोंपर वशीकरण प्राप्त होता है। इसलिये जो संसारपर वशीकार पाना चाहें वे अपने हृदयमें उत्साह, अध्यवसाय तथा कार्यसाधनकी जननी सत्यनिष्ठाको सुप्रतिष्ठित करें। सत्यनिष्ठामें ही जन-कल्याण है, जनता जन-कल्याणसे ही

सुदृढ रूपसे संगठित हो सकती है । जनता सुदृढ रूपसे संगठित होकर ही उत्साही राजाको बलवान बनानेमें समर्थ होसकती है । जो राष्ट्र उन्नति करना चाहे उसे चाहिये कि वह अपने व्यक्तियोंमें उत्साह भर देनेकी योजना बनाये ।

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपंचांगविनिर्णयो नयः।
स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते ॥
अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः।
विनिपातनिवर्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरुषम् ॥

(विक्रम ही राजधन)

विक्रमधना राजानः ॥ १८३ ॥

ज्ञानदीप्त तेजस्विता ही राजाका धन है ।

विवरण— ज्ञानदीप्त तेजस्विता ही राजाके प्रजारंजनका अव्यर्थ साधन-रूपी अक्षय धन है । राष्ट्र-प्रबंधसंबंधी विचारोंकी प्रखरतारूपी प्रदीप्त ज्ञानसूर्य ही राजाका सच्चा तेज या विक्रम है । ज्ञानी राजा ही सच्चे ऐश्वर्यसे सम्पन्न राजा है । अज्ञानी राजा प्रजाकी घृणाका पात्र होजानेके कारण राजसिंहासनारूढ दीखनेपर भी राज्यभ्रष्ट है । जैसे पैसा साधारण मनुष्यका भौतिक साधन समझा जाता है, इसी प्रकार सत्यरूपी विक्रम ही विजिगीषु राजाका धन है । सच्चा विजिगीषु राजा प्रजाके चित्तपर अपने सत्यका प्रभाव डालकर उसके हृदयका सम्राट् बनजाता है । सच्चे विजिगीषुका सत्यधनसे धनवान होना अनिवार्य है । सत्यहीन राजा प्रजाकी घृणाका पात्र तथा उसके प्रेमसे वंचित होकर अंतमें राज्यसे भी च्युत होजाता है ।

(आलस्यसे विनाश)

नास्त्यलसस्यैहिकामुष्मिकम् ॥ १८४ ॥

कार्यमें अनुत्साही अकर्मण्य मन्दमति आलसीको वर्तमान तथा भविष्यत्कालीन सफलता नहीं मिलती ।

विवरण— वर्तमानकी सफलता ही अतीतको भी सफल कर डालती और भविष्यत्‌की सफलताको भी सुरक्षित कर देती है। जिसका वर्तमान सुरक्षित होता है उसके भूत भावी दोनोंका सफलतासे मंडित होना और रहना निश्चित है। तीनों कालोंमें एक-सा समुज्ज्वल रहनेवाला सत्य ही विक्रमी राजाकी राज्यश्री है।

निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः।

पराक्रमके आश्रयसे रहनेवाली समृद्धियें भीरुता या विषादके साथ नहीं रहतीं।

निरुत्साहाद्दैवं पतति ॥ १८५॥

उत्साहके बिना निश्चित सफलतायें भी हाथसे बाहर खड़ी रहजाती हैं।

विवरण— इस संसारकी स्थिति ही ऐसी है कि सत्यनिष्ठको असत्य-विरोधके संग्राम-क्षेत्रमें योद्धाके रूपमें शस्त्रबद्ध होकर अविरत नियुक्त रहना पड़ता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति इस संग्रामको विपत् न समझकर उसका उत्साहके साथ सौभाग्यवृद्धिसे स्वागत करता है। इसके विपरीत सत्यहीन व्यक्तिको असत्यसे संग्राम ही विपत्ति दीखती है। इसलिये असत्यविरोधको विपद् माननेवाला व्यक्ति अपनेको असत्यकी दासतामें ही निरापद माना करता है। उत्साहहीनता असत्यकी ही दासता है। सत्यनिष्ठ उत्साहीके हृदयमें विपद्भीति नामकी कोई स्थिति नहीं होती।

सत्य ही उत्साहका असमाप्य उत्स है। सत्यके बिना कर्ममें दृढता या आत्मविश्वास होना संभव नहीं है। सत्यमें आरूढ रहनेका सन्तोष ही पुरुषार्थ या कर्मोत्साहका जनक होता है। उत्साहहीन अदृढ व्यक्ति पुरुषार्थ नहीं कर सकता। पुरुषार्थके बिना सहजसाध्य कर्मोंमें भी अदृढता आजाती है और सफलताको असाध्य बना डालती है।

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः॥

विपत्ति विक्रमहीनको दबालेती हैं। विपद्ग्रस्तका भावी विनष्ट होजाता है। निर्भविष्यका हलका (ओछा) होजाना सुनिश्चित है। हलका मानव राज्यश्रीके योग्य नहीं रहता।

पाठान्तर— निरुत्साहो दैवं परिशपति ॥

उत्साहहीन व्यक्ति समस्त असफलताओंकी जननी अपनी उत्साहहीनताको दोष न देकर दैव या भाग्यको कोसा करता है।

अपुरुषार्थ या अनुत्साह ही उसका दोष है।

(पुरुषार्थीका कर्तव्य)

मत्स्यार्थीव (मत्स्यार्थिवज्) जलमुपयुज्यार्थं गृह्णीयात ॥ १८६ ॥

जैसे मत्स्यार्थी जलमें घुसनेके संकटमें पडकर ही अपना मछलीरूपी स्वार्थ पाता है इसी प्रकार पुरुषार्थी मानव उठ, संकटमें कूदे, सफलतारूपी अपने दैवको विघ्नोंसे बचा-बचाकर सुरक्षित करता चले और अपना काम बनाले।

विवरण— जो लोग सफलतारूपी दैवको पाना चाहें, वे विघ्नोंको हटा-हटाकर अपना काम बनायें। विघ्न-वारणके बिना दैवप्राप्ति असंभव है।

पाठान्तर— मत्स्यवज्जलमुपयुज्यार्थं ...... ।

(विश्वासके अपात्र)

अविश्वस्तेषु विश्वासो न कर्तव्यः ॥ १८७ ॥

अपरीक्षित या अपात्र लोगोंका विश्वास कभी न करो।

विवरण— करोगे तो निश्चित रूपसे हानि उठाओगे। कुपात्रसे सदा भय रहता है कि न जाने कब क्या कर बैठे! नीतिज्ञोंने कहा है—

कुसौहृदे न विश्वासो कुदेशे न प्रजीव्यते।
कुराजानि भयं नित्यं, कुपात्रे सर्वदा भयम्॥

मनुष्य दुष्ट मित्रका विश्वास तथा कुदेशमें जीवनकी सुरक्षाकी आशा न करे। कुराजा और कुपात्रसे सदा ही भय बना रहता है।

असाधुयोगा हि जयान्तराया, प्रमाथिनीनां विपदां पदानि।

असत्संग विजयी जीवनका विघ्न तथा विनाशक विपत्तियोंका कारण होता है।

पाठान्तर— अविस्रब्धेषु विश्वासो न कर्तव्यः।

विषं विषमेव सर्वकालम् ॥ १८८ ॥

जैसे विष सदा विष ही रहता है, कभी अमृत नहीं होता जैसे विष कभी अपना स्वभाव नहीं बदलता इसी प्रकार अविश्वासीस्वभाववाला मनुष्य कभी विश्वास योग्य नहीं बना करता।

(कार्यसिद्धिमें वैरीका सहयोग हानिकारक)

अर्थसमादाने वैरिणां संग एव न कर्तव्यः ॥ १८९ ॥

कार्य-संपादनमें शत्रुओंसे किसी प्रकारका संपर्क न करना चाहिये।

पाठान्तर— अर्थसामान्ये वैरिणां संसर्गो न कर्तव्यः।

सामान्य प्रयोजनवाले कामोंमें वैरियोंका संपर्क बचाना चाहिये।

(अधिक सूत्र) आर्यार्थमेव नीचस्य संसर्गः ॥

आर्य अर्थात् प्रभुके कार्यके लिये ही नीचोंके साथ संबंध किया जासकता है।

विवरण— राज्यसंस्थामें राजा ही प्रभुका स्थान लिये हुए है। परन्तु राजाका भी तो एक प्रभु है। समग्र राष्ट्र राजाका प्रभु है। राष्ट्र-कल्याणके लिये राजा तथा राज्यके अन्य सेवकोंका कभी न कभी नीचके साथ संबंध होना अनिवार्य होता है। उस विकट संबंधके समय भी प्रजा-हितको मुख्यता देकर उसे सुसंपन्न बनाये रखना ही सच्चे सेवकका ध्येय होता है। उस समय उसका कर्तव्य होता है कि उसके किसी कामसे नीचको नीचताको भूलकर भी प्रोत्साहन न मिल जाय तथा राजकार्यमें विघ्न उत्पन्न न होने

पाये। साधारण नियम यही है कि नीचोंके साथ किसी भी काममें संबंध रखना उचित नहीं है। " हीयते हि मतिस्तात हीनैः सह समागमात्। " हीन लोगोंके साथ संबंध रखते रहनेसे बुद्धि उन्हीं जैसी हीन होजाती है।

(वैरी विश्वासका अपात्र)

अर्थसिद्धौ वैरिणं न विश्वसेत् ॥ १९० ॥

उद्देश्य-पूर्तिमें वैरीका विश्वास मत करो।

विवरण— शत्रुपर विजय करना ही विजिगीषुका उद्देश्य होता है। यही उद्देश्य विजिगीषुकी स्थितिको सार्वदिक संग्रामकी स्थिति बना देता है। उसका कर्तव्य होजाता है कि शत्रुके धोकेमें न आनेके लिये सर्वदा सावधान रहे। उसे यह अविचलित रूपमें समझ रखना चाहिये कि शत्रु कभी भी मित्र नहीं होसकता। यदि कभी शत्रुकी ओरसे मित्रताका प्रस्ताव आये तो उसे सोचना चाहिये कि जो व्यक्ति एक दिन शत्रुताचरण करनेमें ही अपना स्वार्थ समझ रहा था, वह आज तुम्हारा मित्र क्यों बनने जा रहा है? उसे इस प्रस्तावके आते ही तुरंत समझ जाना चाहिये कि वह आज मेरा मित्र बननेमें अपना निश्चित स्वार्थ देख रहा है। वह अपने स्वार्थके दबावसे ही तो पहले शत्रु था और आज उसीके दबावसे मित्रताका प्रस्ताव कर रहा है। आज अपने स्वार्थके दबावसे मित्र बननेवाला वास्तवमें आज भी शत्रु ही है। सच्चा मित्र तो वही होता है जो स्वार्थकी मलिनतासे अतीत रहकर हृदयके सत्यनिष्ठारूपी अमृतमय बन्धनमें आबद्ध होकर सुदृढ मित्रताके बन्धनको अपनालेता है। सच्चे ही सच्चोंके, ज्ञानी ही ज्ञानीके मित्र हो सकते हैं। मिथ्याचारी अज्ञानी, ज्ञानीसे कभी प्रेम नहीं कर सकता। सत्य, असत्य या ज्ञानाज्ञानमें परस्पर वध्य-घातक संबंध है। इन सब तथ्योंको कभी न भूलकर शत्रुकी दिखावटी मित्रताको शत्रुताका ही आवरणमात्र मानकर उसपर अविश्वास रखकर उसके षड्यंत्रको व्यर्थ करना ही विजिगीषुका विजय-कौशल है।

शत्रुका विश्वास न करनेका अभिप्राय उससे यह कह देना नहीं है कि मैं तुम्हारा विश्वास नहीं करता किन्तु यही अभिप्राय है कि उसे धोकेमें रखते

रहो। उसे मत जानने दो कि तुमने उसकी गुप्त शत्रुताको पहचान लिया। तुम उसे अंधेरेमें रखते रहकर उसपर उचित समयपर आक्रमण करो। तुम शत्रुको परास्त करने (अर्थात् उसके असत्यको पददलित करने) के लिये जिस किसी उपायका अवलंबन करोगे, उसकी दृष्टिमें वह कपट, छल माया आदि होनेपर भी, तुम्हारी दृष्टिमें वही असत्य-विरोधरूपी सत्यनिष्ठा होनेके कारण, वह असत्यका दलन करनेवाली सत्यकी विजय ही होगी। विजिगीषुका ध्येय तो अपने आराध्य सत्यको ही विजयी बनाना है।

(संबन्धका आधार)

अर्थाधीन एव नियतसंबंधः ॥ १९१ ॥

लोगोंसे संबंध उद्देश्यके अनुसार होता है।

विवरण— उद्देश्यके ही अनुसार लोगोंके साथ संबंधोंकी स्थापना होती है। मित्रसे मित्रता तथा शत्रुसे शत्रुताका संबंध जुड़जाता है। उद्देश्यकी एकतासे मित्रता तथा उद्देश्यकी भिन्नतासे शत्रुताका संबंध स्थापित होजाता है। प्रजोजन ही मानवोंकी परस्पर संयोजक रज्जु है। संसारमें अहैतुक संबंध असंभव है। अलब्धका लाभ, लब्धकी रक्षा तथा रक्षितका वर्धन इन तीन भौतिक प्रयोजनोंसे ही लोगोंके संबंध जुड़ते हैं। अज्ञानी जगत् भौतिक स्वार्थोंके पीछे भटकता है। ज्ञानी मनुष्य भौतिक स्वार्थोंके पीछे न भटक-कर परमार्थ या वास्तविकताका ही अनुगमन करता है। ज्ञानी अज्ञानीके अर्थ तथा अनर्थोंके दृष्टिकोण एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न प्रकारके होते हैं। ज्ञानीकी दृष्टिमें तो मानसिक स्थितिको सुरक्षित रखनेवाला सत्य ही अर्थ या काम्य वस्तु होता है। उसकी उदार दृष्टिमें मानसिक दृढताको नष्ट करनेवाली भौतिक पदार्थोंकी लालसा अनर्थपक्षमें गिनी जाती है। इसके विपरीत अज्ञानीकी दृष्टिमें भौतिक सुखोंके साधन ही अर्थ समझे जाते हैं। उसकी दृष्टिमें भौतिक सुखोंको त्यागने या उपेक्षापक्षमें रखनेका आदर्श या मानसिक दृढता, सुख-त्याग या दुःख-वरणके नामसे अनर्थ ही माना जाता है।

अज्ञानीके पास दूरगामी दृष्टि न होकर वह केवल आपातदृष्टि रखता है। वह अपनी आपातदृष्टिसे सुख-दुःखोंके यथार्थ रूपोंको समझनेमें भ्रान्ति करके दुःखको (अर्थात् सुखेच्छारूपी अभावग्रस्तताको) ही सुख मानकर अनिश्चितके पीछे भटककर, मानसिक निर्बलताको अपनाकर लक्ष्यहीन अदृढ बनजाता है। इसके विपरीत सत्यनिष्ठ विजिगीषुके लिये यह सुनिश्चित होजाता है कि वह अपने लक्ष्यपर स्थिर रहनेके लिये मानसिक दृढताको अपनाये और नित्यसुखी बने रहनेके लिये संसारमें पग-पगपर विजय प्राप्त करता रहकर स्थिररूपसे विजयशील बनकर रहे। विजिगीषु मनुष्य विश्वका सम्राट् तो पीछेसे बनता है। पहले तो उसे अपने ही मनोराज्यका सम्राट् बनना पडता है। वह बाह्य जगत्में विश्व-सम्राट् बननेसे भी पहले संसारकी भौतिक सुख-समृद्धिको अपनी सत्यनिष्ठारूपी मानसिक सुख-समृद्धिकी अधीनतामें देकर अपने मनोराज्यका सम्राट् बन चुकता है। अपने मनोराज्यका सम्राट् बननेके अनन्तर विश्व-सम्राट् बननेवाले उस विजिगीषु राजाकी राजशक्तिके सम्मुख समग्र संसारको अवनतमस्तक होकर रहना पडता है।

शत्रोरपि सुतस्सखा रक्षितव्यः ॥ १९२ ॥

शत्रुका भी पुत्र यदि मित्र हो तो, उसकी रक्षा करनी चाहिये।

विवरण— अर्थात् उसे अपने आक्रमणका पात्र न बनाना चाहिए। उद्देश्यकी एकतासे मनुष्य आपसमें मित्र बनते हैं। आसुरी प्रवृत्तिवाला सत्यद्वेषी ही विजिगीषुका शत्रु होता है। सत्यसे विजयी बनना ही विजिगीषुका ध्येय होता है। सत्यका विरोध करनेवाला तो असत्यका दास होता है। वह उद्देश्यके विरोधसे ही शत्रुता करनेवाला बनता है। उसका पुत्र उस जैसा सत्य-शत्रु न होकर असत्यका तो शत्रु तथा सत्यका मित्र होना असंभव नहीं है। यदि किसी शत्रुके पुत्रके सत्यनिष्ठ होनेका पुष्ट प्रमाण मिल जाय तो उसे अपना मित्र समझकर उसकी रक्षा करना सत्यकी ही रक्षा करना होगा। सत्यनिष्ठाको अपनायेरहना ही सत्यनिष्ठ विजिगीषुका

ध्येय होता है। इस ध्येयसे विच्युत न होना सत्यनिष्ठका प्रतिक्षण सदातन स्वभाव बनजाता है।

पाठान्तर— **शत्रोरपि सखा सुतो रक्षितव्यः।**

मित्र तथा पुत्रकी शत्रुसे भी रक्षा करनी चाहिये।

पाठान्तर— **शत्रोरपि शत्रुसखाद्राक्षितव्यः।**

अपने आपको शत्रु तथा उसके मित्र दोनोंसे बचाकर रखना चाहिये।

(शत्रुको मित्रतासे ठगनेकी अवधि)

यावच्छत्रोश्छिद्रं पश्यति तावद्धस्तेन वा स्कन्धेन वा वाह्यः॥ १९३॥

शत्रुकी जिस निर्बलतापर प्रहार करके उसे नष्ट करना हो उसका पता न चलालेनेतक उसे कृत्रिम मान तथा कृत्रिम मित्रताके प्रदर्शनोंसे धोकेमें रखते रहो।

विवरण— शत्रुका छिद्र हाथ न आनेतक उसे मत छेडो। तब तक उसके दाम्भिक मस्तकके सामने अपना मस्तक ऊँचा करके मत चलो। उससे मत बिगाडो। उसीको बडा बना रहने तथा दम्भमें डूबा रहने दो और युद्ध मत ठानो। उसका आक्रमणीय छिद्र ढूँढ लेनेसे प्रथम उसके सामने मस्तक ऊँचा करना उसे रण-निमंत्रण देना है। इस मध्यमें उसे उच्चस्थान दिये रहो और उसके विरुद्ध शक्ति-संचय करते रहो।

(शत्रुको असहाय छोड देनेका समय)

शत्रुं छिद्रे परिहरेत्॥ १९४॥

विजिगीषु राजा शत्रुकी छिद्रावस्थामें उसे अपनी सहायतासे वंचित करदे।

पाठान्तर— **शत्रुं छिद्रे प्रहरेत्।**

विजिगीषु राजा शत्रुके निर्बल स्थानपर मारात्मक प्रहार करे।

विवरण— विजयाभिलाषी अपने शत्रुके छिद्र (निर्बलता, विपत्ति या किसी भयंकर विनाशक व्यसन) में फँसे होनेका निश्चय होजानेपर उसके निर्बल अंगपर आक्रमण करे ।

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः ।
तमेव काले संप्राप्ते भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ॥

अब तक कालकी अनुकूलताकी प्रतीक्षामें धोका देकर सिरपर चढाये हुए शत्रुके विनाशकी पर्याप्त तैयारी कर लेनेपर, उसे पत्थरपर पटककर फोड डाले जानेवाले शिरोभारस्वरूप घडेके समान नष्ट कर डाले ।

कौर्मं संकोचमास्थाय प्रहारानपि मर्षयेत् ।
काले काले च मतिमानुत्तिष्ठेत् कृष्णसर्पवत् ॥

विपरीत दिनोंमें कछवेकी भांति सुकडकर प्रहार सहा करे और अनुकूल काल आनेपर सांपकी भांति प्रहार करनेके लिये उठ खडा हुआ करे ।

अजन्मा पुरुषस्तावद्गतासुस्तृणमेव वा ।
यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यशः ॥
अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्षः प्रशाम्यति ।
पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन् ब्रूहि त्वं हि तपोधन ॥

(शत्रुको बलवान दीखनेके आयोजन करो)

आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत् ॥ १९५ ॥

शत्रुको अपनी निर्बलताका पता न चलने देकर उसकी दृष्टिमें बलवान बनकर रहे ।

विवरण— तुम अपनी किसी ऐसी निर्बलताको शत्रुपर प्रकट मत होने दो जिसके कारण वह तुमपर आक्रमण कर सके ।

नास्य गुह्यं परे विद्युश्छिद्रं विद्यात् परस्य च ।
गूहेत् कूर्म इवांगानि यत्स्याद्विवृतमात्मनः ॥

अपनी निर्बलताको शत्रुको मत पहचानने दो, प्रत्युत तुम्हीं उसकी निर्बलताका पता चलाकर रखो । अपने प्रसारित अंगोंको छिपा लेनेवाले कूर्मके समान अपनी निर्बलताको शत्रुके आक्रमणोंसे बचाये रहो ।

(शत्रुका स्वभाव)

छिद्रप्रहारिणश्शत्रवः ॥१९६॥

शत्रु प्रतिपक्षीकी निर्बलतापर ही आक्रमण किया करते हैं।

विवरण— इसलिये विजिगीषु लोग शत्रुओंकी दृष्टिमें बलवान बने रहें। शत्रु कभी भी प्रबल पक्षपर आक्रमण या प्रहार नहीं करते। आक्रमण सदा निर्बल असावधान त्रुटियुक्त पक्षपर ही होता है।

पाठान्तर— **छिद्रप्रहारिणो हि शत्रवः।**

(अधीन शत्रुका विश्वास मूढता)

हस्तगतमपि शत्रुं न विश्वसेत् ॥ १९७ ॥

विजिगीषु राजा अपने वशमें आनेके पश्चात् अपनी शत्रुताका संगोपन तथा मित्रत्वका प्रदर्शन करनेवाले शत्रुका विश्वास न करे।

विवरण— शत्रुको हाथमें पाकर उसे क्षमा करके प्रेमसे अपनाना चाहनेकी भ्रान्ति कभी न करनी चाहिये। विजेताके भयसे शत्रुकी ओरसे प्रेमका प्रस्ताव आना स्वाभाविक है। परन्तु जिसके प्रेमका सम्बन्ध होनेका कभी कोई हार्दिक कारण उपस्थित नहीं होसकता, उस शत्रुकी असहाय स्थिति प्रेमका कारण कदापि नहीं बन सकती। ऐसे शत्रुको अपनाकर उसे अपना सहायक मित्र बनालेनेकी दुराशा करना विषधर भुजंगको दुग्ध-पानसे निर्विष बनानेकी-सी ही भ्रान्ति है। शत्रुको तो मिटाकर ही निश्चिन्त होना संभव है। विजिगीषुके लिये शत्रु-पोषण किसी भी प्रकार और किसी भी दृष्टिसे समर्थनीय नहीं है।

पाठान्तर— **स्वहस्तगतमपि ......।**

(राजकर्मचारियोंके दुराचार रोकना राजाका स्वहितकारी कर्तव्य)

स्वजनस्य दुर्वृत्तं निवारयेत् ॥ १९८ ॥

विजिगीषु राजा स्वपक्षके लोगोंके दुराचार या गर्हित आचरणको प्रबल उपायोंसे दूर करे।

विवरण— राज्यकी संपूर्ण राज्यसंस्था तथा राज्यभरका प्रजा-वर्ग विजिगीषुका स्वजन है। राज्यभरमें कहीं भी दुराचारको प्रोत्साहन या प्रश्रय न मिलना ही राज्यकी सुव्यवस्था है। राजा या राज्यसंस्थाका चरित्र ही प्रजामें प्रतिफलित होता है। राष्ट्रभरमेंसे दुर्वृत्तको बहिष्कृत रखना ही राजाका धर्म, कर्म, पूजा, पाठ तथा श्रेष्ठ भगवदाराधन है। राजकीय लोगोंके दुराचारोंसे राज्यमें पाप-वृद्धि तथा अपयश होता और राज्यसंस्था सार्वजनिक समर्थनसे वंचित होकर निर्बल पड जाती है। कोई भी राज्य राजकीय लोगोंके भ्रष्टाचारके दुष्परिणामोंसे बच नहीं सकता। राज्याधिकारियोंके दुश्चरित्रका कुफल राज्यको भोगना ही होगा। इसलिये उन्हें दुराचारसे रोकनेके कठोरतम उपाय अपनाये रहनेमें ही राज्यका कल्याण है।

स्वजनावमानोऽपि मनस्विनां दुःखमावहति ॥ १९९ ॥

दुश्चारित्रताके कारण हुआ स्वजनोंका अपमान विचारशील व्यक्तियोंके दुःखका कारण होता है।

विवरण— दुराचारके कारण हुए राजकीय लोगोंके अपमान विचारशील स्वाभिमानी कर्तव्यपरायण मनस्वी राजाओंके लिये असह्य दुःखदायी होते हैं। मनस्वी राजाके कर्मचारी, दुराचारी, भ्रष्टाचारी हों और राष्ट्रमें अनीति तथा पापाचार बढा रहे हों तो उसे उनके दुराचारको तत्काल रोकना चाहिये। उसे उन्हें सुपथपर रखनेमें कोई बात उठा नहीं रखनी चाहिये। उसे अपने राज्याधिकारियोंके अपमान और अपयशको अपना ही अपमान और अपयश मानकर उन कारणोंको समूल उखाड फेंकना चाहिये।

पाठान्तर— स्वजनावमानो हि ……।

(एक कर्मचारीके पापसे संपूर्ण राजव्यवस्था दूषित)

एकांगदोषः पुरुषमवसादयति ॥ २०० ॥

जैसे किसीका एक रोगी अंग उसके समस्त देहको अवसन्न तथा अनुपयोगी बनाडालता है, जैसे वह एक दूषित अंग समस्त देहके व्याधिग्रस्त होनेका लक्षण होता है, इसी प्रकार

राज्यसंस्था या किसी दलके किसी भी व्यक्तिका दुराचार, समस्त राज्यसंस्था या सारे दलको हीनबल बना डालता है ।

विवरण— किसी राज्यसंस्थाका एक भी सदोष राज-कर्मचारी, संपूर्ण राज्यसत्ताका कलंक है । जैसे एक चावलसे बटलोईके समस्त चावल परखे जाते हैं, इसी प्रकार एक राज-कर्मचारीकी बुराईसे उसे सह लेनेवाली समस्त राज्यसत्ताके दूषित होनेका प्रमाण मिल जाता है । इसलिये राज्यसत्ताका यह महान् उत्तरदायित्व है कि वह अपने प्रत्येक राजकर्मचारीको भ्रष्टाचार करनेसे रोके रहे और राजकीय सेवक-वृकोंको प्रजाका आखेट न करने दे । यही नियम समस्त समाजपर भी लागू होता है । जिस समाजका एक भी व्यक्ति दूषित होनेपर भी दण्ड नहीं पारहा है, वह उस संपूर्ण समाजका कलंक है । इसलिये अपने समाजके प्रत्येक व्यक्तिको धार्मिक बनाकर रखना समस्त समाजका सुमहान कर्तव्य है ।

(सदाचार शत्रुविजयका अमोघ साधन)

शत्रुं जयति सुवृत्तता ॥ २०१ ॥

सदाचार शत्रुपर विजय प्राप्त करानेका अमोघ साधन है ।

पाठान्तर— **शत्रुं जयति सुवृत्तः ।**

सदाचारी शत्रुपर विजय पालेता है ।

विवरण— स्वपक्षका सदाचार ही स्वपक्षकी शक्तिको सुरक्षित रखकर शत्रुको हरासकता है । इसके विपरीत स्वपक्षका दुराचार स्वपक्षको शक्तिहीन बनाकर शत्रुको विजयी बनादेता है । जिसका अपने आचारपर वश नहीं है, जिसका अपना ही आपा अरक्षित है वह पहले तो अनिवार्यरूपसे शत्रुके प्रलोभनोंमें फँसेगा और फिर अपने देशके स्वार्थको बेचनेवाला देशद्रोही बन जायगा । वह शत्रुपर विजय कैसे पायेगा ? संसारमें मनुष्यका सबसे पहला सच्चा शत्रु उसीका दुराचार है, जो मानसिक निर्बलताके रूपमें उसके मनमें बैठकर उसे तोड-तोडकर खाता रहता है । दुराचार मनुष्यका आभ्यन्तरिक शत्रु है । दुराचाररूपी शत्रुपर विजय पाये बिना बाह्य शत्रुओंपर

विजय दिलानेवाले उत्साह, वीर्य, आनन्द तथा वीरोचित गुण मनुष्यको प्राप्त नहीं होसकते।

एकस्यापि हि योऽशक्तो मनसः सन्निबर्हणे।
महीं सागरपर्यन्तां स कथं ह्यवजेष्यति॥
निरुत्साहो निरानन्दो निर्वीर्यो निर्गुणः पुमान्।
किं जेतुं शक्यते तेन तस्यात्मा चाप्यरक्षितः॥

उत्साह, आनन्द, वीर्य तथा गुणोंसे हीन वह मनुष्य जिसके आभ्यन्तरिक दोष अपने ही आपको शव-देहको नोचकर खानेवाले गृध्रोंके समान नोच नोचकर खाये जा रहे हैं, क्या कभी शत्रुओंपर विजय पासकता है? जो एक मनको नहीं रोक-थाम सकता, वह सागरपर्यन्त भूमिपर कैसे विजय पासकता है? जो इस भीतरवाले शत्रुको जीत लेता है वही बाह्य शत्रुओंको परास्त करनेका अधिकार पाता है। आन्तरिक शत्रुओंको जीते बिना उन उत्साह, आनन्द, वीर्य तथा गुणोंका पाना असंभव है जो विजय दिलाने वाली सर्वाधिक महत्त्व रखनेवाली आवश्यक सामग्री है।

विजिगीषु राजा अपनी राजशक्तिको शक्तिसंपन्न बनाये रखनेके लिये, अपने राज्याधिकारियोंको सदाचारी बनाकर उनके द्वारा संपूर्ण राष्ट्रमें सदाचारका प्रभाव जमाये रक्खे। तब ही वह शक्तिमान होकर निर्विघ्न रह सकता और राष्ट्रसेवामें समर्थ होसकता है। जो राजा स्वयं सदाचारी हो उसीमें राष्ट्रको सदाचारी रखनेकी योग्यता होसकती है। कदाचारी राजाकी राजशक्ति भ्रष्टाचारी होकर राष्ट्रको आचारहीन, अनैतिक तथा निर्बल बनाकर छोडती है। सदाचारहीन राष्ट्र राजशक्तिके भ्रष्टाचारी होनेका अकाट्य प्रमाण है।

(नीचोंका स्वभाव)

निकृतिप्रिया नीचाः॥ २०२॥

नीच व्यक्ति सत्पुरुषोंके साथ कपटाचरण करनेवाला होता है।

विवरण— नीच व्यक्ति विश्वासपात्रके साथ विश्वासघात करता है। दुष्कार्यप्रियता, परापमान, धूर्तता, शठता, कपट, प्रतारणा, पराधिकारका अपहरण नीचोंके प्यारे व्यापार हैं। सत्पुरुषोंका अपमान, उनका अभीष्ट-विध्वंसन आदि दुष्कार्य करनेकी प्रवृत्ति ही नीचोंकी पहचान है। उन्हें सदा गर्हित आचरण, दूसरेका परिहास आदि अभद्र काम ही रुचते हैं। जैसे श्वानोंको उच्छिष्ट भोजन या जैसे चोरोंको अँधेरा प्यारा लगता है, इसी प्रकार शठ लोगोंको समाजके साथ विश्वासघात करना बड़ा प्रिय लगता है।

(नीचको समझाना अकर्तव्य)

नीचस्य मतिर्न दातव्या ॥ २०३ ॥

नीच, हीन, शठ मानवको सदुपदेश देकर उसे धर्मबुद्धि बनानेका प्रयत्न मत करो।

विवरण— विपथगामी बुद्धिवाले नीचको सदुपदेश देनेका परिणाम विपरीत होता है। वह एक भी अच्छी बात माननेको उद्यत नहीं होता। नीचको उपदेश देना केवल व्यर्थ ही नहीं है उसे अपना शत्रु बनालेना भी है। जिसने उपदेश मानना ही नहीं, उसे दिया हुआ सदुपदेश किसीको गोखरू खानेको कहने जैसा अमान्य हो जाता है।

(नीचका विश्वास अकर्तव्य)

तेषु विश्वासो न कर्तव्यः ॥ २०४ ॥

क्रूरों, शठों, वंचकों नीचोंका विश्वास न करना चाहिये।

विवरण— नीचोंसे विश्वासका सम्बन्ध जोड़ना, साधुता या महात्मापन समझा जाता है। परन्तु न तो यह साधुता है और न यह महात्मापन है। नीचोंको किसीका भी विश्वास पानेका अधिकार नहीं है। वे तो लोगोंके अविश्वास-भाजन बने रहनेके ही अधिकारी हैं। ऐसोंको अपनी कोई ऐसी मार्मिक बात बताना जिससे वे कोई हानि पहुँचा सकें नीतिहीनता और निष्फल व्यापार है।

पाठान्तर— नीचेषु ······ ।

(नीच स्वभाव)

सुपूजितोऽपि दुर्जनः पीडयत्येव ॥ २०५ ॥

दुर्जन उदारताका व्यवहार पाकर भी अवसर पाते ही अनिष्ट करनेसे नहीं चूकता ।

विवरण— उपकारीको दुःख पहुँचाये बिना दुर्जनको शान्ति नहीं पडती। दुर्जन दूध पीकर विषवमन करनेवाले साँप या त्राताके देहमें भी डंक मारनेवाले बिच्छूके समान अपने दुरतिक्रमणीय स्वभावसे जबतक किसीका अनिष्ट नहीं करलेता तबतक उसे ठंडक नहीं पडती । वह अपने स्वभावसे दूसरोंका अपकार करनेके लिये विवश है । इसलिये लोग धार्मिकताका सस्ता यश लूटने या दुर्जनोंसे महात्माःपनका प्रमाणपत्र लेनेके लिये उनके साथ विश्वासका संबंध स्थापित करनेकी भूल न करें ।

पाठान्तर— सुपूजितोऽपि बाधते दुर्जनः।

चन्दनादीनपि दावाग्निर्दहत्येव ॥ २०६ ॥

जैसे दावाग्नि अपने दाहकत्व स्वभावसे विवश होकर चन्दनकी शीतलता तथा सुगन्धका गुणग्रहण न करके उसे भी भस्मीभूत करडालती है, इसीप्रकार उपकृत भी शठ उपकार करनेवालेका कृतज्ञ न होकर उसका भी अपकार ही करता है ।

(अधिक सूत्र) **शिरसि प्रस्थाप्यमानो वह्निर्दहत्येव**

जैसे सिरपर धारण किया हुआ भी वह्नि अपने दाहक स्वभावसे विवश होकर अपने सम्मानदाताको भी निश्चित रूपसे जलाता है इसीप्रकार दुर्जन, सत्कृत तथा उपकृत होनेपर भी सत्कर्ता तथा उपकर्ताको निश्चित रूपसे पीडा पहुँचाता है ।

अपि निर्वाणमायाति, नानलो याति शीतताम् ।

आग बुझ तो सकती है परन्तु शीतल नहीं होसकती । इसीप्रकार नीच विनष्ट तो हो सकता है परन्तु अपनी नीचताको त्याग नहीं सकता ।

(अपमान करना अकर्तव्य)

कदापि पुरुषं नावमन्येत ॥ २०७ ॥

कभी किसी पुरुषका अपमान मत करो ।

विवरण— मनुष्यको शीलसे समस्त जगतपर वशीकार पाकर रहना चाहिये । दूसरोंका अपमान अपने ही सद्गुणोंका मर्दन करडालना है । किसी दूसरेका अपमान करना अपना ही अपमान है । जिसे लोग दूसरेका अपमान करनेवाला समझते हैं, वह सबसे पहले अपने ही आत्माका हनन या अपमान या अपने ही सद्गुणोंका मर्दन करचुकता है ।

अवमन्ता जिसे अपना शत्रु समझ लेता है उसे अपमानके द्वारा हानि पहुँचाना चाहता है । हानि शत्रुको ही पहुँचाई जाती है । क्योंकि मित्रोंके अपमानका तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता इसलिये यह सूत्र शत्रुके ही अपमानका निषेध कर रहा है । इसपर विचारना यह है कि शत्रुको हानि पहुँचाना तो अनिवार्य कर्तव्य है । क्योंकि उसे हानि न पहुँचानेसे उसके शत्रुताचरणको प्रोत्साहन मिलजाता है । शत्रुके हाथों हानि उठाना या उसके शत्रुताचरणमें सहयोग देना एक ही बात है । क्योंकि शत्रुका विरोध न करना निर्बुद्धिता है, इसलिये इस सूत्रका अभिप्राय अपमान न करनेका उपदेश देकर उसका विरोध ही छुडवा देना संभव नहीं है । अवसर मिलनेपर शत्रुको मिटा डालना ही उसके साथ उचित बर्ताव माना जाता है । इतनेपर भी उसका अपमान करनेसे विरत रहनेको कहना अवश्य ही अपना कोई गंभीर अभिप्राय रखता है । निश्चय ही आर्य चाणक्य जैसे मतिमान सूत्रकार किसी विशेष प्रकारका अपमान करनेसे विरत रहनेको नीतिके अनुकूल समझकर इसका उपदेश दे रहे हैं ।

महामति सूत्रकार अपनी आनुभविक चक्षुसे स्पष्ट देख रहे हैं कि— खोखले, तर्जन, गर्जन या अपशब्दात्मक अपमानकारी व्यवहारसे शत्रुकी कोई हानि न होकर अवमन्ताकी अपनी ही हानि होती है । इसी दृष्टिसे वे अपमानका निषेध कर रहे हैं । किसी भी निषेधात्मक उपदेशको तब ही कोई

स्वीकार कर सकता है, जब वह उपदेष्टाको अपना सच्चा हितवक्ता मानले और उसे उसका उपदेश अपने हितार्थ होनेका सन्तोष मिले। उदाहरणके रूपमें 'चोरी मत करो' इस उपदेशको वही मनुष्य स्वीकार करेगा, जो इस उपदेशसे विपरीत चलनेमें अर्थात् चोरी करनेमें अपना अहित समझेगा। परन्तु जो चोर होगा उसे 'चोरी मत करो' यह उपदेश किसी भी प्रकार स्वीकार न होगा। क्योंकि चोरीको प्रोत्साहन देकर अपहृत होना किसीके लिए भी लाभदायक नहीं है। इसके विपरीत यदि कोई कहने लगे कि चोरको मत रोको तो यह उपदेश किसीको भी ग्राह्य नहीं होगा।

इन सब दृष्टियोंसे इस सूत्रका कर्तव्याकर्तव्यकी स्पष्ट कसौटीपर कसकर यही अभिप्राय लेना उचित होगा कि अपमान करना अवमन्ताके अपने ही लिये अहितकारी तथा शत्रुके लिये हितकारी है। हिताहितके क्षेत्र परस्पर विरोधी होते हैं। हिताहितके परस्परविरोधी संबंध रखनेवाले क्षेत्रमें एकके हितसे दूसरेका अहित होना अनिवार्य होता है। अपमान करनेवाले लोग शत्रुका ही अनिष्ट करना चाहते हैं अपना नहीं। परन्तु दूसरेको हानि पहुँ-चाना चाहनेवाले लोग शत्रुको हानि पहुँचानेकी सच्ची विधिको त्यागकर भ्रान्तिवश शाब्दिक, तर्जन-गर्जनात्मक, खोखले निर्वीर्य क्रोधका प्रदर्शन करके अपने आप ही अशक्त तथा बुद्धिहीनके रूपमें व्यक्त होकर शत्रुके हाथोंमें स्वहानिकारक अस्त्र पकड़ा देते और अपना पराजय अवश्यंभावी बनालेते हैं। खोखली, कोरी अरुन्तुद बातोंसे शत्रुको हानि पहुँचानेका प्रदर्शन करना ही इस निषेध्य अपमानका स्वरूप है। शत्रुका खोखला विरोध न करके उसका ठोस विरोध करना चाहिये और उसे संसारके पटलसे हटाकर मानना चाहिये। सक्रिय अरि-विरोधमें बाह्याडंबर, वागाडंबर, तर्जन-गर्जन आदि व्यापार अपने ही लिये हानिकारक होनेसे उसीको यहां निषेध्य अपमानके रूपमें उपस्थित किया गया है। शत्रुको बातोंसे नहीं मिटाया जा सकता। कोरी बातें तो शत्रुको मिटानेके मार्गकी बाधक बनजाती हैं। बातोंसे शत्रुके हाथोंमें आत्मनाशका हथियार पकड़ा दिया जाता है।

इस सूत्रमें शत्रुके प्रति शाब्दिक क्रोधका प्रदर्शनमात्र ही निषेध्य अपमानकी परिभाषामें आरहा है। इस अपमानसे शत्रु विजित न होकर विजेता बनजाता है। हानि पहुँचानेवालेके साथ बदला लेनेकी भावनासे जो शाब्दिक असार बर्ताव किया जाता है उसीको यहाँ " अपमान " कहा जारहा है। शत्रुविरोधका कार्मिक न होकर कोरा शाब्दिक होना ही यहां अपमानकी परिभाषा है। शत्रुको मिटाडालना कदापि निन्दनीय नहीं है। हानि पहुँचानेवालेको पराभूत करना और संभव हो तो मिटाडालना व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों प्रकारके कल्याणका कारण होनेसे निन्दनीय न होकर प्रशंसनीय ही है। परन्तु यह शाब्दिक अवमन्ता दूसरेका अपमान करनेसे पहले अपनेको ही मनुष्योचित बर्तावकी स्थितिसे गिराकर अपना ही अपमान करचुका होता है। अपनी मनुष्यताको खोदेना ही स्वयं अपमानित होना है। किसीका भी सिर दूसरेके किये अपमानकारी बर्तावसे नीचा नहीं होता। स्वाभिमानीके सिरको कुचला तो जा सकता है परन्तु उसे कोई भी नीचा नहीं कर सकता। स्वाभिमानी व्यक्ति अपने सिरको ऊँचा रखकर ही शत्रु-मित्र उदास सबके साथ बर्ताव करता है। दूसरोंसे बर्तावके समय ही सिर ऊँचा-नीचा रखनेका प्रश्न उपस्थित होता है। जो अपना सिर ऊँचा रखकर दूसरेसे व्यवहार करता है उसका व्यवहार कभी भी अपमानजनक होनेके कलंकसे कलंकित नहीं होता। दूसरेका अपमान करनेकी भावनासे बर्ताव करनेवालेका अपमानकारी बर्ताव दूसरेको निन्दित न करके अपनी ही मनुष्यताको लांछित करडालता है।

सच्चे विजिगीषु लोग शत्रुके साथ बर्ताव करते समय भी अपमान करनेकी भावनासे कभी कोई बर्ताव न करके, अपने आपको शत्रुकी दृष्टिमें भी मनुष्यतासे हीन सिद्ध न होने देकर अपने मनुष्योचित गौरवको समुज्ज्वल रखकर, अपने वीरोचित ढंगसे शत्रुका सिर नीचा करके छोडते हैं। दूसरेका अपमान करनेकी भावना ही मूलमें भूलसे भरी हुई है। मनुष्यताकी कसौटीपर परखनेसे प्रतीत होता है कि दूसरेका अपमान करना वास्तवमें अपने

ही सिरको नीचा करना होता है। दूसरेका अपमान करनेकी भावनावाला मनुष्य स्वाभिमानसे वंचित होजाता है। दूसरेका अपमान करनेकी भावनाके मूलमें यह भ्रान्ति छिपी रहती है कि अवमन्ता अपने सिरको स्वभावसे सदा ऊँचा रखना नहीं चाहता किन्तु शत्रुके सिरको ऊँचा देखते ही उसे नीचा करना चाहता है। सत्यनिष्ठ विजिगीषुका सिर तो निरपेक्ष रूपमें स्वभावसे सदा ही ऊँचा रहता है। उसके शत्रु असत्यके दास असुरका सिर स्वभावसे सदा ही नीचा होता है। सत्यनिष्ठ विजिगीषु अपने सिरको सत्यकी महिमासे समुन्नत रखकर ही अपने शत्रुके सिरको नीचा सिद्ध कर देता है। अपने सिरको निरपेक्षरूपसे स्वभावसे ऊँचा बनाये रखनेके अति-रिक्त शत्रुके सिरको नीचा दिखानेका दूसरा कोई उपाय संभव नहीं है। जिसका सिर स्वभावसे ऊँचा नहीं होता, वही शत्रुके सिरको अपनेसे ऊँचा पाकर, उसे बलपूर्वक नीचा करनेका व्यर्थ प्रयत्न किया करता है। यों अपमान करना चाहनेवाला ही स्वयं अपमानित होजाता है। सत्यनिष्ठ विजिगीषुके पास मानापमानकी यह कसौटी स्वयमेव विद्यमान रहती है।

पाठान्तर— कञ्चिदपि ……।

किसी भी पुरुषका अपमान न करना चाहिये।

(निरपराधोंको कष्ट मत दो)

क्षन्तव्यमिति पुरुषं न बाधेत् ॥ २०८ ॥

क्षमा करना मानव-धर्म है इस दृष्टिको लेकर क्षमायोग्य पात्रोंको सन्ताप मत पहुँचाओ।

विवरण— पात्रापात्र विचार न करके अपात्रको क्षमा करना तथा पात्रको क्षमासे वंचित रखदेना विचारशून्यता है। क्षमा राजधर्म है। दण्डधारी ही निरपराधोंको अदण्डित रखने तथा अपराधियोंको दण्डित करनेका अधिकार रखते हैं। परिस्थितिके कारण जब जिसे अपराधियोंको दण्ड देनेका अधिकार मिलता है, तब उसके अपराध या निर्दोषताका

निर्णय करना भी यदृच्छासे उसीका कर्तव्य होता है। यह कर्तव्य उसे न्यायाधीशका आसन देदेता है। जिसे जब न्यायाधीशका आसन मिलजाता है, उसे तब क्षमा करनेका भी अधिकार प्राप्त होजाता है। इस अवसरपर क्षमाशीलतारूपी मानव-धर्म-पालनमें प्रमाद न करना चाहिये। राजा न्यायनिष्ठ प्रजाकी ओरसे ही न्यायाधीशके आसनपर नियुक्त होता है। प्रजाकी न्यायनिष्ठा राजचरित्रमें प्रतिध्वनित होकर प्रकट रहे यही तो राजाकी योग्यता है। अपराधियोंको दण्डमुक्त रखना प्रजाके लिये असन्तोषजनक होनेके कारण अपराधियोंकी दण्डमुक्तिको क्षमामें सम्मिलित नहीं किया जासकता। अपराधीको दण्डित करके समाजकी शान्ति-रक्षा करना राजधर्म है। निरपराधको दण्ड देकर समाजमें न्यायका हनन करना समाजके लिये हानिकारक है। इस दृष्टिसे क्षमाके उपयुक्त क्षेत्र (पात्र) का निर्णय करना राजाका अनिवार्य कर्तव्य होजाता है। कुछ थोडेसे मनुष्य ऐसे भी होते हैं जिनके चित्तपर क्षमासे न्यायका प्रभाव डालना संभव होता है। ऐसे लोगोंको क्षमारूपी उपायसे समाज-हितैषी नागरिक बनानेका अवसर आता है। ऐसे समय उन्हें क्षमा करदेना ही न्यायमें सम्मिलित होजाता है। गुरुपापमें लघुदण्ड तथा लघुपापमें गुरुदण्ड दोनों एक जैसा अन्याय है। इसलिये क्षमाका उपयुक्त पात्र उसीको समझना चाहिये, जिसका अपराध क्षमासे क्षालित होजाना निश्चित रूपसे प्रमाणित होजाय। ऐसे मनुष्यको क्षमाके अतिरिक्त दण्ड देना उसके साथ अन्याय होगा। क्षमाके द्वारा पापका प्रोत्साहन करना कभी क्षमाशीलता नहीं माना जा सकता। निर्विचारभावसे अपराधीको क्षमा करते रहकर क्षमाशीलताका प्रमाणपत्र लेकर अपना यशोलोभ चरितार्थ करना किसी भी रूपमें प्रशंसनीय नहीं है।

समाज-हित ही क्षमाका दृष्टिकोण होना चाहिये। क्षमासे किसी व्यक्ति-विशेपको अनुगृहीत करके, उसकी व्यक्तिगत कृतज्ञताका भाजन बनजाना तो क्षमाका एकांगी दूषित दृष्टिकोण है। यह न होना चाहिये। समाज-

कल्याणको मुख्य ध्येय रखकर अपराधीके साथ चाहे जो बर्ताव किया जाय, वह ऊपरसे देखनेमें दण्ड होनेपर भी दण्डनीयके लिये कल्याणकारी होनेके कारण अक्षमा न कहाकर क्षमा जैसा ही महत्त्वपूर्ण व्यवहार माना जायगा। इसके विपरीत अपराधीको क्षमा करके समाजमें अपराधको प्रोत्साहन देकर अपराधियोंकी संख्या बढाते चले जाना क्षमाके नामसे अनर्थको अपनाना है। समाजकी शान्तिकी रक्षा करनेवाले सदस्यको समाजसेवासे वंचित करना या यों कहें कि समाजको किसी शान्ति-रक्षक सदस्यकी सेवासे वंचित करदेना, दण्डका उद्देश्य कदापि नहीं है। अपराधीका संशोधन करनेवाले दण्ड तथा क्षमा नामके दोनों अस्त्र, परिस्थितिके अनुसार समान उद्देश्यसे प्रयोगमें लाये जाने चाहियें। दण्ड तथा क्षमा दोनोंका उद्देश्य अपराधको निन्दित करना ही होना चाहिये। अपराधी तब ही क्षम्य माना जासकता है जब कि क्षमाके प्रभावसे उसके मनमें अपराधके लिये घृणा उत्पन्न की जासके। यदि क्षमासे अपराधीके मनमें अपराधके लिए घृणा उत्पन्न न की जासके तो अपराधोंको समाजमें निन्दनीय बनाये रखनेके लिये अपराधियोंको कठोरसे कठोर दण्ड देनेमें प्रमाद करना घातक भ्रान्ति होगी।

(अपमान सहनेवालोंपर अत्याचार मत करो)

(अधिक सूत्र) **क्षमन्त इति पुरुषान् न बाधयेत् ।**

लोगोंकी सहनशीलताको देखकर उनसे ऐसा बर्ताव न करो जो वास्तवमें उनपर अत्याचार बन जाय।

विवरण— राजदण्ड चिकित्सकोंके अमृतफलोत्पादक विष-प्रयोग-सा होना चाहिये। राजदण्डका उपयोग असाध्य रोगीकी चिकित्सामें अचूक रक्षक विष-प्रयोगके समान होनेपर ही समर्थनीय होता है। प्रजापालक राजाका कर्तव्य है कि वह दण्ड-प्रयोग करते समय अपनेको अत्याचारित प्रजाकी परिस्थितिमें रखकर ही दण्डकी उपयोगिता तथा औचित्यका विचार किया करे। अपनेको अत्याचारित प्रजाकी स्थितिमें रखे बिना दण्डका अभ्रान्त होना किसी भी प्रकार संभव नहीं है।

प्रजा स्वभावसे राजभक्त होती है। उसका सिर राजदण्डके सम्मुख स्वभावसे अवनत रहता है। विद्रोह तो वह विवश होकर ही करती है। राजाका कर्तव्य है कि वह अपनी दुर्नीतिसे प्रजाके इस अवनत सिरको विद्रोही न बनने देकर अवनत रखे। परन्तु यह काम राजाकी विचारशीलतापर निर्भर रहता है। जब राजा विचारशून्य होकर प्रजासे सहानुभूति रखना छोड देता और अपनेको राष्ट्रका ही एक अंग न समझकर, राष्ट्रका मालिक बननेकी धृष्टता कर बैठता है, तब ही उसके मनमें प्रजापीडन, प्रजाशोषण आदि दुर्गुण उद्भूत होकर उसे अत्याचारी, भ्रष्टाचारी, बनाकर उसे प्रजाकी घृणाका पात्र बनाडालते हैं। राजाका अपनेको राष्ट्रका अंग न समझकर विशेषाधिकार-संपन्न मानने लगना ऐसी व्याधि है जो राज्याधिकारका दुरुपयोग कराती है। विचारशील राज्याधिकारियोंका कर्तव्य है कि वे राज्याधिकारका दुरुपयोग करानेवाली इस व्याधिको राज्यसंस्थामें न घुसने दें। प्रजाकी अत्याचार तथा उत्पीडन सहती चली जानेवाली कातरतामयी सहनशीलताको राजभक्तिमें कदापि सम्मिलित न करना चाहिये किन्तु उसे राष्ट्रदेहकी तत्काल चिकित्स्य भयंकर व्याधि मानना चाहिये। उत्पीडन सहनेवाली प्रजाकी सहनशीलता, अत्याचारी राज्याधिकारियोंकी आसुरिकता है।

अत्याचारी आसुरिक राज्याधिकारी प्रजाको बार-बार नाना भांतिके दैहिक या आर्थिक उत्पीडनोंसे त्रस्त करकरके उसका विरोध करनेका स्वभाव छुडाकर निष्कण्टक बनजाना चाहा करते हैं। इस दृष्टिसे प्रजाकी यह अत्याचारसहनशीलता अत्याचारी राजाकी आसुरिकता होती है। किसी राष्ट्रकी अन्याय-सहनशीलता देखकर निःशंक होकर मान लो कि यहाँकी राजशक्तिने इस राष्ट्रकी मनुष्यता तथा अन्यायके विरोध करनेकी शक्तिको पददलित करके उसे मनुष्यताहीन बनालिया है। जहाँ कहीं प्रजा अन्याय सह रही हो, वहांके राजा या राज्याधिकारी अवश्य ही अत्याचारी हैं। सुयोग्य राज्याधिकारियोंको तो प्रजाकी अन्यायका विरोध करनेकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहित

करना चाहिये। इसलिये करना चाहिये कि जब प्रजाकी यह असीम सहन-शीलता अपनी सीमा पार कर जाती है तब इसका राजविद्रोहके रूपमें व्यक्त होना अवश्यम्भावी होजाता है।

राजदण्डको प्रजाका हार्दिक समर्थन मिलता रहे, यही तो उसका औचित्य है और यही उसकी सहन-योग्यता भी है। जबतक राजा लोग अपने हितको प्रजाके हितसे अभिन्न समझते रहते हैं तबतक राजदण्ड अपनी मर्यादा उल्लंघन नहीं करपाता और सह्यतासे भी बाहर नहीं निकलपाता। तब राजदण्ड सत्यतुलापर तुल-तुलकर पक्षपातहीन होकर अपने यथार्थ रूपमें रहता है। परन्तु दुर्भाग्यसे प्रायः राज्याधिकारी लोग राज्याधिकार पाकर आत्मविस्मृतिकी कीचडमें फँस जाते हैं और अपने स्वार्थको प्रजाहितसे अलग मानकर अपनेको प्रजामें सम्मिलित न रहने देकर राज्यका एकाधिकार पानेवाले उच्च सिंहासनारूढ शासकजातिके लोग बनजाते हैं। तब ये लोग अभियुक्तके साथ जो बर्ताव करते हैं वह अनिवार्य रूपसे व्यक्तिगत शत्रुताका रूप धारण करलेता है। ऐसे राज्याधिकारियोंकी दृष्टिमें अपराधकी कसोटी ही बदल जाती है। ऐसे राज्याधिकारियोंके व्यक्तिगत स्वार्थका विरोध करनेवाले बर्ताव ही अपराधकी श्रेणीमें गिने जाने लगते हैं। ऐसे राज्याधिकारी लोग यद्यपि ऊपरसे देखनेमें व्यक्तियोंको ही अन्यायसे दण्ड देते दीखते हैं, परन्तु वे अन्याय-दण्डित इकले-दुकले व्यक्ति ही राजाको प्रजाकी दृष्टिमें अन्यायी सिद्ध करके राज्याधिकारियोंको सम्पूर्ण राष्ट्रका शत्रु बना देते हैं। प्रजाकी दृष्टिमें आये हुए राजदण्डके दुरुपयोगके ये इक्के-दुक्के उदाहरण ही राज्यभरमें होनेवाले असंख्य उदाहरणोंके प्रतिनिधि बनकर राज्याधिकारियोंको प्रजाकी घृणाका पात्र बना देते हैं।

इस प्रकारके विरल उदाहरणसे यह नहीं माना जासकता कि राष्ट्रमें सर्वत्र ऐसा राजकीय पाप नहीं होरहा है। राष्ट्रमें इस प्रकारके विरल उदाहरणोंसे ही समग्र राष्ट्रका अन्याय-पीडित होना सिद्ध होजाता है। क्योंकि इस प्रकारके विरल उदाहरणोंका प्रतिकार करनेसे ही समग्र राष्ट्रव्यापी

पापोंका निवारण होसकता है, इसलिये किसी कल्याणकामी राष्ट्रको इन विरल उदाहरणोंको क्षुद्र घटना न मानकर असंशोधित नहीं छोड़ना चाहिये। यदि कोई राष्ट्र इस प्रकारके विरल उदाहरणोंको सह रहा हो तो उसे न तो समग्र राष्ट्रकी सहनशीलता मानना चाहिये और न इस सहनशीलताका यह अर्थ मानना चाहिये कि राष्ट्र इन राजकीय अत्याचारोंका समर्थन कर रहा है। बात यह है कि अत्याचार अत्याचारितकी दृष्टिमें कभी भी सह्य नहीं होता। राज्याधिकारी लोग इस सत्यको ध्यानमें रखकर अपने आपको प्रजामें सम्मिलित मानें तब ही वे न्यायपूर्वक दण्डधारण कर सकते हैं।

बाधा या आक्रोश अनिष्टकारियोंको ही पहुंचाना चाहिये। निरपराध क्षमाशीलको नहीं। संसारमें प्रायः मारतेके आगे और भागतेके पीछे दौड़नेवालोंका ही आधिक्य है। कायर लोग भागने तथा सहनेवालोंपर ही अपनी कापुरुषताको छिपानेवाली मिथ्या वीरताका प्रदर्शन किया करते हैं। परन्तु यह प्रवृत्ति संकटसे शून्य नहीं है। इसलिये नहीं है कि सहनकी भी तो सीमा होती है। जब अतिपीड़ित मनुष्य जीवन और सुखोंसे निराश होकर, जानपर खेलकर प्रत्याक्रमण करनेपर विवश होजाता है, तब वह अजेय और अप्रतीकार्य होता है। निर्दयतासे मारा हुआ तो पत्थरतक आगके विस्फुलिंग उगलकर अपना रोष प्रकट करता है। दूसरोंके साथ मानवोचित बर्ताव करनेमें ही मानवकी शक्तियोंकी सार्थकता तथा कल्याण है।

श्री वल्लभदेवने कहा है—

> क्षमया आर्जवेनैव दयया च मनीषया।
> कौशलेन च लोकानां वशीकरणमुत्तमम्॥

क्षमा, ऋजुता, दया, सद्भावना तथा कौशलसे ही लोगोंका उत्तम वशीकार होता है।

(अधिक सूत्र) **चन्दनादपि जातो वह्निर्दहत्येव।**

जैसे सुशीतल चन्दनसे उत्पन्न अग्नि भी दाह करती है, इसी प्रकार सहनकी सीमा पार होजानेपर सहनेवाले ठंडे लोगोंमेंसे

भड़क उठी हुई विद्रोहमयी अग्नि साम्मुख्य तथा विप्लवका रूप लेकर वृथापीडक अवमन्ता या अपकर्ताको नष्ट-भ्रष्ट करनेपर उतर आती है।

विवरण— राज्याधिकारी लोग राजशक्तिके मदमें आकर ऐसा मूढ पग न उठावें, जिससे पीडित निराश प्रजाको कानूनको हाथोंमें लेकर प्रत्याक्रामक बननेके लिये विवश होजाना पड़े। सहनकी सीमा पार होनेपर सहनेवालोंमेंसे भड़की हुई आग विप्लवका रूप धारण करके समग्र राष्ट्रको नष्ट-भ्रष्ट करडालती है। राज्याधिकारी लोग प्रजाको कुपित करनेको साधारण बात और उसके कोपको साधारण हानि न समझकर उससे बचे रहें। राजा लोग जानें कि तुम्हारे राज्यको जो राजशक्ति मिली है वह प्रजाकी दी हुई धरोहर ही तो है। संसारका इतिहास कह रहा है कि जब जब राजा लोग अपने राजकीय कर्तव्य भूलकर शक्ति-मदान्ध होकर अन्याय और अत्याचारपर उतरे हैं तब-तब प्रजाको ऐसे राजाओंसे राजशक्ति छीननेके उद्देश्यसे कानूनको हाथमें उठा लेनेके लिये विवश होजाना पड़ा है।

(मन्त्रसभामें निर्बुद्धिको मत बैठाओ)

भर्त्राधिकं रहस्युक्तं वक्तुमिच्छन्त्यबुद्धयः ॥ २०९ ॥

निर्बुद्धि लोग राजाके द्वारा एकान्तमें कहे हुए गंभीर राजकीय रहस्योंको प्रकट करदेना चाहते हैं।

विवरण— सूत्रकार कहना चाहते हैं कि राजाकी मंत्रणा-सभामें अविश्वसनीय लोगोंके प्रवेशको निषिद्ध रखनेके लिये अत्यन्त सावधानता बर्तनी चाहिये। निर्बुद्ध लोग अपनी इस दुष्प्रवृत्तिके घातक परिणामको न समझकर, अपनी असंयत इच्छाके आधीन होकर अपने प्रभुका रहस्य-भेद करके, राष्ट्रको हानि पहुंचाकर, अपनी ही हानि करते हैं। रहस्य-भेद कार्यघाती तथा राष्ट्रघाती व्याधि है।

पाठान्तर— भेरीताडितं रहस्युक्तं वक्तुमिच्छत्यबुधः ॥

मूढ मानव अपनी बुद्धिहीनतासे रहस्यमें कही हुई बातको डंकेकी चोट कहना और उसे सकलजनश्रोतव्य बनादेना चाहा करता है ।

मूढके पेटमें बात नहीं पचती। उसे रहस्यकी बात सुनते ही कुपच होकर बातका अतिसार होजाता है ।

(परिणामसे हितबुद्धि पहचानो)

अनुरागस्तु फलेन सूच्यते ॥ २१० ॥

अनुराग मौखिक सहानुभूतियोंसे सूचित न होकर फलोंसे सूचित होता है ।

विवरण— अनुरागीके अनुरागका प्रमाण बातोंमें ढूंढना भ्रामक है । अनुराग तो आचरणों और फलोंसे जानने योग्य वस्तु है । किसीके शाब्दिक अनुरागका विश्वास करना मूढता और भोलापन है ।

समाजके प्रत्येक सदस्यका राष्ट्रानुरागी अर्थात् सार्वजनिक कल्याणमें अपना कल्याण समझनेवाला सेवक होना अत्यावश्यक है । समाजके प्रत्येक सदस्यके सार्वजनिक कल्याणमें अपना कल्याण समझनेवाला होनेपर ही समाजमें शान्ति सुरक्षित रहसकती है । समाजकी यह शान्ति-कामना ही राष्ट्रसेविका राज्यसंस्थाके रूपमें क्रियात्मक रूप लेकर रहती है । राष्ट्रसंस्था राज्यका शाब्दिक दिखावामात्र अनुराग रखनेवाली न हो किन्तु व्यवहारमें आनेवाला वास्तविक अनुराग रखनेवाली हो तब ही राष्ट्रका कल्याण होना संभव है । सच्चा अनुराग ही मानव-समाजको संगठित रखनेवाला सुदृढ बन्धन है ।

प्रकृतमें राज्याधिकारियोंका निर्वाचन इस उद्देश्यको सामने रखकर करना चाहिये कि राज्यसंस्थामें सच्चे राष्ट्र-हितैषी ही सम्मिलित होने पायें । जिन्हें निर्वाचित किया जाय उनकी राष्ट्र-हितैषिताके यथोचित प्रमाण पाये बिना किसीका भी निर्वाचन न होना चाहिये । किन्हीं राज्याधिकार-लिप्सुओंके व्याख्यान, आत्मप्रचार, साम्प्रदायिक या जातिगत स्वार्थमूलक दलबद्धता राज्याधिकार संभालनेकी योग्यता कदापि न माननी चाहिये किन्तु निःस्वार्थ

देश-सेवा ही राज्याधिकार प्राप्तिकी योग्यताकी कसौटी होनी चाहिये। राज्याधिकारियोंके निर्वाचनमें इन बातोंका ध्यान अनिवार्य रूपसे रक्खा जानेपर ही अपनी ओरसे राज्यसंस्थाके प्रतीक्षक (उम्मेदवार) बननेकी देशमें फैली हुई महामारी राजनीतिसे बहिष्कृत होसकती है और तब ही राष्ट्र अपने योग्य व्यक्तियोंको अपनी ओरसे विश्वस्त देशानुरागी सेवकोंके रूपमें नियुक्त करके राज्यसंस्था संभालनेका गंभीर कर्तव्य पूरा कर सकता है।

पाठान्तर— अनुरागस्तु हितेन सूच्यते।

अनुराग हितकारी चेष्टाओंसे पहचाना जाता है।

(ऐश्वर्यका फल)

अज्ञाफलमैश्वर्यम् ॥ २११ ॥

यह पाठ अर्थहीन होनेसे प्रामादिक है।

पाठान्तर— आज्ञाफलमैश्वर्यम्।

ऐश्वर्यका फल आज्ञा है।

विवरण— संसारमें उसीकी आज्ञा मानी जाती है जो अपने ऐश्वर्यको अपनी प्रबन्धशक्तिसे सुरक्षित रखता है। राज्यसंस्था राजाज्ञाका रूप लेकर प्रकट होती या आत्मप्रकाश किया करती है। राष्ट्र ही राजाको सिंहासनारूढ करता है। राष्ट्रकी अवहेलना करके राजसिंहासनपर बलात् अधिकार कर बैठनेवालेको सिंहासन चाहे मिलजाय परन्तु वह राष्ट्रके उस हृदयमें जो राष्ट्रका सच्चा स्वामी है स्थान नहीं लेपाता। राष्ट्रके हृदयकी सम्मतिके बिना राज्याधिकार हथियाबैठनेवाले राजाका राष्ट्रविरोधी होना अनिवार्य है। ऐसे राजाका राज्य तबतक ही रह सकता है, जबतक राष्ट्रकी सम्मिलित शक्ति उसे पराभूत न करे। राष्ट्रविरोधी आज्ञा देनेवाला राजा प्रजाको पग-पगपर पीडित करता रहकर उसे विद्रोही बनाता चलाजाता है। क्योंकि राष्ट्रका हृदय ही राष्ट्रका सच्चा राजा होता है, इसलिये राज्यव्यवस्थाको राष्ट्रहृदयरूपी सच्चे राजाकी सर्वमान्य आज्ञाके रूपमें प्रकट करनेके लिये यह

अनिवार्य रूपसे आवश्यक है कि राज्यव्यवस्था संभालनेवाले लोग अपनी या राज्यसंस्थाकी ओरसे निर्वाचित न होकर, राष्ट्रकी ओरसे निर्वाचित हों। राष्ट्र-व्यवस्थाके लिये ऐसे व्यक्ति निर्वाचित हों जो राष्ट्रकी आज्ञाको विश्वस्तताके साथ राष्ट्र-कल्याणकारी सच्ची राजाज्ञाका रूप देडालें और बडी श्रद्धासे उसका पालन करें।

राजाज्ञा हि सर्वेषामलंघ्यः प्राकारः।

राजाज्ञा सबके लिये अलंघनीय दुर्ग है।

जैसे फल वृक्षके स्वरूपको प्रकट करदेता है, इसी प्रकार पालित अपालित, अर्धपालित या अवहेलित राजाज्ञा राज्यसंस्थाके यथार्थ रूपको प्रकट कर देती है। यदि राजाज्ञा प्रजापीडक हो तो वह राज्यसंस्थाको प्रजाद्रोही सूचित करदेती है। राज्यसंस्था होनेपर किसी न किसी प्रकारकी राजाज्ञाओंका प्रचारित होना अनिवार्य होता है। यदि वे राजाज्ञायें प्रजा-पीडक हों तो वे प्रजाका हार्दिक अनुमोदन न पासकनेसे उस राज्यसंस्थाको राज्यकी अनधिकारिणी सिद्ध करदेती हैं और प्रजाको राज्यसंस्थाका विद्रोही बनाती रहती हैं। प्रजाका अनुमोदन न पासकनेवाली आज्ञाको प्रचारित करनेवाली राज्यसंस्था, प्रजाकी हृदयरूपी उर्वर भूमिका अनुरागरूपी रस-ग्रहण करने तथा राष्ट्रमें शान्तिरूपी फल पैदा करनेमें असमर्थ होजाती है। इस प्रकारकी राज्यसंस्था अशान्तिरूपी विषैला फल उत्पन्न करनेवाला विष-वृक्ष बनजाती है। इस विष-वृक्षका मूल देशद्रोही राज्याधिकारियोंके स्वार्थ-मलिन हृदयोंमें रहता है। यदि राष्ट्रमेंसे इस प्रकारके विषवृक्षोंका मूल नष्ट करना हो तो देशद्रोही राज्याधिकारियोंको अपने हृदयका स्वार्थरूपी मल त्यागनेके लिये विवश करना ही पडेगा। देशके विचारशील लोगोंको इस विष-वृक्षके मूलको पहचानकर उसके ऊपर प्रजाशक्तिकी सामूहिक कल्याण-भावनाका कुठार चलाकर उसे ध्वस्त करडालना चाहिये।

अथवा— आज्ञा देना और उसे पलवाकर छोडना ऐश्वर्यका फल है। जिसकी आज्ञा शिरोधार्य तथा मान्य होती है उसीका ऐश्वर्य सुरक्षित रहता है। जिसकी आज्ञा उपेक्षित होजाती है उसका ऐश्वर्य निष्फल होता है।

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः॥

संसारके लोग अपने कोपको निष्फल न जाने देने तथा आपत्तियोंका सिर कुचल डालनेवालेके वशमें अपने आप आजाते हैं। मित्र या शत्रु कोई भी अमर्षशून्य मानवका आदर नहीं करता।

(मूर्खोंका दानक्लेश)

दातव्यमपि बालिशः क्लेशेन परिदास्यति ॥ २१२ ॥

मूढ मानव दातव्य वस्तुको भी बाह्य प्रभावसे देता है।

विवरण— मूढ मानव देना मनमें सोचकर भी तथा वाणीसे देना स्वीकार करके भी बुरे ढंगसे, बडे कष्टसे संदिहान चित्तसे तथा स्वार्थबुद्धिसे देता है। वह सरलता, नम्रता तथा कर्तव्य-बुद्धिसे देता ही नहीं।

पाठान्तर— दातव्यामिति ……।

मूढ मानव देना कर्तव्य होनेपर भी क्लेशसे देता है।

यह समस्त संसार दानके ही माहात्म्यसे चल रहा है। यह सृष्टि विधाताके आत्मदानसे ही तो सप्राण होरही है। मातापिताके आत्मदानसे मानवका भरण-पोषण होता है। वे सन्तानपालनमें आत्मदान किये रहते हैं। समाजके आत्मदानसे समाज-कल्याणकारिणी संस्थाओं तथा विपद्ग्रस्त व्यक्तियोंके भरण-पोषण होते हैं। यदि मानवको सामाजिक सहायता मिलनी बन्द होजाय तो उसकी जीवन-यात्रामें पद-पदपर विघ्न आखडे हों।

जैसा समाज होता है उसी प्रकारका सहयोग प्राप्त होता है। समाजके बुरे-भले होनेपर ही मनुष्यको भले-बुरे सहयोग मिलते हैं। समाजके साथ व्यक्तिका जीवन-मरणका अकाट्य, अभेद्य, अच्छेद्य सम्बन्ध है। इस दृष्टिसे अपने समाजमें मनुष्यताके संरक्षक सद्गुणोंकी वृद्धिके लिये अपने उपार्जनका कुछ भाग अनिवार्य रूपसे दान करना मनुष्यका परोपकार नहीं किन्तु स्वहितकारी कर्तव्य है। गीताके शब्दोंमें—

भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।

जो लोग समाज-कल्याणमें अपना भाग न देकर केवल व्यक्तिगत आवश्यकता पूर्ण करनेमें ही अपनी समस्त उपार्जन-शक्ति व्यय करडालते हैं वे 'पापभोजी' हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्यको सामाजिक सहयोगके महत्वको जानकर प्रसन्नता और गर्वानुभूतिके साथ समाज-कल्याणमें दान करते रहना चाहिये।

समाजके कल्याणमें अपना कल्याण समझनेवाला राष्ट्रसेवक बनना मानवमात्रका कर्तव्य है। इस कर्तव्यको समझनेवाला तो इसे प्रेम (अर्थात् स्वेच्छा) से करता है, परन्तु स्वार्थी मनुष्यको तो दबावमें लाकर ही कर्तव्य करनेके लिये विवश किया जा सकता है। इस प्रकारके मूर्ख लोग समाजकी शान्तिमें सहयोग देनेका कर्तव्य स्वेच्छासे नहीं करते। इन लोगोंपर राज्यसंस्थाके द्वारा समाजकी शान्तिमें सहयोग देनेका दबाव डाला जा सकता है। राज्यसंस्था भी प्रजापर समाजकी शान्तिमें सहयोग देनेका दबाव तब ही डालती है, जब राष्ट्र सजग हो और अपनी राज्यसंस्थापर ऐसा करनेका दबाव डालनेके लिये सन्नद्ध हो। राज्यसंस्था तब ही शक्तिमती तथा कर्तव्य-परायण होती है, जब उसका निर्माता राष्ट्र शक्तिमान हो। राष्ट्रका शक्तिमान होना तो राज्यसंस्थाके शक्तिमान होनेका कारण और राज्यसंस्थाका शक्तिमती होना समाजको शक्तिमान बनाये रखनेवाला कारण होता है। राष्ट्र तो राज्यसंस्थासे बल पाता है और राज्यसंस्था राष्ट्रसे अनुप्राणित होती रहती है। राष्ट्र और राज्यसंस्था दोनों परस्पर भावित होकर राष्ट्रको साकार स्वर्ग बना देते हैं। राष्ट्र तथा राज्यसंस्था दोनों एक दूसरेपर आश्रित और दोनों एक दूसरेके सहायक हों तब ही पारस्परिक दबावसे सन्मार्गपर रह सकते हैं। इस दृष्टिसे राज्यसंस्थामें समाजके सच्चे हितैषी सेवकोंको ही स्थान मिल सकनेकी सुदृढ व्यवस्था रहनी चाहिये।

(बडेसे बडा ऐश्वर्य असंयमीको नहीं बचा सकता)

महदैश्वर्यं प्राप्याप्यधृतिमान् विनश्यति ॥ २१३ ॥

अविवेकी लोग राज्यैश्वर्य पाकर भी नष्ट हो जाते हैं।

विवरण— अधीर, अस्थिर, असंयमी मनुष्यको मिला बडेसे बडा राज्यैश्वर्य भी उसके विनाशके ही काम आता है। उसके पास उसके ऐश्वर्यका सदुपयोग करनेवाली (अर्थात् समाज-कल्याणके द्वारा अपना सच्चा कल्याण करनेवाली) धीरता, स्थिरता, संयम तथा दानशीलता नहीं होती। इन गुणोंके अभावमें उसके पास आई संपत्ति दुरुपयुक्त होकर उसीके विनाशका कारण बनजाती है।

यहाँपर धृति शब्द मानवोचित समस्त गुणोंका उपलक्षण है। चरित्र, सुशिक्षा, दाक्षिण्य तथा वैदुष्य न होनेपर मनुष्यकी यही दुर्दशा होती है। वह मनुष्यतासे गिरकर देशद्रोही बन जाता है। देशकी दृष्टिमें अवांछनीय बनजाना ही उसका विनाश है। धीरता, विवेक और संयमवाले पुरुषके पास आई संपत्ति उसकी दृढताके कारण सदुपयोगमें आती रहकर उसकी मनुष्यताको सुरक्षित रखनेके काम आती रहती है। संपत्तिका स्वभाव ही ऐसा है कि यह जिस घरमें घुसती है यदि उस घरमें विवेक न हो तो उसके गुणोंका सर्वनाश किये बिना, उस घरसे नहीं टलती। संपत्तिविषयक अभिलाषाओंपरसे नियंत्रण उठ जानेसे ही संसारमेंसे मनुष्यताका ह्रास होता जारहा है। अधीर मानवकी संपत्ति उसके विनाशके ही काम आती है। अधीर मानव संपत्तिके सदुपयोगकी कला जानता ही नहीं। संपत्ति, धैर्य और विवेकसे ही सुरक्षित और सदुपयुक्त होसकती है। विरोधी अवस्थाओंको पराभूत करके विजयी बने रहना धीरज है। अपने लक्ष्यपर स्थिर रहनेरूपी आत्मविश्वासकी अवस्थाका नाम धीरज है। सत्यपर सुप्रतिष्ठित रहकर उसके बलसे असत्यकी उपेक्षा करते रहना धीरज है।

विपदन्ता ह्यविनीतसंपदः।

अविनीत अर्थात् सत्यका नेतृत्व स्वीकार न करनेवाले मानवका ऐश्वर्य उसे अन्तमें विपद्ग्रस्त करदेता है।

पाठान्तर— महदैश्वर्यमवाप्याप्यधृतिमान् विनश्यति।

(अधिक सूत्र) **धृत्या जयति रोगान् ।**

धृतिसे (अर्थात् मन, प्राण तथा इन्द्रियोंको वशमें रखनेसे) रोगोंपर विजय पाया जासकता है ।

विवरण— मनुष्य धृतिसे रोगोंको जीतलेता है। काम-क्रोधादि कुप्रवृत्ति मनुष्यके मानसिक रोग हैं। त्रिदोषोंकी विकृति शारीरिक रोग हैं। मनको सदा कामादि रिपुओंके आक्रमणसे अप्रभावित रखनेवाला सत्यनिष्ठ कर्मवीर स्वभावसे ही अपने देहको रोगाक्रमणके कारणोंसे मुक्त रखकर सर्वावस्थामें उत्साही कर्तव्यशील बना रहता है ।

नास्त्यधृतेरैहिकामुष्मिकम् ॥ २१४ ॥

अधीरका वर्तमान और भावी दोनों सुखहीन (दुःखमय) हो जाते हैं। धीरज न होनेसे कर्मका सामर्थ्य नष्ट होजाता और फल अप्राप्त रहजाता है। सफलता पानेके लिये धीरताकी परमावश्यकता है ।

विवरण— अपने मनपर कामादि रिपुओंका आक्रमण होने देनेवाला असत्यका दास मानव वर्तमान क्षणमें कुकर्मासक्त दुःखी रहकर, अपने भूतको भी सुखविहीन सिद्ध करदेता और भावीको भी सुखसे वंचित बनाडालता है। वह अपने भूतको तो पश्चात्तापका कारण और भावीको नैराश्यमय बनाये रखता है ।

(क्षुद्र सदा त्याज्य)

(अधिक सूत्र) **गुणवानपि क्षुद्रपक्षस्त्यज्यते ।**

असत्यके प्रेमी नीच लोग गुणवान दीखनेपर भी त्याज्य होते हैं ।

विवरण— शिक्षा, शिष्टता, सौजन्य तथा संपत्तिसे युक्त भी नीचपक्ष इसलिये त्याग दिया जाता है कि उस पक्षमें मिलना वास्तवमें सत्यका ही

द्रोही होना है। वध्य-घातकसंबंध रखनेवाले सत्यासत्योंका सहवास असंभव है। नीचोंकी शिष्टता सौजन्य संपत्ति आदि गुण पर-वंचनके दुष्ट उपायमात्र होते हैं। नीचोंके गुण चोरके ओढे रामनामी दुपट्टोंके समान नीच कामोंमें ही उपयुक्त होते हैं। इसलिये राज्यव्यवस्थाको धोखेमें आकर कपटशिष्टाचारी पापाचारियोंको अपनी महत्त्वपूर्ण राष्ट्रसेवामें सम्मिलित करके लक्ष्यभ्रष्ट न होना चाहिये।

(संसर्गके अयोग्य)

न दुर्जनैः सह संसर्गः कर्तव्यः ॥ २१५ ॥

बुद्धिमान लोगोंको दुष्ट (हीन, नीच तथा क्रूर) लोगोंसे घनिष्ठता नहीं रखनी चाहिये।

अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः। (विदुर)

कल्याणार्थी लोग अधम कोटिके लोगोंके साथ न रहें।

(दुष्टोंके गुण भी दोष)

शौण्डहस्तगतं पयोऽप्यवमन्येत ॥ २१६ ॥

मद्यपके हाथके दूधको भी मद्यके समान ही त्याज्य मानना चाहिये।

विवरण— मदान्धोंकी कृपा भी भयंकर और त्याज्य मानी जानी चाहिये। दुष्टोंके दिखावटी गुण भी दोष ही होते हैं। ऐसोंके साथ घनिष्ठता अनर्थोत्पादक होती है। उनके गुणोंसे कृपान्वित होनेकी भूल कभी न करनी चाहिये। दुष्टोंकी कृपामें भी विनाशके विषैले बीज छिपे रहते हैं।

अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयंकरः।

अव्यवस्थित मनवालोंकी तो कृपा भी विनाशक होती है।

(सच्ची बुद्धि)

कार्यसंकटेष्वर्थव्यवसायिनी बुद्धिः ॥ २१७ ॥

कार्य-संकटमें अर्थात् (कर्तव्यमें विघ्न उपस्थित होनेपर)

निश्चित सफलता देनेवाला कर्तव्यका मार्ग सुझादेना बुद्धिका ही काम है।

विवरण— कार्य-संकटके समय कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करादेनेवाली असन्देहात्मिका बुद्धि ही बुद्धि कहाने योग्य है। संकटमें मनुष्यका बुद्धि-भ्रंश न होजाना चाहिये। बुद्धिका विशेष उपयोग संकट-कालमें ही होता है। संकट ही बुद्धिको उपयोगके अवसर देते हैं। इस दृष्टिसे संकटोंका मानव-जीवनके उत्थानमें महत्वपूर्ण स्थान है। इतिहासके समस्त बड़े मानव संकटोंहीकी कृपाके फल थे। यदि उनके जीवनमें संकट न आये होते, यदि वे यहाँसे संकट-हीन जीवन बिताकर चले गये होते, तो संसार उनके गुप्त गुणोंसे परिचित न होपाता और उनकी बुद्धिकी प्रखरता तथा तेजस्वितासे कोई शिक्षा भी न लेपाता। संसारको महापुरुष देने तथा उनसे परिचित करानेवाले संकटोंको लाख बार धन्यवाद। संकट इस विश्वकी सबसे ऊँची देन है। संकट मानव-जीवनको उच्च बनानेवाली रामबाण महौषध है।

राज्याधिकारियोंको कार्य-संकटोंके समय, संकट-कालमें भी यथार्थ बात सुझानेवाली बुद्धि रखनेवाले राष्ट्रके बुद्धिमान लोगोंको निमंत्रित करके उनसे संवाद द्वारा तात्कालिक राष्ट्रीय कर्तव्य-निर्धारण करना चाहिये।

(मित भोजनका परिणाम)

मितभोजनं स्वास्थ्यम् ॥ २१८॥

परिमित भोजन स्वास्थ्यदायक होता है।

विवरण— भोजन करनेवाले जानें कि वे भोजन करनेवाले नहीं हैं, किन्तु उदरकी आग ही भोजन करनेवाली है। यह मानव-देहरूपी यंत्र अन्नजलरूप ईन्धनसे चलता है। भोजन ही इस यंत्रको चलानेवाला ईन्धन है। गलेसे नीचे उतरते ही उस स्वादसे, जिसके लिये मनुष्य अस्वास्थ्यकर कुपथ्य भोजन करता है, मनुष्यका कोई संबंध नहीं रहजाता। इसलिये भोजन केवल स्वास्थ्यकी दृष्टिसे करना चाहिये, केवल स्वादकी दृष्टिसे नहीं।

उतना ही लेना चाहिये जितना शरीर-रक्षाके लिये आवश्यक हो अधिक नहीं। मनुष्यको शरीर-रक्षाके लिये आवश्यक हित, मित, मेध्य भोजन ही ग्रहण करना चाहिये। निरामिष भोजन आयुष्कर तथा रोगहारक है। यथेच्छाहारी भोगलोलुप मनुष्य रोगी होते हैं। ऐसे भोक्ताओंको लाख वार धिक्कार है जो जिह्वालौल्यसे अहित अपरिमित तथा अपवित्र भोजन करते हैं। "अजीर्णे भोजनं विषम्" प्रथम गृहीत भोजनका परिपाक न होचुकनेपर पुनः भोजन व्याधिके उत्पादनके द्वारा विषके समान प्राणहारक होता है। भोजन सामिष, निरामिष भेदसे दो प्रकारका होता है। निरामिष भोजन आयुष्कर तथा रोगनाशक होता है। सामिष भोजन बलवर्धक होनेपर भी आमिषवाले प्राणीके रोगोंसे दूषित होनेके कारण रोगजनक होता है।

स्वास्थ्य ही भोजनकी अनुकूलता प्रतिकूलताकी कसौटी है। भोजन पाकस्थलीके सामर्थ्यके अनुसार होनेपर ही शरीरके लिये पौष्टिक होसकता है। शरीरकी आवश्यकता पूरा करना पाकस्थलीका काम है। भोजन करनेवाला मनुष्य चक्षु, नासिका तथा जिह्वाके अनुमोदनसे भोजन ग्रहण करता है। अपरिमित भोजनपर नियंत्रण तब ही रह सकता है, जब चक्षु, नासिका तथा जिह्वाके अनुमोदनपर स्वास्थ्यविज्ञानका शासन रहे। स्वास्थ्यविज्ञानका शासन न रहे तो अपरिमित भोजन शरीरका घातक तथा कर्मोत्साहका नाशक होजाता है। आवश्यकता ही भोजनका परिमाण है। परिमित भोजन ही अमृत होता है। अपरिमित भोजन विषके समान अनिष्टकारी होता है। मनुष्य भोजन-ग्रहणमें स्वादेन्द्रियका दास न बने, किन्तु स्वादेन्द्रियको ही स्वास्थ्यकी अनुकूलता तथा पथ्यापथ्य निर्णय करनेवाली विचारशक्तिका दास बनाकर रक्खे। मनुष्यके संपूर्ण जीवनपर विचारशक्तिका प्रभुत्व होनेपर ही उसके शरीर और मन दोनोंको कर्तव्याभिमुख रक्खा जासकता और उन्हें अकर्तव्योंसे रोका जासकता। विचारशक्ति मनुष्यको कर्तव्याभिमुख रखकर उसे जीवनसंग्राममें विजयी बनाये रखती है। जो असंयतभोजी भोजन ग्रहण करनेमें कर्तव्यभ्रष्ट होता है उसका अपने संपूर्ण जीवनमें

प्रत्येक कर्तव्यमें कर्तव्यभ्रष्ट होना अवश्यंभावी होता है। अपनी शरीर-रक्षा तथा बाह्य भौतिक परिस्थिति दोनोंमें कर्तव्यशील बने रहना कर्तव्यनिश्चायिका बुद्धिके ही अन्तर्गत है।

हितं मितं मेध्यं चाश्नीयात्।

भोजन हित, मित तथा मेध्य होनेपर ही स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद होता है।

पाठान्तर— मितभोजनः स्यादस्वस्थः।

यदि मनुष्य अस्वस्थ हो तो वह स्वास्थ्यके पुनरुद्धारके अनुकूल भोजन करे।

मित भोजन या अभोजन ही पशुओंको प्रकृतिमाताका सिखाया हुआ आयुर्वेद है।

रोगीकी पाकस्थली स्वस्थके समान पचानेमें असमर्थ होजाती है। उस दशामें स्वस्थ व्यक्तिका भोजन भी रोगीके लिये अपरिमित होनेसे रोगवर्धक बनकर विषवत् त्याज्य होता है।

पथ्यमप्यपथ्याजीर्णे नाश्नीयात् ॥ २१९ ॥

अपथ्यके कारण अजीर्ण होगया हो तो पथ्यको भी त्याग देना चाहिये।

विवरण— रुग्ण पाकस्थलीको, भोजन पचानेके सामर्थ्यका पुनरुद्धार करनेका अवसर देनेके लिये पथ्यको भी त्यागकर (अर्थात् उपवास करके) विश्राम देना लाभदायक होता है।

(अधिक सूत्र) भक्ष्यमप्यपथ्यं नाश्नीयात्।

रुग्णावस्थामें स्वाभाविक खाद्यके भी अपथ्य होजानेपर उसे न खाना चाहिये।

(नीरोग रहनेका उपाय)

जीर्णभोजिनं व्याधिर्नोपसर्पति ॥ २२० ॥

व्याधि जीर्णभोजीके पास नहीं फटकती।

विवरण— क्षुधाके उद्दीप्त होनेपर ही भोजन करनेवाला मनुष्य जीर्ण-भोजी कहाता है। भोजन पेटकी आगकी माँग होनेपर ही करना चाहिये, जिह्वाकी माँगसे नहीं। भोजनके नियतकालसे पहले भोजन न करना चाहिये। यह स्वभाव रोगजनक है। आयुर्वेदमें कहा है—

जीर्णे तु भोजनं कुर्यान्नाजीर्णे तु कथंचन।
अपक्वभोजिनं व्याधिः समाक्रामति निश्चितम्॥

स्वस्थ रहनेका इच्छुक पूर्व भोजनके जीर्ण होचुकनेपर ही भोजन करे। अपक्वभोजीपर व्याधियोंका आक्रमण निश्चित रूपमें होता है। आयुर्वेदोक्त पद्धतिसे भोजनमें ऋतुके अनुसार परिवर्तन करते रहकर जीर्णभोजी बने रहना चाहिये। अकालमें भोजन भी त्यागना चाहिये—

अप्राप्तकाले भुंजानोऽप्यसमर्थतनुर्नरः॥
तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं चाधिगच्छति॥

भोजनका नियतकाल आनेसे पहले भोजन करनेवाला मनुष्य निर्बल होजाता है। उसे शिरोरोग आदि व्याधि आघेरती हैं और वे बढती-बढती मौतका कारण बनजाती हैं।

क्षुत्संभवति पक्वेषु रसदोषमलेषु च।
काले वा यदि वाऽकाले सोऽन्नकाल उदाहृतः॥

रसदोषमलोंका परिपाक होचुकनेपर समय या असमय जब कभी भूख लगे वही अन्न-भोजनका योग्य काल है।

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः।
लघुता क्षुत्पिपासा च यदा कालः स भोजने॥

उद्गार (डकार) ठीक आने लगी हो, उत्साह हो, मलमूत्रका यथोचित निस्सरण होचुका हो, शरीरमें लघुता (हलकापन) हो, भूख-प्यास हो ये सब भोजनकाल अर्थात् रसादिके परिपाकके लक्षण आयुर्वेदमें वर्णित हैं।

(वार्धक्यमें व्याधिकी उपेक्षा अकर्तव्य)

जीर्णशरीरे वर्धमानं व्याधिं नोपेक्ष्येत ॥ २२१ ॥

रुग्ण, वृद्ध, रोगजीर्ण, निर्बल देहमें बढती व्याधिकी उपेक्षा न करे ।

विवरण— देहमें व्याधि उत्पन्न होजाना ही शरीरकी जीर्णता है । मनुष्य व्याधिकी उपेक्षा करके कुपथ्य अर्थात् विपरीत आहार-विहारसे व्याधिको बढनेका अवसर न दे । रोगको निर्मूल करडालना ही रुग्ण मनुष्यका तात्कालिक कर्तव्य है । आलस्यमें आकर व्याधिको तुच्छ मानकर उपेक्षा करना हितावह नहीं है । धातुवैषम्यसे उत्पन्न हुई अवस्था 'व्याधि' कहाती है । यह देह सत्यदर्शन, ज्ञानलाभ तथा सच्चा आनन्द पानेका साधन है । यह देह संसार-सागर पार करनेकी छोटीसी भिद्यमान क्षणिक नौका है । इसके द्वारा मनुष्यको असत्य, अज्ञान और आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक दुःखसागर पार करना है । इतने महत्वयुक्त साधन देहको कर्मक्षम बनाकर रखना मानवका पवित्र कर्तव्य है ।

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ॥

आरोग्य ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूपी चारों पुरुषार्थोंका मूल है । रोग, मनुष्यके आरोग्य, कल्याण तथा जीवन तीनोंका अपहरण करलेता है । इसलिये पथ्यसेवन तथा औषधोपचारसे रोगोंका शमन करके देहको कर्मक्षम बनाये रखनेमें उपेक्षा न करनी चाहिये ।

पाठान्तर— **शरीरे वर्धमानो व्याधिर्नोपेक्ष्येत ।**

जीवनार्थी लोग शरीरमें वृद्धि पाती हुई व्याधिकी उपेक्षा न करें ।

(अजीर्णमें भोजनकी हानि)

अजीर्णे भोजनं दुःखम् ॥ २२२ ॥

अजीर्णमें भोजन ग्रहण करना पाकस्थलीको अनिवार्य रूपसे रोगाक्रान्त और दुःखी बनाडालना है ।

विवरण— अजीर्णभोजन प्राणांतकको लेबैठता है।

आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद्देहधारणः।
स्मृत्यायुःशक्तिवर्णौजःसत्वशोभाविवर्धनः॥

जीर्णभोजन प्रसन्नताजनक, बलवर्धक, देहधारक, स्मृति, आयु, शक्ति, वर्ण, ओज, सत्व तथा कान्तिको बढानेवाला है।

पाठान्तर— अजीर्णे भोजनं विषम्।

अजीर्णमें भोजन करना विषतुल्य मारक होजाता है।

(व्याधिकी हानिकारकता)

शत्रोरपि विशिष्यते व्याधिः॥ २२३॥

व्याधि शत्रुसे भी अधिक हानिकारक होती है।

विवरण— व्याधि शरीरपर आठों पहर आक्रमण करनेवाली होनेसे महाशत्रु है। शत्रु तो बाहरसे आकर जीवन तथा जीवन-साधनोंपर आक्रमण करता है। परन्तु व्याधि देहस्थ होकर प्राण, धन, देह आदि सबका संहार करडालती है। "मृतकल्पा हि रोगिणः" रोगी लोग मृततुल्य होते हैं। वृद्ध चाणक्यने कहा है— "न च व्याधिसमो रिपुः" व्याधि जैसा शत्रु नहीं है।

हित, परिमित, मेध्य (अग्निपर डालनेसे दुर्गन्धि उत्पन्न न करनेवाला) तथा यथाकाल भोजन, स्नान, जलपान, इन्द्रियसंयम, सदाचार आदि स्वास्थ्यके कारण हैं।

(दानकी मात्राका आधार)

दानं निधानमनुगामि॥ २२४॥

दान अपनी धनशक्तिके अनुसार होना चाहिये।

विवरण— मनुष्य पार्थिव धन पास होनेमात्रसे दाता नहीं बनजाता। दयालु हृदय ही मनुष्यको दाता बनानेवाला दैवी धन है। दानपात्र सामने आनेपर दाताको अपना संपूर्ण हृदय अर्थात् पूरा सहयोग देनेके लिये विवश

होकर दानपात्रके प्रति आत्मसमर्पण करदेना पड़ता है। उस समय दाताको अपनी धनशक्तिका दानमें उपयोग करना ही पड़ता है। उस समय उसे अपनी सीमित धनशक्तिमें सीमित रहकर दान करना पड़ता है। उस समय वह अपनी सीमित धनशक्तिका दानमें जो उपयोग करता है वह हार्दिक होता है। सहानुभूतिसम्पन्नता या सहृदयता ही मनुष्यकी दानप्रेरक-निधि है। सूत्र कहना चाहता है कि दान भय, दबाव या स्वार्थसे न होकर हार्दिकताके साथ हो इसीमें मानवका कल्याण है।

दान मनुष्यकी भावनात्मक निधिके अनुसार होना चाहिये। उससे न्यून नहीं। मनुष्यकी भावनानिधि धनके योग्य अधिकारीको देखते ही पसीज जाती और देनेका संकल्प करलेती है। मनुष्यको उस दान-संकल्पके अनुसार योग्य पात्रको दान करना चाहिये। अपने उपजीव्य समाजके अभ्युत्थानमें सहयोग करना मनुष्यका स्वहितकारी कर्तव्य है। मनुष्य दानके योग्य पात्रोंको अपने उपजीव्य समाजके अभावग्रस्त अंगके रूपमें देखे और स्वयं उसकी अभावग्रस्ततामें सम्मिलित होकर उनका दुःख बांटे। वह उस दुःखके दूर करनेमें अपने संपूर्ण भौतिक सामर्थ्यको सौंपकर सत्यकी सेवाका आनन्द ले। यही दानका यथार्थ रूप है।

समस्त संसारके ईश्वर सत्यके हाथोंमें आत्मसमर्पण करदेना ही दान है। यह दान कोई दुर्लभ दान नहीं है। कोई भी विवेकी इस दानमें अशक्त नहीं होसकता। जो अपनेको ऐसे दानमें असमर्थ देखता है निश्चय है कि वह असत्यका दास है। ऐसा मनुष्य दान करता दीखनेपर भी दानी नहीं होता। वह अपात्रको धन देकर असत्यकी ही दासता करता है। सत्यके हाथोंमें आत्मदान करनेवाला दानवीर आदर्श मानव अपनेको कभी भी दाननामक मानवधर्म पालनेमें असमर्थ नहीं पाता। उसकी दान-प्रवृत्ति सत्यकी सेवामें कदापि संकुचित नहीं होती। वह दानके योग्य पात्रके साथ मुक्तहस्त होकर सहानुभूति दिखानेमें पीछे नहीं रहता और सत्यके साथ सम्मिलित होनेमें अमृतास्वाद लेकर कृतार्थ होजाता है।

अपने समाजके अभ्युत्थानमें दान करना मनुष्यका अत्यावश्यक कर्तव्य है। दान वर्धिष्णु व्यक्ति या समाजकी अनिवार्य आवश्यकता है। दान ही दाताका संचित अमर धन है। वह सब समय दाताका साथी बना रहकर उसे धनवान बनाये रखता है। दाताके लिये दरिद्रता नामकी कोई स्थिति नहीं है। मनुके शब्दोंमें- "अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु" मनुष्य अपने जीवनके किसी भी दिनको (१) दान, (२) अध्ययन तथा (३) मानवोचित कर्तव्य-पालनके बिना न बीतने दे।

(अनुचित घनिष्ठता बढानेवालोंसे सावधान रहो)

पटुतरे तृष्णापरे सुलभमतिसन्धानम् ॥ २२५ ॥

अनुचित चतुर लोभपरायण व्यक्तिमें अनुचित घनिष्ठता बढानेकी प्रवृत्ति रहती है।

विवरण— अनैतिक चतुर लोभपरायण मनुष्यमें ही किसीसे अति घनिष्ठता बढानेकी प्रवृत्ति संभव है। ऐसे लोगोंके धोकेमें आकर विश्वास न करना चाहिये। शठता, धूर्तता, माया, कौटिल्य, अनृत और छलसे ही किसी नये मनुष्यसे प्रतारणामयी घनिष्ठता बढाई जाती है। अति चालाक लोभपरायण लोग प्रतारक होते हैं। किसीकी अतिघनिष्ठता बढानेकी प्रवृत्तिको शंकाकी दृष्टिसे देखना चाहिये।

(लोभसे हानि)

तृष्णया मतिश्छाद्यते ॥ २२६ ॥

लोभ मनुष्यकी बुद्धिको ढकदेता है।

विवरण— लोभसे मनुष्यका बुद्धिभ्रंश होजाता है और वह उस संबंधमें औचित्य हिताहित या कर्तव्याकर्तव्य समझनेकी योग्यता खो बैठता है।

लोभेन बुद्धिश्चलति, लोभो जनयते तृषाम्।
तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः॥

लोभसे मनुष्यकी बुद्धि विचलित होकर अपने विवेक-स्थानसे बाहर निकलकर भटकने लगती है। लोभ तृषा (अर्थात् अपने उचित अधिकारसे अधिक पानेकी प्यास) लगादेता है। तृषार्तको वर्तमान और भावी दोनों कालोंमें दुःख ही दुःख मिलता है। लोभी मनुष्य यथार्थतासे अलग होकर आँधीसे उडाये पत्तेके समान उडा फिरा करता है।

(अनेक कर्तव्योंमेंसे एक छांटनेका आधार)

कार्यबहुत्वे बहुफलमायतिकं कुर्यात् ॥ २२७ ॥

मनुष्य एक साथ अनेक कार्य उपस्थित होनेपर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थायी परिणामवाला कर्म कर्तव्यरूपमें स्वीकार करे। उसे करचुकनेके पश्चात् लघु तथा अस्थायी महत्त्व रखनेवाले काम करे।

विवरण— "सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम" यह शब्द उलझनवाला शब्द है। इसके अर्थमें अनेक मतभेद है। परन्तु वास्तवमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम वही होता है, जिसका अधिक संख्यावाले लोगोंसे नहीं किन्तु संपूर्ण मनुष्य-समाजके साथ संबंध हो। जिस बातका संबंध समस्त मनुष्य-समाजके कल्याणके साथ होता है उसका स्थायी होना भी अनिवार्य होता है। पथभ्रष्ट मानव अधिकसे अधिक संख्यावाले लोगोंके भौतिक कल्याणको अल्पसंख्यकोंके भौतिक कल्याणकी अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया करता और मनुष्य-समाजके सार्वजनिक स्थायी कल्याणके स्वरूपसे अपरिचित रहकर उसकी उपेक्षा ही किया करता है। अधिकसे अधिक संख्यावाले लोगोंके भौतिक कल्याणको महत्व देनेवाला यह सिद्धान्त अल्पमतके विरुद्ध बहुमतको प्राधान्य देनेवाला होनेसे "जिसकी लाठी उसकी भैंस" के सिद्धान्तका ही लोगोंको भ्रममें डालनेवाला मापान्तर है। क्योंकि समाजमें सत्यका सुप्रतिष्ठित रहना ही समाजका सच्चा कल्याण है तथा एकमात्र सत्य ही स्थायी नित्य वस्तु इस संसारमें है, इन

दृष्टियोंसे कर्तव्यशील व्यक्ति सदा ही यह समझता रहता है कि समग्र मानव-समाजके कल्याणमें मेरा भी कल्याण निःसंदिग्ध रूपसे विद्यमान है।

आर्य चाणक्य इस सूत्रमें कर्तव्याकर्तव्यकी यह कसौटी दे रहे हैं कि मनुष्य अपने क्षुद्र व्यक्तिगत कल्याणको समस्त मनुष्य-समाजके कल्याणसे पृथक् न करे, अपने क्षुद्र अहंकारको समाजमें विलीन करदे और समाजके कल्याणमें ही अपना कल्याण समझकर कर्तव्य-निर्णय किया करे। आर्य चाणक्यकी दृष्टिमें प्रत्येक क्षण इस महत्त्वपूर्ण कर्तव्यको करते रहना ही कर्तव्यशील लोगोंके कर्तव्यमय जीवनका स्वरूप होता है। जीवनके प्रत्येक क्षण कर्तव्य-पालनका सन्तोष लेते रहना ही मनुष्यका शान्तिपूर्ण विजयी जीवन है। मनुष्य अपनी इस शक्तिको काममें लाये या न लाये, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह अपने मनको प्रत्येक क्षण शान्त रखनेमें अनन्त शक्तिमान है। मनुष्यको अपनी शान्तिको ही अपने कर्तव्यकी कसौटी बनाना चाहिये। अपनी शान्तिको ही कर्तव्यकी कसौटी रखकर कर्तव्य-निर्णय करनेवाले लोग साधारण लोग नहीं होते, ये लोग विश्व-विजयी होते हैं। इस प्रकारके विश्वविजयी वीरका मानव-समाजका सच्चा हितकारी सेवक होना अनिवार्य है।

समाज-सेवा ही मानव-धर्म है। जो समाजमें मनुष्यत्वको जाग्रत रखना चाहें उनके लिये यह अनिवार्य रूपसे आवश्यक है कि वे अपनी व्यक्तिगत मनुष्यताको स्वयं अपने ही में जाग्रत रखें। इसलिये रखें कि मनुष्य स्वयं ही समाज-निर्मात्री प्राथमिक इकाई है। मनुष्य अपने विवेकके सम्मुख समाजकी शान्तिको सुरक्षित रखनेके लिये उत्तरदायी है। कर्तव्य किसी दबावसे नहीं किया जाता किन्तु आत्मसंतोषके लिये किया जाता है। अपनी कर्तव्यनिष्ठाका प्रमाणपत्र अपने ही अन्तरात्मासे लिया जाता है, बाहर किसीसे नहीं। जो लोग अपने विचारकी हीनतासे बाह्य जगत्से कर्तव्यनिष्ठाका प्रमाणपत्र लेना चाहते हैं, वे अपनी सच्ची शक्तियोंको खोदेते हैं और कर्तव्यभ्रष्ट होजाते हैं। बाह्यजगत्से प्रमाणपत्र पानेके

इच्छुक यशोलोभी लोग अपनी इन्द्रियोंके दास होते हैं। अज्ञानी जगत् भौतिक सुखेच्छाओंका दास होता है। भौतिक सुखेच्छाओंके दास अज्ञानी जगत्का, भौतिक सुख देनेकी भावनासे कर्तव्यको अपनाना, समाजके बहु-संख्यकोंकी दृष्टिसे अधिक महत्वपूर्ण होनेपर भी सार्वजनिक रूपसे कभी भी महत्वपूर्ण नहीं होसकता। इस दृष्टिसे समाजके अधिकसे अधिक लोगोंको अधिक भौतिक लाभ पहुँचानेकी भावना ही भ्रमसे भरी हुई है। उसके मूलमें ही भूल है। मनुष्यको तो, सबसे अधिक संख्यावाले अज्ञानियोंकी रुचिकी दासता करनेकी दुर्भावना त्याग देनी चाहिये और संपूर्ण मनुष्य-समाजका अक्षय कल्याण करनेकी कसौटी अपनानी चाहिये। मनुष्यको चाहिये कि वह संपूर्ण मानव-समाजका अक्षय कल्याण करनेकी कसौटीको अपनी स्थायी व्यक्तिगत जितेन्द्रियतारूपी अक्षय शान्तिमें केन्द्रीभूत करके कर्तव्य—निर्णय किया करे, तब ही उसका कर्तव्य—निर्णय अभ्रान्त हो सकता है। जितेन्द्रियता या निःस्वार्थताके आधारसे किये निर्णयोंका बहुफल तथा आयतिक होना अनिवार्य है, जब कि भोगमूलक, स्वार्थमूलक या अजिते-न्द्रियतामूलक निर्णयोंका अल्पफलक तथा आयतिनाशक होना अनिवार्य है।

मनुष्य भौतिक लाभके पीछे किसी उपदेशसे नहीं चलता। मानवका लोभ ही मानवको भौतिक लाभके पीछे भटकाता है। भौतिक लाभोंके पीछे पीछे मारे फिरनेके लिये उपदेशकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस दृष्टिसे अधिक लाभके पीछे चलनेका उपदेश देना कौटल्य जैसे स्थितप्रज्ञ मुनिके इस सूत्रका अभिप्राय संभव नहीं है। इस सूत्रमें तो समाजकी शान्तिको ही "बहुफल" कहकर उसको कर्तव्य-निर्णयके लक्षणके रूपमें रक्खा गया है। इसमें तो मीमांसा शास्त्रवाली परिसंख्याविधिका आश्रय करके मनुष्यके बहुमुख दृष्टिकोणोंमेंसे समाजका सच्चा कल्याण करनेवाले दृष्टिकोणको अपनाकर शेष दृष्टिकोणोंको छोडनेके लिये कहा गया है।

पाठान्तर— **कार्यबहुत्वे बहुफलमायातिकं वा कुर्यात्।**

एक साथ अनेक कार्य उपस्थित होनेपर या तो तत्काल अधिक भौतिक फलवाले या भावीमें निश्चित फल देनेवाले कर्मको कर्तव्यरूपमें स्वीकार करे।

यह पाठ निम्न कारणोंसे असंगत है— दो भिन्न कर्तव्य एक क्षणमें एक जैसा महत्त्व नहीं रखसकते। कर्तव्यशास्त्रका यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि प्रत्येक वर्तमान क्षणमें एक ही कर्तव्य यदृच्छासे अभ्रान्त रीतिसे मनुष्यके सम्मुख उपस्थित होता है। कर्तव्यशास्त्रके इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तको ध्यानमें रखनेसे वर्तमानके लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एक ही कर्तव्य पूर्ण स्वीकृतिका अधिकारी बनकर आता है। वह अपने क्षेत्रमें दूसरे किसी कर्तव्यका समानाधिकार कभी स्वीकार नहीं करसकता। कर्तव्यका दृष्टिकोण सन्देहयुक्त न होकर अभ्रान्त होना चाहिये। कर्तव्यके इस अभ्रान्त दृष्टिकोणके सम्मुख सन्दिग्ध कर्तव्य स्वयं ही अकर्तव्य रूपमें निर्णीत होजाता और परित्यक्त होने योग्य बनजाता है। केवल असंदिग्ध कर्तव्य ही कर्तव्यरूपमें स्वीकृत होने योग्य होता है। इस दृष्टिसे "वा" वाला पाठ अग्राह्य है।

(बिगडे कर्मका स्वयं निरीक्षण)

स्वयमेवावस्कन्नं कार्यं निरीक्षेत ॥ २२८ ॥

स्वयं बिगडे या दूसरोंके बिगाडे कामको (दूसरोंकी आँखोंसे न देखकर) अपनी ही आँखोंसे देखे और उसे सुधारे।

विवरण— जो काम किसी विघ्नके कारण सम्पन्न न हो रहा हो, या विफल हो रहा हो, उसे अपनी ही आँखोंसे देखना चाहिये। दूसरोंके निरीक्षणमें उपेक्षाका अंश होना अत्यधिक संभव है। कर्तव्य कर्ताका हार्दिक प्रेम पाये बिना पूर्ण होता ही नहीं। कर्मके पूर्णांग होनेके लिये उसे कर्ताके हार्दिक प्रेमके स्पर्शकी अनिवार्य आवश्यकता होती है। दूसरे लोग दूसरोंके कर्तव्यको अपना हृत्प्रेम देनेमें प्रमाद भूल या असावधानी बरतें यह नितान्त स्वाभाविक है। इनके प्रमादसे काम बिगड जाता है जो बिगड ही जाना चाहिये। पराये हाथोंसे काम बिगडनेका यही कारण होता है कि उसे कर्ताका हार्दिक प्रेम प्राप्त नहीं होता। इसलिये ज्यों ही तुम्हारे सामने कोई कर्म उपस्थित हो त्यों ही उसके पूर्णांग होनेकी स्वयं व्यवस्था करो। राजा लोग उपस्थित कर्मोंको स्वयं देखें।

पाठान्तर— **स्वयमेवासन्न ......।**

अदूरवर्ती कामोंकी देखभाल तथा उनके पूर्णाङ्ग होनेकी व्यवस्था स्वयं करनी चाहिये।

अधिक महत्ववाले या अधिक फलवाले समीपवर्ती कामोंके व्यक्तिगत निरीक्षणसे कर्तव्योंका व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करके दूरस्थ कर्मचारियोंके कर्मकी त्रुटिको अपने प्रज्ञानेत्रसे पहचानना तथा अपराधी अधिकारियोंपर अपने गंभीर परिचयका शासन स्थापित करना सीखना चाहिये। स्वयं कामका व्यावहारिक ज्ञान न रखनेवाले लोग किसीके कर्मकी त्रुटि नहीं पकड सकते और लोगोंसे यथार्थ काम नहीं करा सकते।

कर्मकी सुसम्पन्नताका संतोष प्राप्त करनेके लिये विघ्न-संकुल कामका स्वयं निरीक्षण करे। सहज-साध्य कर्म तो नियत कर्मचारियोंके द्वारा हो ही जाते हैं। परन्तु राजालोग दुःसाध्य कर्मोंके संबंधमें परनिर्भर न रहकर स्वयं निरीक्षण करके उसकी सुसम्पन्नताके संबंधमें निश्चिन्त बनें। राजाको किसी भी परिस्थितिमें राजकार्योंकी सुसम्पन्नताके संबंधमें अँधेरेमें या संदिग्ध नहीं रहना चाहिये।

(दुःसाहस मूर्खोंका स्वभाव)

मूर्खेषु साहसं नियतम् ॥ २२९ ॥

नृशंस आक्रमण, अभद्र व्यवहार, अबुद्धिपूर्वकारिता या दुःसाहस मूर्खोंका स्वभाव होता है।

विवरण— मूर्ख सदा अबुद्धिपूर्वकारी अपरिणामदर्शी तथा दुःसाहसी होते हैं।

(मूर्खोंसे वाग्युद्ध अकर्तव्य)

मूर्खेषु विवादो न कर्तव्यः ॥ २३० ॥

हिताहितउचितानुचितविचारशून्य विवेकहीन मूर्खोंके साथ वाग्युद्ध न (करके उनके दुःसाहसको उचित व्यवहारसे तत्क्षण दमन) करना चाहिये।

विवरण— मूर्ख लोग सद्‌वचन सुभाषित तथा हितभाषणको प्रतिकूल माना करते हैं। बातोंसे उनका दुःसाहस बढ जाता है। इनसे विवाद करके इन्हें किसी सत्य सिद्धान्तपर आरूढ नहीं किया जासकता। ये सदुपदेशकी अवहेलना किया करते हैं। बातोंसे इनका दुःसाहस नहीं बढाना चाहिये।

(दुष्टोंको बलसे समझाना संभव)

मूर्खेषु मूर्खवत् कथयेत् ॥ २३१ ॥

मूर्खोंसे सज्जनताका व्यवहार न (करके उनके साथ उनकी समझमें आनेवाली दण्डकी भाषामें व्यवहार) करना चाहिये।

विवरण— जिसे जो बात या जो ढंग बोधगम्य या अभ्यस्त हो, उससे उसी ढंगमें बात करनी चाहिये। जैसे भैंस केवल डंडेकी भाषा पहचानती है, इसी प्रकार मूर्ख लोग सज्जनताकी किसी बातको नहीं समझते। वे केवल दण्डकी भाषा पहचानते हैं। उनसे उनकी ग्रहणशक्तिकी योग्यताके विपरीत उदार भाषामें व्यवहार नहीं करना चाहिये।

अथवा— मूर्खको मूर्खता रोकनेका उपदेश न देकर उससे ऐसा बर्ताव करो जिससे वह स्वयं अपनी मूढताका दुष्परिणाम भोग सके (दण्ड पा सके) और आगेके लिये अनुभव प्राप्त कर सके। कोई श्रोता हृदयका पूर्ण विकास हो जानेकी स्थितिमें जिस बातको समझ सकता है, वही बात हृदयकी अविकसित स्थितिमें दूसरे श्रोताके लिये अबोध्य होनेके कारण त्याज्य होजाती है। हृदयका विकास यथोचित कालकी प्रतीक्षा किया करता है। उस कालमें जिन अभिज्ञताओंकी अत्यावश्यकता होती है उन्हें वाक्यमात्रसे किसीकी बुद्धिका गोचर नहीं किया जासकता। इस दृष्टिसे अरसिकके सामने रस-निवेदनके समान अविकसित हृदयवालोंको विकसितहृदयग्राह्य बातें बताना अपात्र मूढको सुपात्र समझनेकी भ्रान्ति है। वचनका शक्तिशाली वीर्यवान होना तब ही संभव है जब कि वक्ता वचनप्रयोगमें किसी प्रकारकी भूल न कर रहा हो। यदि वक्ता वचन-प्रयोगमें अभ्रान्त न होगा तो वचनका व्यर्थप्रलाप होजाना अनिवार्य है।

अथवा— अविकसित हृदयवालों तथा पातित्यप्रेमियोंके साथ उनकी अविकसित तथा निकृष्ट बुद्धिको ध्यानमें रखकर बातें करनी चाहिये ।

मूर्ख शब्द अविकसितहृदय तथा पतितहृदय दोनोंका ही वाचक है। वे हितकारी और सूक्ष्म बात नहीं समझते। पतितहृदय लोगोंसे हितकारी बात कहना व्यर्थ होता है। अविकसित हृदयवालोंसे सूक्ष्म बातें कहना व्यर्थ हो जाता है। उनके साथ गहन विषयोंकी चर्चा न करके खानेपीने आदि साधारण व्यवहारकी बातें करके उपस्थित शिष्टाचारके कर्तव्यको समाप्त कर देना चाहिये।

आयसैरायसं छेद्यम् ॥ २३२॥

जैसे लोहेको लोहोंसे ही काटा जाता है, इसी प्रकार पतित हृदयवाले हठीले नीच मूर्खको हितोपदेश देकर अनुकूल बनानेकी भ्रान्ति न करके उसे उसका जी तोड सकनेवाले कठोर शारीरिक दण्डोंसे पराभूत करना चाहिये।

विवरण— प्रतिपक्षीके दम्भको चूर्ण करनेवाली अधिक दाम्भिकता तथा कठोरताको काममें लाकर ही उससे व्यवहार करना चाहिये। उसके साथ नम्रता और उदारता दोनों ही हानिकारक होती है। मूर्खोंके साथ नम्र होजाना तो दुष्परिणामी है और उनके प्रति उदारता दिखाना व्यर्थ प्रयत्न है।

पाठान्तर— आयसैरायसः छेद्यः।

पाठान्तर— आयासैरायसं छेद्यम्।

जैसे स्वभावसे कठिन लोहेका छेदन कठिन श्रमोंसे ही संभव है, इसी प्रकार जितना ही कठिन कार्य हो उतने ही कठोर उपायोंसे काम लेना चाहिये।

श्रमसाध्य कार्य श्रमसे ही संभव होते हैं। उपाय कार्योंकी स्थितिपर निर्भर होते हैं। लघु कार्य लघु उपायोंसे तथा बृहत् कार्य बृहत् उपायोंसे संभव होते हैं।

(मूर्खोंके सच्चे मित्र नहीं होते)

नास्त्यधीमतः सखा ॥ २३३ ॥

मूर्खको बन्धु मिलना संभव नहीं है ।

विवरण— बन्धुत्वका बन्धन तो सत्यनिष्ठामें ही रहता है । मूर्खोंका संबंध स्वार्थमूलक (अर्थात् पारस्परिक आखेटमूलक) होता है । मूर्खोंके पारस्परिक सहयोगोंके भीतर शत्रुता ही छिपी–छिपी काम करती रहती है । वे एक दूसरेके साथ सहयोगका जो संबंध रखते दिखाई देते हैं, वह संबंध उनकी पारस्परिक लुण्ठनप्रवृत्तिमूलक शत्रुता ही होता है । वे एक दूसरेके शत्रु होते हुए भी अपनी भ्रान्त बुद्धिसे एक दूसरेको मित्र कहा करते हैं ;

बुद्धिमानोंके पारस्परिक संबंध स्वार्थमूलक नहीं होते । यही उनकी वह व्यवहार–कुशलता है जिससे उनके साथ लोगोंकी सुदृढ मित्रता स्थापित हो जाती है । निःस्वार्थता ही समाज–संगठनमें एकमात्र अपेक्षित गुण है । स्वार्थी बनकर समाजका शत्रु बनजाना बुद्धिहीनता है ।

(कर्तव्य ही मानवका अनुपम मित्र)

(अधिक सूत्र) नास्ति धर्मसमः सखा ।

संसारमें मनुष्यका धर्म या अपने मानवोचित कर्तव्यपालनके समान कोई सुहृद् नहीं है ।

विवरण— मानवोचित कर्तव्य–पालन ही मनुष्यका सच्चा मित्र है । कर्तव्य–पालन करनेवाले लोग कर्तव्यको ही अपना मित्र बनालेते हैं । कर्तव्यपालनसे संसारमें मनुष्यके हृदयमें साफल्यमयी अखंड शान्ति रहने लगती और जीवन–यात्रा पग–पगमें विजयी होनेका संतोष देती रहती है ।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥

मनुष्यके मर जानेपर भी धर्म नहीं मरता । शेष सब पदार्थ शरीरके साथ नष्ट होजाते हैं ।

धारणाद्धर्म इत्याहुर्न लोकचरितं चरेत् । (महाभारत)

जगत्को मर्यादामें रखनेका हेतु धर्म है । मनुष्य धर्मानुकूल आचरण करे । वह क्षुद्र मनुष्यके समान मर्यादाका भंग न करे ।

(धर्मका महत्व)

धर्मेण धार्यते लोकः ॥ २३४ ॥

लोक-विधारक सत्य रूपी मानव-धर्म ही मानव-समाजका संरक्षक है ।

विवरण— श्रेष्ठ कर्म करना तथा अश्रेष्ठसे बचना ये दो धर्मके बडे भेद हैं । धार्मिक मनुष्यको कर्तव्य करने पडते हैं और अकर्तव्य त्यागना उसका स्वभाव होजाता है ।

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा (वेद)

प्रवृत्ति-निवृत्ति रूपी धर्म ही संपूर्ण मानव-समाजका धारक आधार है ।

प्रेतमपि धर्माधर्मावनुगच्छतः ॥ २३५ ॥

देहीके धर्माधर्म देहका अन्त हो जानेपर भी उसके साथ लगे रहते हैं ।

विवरण— मानव-जीवनका अन्त हो जानेपर भी उसके धर्माधर्म नष्ट नहीं होजाते । मानव-देहके विनाशी होनेपर भी उसका देही तो अविनाशी ही है । देह मनुष्यका विनाशी रूप है और देही उसका अविनाशी अमर रूप है । उसका यह अविनाशी रूप ज्ञानी अज्ञानी दो रूपोंमें मनुष्य-समाजमें सदा जीवित रहता है । वह देहके मर जानेपर भी मानव-समाजको धारण किये रहता है । एक चला जाता है दूसरा आजाता है । परन्तु मानव-समाजका धारक मानव धर्म-संसारमें धर्माधर्मका संग्राम करता रहता है । वह अधर्मसे संग्राम करके विजयी बना रहता है । यों धार्मिक लोग मानव-समाजके शाश्वत संरक्षक होते हैं। धर्मका त्याग

करदेना अपने अविनाशी सत्यरूपसे च्युत होकर अज्ञानरूपी मृत्युको ही अपनाना होता है । इसी प्रकार धर्मत्यागी मानवका पाप उसके देहके नष्ट होजानेपर भी दिन-रात आठों पहर समाजको अधःपतित करनेमें लगा रहता है ।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

जिससे मानवका ऐहिक अभ्युदय भी हो और साथ ही उसका मानस उत्कर्ष भी हो वह "धर्म" है । धर्मके दो महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व हैं । वह मनुष्यको श्रीसम्पन्न भी बनाये और उसकी मानवताको भी निर्मल करता चला जाय । जिस धर्मसे ये दोनों प्रतिबन्ध (शर्त) पूरे नहीं होते वह धर्माभास है ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

धीरज, क्षमा, अनुत्तेजना भोगेच्छापर नियन्त्रण, अनधिकार-संग्रहका त्याग, शौच, इन्द्रियनिग्रह, आत्मबोध, सत्य तथा अक्रोध ये दस धर्मके लक्षण मनु कह गये हैं । इन्हींसे संसारमें शांति रहनी संभव है ।

(धर्मकी माता)

दया धर्मस्य जन्मभूमिः ॥ २३६ ॥

(परदुःख-कातरता या सहानुभूति रूपी) दयासे धर्मनिष्ठा पैदा होती है ।

विवरण— दया ही ऐहिक अभ्युदय और मानस उत्कर्ष पैदा करनेवाले धर्मकी जन्मभूमि है । दया रूपी जन्मभूमि न हो तो धर्मोत्पत्ति असंभव है । मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा अर्थात् पुण्यात्माओंसे मैत्री, दुखियोंपर करुणा, सुखियोंको देखकर मुदिता, पापियोंके प्रति घृणासे चित्त-नैर्मल्यकी अभिव्यक्ति होती है । निर्मल चित्तमें ही दया उत्पन्न होती है । दयालु चित्तमें ही कर्तव्य-पालनकी भावना होती है । सत्य-रक्षा ही मनुष्यका

स्वधर्म है। सत्य ही मनुष्यका स्वरूप है। सत्यसे प्रेम ही दया है। सत्यका प्रेमी हृदय स्वभावसे सत्यका रक्षक होता है।

यत्नादपि परक्लेशं हर्तुं या हृदि जायते।
इच्छा भूमि सुरश्रेष्ठ सा दया परिकीर्तिता॥
कृपा दयानुकम्पा च करुणानुग्रहस्तथा।
हितेच्छा दुःखहानेच्छा सा दया कथ्यते बुधैः॥
अपहृत्यार्तिमार्तानां सुखं यदुपजायते।
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! मानव-हृदयमें यत्न करके भी पर-क्लेश-हरणकी जो इच्छा पैदा होती है वही दया कहलाती है। कृपा, दया, अनुकम्पा, करुणा, अनुग्रह, हितेच्छा तथा दुःखहानेच्छाको बुद्धिमान् लोग दया नामसे कहते हैं। दुखियोंका दुःख हटाकर मनुष्यको जो सर्वभूतात्मताका अनुपम सुख प्राप्त होता है स्वर्ग या अपवर्गके सुख उस सुखके सोलहवें भागकी भी समता नहीं कर सकते।

धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत्सेवेत मेधावी न हि तद्धितमुच्यते॥

मेधावी मनुष्य महाफलदायी भी धर्मरहित कार्य न करे। उसमें मनुष्यको लंबी-चौडी आय होती दीखनेपर भी उसमें उसका निश्चित अकल्याण होता है

(मनुष्यताकी रक्षा ही सत्य और दानके ठीक होनेकी कसौटी)

धर्ममूले सत्यदाने ॥ २३७ ॥

धर्म ही सत्य तथा दान दोनोंका मूल (जनक) है।

विवरण— समाजमें मनुष्यताको सुरक्षित रखना ही सर्वोत्कृष्ट मानवधर्म है। सत्य इसी धर्मके पालनसे सुरक्षित रहता तथा दान इसी धर्मके पालनसे सार्थक होता है। किसी भी कर्मको कर्तव्यरूपमें स्वीकार करनेमें

उस कर्मके संबंधमें सत्यकी सेवारूपी कर्तव्य-पालनका सन्तोष तब ही रह सकता है जब कि वह कर्म समाजके लिये कल्याणकारी होनेका प्रतिबन्ध (शर्त) पूरा करता हो । यदि वह कर्म समाज-कल्याण नहीं करेगा तो वह सत्य न कहाकर असत्य कहा जायगा। इसीप्रकार मनुष्य दानके नामसे जो भी कुछ त्याग करेगा वह सत्यके हाथमें आत्मदानरूपी सच्चे दानके नामसे तब ही सम्मानित होसकेगा, जब कि वह समाजमें मनुष्यताको सुरक्षित रखनेके उद्देश्यसे समर्पित किया गया होगा। यदि वह समाजमें मनुष्यताकी रक्षाकी दृष्टिसे समर्पित किया हुआ न होगा, तो वह दान न कहलाकर कुदान कहा जायगा। यही सत्य तथा दानकी धर्ममूलकताका रहस्य है ।

सत्यरक्षा मानवका स्वधर्म स्वीकृत होजानेपर सत्य स्वयमेव स्वीकृत होजाता है । सत्यरक्षाके मानव-धर्म स्वीकृत होजानेपर मनुष्यकी संपूर्ण भौतिक संपत्ति सत्यकी सेवामें नियुक्त होकर अनिवार्य रूपसे लोक-कल्याण-रूपी दानका रूप धारण करलेती है ।

> इज्याध्ययनदानानि धृतिः सत्यं तपः क्षमा ।
> अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, धृति, सत्य, तप, क्षमा तथा निर्लोभिता यह धर्मका अष्टविध मार्ग बताया जाता है। समाजमें मनुष्यताकी रक्षारूपी धर्मके मुख्य उद्देश्यके उपेक्षित होनेपर धर्मके नामसे जो भी कुछ किया जाता है वह असत्यकी ही सेवा होती है ।

(मनुष्यताकी रक्षारूपी कर्तव्यपालन विश्वविजयका साधन)

धर्मेण जयति लोकान् ॥ २३८ ॥

धर्म-रक्षा (सत्य-रक्षा) मानवको विश्वविजेता बना देती है ।

विवरण— समाजमें मनुष्यताके संरक्षक धार्मिकोंकी जो निष्ठा और कीर्ति है वही तो उन लोगोंका विश्वविजय है । असत्यका दमन या असत्यका

सिर अवनत करनेका सामर्थ्य ही धार्मिकोंका विश्वविजय है। सब लोग विश्व-भरकी मनुष्यताके प्रतिनिधि ज्ञानियोंका विश्वास और आदर करते हैं। यही तो उनका विश्वविजय है। वे सैन्यसामन्तोंसे विश्वविजय न करके इन्द्रिय-विजय या असत्यदमनके द्वारा ही विश्वविजेता बनते हैं।

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।

धर्म (अर्थात् मानवोचित कर्तव्य-पालन) से मनुष्यकी ऊर्ध्वगति (अर्थात् विश्वविजय) और अधर्मसे अधोगति (अर्थात् असत्यकी दासता या मनुष्यता-हीनता) होती है।

(कर्तव्यनिष्ठ मौतसे भी नहीं मरता)

मृत्युरपि धर्मिष्ठं रक्षति ॥ २३९ ॥

सर्वसंहारी मृत्यु भी धार्मिकको इस संसारसे मिटा (भुला) नहीं पाती।

विवरण— धर्मिष्ठके नश्वर देहका अन्त हो जानेपर भी उसका स्वरूप अविनाशी सत्य, उसके जीवन-कालमें तथा उसके पश्चात् उसके समाजमें या समाजरूपी जीवित ज्ञान-ग्रन्थमें एक जैसा समुज्ज्वल रहकर उसे अमर बनाये रहता और अनन्त कालतक पथभ्रान्त क्लान्त मानव-समाजके मार्गदीपकका काम करता चला जाता है।

पाठान्तर— मृत्युरपि धार्मिकं रक्षति।

(मनमें पाप बढनेपर धर्मका अपमान)

धर्माद्विपरीतं पापं यत्र प्रसज्यते
तत्र धर्मावमतिर्महती प्रसज्येत ॥ २४० ॥

धर्मद्वेषी पाप जहाँ कहीं प्रबल होजाता या सिर उठा लेता वहाँ धर्मका महा अपमान होने लगता है।

विवरण— धर्मद्वेषी असुर अधर्मके द्वारा अपने ही हार्दिक अधिष्ठातृ

देवता सत्यस्वरूपका अपमान करके आत्महत्या नामके अपराधका अपराधी बन जाया करता है। धर्म-द्वेष धर्मका कुछ नहीं बिगाडता। वह तो मनुष्यकी अपनी ही आत्महत्या है। जब तक मनुष्य अपने अन्तरात्माका नृशंस वध नहीं करलेता, तब तक धर्म-द्वेष कर ही नहीं सकता। उसे धर्म-द्वेष करनेसे पहले आत्महत्या करनी पडती है। धर्मद्वेषी लोगोंकी जो आत्म-हत्याएँ हैं वही तो उनका धर्मापमान है और यह उनका अपनेसे ही अपनी शत्रुता है।

पाठान्तर— **धर्माद्विपरीतः पापः।**

धर्म अर्थात् मानवोचित कर्तव्य-पालनसे विपरीत कर्तव्य-हीनताकी जो स्थिति है वही तो पाप है।

समाजमें मनुष्यताके संरक्षक मानव-धर्मको न अपनाकर उससे विपरीत आचरण करने लगना ही पाप है।

अथवा— धर्मसे विपरीत आचरण करनेवाला मनुष्य पाप अर्थात् पापी होता है।

ऐसा मानव नियमसे धर्मविरोधी आचरण करता है। इस अर्थमें पाप करनेवाला पाप कहा गया है। इसी अर्थमें पापः यह पुल्लिंग प्रयोग शुद्ध होता है। पाप शब्द नपुंसकलिंगका होनेसे यह अर्थ व्याकरणसंगत है।

पाठान्तर— **यत्र यत्र प्रसज्यते तत्र तत्र ध्रुवा स्मृतिः।**

(ध्रुवा रतिः)

मनुष्य जिस किसी भले-बुरे काममें लग जाता है उसे उसी कर्मकी चिरस्थायी स्मृति रहने लगती, उसके मनमें उसकी अटल छाप पड जाती या उसे उसी कार्यके सम्पादनका नैपुण्य प्राप्त होजाता है।

शुभ कर्मकी पुण्यस्मृति तथा अशुभ कर्मकी पापस्मृति ठहर जाती है। पुण्यस्मृति हो तो उसे साधुवाद तथा आगेको शुभ कर्मकी प्रेरणा देती रहती है। पापस्मृति हो तो उसे मन ही मन धिक्कारती, नोच-नोचकर खाती और आगेको भी पापकर्मोंमें ही प्रवृत्त रखती है। एक वार किया हुआ

पुण्य, जीवनका उद्धारक तथा एक बार किया पाप, जीवनका विनाशक अभिशाप बनजाता है। यह पाठ अप्रासंगिक है।

पाठान्तर— महती प्रसज्येत।

ये तीनों पाठान्तर प्रसंगबाह्य होनेसे अपपाठ हैं। प्रतीत होता है २४० सूत्रके ये तीन सूत्र बन गये हैं।

(व्यवहारकुशलताही बुद्धिमत्ता है)

(अधिक सूत्र) **लोके प्रशस्तः स मतिमान् ॥**

व्यवहारमें कुशल ही वास्तवमें बुद्धिमान् है।

विवरण— अव्यवहारिक कोरे सिद्धान्तवादी बुद्धिमान् नहीं कहे जा सकते। अव्यवहारिक कोरे सिद्धान्तवादी अधार्मिक लोग उधारा रामनाम रटनेवाले तथा बिल्लीके आपकडनेपर ट्याऊं ट्याऊं करने लगनेवाले तोतोंके समान बुद्धिहीन होते हैं।

(निन्दित काम मत करो)

(अधिक सूत्र) **सज्जनगर्हिते न प्रसज्येत ॥**

कल्याणार्थी मानव साधुजन-गर्हित कामोंमें प्रवृत्त न हों। तब ही पतनसे बच सकता है।

विवरण— गर्हित आचरणसे समाजमें दुर्दृष्टान्त उपस्थित होकर दुर्नीति बढती और उपद्रव खडे हो जाते हैं।

उपस्थितविनाशानां प्रकृत्याकारेण लक्ष्यते॥ २४१ ॥

यह पाठ अपपाठ है।

पाठान्तर— उपस्थितविनाशानां प्रकृतिराकारेण लक्ष्यते।

विनाशोन्मुख असुरोंका सत्यद्वेषी आकार (आचरण) उनके विनाशकी सूचना दिया करता है।

विनाशोन्मुख लोगोंके आकारों या आचरणोंमें विनाशके चिन्ह और बीज छिपे रहते हैं। उनकी आसुरिकता, उनके सत्यहीन विनश्वर म्रियमाण रूपको

अनिवार्य रूपसे प्रकट करदेती है। इसलिये मनुष्य अपने कर्मोंमेंसे सत्य तथा धर्मकी हानि न होनेका पूरा ध्यान रखे।

पाठान्तर— **उपस्थितविनाशः प्रकृत्याकारेण कार्येण लक्ष्यते।**

उपस्थित पदार्थोंका भावी या वर्तमान विनाश पदार्थोंके व्यापारों, आकारों तथा परिणामोंको देखकर समझमें आजाता है।

(विनाशके चिन्ह)

आत्मविनाशं सूचयत्यधर्मबुद्धिः ॥ २४२ ॥

विनाशोन्मुख मानवकी सत्यद्वेषिणी अधर्मबुद्धि (अधार्मिक कार्योंमें प्रवृत्ति) उसके आत्मघातकी सूचना देती है।

विवरण— अपने सत्यस्वरूपको त्याग देना ही उनका आत्मविनाश या आत्मघात है। अधर्मबुद्धिवाले मानवका आचरण कह देता है कि देखलो लोगो मैं नष्ट होने जारहा हूँ।

> अधर्मेणैधते राजन् ततो भद्राणि पश्यति।
> ततः सपत्नान् जयति समूलं च विनश्यति॥

(पिशुनको गुप्त बात न बताओ)

पिशुनवादिनो रहस्यम् ॥ २४३ ॥

इस सूत्रमें प्रमादसे ' न ' छूट गया है। इसका अर्थ इसके पाठान्तरमें देखना चाहिये।

पाठान्तर— **नास्ति पिशुनवादिनो रहस्यम्।**

पिशुनवादीको बतायी गुप्त बात गुप्त नहीं रह सकती।

अथवा— परनिन्दकके पास रहस्य नामकी कोई वस्तु नहीं होती।

परदोषाविष्कारमें लगे रहना परनिन्दकका स्वभाव होता है। वह अपने इस स्वभावसे रहस्य-रक्षाकी कला भूलजाता है। वह सूँघ-सूँघकर आखेट ढूँढनेवाले कुत्तोंके समान परदोष ढूँढता रहता है। उसके पास गोपनीयता नामकी कोई बात नहीं रहती। ऐसोंसे गोपनीय बात न कहनी चाहिये।

खल व्यक्ति स्वभावसे दूसरोंको हानि पहुँचानेका अवसर ढूँढता रहता है। वह कानोंमें दूसरोंकी गोपनीय बात आते ही उसके सहारेसे दूसरोंमें भेद डालकर उसे दूसरोंमें झगडे पूरनेका साधन बनालेता है। किसी भी प्रकारकी मंत्रणामें ऐसे मनुष्यका विश्वास करके उसे अपना सहयोगी नहीं बनाना चाहिये।

(पररहस्य सुनना अकर्तव्य)

पररहस्यं नैव श्रोतव्यम् ॥ २४४ ॥

दूसरोंकी गुप्त बात सुननेका अकारण आग्रह न होना चाहिये।

विवरण— जैसे पराये धनका लोभ करना अपहरण (चोरी) प्रवृत्ति है, इसीप्रकार दूसरोंकी गुप्त बात (अर्थात् जिस बातसे केवल उन्हींके हानि-लाभोंका संबंध हो और अपना कर्तव्यका कुछ भी संबंध न हो) सुननेका आग्रह होना व्यक्तिगत दृष्टिसे अशान्तचित्तता तथा सामाजिक दृष्टिसे चंचलताके रूपमें निन्दित है। इस आग्रहको मनमें स्थान न देना इन्द्रियसंयममें सम्मिलित है। असंयत श्रोता तथा वक्ता दोनों ही समाजमें हेय बनजाते हैं। ऐसी प्रवृत्ति शिष्टाचार-विरोधी आचरण होनेसे सभ्य-समाजमें निन्दित होती है।

वैरनिर्यातनसे संबंध रखनेवाली शत्रुकी गुप्त बातोंका परिचय प्राप्त करना, प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। यदि कोई इस कर्तव्यको त्याग देगा तो उसे शत्रुको अपनी हत्या करनेसे रोकनेकी सावधानता भी त्याग देनी पडेगी। मनुष्यको ऐसा असावधान बनाना चाणक्य जैसे सतर्क मुनिके इस सूत्रका अभिप्राय नहीं होसकता। इसका एकमात्र अभिप्राय यही हो सकता है कि अपने लिये अनावश्यक होनेपर भी दूसरोंकी गुप्त बात केवल अपना कौतूहल हटानेके लिये सुननेकी इच्छा करना तथा अपने इस स्वभावके कारण फैले अपयशसे समाजमें अपने विरुद्ध उत्तेजना फैलाकर लोगोंकी दृष्टिमें अपने ऊपर परच्छिद्रान्वेषी पैशुन्यवादी आदि घृणायोग्य कलंक ले लेना केवल अपनेको नीचा करना ही नहीं है प्रत्युत संकटमें डालना भी है। अपनेसे संबंध न रखनेवाली पर-निन्दा सुननेका कौतूहल निर्बुद्धिता-

मूलक होता है । इस निर्बुद्धितामूलक कौतूहलको संयत रखकर शिष्टाचार तथा सुरक्षाके प्रतिकूल आचरण करनेसे रोकना ही इस सूत्रका अभिप्राय है । सूत्र कहना चाहता है कि मनुष्य अपने निर्बुद्धितामूलक कौतूहलको रोके । वह कुतूहलाधीन होकर शिष्टाचार तथा आत्मस्थितिकी सुरक्षाके प्रतिकूल आचरण न करे ।

(राज्यसंस्थाका नौकरशाही बनजाना पापमूलक तथा पापजनक)

वल्लभस्य कारकत्वमधर्मयुक्तम् ॥ २४५ ॥

स्वामीके ऊपर मुंहलगे अनुचरोंका आधिपत्य अधर्मयुक्त (अधर्मप्रसारक) होता है ।

विवरण— स्वामीके ऊपर अनुचरोंका आधिपत्य राष्ट्रमें अधर्मयुक्त अर्थात् अधर्मप्रसारक होता है । इस प्रकारकी घटना स्वामीकी धर्म-पालनकी अयोग्यताके कारण होती है । राजाके अधर्माभिभूत होजानेपर जब उसका कोई चरित्र नहीं रहता, तब उसके ऊपर अनुचरोंका शासन स्थापित होजाता है । या तो राजाकी अप्रतिभा या उसकी विषय-लोलुपता, दो कारणोंसे प्रभुतालोभी भृत्योंको अधर्मसे राज्य लूटनेका अवसर मिल जाता है । इस सूत्रमें वल्लभकी कारकताका अर्थ अपने स्वामीको अपनी आज्ञामें रखना है । यह राजाकी ऐसी हीन स्थिति है जैसी कि अध्यापक विद्यार्थीको अपनी इच्छानुसार न चलाकर विद्यार्थीके अनुसार चल पड़ा हो । कारकत्वका अर्थ कारयितृत्वसे है । राजाका धार्मिक होना अनिवार्य रूपसे आवश्यक है । धार्मिक राजा राष्ट्रकी सबसे बडी आवश्यकता है । राजापर धर्मका ही आधिपत्य रहे इसीमें राजा प्रजा दोनोंका कल्याण है । उसके ऊपर धर्मातिरिक्त और किसीका भी प्रभाव होना कल्याणकारक नहीं है । प्रजाका कल्याण ही तो राजधर्म है । राज्यभरमें सत्यके प्रभावका तपते रहना ही तो प्रजाका कल्याण है । जो राजा अपने ऊपर धर्मके अतिरिक्त किसी भी व्यक्तिका आधिपत्य स्वीकार किये होगा वह निश्चितरूपसे धर्म-भ्रष्ट होचुका होगा । उसके राज्यमें अधर्मका नग्न नृत्य होने लगेगा और अधर्म अपना प्रबल आधिपत्य जमा बैठेगा । राजा अपने ऊपर सत्यकी अट ल

प्रभुता बनाये रखकर ही असत्य-दलनका व्रती रहसकता तथा अपने राज्यमें सत्य या मनुष्यताके संरक्षक धर्मको जीवित बनाये रख सकता है। अपने ऊपर अधर्मको प्रभुत्व स्थापित करलेनेदेना राजाकी निस्तेज स्थिति है। धर्म ही तो राजाका राज्यैश्वर्य है। इससे भ्रष्ट होजाना तो राज्यसे ही भ्रष्ट होनेके बराबर है। धर्मभ्रष्ट राजा पापी हाथोंकी कठपुतली बनजाता है और वास्तवमें राज्यच्युत होचुका होता है। धर्मभ्रष्ट राजाका प्रजापर कोई प्रभाव नहीं रहता। प्रजापर राजाका प्रभाव न रहना ही राजाकी राज्यभ्रष्टता है। ऐसा राजा हाथमें शासनदण्ड धारण किये रहनेपर भी राज्यभ्रष्ट होता है।

पाठान्तर— वल्लभस्य कातरत्वमधर्मयुक्तम्।

राजाकी दीनता अधर्मयुक्त होती है।

राष्ट्ररक्षा नामका धीर, वीर, गंभीर कर्तव्य रखनेवाले स्वामीका दीन कातर होना अधर्मयुक्त, अयोग्यतासूचक, पापान्वित और दुष्परिणामी होता है।

राजाका राज्यैश्वर्यशाली तेजस्वी होना अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। राजा तो हो परन्तु उसके पास ऐश्वर्य न हो, यह कभी संभव नहीं है। राजा भी हो और अपनेको निर्बल भी समझे, यह उसकी दण्ड-धारणकी अयोग्यता है। उसकी यह हीनता उसे दण्ड-धारणमें असमर्थ बनाकर दण्डनीय पापियोंका दुःसाहस बढानेवाली बनजाती है। राजाकी इस हीनताका परिणाम राज्यमें अधर्मका अभ्युत्थान तथा धर्मकी ग्लानि करनेवाला बनजाता है। निस्तेज राजा अनिवार्य रूपसे पापोंको प्रोत्साहित करनेवाला होता है। तेजस्विता ही राजधर्म है। जिसमें सत्य-रक्षाके लिये अदम्य उत्साह होता है उसका उत्साह प्रतिक्षण असत्य-दमनका रूप लेकर क्रियाशील रहता है। सत्य-रक्षा तथा असत्य-दमन ही राजाकी तेजस्विता है। इसके विपरीत सत्य-रक्षामें शिथिलता अनिवार्य रूपसे असत्यका दुःसाहस बढानेवाली दीनता है जो राजाके लिये भयंकर अपशकुन है।

राज्य जैसे धीर वीर राष्ट्रीय उत्तरदायित्ववाले कर्मोंमें दीनता या कातरता

अत्यन्त निन्दित मनोवृत्ति है । राजा या राष्ट्रपुरुषमें अपने भुजबलसे अपने स्वामित्वकी रक्षाकी पूर्ण योग्यता और अदम्य उत्साह होना परमावश्यक है । शासनकी सुव्यवस्था और सच्ची शान्ति दोनों गंभीर उत्तरदायित्व है और महती वीरताके काम हैं । ये कोई नानीजीके घर नहीं है ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते । (गीता)

राष्ट्ररक्षाका वीरतापूर्ण कर्तव्य रखनेवाले क्षत्रियके लिये, धर्म-रक्षार्थ, असत्य, अधर्म या पापसे संग्राम करते रहनेके अतिरिक्त दूसरी किसी भी बातमें कल्याण नहीं है । पाप, अन्याय, अत्याचारके विरुद्ध निरन्तर संग्राम ही राज्याधिकारियोंकी सन्ध्या, जप, तप, पूजा, पाठ आदि सब कुछ है । संन्यासीको ज्ञान-समाधि अर्थात् कर्मयोगसे जो पद प्राप्त होता है, राज्याधिकारीको वही पद राष्ट्रव्यापी पापसे युद्ध छेडकर, उसे राष्ट्रमेंसे बहिष्कृत करनेसे प्राप्त होता है । तात्पर्य यह है कि राष्ट्रोन्नायक महत्त्वपूर्ण साहसिक कर्तव्योंमें दीनता आजाना गर्हित है । स्वामी बननेवालोंमें सत्साहसिक कामोंमें कूदनेकी अदम्य शक्ति होनी चाहिये । यदि राज्यकी रश्मि पकडनेवाले लोग अयोग्य अशक्त होंगे तो राष्ट्रमें निश्चितरूपसे पापवृद्धि और कर्तव्योंकी हानि होगी ।

(हितैषियोंकी उपेक्षा अकर्तव्य)

स्वजनेष्वतिक्रमो न कर्तव्यः ॥ २४६ ॥

अपने हितैषियोंकी उपेक्षा न करनी चाहिये किन्तु उनके साथ यथोचित वर्ताव करना चाहिये ।

विवरण— जीवनमें सत्य सुरक्षित रहे इसीमें मानवमात्रका कल्याण है । सत्य ही नाना भांतिसे मानवका कल्याण करनेके लिये स्वजनोंका तथा उनके हार्दिक प्रेम और श्रद्धाका रूप लेकर प्रकट होता है । इस दृष्टिसे सत्य ही मानवमात्रका स्वजन है । सत्यनिष्ठ धार्मिक लोग समग्र मनुष्य-समाजके स्वजन होते हैं । समग्र राष्ट्रके कल्याणमें अपना कल्याण देखना सत्यनिष्ठ धार्मिक व्यक्तियोंके लिये स्वाभाविक होता है ।

राजा राष्ट्रका सेवक है। यदि राजा राष्ट्र-सिंहासनारूढ होकर राष्ट्रके सत्यनिष्ठ धार्मिक व्यक्तियोंकी उपेक्षा तथा अधार्मिकोंका सहयोग करके स्वेच्छाचारी बन जाय तो इसे अपनेपरसे सत्यका प्रभुत्व अस्वीकार करके असत्यका दास बनजाना कहा जायगा। राजा राष्ट्र-सेवामें तब ही समर्थ हो सकता है जब वह सत्यरूपी सच्चे स्वजनकी उपेक्षा न करके उसे ही अपना नायक बनाकर रक्खे। यदि राजा सत्यरूपी स्वजनकी उपेक्षा करता है तो वह अपने सत्यद्रोहसे ही राष्ट्रद्रोही बनजाता है। वह राष्ट्रद्रोही होकर अपने राज्याधिकारका दुरुपयोग करता और उसे असत्यरूपी समाजके वैरियोंके हाथोंमें सौंप देता है। राज्यसंस्थाको सत्यरूपी स्वजनोंके हाथोंमें रखना राजाका सबसे मुख्य कर्तव्य है। जिस समाजके लोग सत्यरूपी स्वजनोंकी उपेक्षा करदेते हैं वहाँकी राज्यव्यवस्था देशद्रोही पापियोंके पंजेमें फँस जाती, गुणी धार्मिक पुरुषोंकी उपेक्षा करती और आसुरिकताको ही प्राधान्य देदेती है।

(स्वजनोंसे स्वार्थलोलुप व्यवहार हानिकारक)

(अधिक सूत्र) **स्वजनेष्वतिकामो न कर्तव्यः ।**

अपने हितैषियोंके साथ स्वार्थलोलुप बर्ताव मत करो। उनसे पारस्परिक कल्याणका संबंध रक्खो।

विवरण— सत्यनिष्ठ धार्मिक लोग ही सम्पूर्ण मानव-समाजके स्वजन हैं। स्वार्थान्ध लोग भौतिक लाभ देखते ही सत्यको त्यागकर असत्यका आश्रय लेकर अपना काम बनानेमें संकोच नहीं करते। ऐसे स्वार्थान्ध लोग समाजके धार्मिक सदस्योंके साथ शत्रुता किया करते हैं। इसलिये करते हैं कि धार्मिककी सत्यनिष्ठा स्वार्थलोभीकी स्वार्थसिद्धिका विघ्न बनजाती है। सत्यनिष्ठ धार्मिक व्यक्तिको अपने स्वार्थका साधन बनानेका दुःसाहस करनेवाले लोग अनिवार्य रूपसे समाजमें अशान्ति उत्पन्न करनेवाले देशद्रोही होजाते हैं। देशके राज्याधिकारको ऐसे देशद्रोहियोंके हाथोंमें

जानेसे रोकना सावधान जाग्रत राष्ट्रका काम है । यह तब ही होसकता है जब कि राष्ट्रका प्रत्येक सदस्य एकमात्र राष्ट्रको ही अपना स्वजन मानकर एक दूसरेके साथ स्वार्थगन्धहीन बर्ताव करना सीखे । ऐसा करनेपर ही राष्ट्रमें धर्मराज्यकी स्थापना होना संभव है ।

मनुष्य इस विश्वपरिवारका एक पारिवारिक है । मनुष्य विश्वपरिवारका पारिवारिक बननेकी कला सीखनेके लिये ही पारिवारिक सम्बन्धोंमें अवतीर्ण हुआ है । पारिवारिक स्वजन विश्वपारिवारिकता सीखनेके क्षेत्रमात्र हैं । मनुष्यको स्वजनोंको परमार्थदर्शनका क्षेत्र बनाकर रखना चाहिये । न कि उन्हें अपने स्वार्थ-साधनकी आखेट-भूमि बनालेना चाहिये । स्वजनोंसे ऐसा दिव्य व्यवहार होना चाहिये कि उनकी भी तत्वज्ञानकी आँखें खुल जायँ और अपनेमें भी किसी प्रकारका भ्रम या आसक्ति शेष न रहे । स्वजनोंसे कामना या स्वार्थका सम्बन्ध रखनेपर उनकी घृणाका पात्र बनजाना अनिवार्य है, जिसका अवश्यंभावी परिणाम उभयपक्षका कपटी बनजाना होता है । स्वार्थपरताके विवाद तथा सम्बन्ध-विच्छेद दो अनिवार्य परिणाम हैं ।

(दुष्टोंसे सम्बन्ध हानिकारक)

मातापि दुष्टा त्याज्या ॥ २४७ ॥

दुष्ट होनेपर माता भी त्याज्य होती है । शत्रुता करनेवाली मातासे भी दूर रहना चाहिये, औरोंका तो कहना ही क्या ?

विवरण— पुत्रके साथ शत्रुता करनेवाली माता मातृत्वके अधिकारसे वंचित होकर पुत्रादिनी सर्पिणी जैसी दंडनीया बनजाती है । अपि शब्दका अभिप्राय यह है कि दूसरे अपकारियोंके त्यागमें तो किसी प्रकारकी शंकाको अवसर ही नहीं है ।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥

कार्याकार्यविवेक न रखनेवाले उन्मार्गगामी माता-पिता आदि गुरुओंका भी परित्याग अर्थात् निर्वासन कर दिया जाता है ।

स्वहस्तोऽपि विषदिग्धश्छेद्यः ॥ २४८ ॥

जैसे आत्मरक्षाके नामपर विषाक्त स्वहस्त भी छेद्य होजाता है इसीप्रकार विनाश करनेपर उतर आये हुए प्रियसे प्रिय सम्बन्धीका भी त्याग करके आत्मरक्षा करनी चाहिये ।

(हितैषिता ही बन्धुता)

परोऽपि च हितो बन्धुः ॥ २४९ ॥

संसारी संबंध न रखनेवाला भी यदि कोई हितकारी अर्थात् अनुकूल व्यवहार करनेवाला व्यक्ति सत्यनिष्ठ धार्मिक हो तो उसे बन्धु समझकर अपनाना चाहिये ।

विवरण— धार्मिक मनुष्यका संपूर्ण जीवन समाज-हितमें समर्पित होनेके कारणका व्यक्तिमात्रके लिये हितकारी है । धार्मिक व्यक्ति यदि किसीसे शत्रुता भी करता है तो वह अधर्मका ही विरोध करता है । वह अधर्मका विरोध करके संसारको धर्मका ही मार्ग दिखाना चाहता है । उसकी इस अधर्म-विरोधरूपी समाज-सेवासे समाजका प्रत्येक सदस्य आततायीके आक्रमणसे सुरक्षा पाता है । इसलिए वह समाजके प्रत्येक सदस्यका परम-मित्र होता है । कहा जाता है कि विवेकी शत्रु भी हितकारी तथा मूढ मित्र भी अहितकारी होता है । अर्थात् विवेकी व्यक्तिका परिस्थितिके अनुसार शत्रुता जैसा दीखनेवाला बर्ताव भी वास्तवमें मित्रता ही होता है और मूढ मित्र सदा शत्रु जैसा त्याज्य होता है ।

परोऽपि हितवान् बन्धुः बन्धुरप्यहितः परः ।
अहितो देहजो व्याधिः हितमारण्यमौषधम् ॥

देखनेमें शत्रु जैसा बर्ताव करनेवाला भी यदि हितकारी हो तो वह बन्धु है, बन्धु समझकर अपनाया हुआ व्यक्ति भी यदि अहितकारी हो तो

वह शत्रु है। व्याधि स्वदेहज होनेपर भी अपना शत्रु होती है तथा औषध सुदूर अरण्य या पर्वतपर उत्पन्न होनेपर भी हितकारी मानी जाती है।

कक्षादप्यौषधं गृह्यते ॥ २५० ॥

जैसे व्याधिनाशक औषध अरण्य जैसे असम्बद्ध स्थानसे लेनी पडती है इसीप्रकार उपकारी व्यक्ति संसारी दृष्टिसे हीन होनेपर भी उपेक्षित तथा अवहेलित नहीं होना चाहिये।

पाठान्तर— अक्षादप्यौषधं गृह्यते।

जैसे गुंजासे भी औषध तोलनेका काम लिया जाता है इसीप्रकार असम्बद्ध उपकारी व्यक्तिको भी हितैषी मानलेना पडता है।

(विश्वासके अयोग्य)

नास्ति चौरेषु विश्वासः ॥ २५१ ॥

चोरोंका विश्वास कभी न करना चाहिये।

विवरण— अन्यायपूर्वक संग्रह करनेके इच्छुक सबके सब चोर हैं। अनुचित लाभ लेनेवाले व्यापारी, उत्कोच लेनेवाले तथा स्वेच्छाचारी, शासक, राजकर्मचारी, अन्यायी अदालतके चाटुकार व्यवहार-जीवी (वकील) कर्तव्य पालन न करनेवाले कर्ता, सच्चा धर्मप्रचार न करनेवाले धर्मप्रचारक, सच्ची शिक्षा न देनेवाले अध्यापक, राजनीतिसे पृथक् रहकर धर्मका प्रचार करनेवाले तथा कु-शासनका विरोध करनेसे बचते रहनेवाले पत्रकार, व्यवस्था-परिषदोंके सदस्य, नेता, धर्मप्रचारक तथा धार्मिक संस्थायें आदि सब चोर श्रेणीमें आते हैं। ये सब राष्ट्रके चोर हैं। जिसका जो अधिकार नहीं उसका उसे चाहना ही चोरीका मूल है। वस्तुओंपर मनुष्योंका अधिकार उचित श्रमरूपी उचित विनिमयसे ही प्रतिष्ठित होता है। समाज-सेवक होनेके नाते देशके प्रत्येक नागरिकको अत्याज्य समाज-सेवा

करके ही अन्नग्रहण करनेका अधिकार प्राप्त होता है। इस सेवासे बचकर लोगोंको समाजकी सेवाके नामसे ठगना राष्ट्रीय चोरी है।

पाठान्तर— **नास्ति चौरेषु विश्वासः।**

(इस समय शत्रुता न करनेवाले भी शत्रुको नष्ट करनेमें प्रमाद मत करो)

अप्रतीकारेष्वनादरो न कर्तव्यः ॥ २५२ ॥

शत्रुको प्रतिकारमें उदासीन देखकर उसकी उपेक्षा न करनी चाहिये।

विवरण— अपनी किसी परिस्थितिसे विवश होकर इस समय प्रतीकार-हीन बनकर रहनेवाले राष्ट्रद्रोही परराष्ट्रप्रेमी शत्रुओंकी ओरसे असावधानी मत बरतो। उन्हें कुछ न करता देखकर उनकी ओरसे असावधान मत होजाओ। उनसे शत्रुता मत त्यागो और उन्हें मित्र मत बनाओ। वे अप्रतीकारी होनेकी अवस्थाके परिवर्तन होते ही प्रतीकार-परायण होनेमें देर नहीं करेंगे। शत्रुकी भोली मूरतों तथा चाटुकारिताभरी मीठी बातोंके धोखेमें आकर यह कभी मत भूलो कि शत्रु सदा शत्रु ही रहता है।

चाणक्य राजनीतिशास्त्रमें कहा है—

शत्रोरपत्यानि वशंगतानि नोपेक्षणीयानि बुधैर्मनुष्यैः।
तान्येव कालेन विपत्कराणि बतासिपत्रादपि दारुणानि ॥

बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ लोग घटनाचक्रवश अपने वशमें आये शत्रुके वंशजोंकी उपेक्षा न करें। समय आनेपर आजके चुपचाप दीखनेवाले वे शत्रुवंशज लोग तलवारकी धारसे भी अधिक विपत्ति बुलानेवाले बननेमें देर नहीं करेंगे।

(अधिक सूत्र) **अप्रतीकारेषु व्यसनेष्वनादरो न कर्तव्यः।**

असाध्य विपत्तियोंकी भी उपेक्षा न करो।

विवरण— अप्रतीकार्य विपत्तियोंको अप्रतीकार्य समझकर निराश नहीं

होजाना चाहिये। मनुष्यको अप्रतीकार्य समझी हुई विपत्तियोंके आनेपर उन्हीं जैसा कठोर बनकर उनका साम्मुख्य करना चाहिये। वीर मनुष्यको ऐसी विपत्तियोंको देखकर अपने प्रयत्नोंमें अपेक्षित तीव्रता लानी चाहिये और उन्हें अपने कर्मक्षेत्रसे मारभगानेका प्रबलतम आयोजन करना चाहिये —

याते समुद्रेऽपि हि पोतभंगे सांयात्रिको वांछति तर्तुमेव।

जैसे पोतव्यापारी मध्यसागरमें पोतभंग होजानेपर भी निराश न होकर समुद्र-संतरणके समस्त संभव उपाय किये बिना नहीं मानते। इसीप्रकार उत्साहसंपन्न लोग विपत्तियोंसे न घबराकर विपद्वारणके उपाय ढूँढनेमें व्यस्त होजाते हैं।

संपत्सु महतां चेतो भवत्युत्पलकोमलम्।
विपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥

महापुरुषोंका चित्त संपत्तियों (सुखों) के दिनोंमें तो विपन्न सत्पुरुषकी सहायताके लिए कमलकी पंखडियोंके समान कोमल होजाता तथा विपत्तियोंके दिन आनेपर तो पर्वतकी शिलाओंके समान भयंकर विपत्तियोंके सहनेके लिये कठोर बनजाता है।

(विपत्ति या दुर्व्यसनको छोटा मानकर उपेक्षा न करो)

व्यसनं मनागपि बाधते ॥ २५३ ॥

छोटासा भी व्यसन (निर्बलता) मनुष्यके सर्वनाशका कारण बनजाता है।

विवरण— जैसे थोडासा भी विष मारक होजाता है इसीप्रकार जीवनका थोडासा भी बुरा स्वभाव मनुष्यके संपूर्ण जीवनका सर्वनाश करडालता है। जिसमें बहुतसे व्यसन हैं उसके सर्वनाशकी तो बात ही मत पूछो। मानव-जीवनरूपी महाहृदका समस्त जीवन-रस दुर्व्यसनरूपी नालीके द्वारा बह-बहकर मानवके जीवन-हृदको गुणों और सुखोंसे रीता कर देता है।

(अधिक सूत्र) व्यसनमना बाध्यते ।

व्यसनासक्त व्यक्ति विनष्ट होजाता है ।

विवरण— अर्थ, सामर्थ्य तथा समयका दुरुपयोग करनेवाले निन्दित आचरण व्यसन कहाते हैं । व्यसनकी अधीनता स्वीकार कर लेने-वाले दीन-हीन मानवपर उसीके अपनाये व्यसन आपत्तियाँ बुलाकर खडी करदेते हैं ।

व्यसन आपात-मधुर प्रतीत होनेपर भी अन्तमें मानव-जीवनका सबसे कठोर शत्रु सिद्ध होता है । व्यसनको थोडासा नगण्य या मिष्ट समझना मनुष्यकी भयंकर भूल है । छोटासा थोडासा नगण्य भी व्यसन महाभयंकर विनाशकारी विस्फुलिंग होता है ।

(धन उपार्जनीय है)

अमरवदर्थजातमार्जयेत् ॥ २५४ ॥

मनुष्य अपनेको अमर मानकर जीवनपर्यन्त जीवन सामग्रि-योंका अर्जन करता रहे ॥

विवरण— मनुष्य अर्थोपार्जनके संबंधमें अपनेको जरामरण-वर्जित पुरुष मानकर व्यवहार करे । सूत्र कहना चाहता है कि मनुष्य आलस्य, असामर्थ्य या उधारे वैराग्यको अपने ऊपर कभी अधिकार न करने दे । वह यह जाने कि उसका शरीर सेवा अर्थात् अपनेमें उत्तमोत्तम गुणोंका विकास करके उनका दिव्यानन्द लेनेका एक पवित्र साधन है । सत्यरूपी प्रभु ही इस संसारमें मानवका एकमात्र सेव्य है । शरीरको सत्यकी सेवामें लगाये रखकर जीवन-साधनोंका अर्जन करना मनुष्यका कर्तव्य है । धन कभी भी त्याज्य नहीं है । धनकी आसक्ति, उसका लोभ या उसका मोह ही त्याज्य है ।

मृत्यु तो किसी भी क्षण आखडी होसकती है । जब तक मौतका स्पष्ट निमंत्रण न मिले तब तक मानवके जीवनका एक भी क्षण कर्तव्यहीन न

बीतना चाहिए। अपने जीवनके एक भी क्षणको व्यर्थ खोना सम्पूर्ण जीवनको व्यर्थ करदेना है।

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत एव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥ (विष्णुशर्मा)

मनुष्य विद्या तथा जीवन-सामग्रीका उपार्जन तो अजर-अमरकी भाँति करे। परन्तु अपने मानवोचित कर्तव्य-पालनमें यह मानकर अत्यन्त शीघ्रता करे कि " मौतने सिरके बाल पकड़ लिये हैं और अब यह मार ही देना चाहती है जो करना हो इसी क्षण कर लिया जाय। "

पाठान्तर— अजरामरवदर्थजातमर्जयेत्।

मनुष्य अपनेको अजर-अमर मानकर उचित उपायोंसे साधनसंग्रह करता चला जाय।

(धनार्जनके प्रयत्न स्थगित मत करो)

अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुमतः॥ २५५॥

ऐश्वर्य-संपन्न मानव अपनी अर्थशक्तिसे सार्वजनिक सम्मानका भाजन होजाता है।

विवरण— व्यावहारिक जीवनमें धन ही लोक-स्थितिका निदान है। यदि मनुष्य धनी होकर व्यसनासक्त न हो तो उसका धन गोदुग्धके समान अमृतस्वरूप होजाता है। यदि मनुष्य व्यसनासक्त हो तो वही धन नवज्वरमें पिये दूधके समान विषवत् मारक होजाता है।

राज्यसंस्थाके पास राजैश्वर्य रहना अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। राजा ऐश्वर्यशाली होकर ही प्रजापालनमें समर्थ होता है। राजाको राजैश्वर्यसंपन्न बननेमें अपना कोई भी सत्यानुमोदित प्रयत्न स्थगित नहीं रखना चाहिये।

धनेन बलवान् लोको धनाद् भवति पण्डितः।

मनुष्य धनवान् होनेसे बलवान् तथा बुद्धिमान् माना जाने लगता है।

महेन्द्रमप्यर्थहीनं न बहु मन्यते लोकः ॥ २५६ ॥

संसार अर्थहीन महेन्द्र (स्वर्गके सम्राट्) का भी सम्मान नहीं करता।

विवरण— ऐश्वर्यहीन राजा सर्वमान्य न होसकनेसे राजा नाम पानेके भी अयोग्य होजाता है। लोग ऐसे राजाको हेय समझने लगते और आदर नहीं करते। उसका पराभव होने लगता है। लोग संसारी व्यवहारोंमें भी धनहीनकी अवज्ञा किया करते हैं।

अथवा — संसारके लोग शरीरशक्तिमें इन्द्रतुल्य बली होनेपर भी अर्थ-शक्तिसे हीनकी अवज्ञा करते हैं।

पाठान्तर— महेन्द्रमप्यर्थहीनमवमन्यते लोकः।

संसार अर्थहीन महेन्द्रका भी अवमान करता है।

(दरिद्रताके दोष)

दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवितं मरणम् ॥ २५७ ॥

दरिद्रता जीवित मनुष्यको भी मृतवत् अर्थात् जीवनको मरणके समान व्यर्थ बनादेती है।

विवरण— भौतिक देह या राज्यकी रक्षा भौतिक साधनोंसे ही होती है। देह-रक्षा या राज्य-रक्षाके साधनोंका न रहना देह और राज्यके विनाशका कारण बनजाता है।

निर्धनताके प्रसंगमें यह भी जानना चाहिये कि जहां साधनहीनता दरिद्रता है वहां एक अन्य प्रकारकी भी घातक दरिद्रता है, जिस दरिद्रतासे प्रभावित आढ्यतम लोग भी दूसरोंके जीवनसाधनोंको अन्याय तथा छल-कपटसे छीनलेने पर उतर आते हैं। धनका बाहुल्य होनेपर भी मनमें समाजद्रोही कुत्सित धनतृष्णाका बने रहना दरिद्रतासे भी बड़ी दरिद्रता है। यह वह दरिद्रता है जिसे हटाना सर्वथा मनुष्यके वशमें है। यह दरिद्रता मनुष्यकी स्वाधीन व्याधि है। धनतृष्णा मानवमनको चाहे

जितना धन होनेपर भी सदा अभावग्रस्त रखती, अप्रामाणिक गर्हित उपायोंसे भी अपनेको बुझवाना चाहती तथा मनुष्यको सदा दुःखी बनाये रहती है। धनतृष्णाके चक्करमें पडकर दुःखी जीवन व्यतीत करना जीवनके सच्चे आनन्दसे वंचित रहकर जीवित रहते हुए भी मृतवत् होजाना है। जिन धनी लोगोंमें मानवता अर्थात् समाजके प्रति कर्तव्यशीलताने विकास नहीं पाया उनका धन उन्हें मिला हुआ एक अभिशाप है। समाजके सहयोगसे धनोपार्जन करके उसमेंसे समाजके अभ्युत्थानमें अर्पण न करनेवाले स्वार्थी लोग प्रभुको लूटनेवाले अकृतज्ञ तस्कर (नमकहराम) भृत्योंके समान समाजके व्याधिग्रस्त भाग हैं।

पाठान्तर— **दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवितमरणम्।**

दरिद्रता जीवनको ही मरण जैसा अकार्यकारी बनाडालनेवाली अवस्था है।

(अर्थका महत्व)

विरूपोऽर्थवान् सुरूपः ॥ २५८ ॥

अर्थश्रीसे शोभित दानी पुरुष सौन्दर्यहीन होनेपर भी रुचिकर माना जाने लगता है।

विवरण— धनका सदुपयोग करनेवाला ही सच्चा धनवान् या अर्थवान् है। धनका सदुपयोग करनेवालेका दैहिक सौन्दर्य उपेक्षित होकर उसका हार्दिक सौन्दर्य ही ज्ञानीसमाजमें आदृत होने लगता है। धनवान् दानीका कुरूप भी याचकोंके मनोंको मोहित करनेवाला होजाता है। रूपलावण्यहीन देहवाले दानी धनवानोंकी कुरूपता उनके धनके सदुपयोगसे इस दृष्टिसे दूर होजाती और उन्हें सुरूप बनादेती है कि उनके धनसे उपकृत होनेवाले याचकलोग उनके दर्शनोंसे कृतार्थ होते और सदा उनके दर्शनके प्यासे बने रहते हैं। उनकी दानप्रवृत्ति ही उन्हें सुरूप बना देती है। उनके पांचभौतिक देहकी कुरूपता उनकी दानशीलतामें छिपकर दूर होजाती है।

उनकी अपने धनका सदुपयोग करनेकी प्रवृत्ति ही उनकी सुरूपता होजाती है। परन्तु ध्यान रहे कि यह सुरूपता दानी धनियोंको ही प्राप्त होती है। कृपण विरूपोंको ऐसी गुणार्जित सुरूपता प्राप्त नहीं होती।

पाठान्तर— विरूपोऽप्यर्थवान् सुरूपः (सुपुरुषः)।

असुन्दर भी अर्थवान् धनार्थियोंके मुखसे सुरूप (या सुपुरुष) कहाने लगता है।

अदातारमप्यर्थवन्तमर्थिनो न त्यजन्ति ॥ २५९ ॥

धनार्थी लोग कृपण धनवानको भी अपनी याचनाका पात्र या धनतृष्णाका आखेट बनानेसे नहीं चूकते।

विवरण— याचक लोग उसकी दानशक्तिको उत्तेजित करनेके लिये उसके सामने प्रार्थी बने ही रहते हैं। वे धनी होनेसे दानकी संभावना देखकर उससे याचना करते ही चले जाते हैं।

धनकी दान, भोग तथा नाश तीन अवस्था हैं। सत्पात्रको दान देना धनको सुरक्षित करनेकी सर्वोत्तम विधि है।

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।

उपार्जित धनोंका समाजसेवामें दान ही उनकी रक्षाका पूर्ण प्रबन्ध है। दान दाताका नित्यसाथी बनजाता है। यदि हमारे धनका उपयोग हमारे समाजको सद्गुणी सम्पन्न और सुखी बनानेमें होजायगा तो यह हमारे धनका सर्वोत्तम रक्षाविधान होगा। धनका इससे उत्तम कोई उपयोग संभव नहीं है कि वह अपने प्रतिपालक समाजको आदर्शसमाज बनानेके काम आये। धन्य हैं वे लोग जिनकी उपार्जित धनशक्ति अपने समाजके कल्याणमें नियुक्त होती है।

सत्पात्रमें दान करनेवाला दाता बनना ही धनवान्‌की बुद्धिमत्ता है। सत्पात्रमें दान करनेवाला धनके सदुपयोगसे आत्मप्रसाद लाभ करता है। कृपणका धन अपात्रके हाथोंमें बलात् पहुंचकर समाजके अकल्याणमें लगकर

उस कृपणको समाजका अहित करनेवाला अपराधी तथा दातापनके आत्म-प्रसादसे वंचित करके पश्चात्तापग्रस्त दुखी बनाडालता है ।

विपन्न सत्पुरुषकी सहायता, पाठशाला, धर्मशाला, पुल, घाट, प्याऊ, औषधालय आदिके निर्माण तथा संचालन, भूचाल, जलप्रलय, महामारीसे त्राण आदि समाजोपयोगी कार्योंमें अपनी सदुपार्जित धनशक्ति व्यय करना " दान " है । दस्यु, चोर, व्यसन, विपत्ति, राष्ट्रविप्लव आदिमें धनका विच्छिन्न होजाना " नाश " है । कुटुम्ब, अतिथि, स्वजन, आश्रित, तथा अपनी जीवनयात्रामें धनका व्यय होना " भोग " कहाता है । जिस कृपण मानवमें भोग और दानकी बुद्धि नहीं होती उसके धनका नाश अनिवार्य है और उसका धन उसके लिये अनर्थ या शिरःपीडा मात्र होता है ।

अकुलीनोऽपि कुलीनाद्विशिष्टः ॥ २६० ॥

अपनी धनशक्तिको समाजसेवामें नियुक्त करनेवाला धनी व्यक्ति अकुलीन होनेपर भी समाजसेवासे विमुख रहनेवाले कुलीनसे श्रेष्ठ होजाता अर्थात् अधिक सम्मान पाने लगता है ।

विवरण— बात यह है कि समाजसेवक धनवानोंके पास चाहे वे कुलीन हों या अकुलीन समाजको अपनी धनशक्तिके सदुपयोगसे शक्तिमान् बनाये रखनेवाला भौतिक सामर्थ्य संगृहीत होजानेके कारण समाजमें उनकी प्रतिष्ठा होने लगती और वे समाजकी आशाओंके केन्द्र बनजाते हैं । उनके पास समाजोद्धारक साधनोंका संग्रह होजाना ही उनकी प्रतिष्ठाका कारण होता है । किन्तु कुलीन लोग धनी होनेपर भी समाजसेवा न करें तो वे कुलीनतासे पतित तथा समाजकी भौतिक सेवासे मिलनेवाली प्रतिष्ठासे वंचित होकर समाजद्रोहके कलंकभागी होते हैं ।

आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम् ।
निष्ठा वृत्तिस्तपो दानं नवधा कुललक्षणम् ॥

सदाचार, विनय, विद्वत्ता, प्रतिष्ठा, सत्संग, भक्ति, जीवनयात्राकी सुकरता, तपस्या तथा दान ये नौ गुण मनुष्यके सत्कुलमें उत्पन्न होनेके लक्षण हैं।

पाठान्तर— अकुलीनोऽप्यर्थवान् कुलीनाद्विशिष्टः।

(नीच अपमानसे नहीं डरता)

नास्त्यमानभयमनार्यस्य ॥ २६१ ॥

नीचको समाजमें अपने अपमान या तिरस्कारका कोई भय नहीं होता।

विवरण— जैसे मलिन वस्त्रवालेको वस्त्र मलिन होजानेका भय नहीं रहता, इसीप्रकार अनार्यतारूपी मलिनताको अपनानेवालेको अपमानका डर नहीं रहता।

(व्यवहारकुशलकी निर्भयता)

न चेतनवतां वृत्तिभयम् ॥ २६२ ॥

व्यवहारकुशल चतुर लोगोंको जीविका न मिलनेका कभी भय नहीं होता।

विवरण— उनकी व्यवहारकुशलता, प्रत्युत्पन्नमतिता, अनागतविधातृत्व आदि गुण ही उनकी जीविकाके प्रबल आश्वासन होते हैं।

(जितेन्द्रियकी निर्भयता)

न जितेन्द्रियाणां विषयभयम् ॥ २६३ ॥

जितेन्द्रिय व्यक्तियोंको विषयके सान्निध्यमें पतित होनेकी कभी शंका नहीं होती।

विवरण— विषयोंके सान्निध्यमें पतनकी शंका उन्हीं लोगोंको होती है जो अजितेन्द्रिय होते हैं।

(सफल जीवनकी निर्भयता)

न कृतार्थानां मरणभयम् ॥ २६४ ॥

संसारका रहस्य समझकर कर्तव्यपालन करनेके द्वारा अपना जीवन सार्थक करलेनेवालोंको मृत्युभय नहीं होता।

विवरण— मृत्युका भय उन्हीं लोगोंको होता है जो अपने मानवोचित कर्तव्यपालनसे अपना जीवन सफल नहीं करपाते। अपने मानवोचित कर्तव्यका पालन करनेवाले लोग प्रत्येक क्षण कर्तव्यपालनकी सफलताके कारण विजयी जीवन बितानेवाले मृत्युञ्जयी बनजाते हैं। यही उनका अपने जीवनको सार्थक करना कहाता है। अपने जीवनको सार्थक करना ही अमर बनजाना है। जीवनकी जो व्यर्थता है वही तो मृत्युभीति है। सत्यमें सम्मिलित जीवन ही सत्यस्वरूप होता है। इसके विपरीत असत्यकी दासता करना जीवित रहते हुए भी अमानवोचित जीवन बिताना रूपी मृतावस्था है। असत्यविरोधरूपी अत्याज्य, अनिवार्य कर्तव्यपालन करते हुए कर्तव्यशील व्यक्तिकी सहर्ष वरण की हुई मृत्यु भी उसे कर्तव्यपालनका आनन्द देनेवाली होती है। उसके विपरीत देहका भोगार्थ दुरुपयोग करनेवाले व्यक्तिकी मृत्यु उसे भोगसुखसे वंचित करनेवाली विभीषिका होती है।

(साधुकी उदार दृष्टि)

कस्यचिदर्थं स्वमिव मन्यते साधुः ॥ २६५ ॥

महामति साधु लोग पराये धनोंको उनके पास रक्खी हुई अपने धन जैसी सत्यकी धरोहर मानते हैं। अर्थात् वे पराये धनोंको भी अपने धनोंके समान ही सदुपयोगमें आता देखना चाहते हैं।

विवरण— व्यक्तिगत धनाध्यक्ष बननेकी भावना समाजमें स्वार्थबुद्धिका प्रचार करनेवाली समाजद्रोही भावना है। व्यक्तिगत धनाध्यक्षतारूपी दूषित भावनाको त्यागकर समाजके प्रत्येक सदस्यकी भौतिक सम्पत्तिका सत्यके अधिकारोंमें आजाना ही, सार्वजनिक कल्याणको अपना कल्याण समझनेवाली सहानुभूति, समाजबन्धन या शान्तिदायक सामाजिक आदर्श है। यही साधुओंके जीवनका आदर्श है। साधुलोगोंके इस आदर्शको समाजसंगठनमें सुप्रतिष्ठित करदेना ही राजधर्म है। इसीको 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' कहा जाता है। यही राजचरित्र आदर्शसमाजकी रचना करनेवाला समाजबन्धन है। साधुलोग किसीके धनको पराया मानकर उसका

कभी लोभ नहीं करते। वे संसारके धनोंको दूसरोंके पास रक्खी हुई सत्यकी धरोहर मानकर उसकी ओरसे निश्चिन्त तथा निरीह बनेरहते हैं। असाधु लोग पराये द्रव्योंको सत्यका न मानकर अपना भोग्य माननेकी भूलसे भटक जाते तथा उनके अपहरणमें प्रवृत्त होजाते हैं।

अथवा— साधुलोग परकीय धनोंको अपनासाही समझते और उन्हें भी अपने ही धनके समान विनाश, अपहरण आदिसे बचाते हैं। साधु लोगोंमें अपने परायेका भेद नहीं होता।

> अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
> उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

मेरे तेरेकी भावना लघुचेताओंका काम है। उदारचरितोंकी दृष्टिमें तो यह सारी ही वसुन्धरा उनका कुटुम्ब है। "**आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः**" जो सब भूतोंको अपनेपनकी भावनासे देखकर उनमें ऐकात्म्यका दर्शन करता है वही पण्डित है।

अथवा— साधुपुरुष दूसरोंके धनोंकी भी सुरक्षा अपने धनके समान सत्यार्पणमें ही समझते हैं।

(परधनके सम्बन्धमें श्रेष्ठ नीति)

परविभवेष्वादरो न कर्तव्यः॥ २६६॥

दूसरेके धनोंको लोभनीय नहीं मानना चाहिये।

विवरण— व्यक्तिगतधनतृष्णा ही दूसरेके धनमें लोभ उत्पन्न करनेवाली सामाजिक व्याधि है। यदि परधनोंको लोभनीय माना जायगा तो उनके अपहरणकी इच्छा होना अनिवार्य होजायगा और तब मनुष्यका मनुष्यत्व ही जाता रहेगा। जो मनुष्य अपने न्यायार्जित धनमें अलंबुद्धि रखता है वह परधनोंको आदर अर्थात् महत्त्व या लोभनीय दृष्टिसे कभी नहीं देखता। दूसरेके धनका लोभ न करना ही उसका निरादर या उपेक्षा है। लोभीका चोर होना अनिवार्य है। लोभी तो हो और चोर न हो यह असम्भव है।

पाठान्तर— परविभवेष्वादरो नैव कर्तव्यः।

(परधनलोलुपतासे हानि)

परविभवेष्वादरोपि विनाशमूलम् ॥ २६७ ॥

दूसरोंके धनोंको लोभनीय दृष्टिसे देखना भी मानवके सामाजिक बन्धनका घातक तथा सर्वनाशका कारण होता है।

विवरण— मनुष्य धनलोभसे अभिभूत होकर अपनी समाजकल्याणकारी कर्तव्यबुद्धि या कार्याकार्यविवेकको खोबैठता है। परविभवोंका लोभ समाजमें अशान्ति, पाप तथा विवाद पैदा करता है।

पाठान्तर— परविभवेष्वादरो विनाशमूलम्।

(परधनकी अग्राह्यता)

पलालमपि परद्रव्यं न हर्तव्यम् ॥ २६८ ॥

किसीका एक तिनका जितना क्षुद्रतम धनतक नहीं चुराना चाहिये।

विवरण— अनधिकारपूर्वक किसीकी क्षुद्रतम वस्तु लेना भी अपहरण या चोरी है। चोरीके अपराधकी गुरुता या लघुताका अपहृत वस्तुकी गुरुता लघुताके साथ कोई संबन्ध नहीं है। चोरी किसी कर्मका नाम नहीं है। चोरी तो भावनाका नाम है। चोरीकी भावना ही चोरी है। चोर क्षुद्रतम वस्तुकी चोरी करके अपनी इस मनोवृत्तिका परिचय देता है कि उसका मन किसी बडी वस्तुकी चोरीके अवसर ढूंढ रहा है। समाजमें चोरीकी भावनाको मिटा डालना ही समाजकल्याणकारिणी सच्ची समाजसेवा है। राजा या राज्याधिकारी लोग स्वयं इस आदर्शको अपनाकर ही अपने राजचरित्रके आदर्शको समाजमें सुप्रतिष्ठित कर सकते हैं।

परद्रव्यापहरणमात्मद्रव्यनाशहेतुः ॥ २६९ ॥

पराये द्रव्यका अपहरण अपने द्रव्यके विनाशका कारण बन जाता है।

विवरण— स्वयं चोरी करना समाजमें चोरीका दुर्दृष्टान्त उपस्थित करके चौर्यवृत्तिको प्रोत्साहित करना होता है। चोर लोग अपनी इस कुप्रवृत्तिसे स्वयं भी चोरीके आखेट बननेका द्वार खोल देते हैं। चोरी करना अपने प्राणको भी विपद्ग्रस्त करनेका कारण बनजाता है।

पाठान्तर— परद्रव्यापहरणमात्मद्रव्यविनाशहेतुः।

(चोरी मनुष्यका सर्वाधिक विनाश)

न चौर्यात् परं मृत्युपाशः ॥ २७० ॥

मृत्युका पाश चोरीके पाशसे अधिक दुःखदायी नहीं होता।

विवरण— चोरी करना अपने मनुष्यतारूपी स्वरूपकी हत्या करके नैतिक मौतसे मरते रहना है। चोरीसे मनुष्यकी मनुष्यता, धन, यश तथा शरीर सभी संकटापन्न होजाते हैं।

(समाजमें नैतिकताके आदर्शकी रक्षाके लिये अल्पसाधनोंसे जीवन बितानेका व्रत लो)

यवागूरपि प्राणधारणं करोति लोके ॥ २७१ ॥

संसारमें शरीररक्षाके लिये तो यवागू भी पर्याप्त है।

विवरण— चोरी, उत्कोच, अपहरण, लुण्ठन, प्रतारणा, द्यूत (जुआ) आदि लोभज अमानवोचित उपायोंसे अनधिकार षड्रस भोजन तथा नाना-विध ऐश्वर्य पाकर नैतिक मृत्युको अपनालेनेसे तो यही अच्छा है कि राज्या-धिकारी लोग सत्योपार्जित लक्ष्मीसे जीवन धारण करके अमरत्व पाकर आत्म-कल्याण करें और समाजके सामने नैतिकताका आदर्श सुप्रतिष्ठित करें।

(साधनोंके उपयोगका उचित समय पहचानो)

न मृतस्यौषधं प्रयोजनम् ॥ २७२ ॥

मरचुकनेके पश्चात् औषधप्रयोगका कर्तव्य समाप्त हो जाता है।

विवरण- मनुष्यकी कर्तव्यबुद्धि ही अपने समाजको जीवित रखनेवाली महौषध है। मनुष्यजीवनका एक भी क्षण समाजकी सच्ची सेवा करनेके कर्तव्यसे हीन नहीं रहना चाहिये। मनुष्यका संपूर्ण जीवन कर्तव्यमय है। इस जीवनव्यापी कर्तव्यको छोडकर मानवजीवनमें नैष्कर्म्यस्थितिको अपनानेका कोई अवकाश नहीं है। जीवनकालमें मनमें ऐसी भावनाको स्थान देना कि " हमारा कर्तव्य समाप्त होचुका " अकालमृत्युनामक अमानवीय स्थितिको अपनाना है। अपने जीवितकालको कर्तव्यहीन स्थितिमें बिताना अज्ञानकी मौत मरजाना है। जब तक जीवन है तब तक समाजसेवारूपी ज्ञानमयी स्थितिको अपनाये रहना ही जीवन कहलानेवाली सच्ची स्थिति है। इस स्थितिको त्यागना ही मृत्यु है।

अथवा— मृतके लिये औषधकी आवश्यकता नहीं है।

औषध तो जीवनकालकी आवश्यकता है। किसी भी साधनको काममें लानेमें प्रमाद न करना चाहिये। साधनके उपयोगके उचित समयको बीतने नहीं देना चाहिये। ' का वर्षा जिमि कृषी सुखाने ' पदार्थके ठीक उपयोगके समय ही उससे काम लेलेना चाहिये। इस उपयोगकालको टालना या टलने देना नहीं चाहिये। औषध रोगके लिये है मृत्युके लिये नहीं। जब औषधसे रोग न जानेपर भी औषध की जाती है तब उसका उद्देश्य कर्तव्यपालनका सन्तोष होता है।

पाठान्तर— न कालेन मृतस्यौषधं प्रयोजनम्।

(कालका अर्थ भी मृत्यु ही है) पूर्णायु भोगकर प्राकृतिक मृत्यु पानेवालेके लिये चिकित्साका प्रयोजन नहीं है।

' प्राप्तकालो न जीवति '।

जब तक श्वास है तब तक मृत्युसे संग्राम करना कर्तव्य है। मरनेका समय आगया है ऐसी मनमानी कल्पना करके निश्चेष्ट बैठे रहना कर्तव्यहीनता है।

(प्रभुत्वरक्षा राज्यसंस्थाका सार्वदिक कर्तव्य)

समकाले स्वयमपि प्रभुत्वस्य प्रयोजनं भवति ॥ २७३ ॥

साधारणकालमें अपना प्रभुत्व बनाये रखना ही स्वयं कर्तव्यका रूप लेकर उपस्थित रहा करता है।

विवरण— संधि, विग्रह आदि जटिल प्रश्नोंके उपस्थित न होनेपर साधारणकालमें संसारमें अपनी प्रभुताको जीवित रखते रहना भी एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रयोजन होता है। राजालोग विषमकालका अभाव देखकर राज्यश्रीके प्रदर्शन तथा वृद्धिमें प्रमाद न करें। राजाके प्रभुत्वपर चोट न आनेका काल साधारणकाल कहाता है। चोट ही आक्रान्त मनुष्यको चोट बचाकर आत्मरक्षा करनेका कर्तव्य सौंप देती है। परन्तु राजशक्तिसंपन्नलोग अपनेपर बाह्य आक्रमण न होनेकी अवस्थामें अपने आपको शक्तिसंग्रहकी आवश्यकतासे हीन समझनेकी भ्रान्ति न करें। अपने प्रभुत्वको दृढ बनाये रखनेमें प्रमाद करना ही आक्रमक शत्रुओंको पैदा करनेवाला होता है।

(कर्तव्यमें समयका महत्व)

(अधिक सूत्र) **स्वकाले स्वल्पमपि प्रभूतत्वस्य प्रयोजनं भवति।**

जैसे व्याधि उपस्थित होनेसे पहले स्वास्थ्यरक्षाका साधारण नियम भी व्याधिनिरोधक होता है। परन्तु व्याधि होजानेपर स्वास्थ्यरक्षाके साधारण नियमका उल्लंघन होते ही व्याधिकी समस्या जटिल होजाती है। इसी प्रकार साधारण समयका प्रभुत्वरक्षाका साधारण कर्तव्य उपेक्षित होजाय तो उसका परिणाम राज्यसंस्थाके लिये प्रभूत (विराट्) संकट बुलानेवाला बनजाता है।

विवरण— उचित समयपर उपयोगमें लाई हुई थोडी वस्तु भी प्रचुर वस्तुकी रक्षा या उत्पत्तिकी साधक बनजाती है। कर्तव्यका उचित काल बीत जानेपर तो प्रचुरकी प्रचुरता भी निष्फल होजाती है। कर्तव्यके संबंधमें

योग्य कालको पहचाननेका बहुत बडा महत्व है। कर्तव्यका काल कर्तव्यका महत्वपूर्ण अंग है। कर्तव्यका योग्य काल बीत जानेपर कर्तव्य लूला, लंगडा अंगहीन होकर निष्फल होजाता है। भूखेके लिए थोडा भोजन भी हितकारी होता है क्षुधाहीनको मिली भोजनसामग्री भी वृथा होजाती है।

अथवा– व्याधि सुचिकित्स्य हो तो औषधकी बूंद भी काम करजाती है और अचिकित्स्य होचुकनेपर दिव्य औषधसे भी कुछ लाभ नहीं होता।

(नीचके ज्ञानका नीच उपयोग)

नीचस्य विद्याः पापकर्मणि योजयन्ति ॥ २७४ ॥

नीचोंकी (चतुराइयां) या पदार्थविज्ञान आदि कौशल उनके समस्त बुद्धिवैभव (उन्हें विनीत, सुजन, उपकारक तथा धार्मिक न बनाकर) उन्हें चोरी, कपट, माया, जिम्ह, अनृत, परवंचन, लुण्ठन, अनधिकारभोग आदि पापकर्मोंमें लगा देता है।

विवरण— नीच लोगोंमें सुविद्याजनित फल नहीं पाया जाता। मनुष्यको पापसे न रोककर पाप करनेकी कला सिखादेनेवाली विद्या विद्या न होकर अविद्या कहाती है। मनुष्य शुकविद्याके अध्ययनसे पापसे नहीं बच पाता। किन्तु शिष्टोंके वातावरणका अंग बनकर उनसे शिष्टाचार, सौजन्य, विनय तथा कर्तव्याकर्तव्य विचार सीखकर ही पापसे बचकर गौरव पा सकता है। भागवतमें कहा है—

सरस्वती ज्ञानखले यथाऽसती।

विद्वान् खलमें उसका ज्ञान उसकी सरस्वतीको दुष्टा बना लेता है।

पाठान्तर— नीचस्य विद्या पापकर्मणा योजयति।

नीचकी विद्या उसे छल, कपट, चोरी आदि पापकर्मोंमें सान देती है।

पयःपानमपि विषवर्धनं भुजंगस्य नामृतं स्यात् ॥२७५॥

जैसे सांपको दूध पिलाना उसका विष बढाना होता है अमृ-

तोत्पादक नहीं, इसी प्रकार नीचोंका विद्यालाभ उनकी नीच प्रवृत्तियोंको ही अनेकगुणा कर देनेवाला होजाता है।

विवरण— नीच लोग विद्यालाभसे सुधरते नहीं, प्रत्युत उससे उनकी नीचताको बढावा, सहकार तथा प्रोत्साहन मिलजाता है। मनुष्यमें मानवोचित कर्तव्यनिष्ठा पैदा करना रूपी विद्यालाभका जो महत्वपूर्ण उद्देश्य है वह नीचोंको उनकी नीचतारूपी अयोग्यताके कारण अप्राप्त रहता है। नीचोंके पास विद्या पहुंचाना उनके हाथमें छुरा पकडादेना होता है।

(चरित्रका जीवनव्यापी प्रभाव)

(अधिक सूत्र) ऐहिकामुत्रिकं वृत्तम् ।

मानवका चरित्र उसके वर्तमान और भावी दोनों कालोंपर अपना अमिट प्रभाव रखता है।

विवरण— मानवका दुष्ट चरित्र नरक और अपयश दिलाता है। उसका सुचरित उसे दोनों कालोंमें स्वर्ग और कीर्ति देता है। इस दृष्टिसे सुचरित्रका संग्रह और रक्षा मनुष्यका परम कर्तव्य है। मानवजीवनके सुख-दुःख उसके चरित्रके भले-बुरे होनेपर निर्भर करते हैं।

पाठान्तर— ऐहिकामुष्मिकं वित्तम् ।

सद्भावोपार्जित तथा असद्भावोपार्जित धन वर्तमान तथा भावी दोनोंमें सुखदुःखदायी होता है।

(जीवनमें अन्नका महत्वपूर्ण स्थान)

नहि धान्यसमो ह्यर्थः ॥२७६॥

संसारमें अन्न जैसा जीवनोपयोगी कोई पदार्थ नहीं है।

विवरण— जीवनधारक पदार्थोंमें अन्नका सबसे मुख्य स्थान है। अन्न स्वयं ही अर्थोपार्जनका लक्ष्य है। इसीसे अन्न संसारका सर्व-श्रेष्ठ पदार्थ है। "अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः" अन्न ही प्राणियोंके प्राण हैं। समस्त भूमण्डलके एकत्रित रत्नादि पदार्थ एक भी मनुष्यकी भूख नहीं मिटासकते।

क्षुधाकी निवृत्ति केवल अन्नसे होती है। इसलिये राजालोग अपने राष्ट्रको धान्यसंपन्न बनाये रखनेमें कोई बात उठा न रक्खें। कूप, पोखर, कुल्या, नाले, बांध आदि रूपोंमें सिंचनका प्रबन्ध करके राष्ट्रमें अन्नोत्पादन पर पूरा बल लगायें।

(राज्यसंस्थाका सबसे बड़ा शत्रु)

न क्षुधासमः शत्रुः ॥ २७७ ॥

राज्यका अन्नाभावजनित दुर्भिक्ष या अपरितृप्त क्षुधाके समान कोई शत्रु नहीं है।

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।

भूखा क्या पाप नहीं करताके अनुसार अन्न न पासकनेवाली जनतामें पारस्परिक लुंठन आदि अशान्ति उत्पन्न होना अवश्यम्भावी होजाता है। इसलिए राजालोग राज्यमें क्षुधाका हाहाकार न होने देनेके लिये सदा उपायोंका अवलम्बन करें। शत्रु तो धनादिका ही अपहरण करता है, क्षुधा तो शरीर, इन्द्रिय तथा प्राणतक हरण करलेती है। इसलिए राजाको क्षुन्निवृत्तिके लिए अन्नोत्पत्तिमें प्रजाकी भरपूर सहायता करनी चाहिये। महाभारतमें कहा है—

वासुदेव जरा कष्टं कष्टं धनविपर्ययः।
पुत्रशोकस्ततः कष्टं कष्टात् कष्टतरं क्षुधा ॥

वृद्धावस्था भी कष्ट है, धननाश भी कष्ट है, पुत्रशोक भी कष्ट है परन्तु क्षुधा सब कष्टोंसे बड़ा कष्ट है।

(निकम्मोंका भूखों मरना निश्चित)

अकृतेर्नियता क्षुत् ॥ २७८ ॥

अकर्मण्य निकम्मे आलसी मानवका भूखों मरना अवश्यंभावी होता है।

विवरण— कर्मप्रवण लोग अपने पुरुषार्थसे धनधान्यादि पाकर अपनी और दूसरोंकी क्षुधा मिटा देते हैं। किसी राष्ट्रमें लोगोंका भूखों मरना उसके लिये महा अभिशाप है। इसलिए राजा लोग भूखसे मरनेका प्रसंग न आने देनेके लिये बेकारीकी उत्पत्ति और वृद्धि न होने दें तथा उसे बलपूर्वक रोकें। धनी या निर्धन किसीको भी कर्महीन (खाली) रहना वैधानिक अपराध माना जाना चाहिये और समस्त प्रजाको जीविकासे संपन्न बनाकर रखना चाहिये। श्रम सबके ही लिये अपरिहार्य होना चाहिये। जब तक मनुष्य आलस्य त्यागकर सत्यानुमोदित जीवनधारणके लिये आवश्यक उद्योग नहीं करेगा तब तक क्षुद्बाधा नहीं हटेगी।

पाठान्तर— अकृतेर्नियता क्षुद्बाधा।

अकर्मण्यको क्षुधाकी बाधा अनिवार्य है।

(क्षुधाकी विकरालता)

नास्त्यभक्ष्यं क्षुधितस्य ॥ २७९ ॥

क्षुधापीडितके लिये अभक्ष्य कुछ नहीं रहता।

विवरण— बुभुक्षित लोग घास, पात, वृक्षोंकी छाल, मिट्टी, नरमांस आदि अमानवोचित आहार करनेपर उतर आते हैं। 'कष्टात् कष्टतरं क्षुधा' भूख संसारका सबसे बडा कष्ट है। राजा लोग 'भूखा क्या नहीं करता' इस डरसे अपने देशको अन्नसम्पन्न बनाये रखें।

(इन्द्रियोंके दुरुपयोगका दुष्परिणाम)

इन्द्रियाणि जरावशं कुर्वन्ति ॥ २८० ॥

इन्द्रियोंका मर्यादाहीन उपयोग मनुष्यको समयसे पहले वार्धक्यके अधीन करदेता है।

विवरण— इन्द्रियाधीनता ही वार्धक्य है। इन्द्रियोंपर प्रभुता मनुष्यका अक्षय यौवन है। ज्ञानी मानवोंके जीवनोंमें वार्धक्य नामसे दूषित

अनुत्साह, नपुंसकता या असत्यकी दासता जैसी जीवन्मृत अवस्था नहीं रहा करती। ज्ञानीका यौवन उसके चर्मकी विशेषता न होकर उसके मनका धर्म होता है। ज्ञानोत्साहरूपिणी कर्मवीरता ही ज्ञानीका अटल रूपयौवन होता है। इन्द्रियां जीवनानुकूल तत्वोंका संग्रह करने तथा जीवनविरोधी तत्वोंसे अलग रहनेके लिये बनी हैं। मनुष्यकी जीवनेच्छा इन्द्रियोंके रूपमें व्यक्त हुई है। जीवनधारणमें ही इन्द्रियोंका सदुपयोग होता है। अवैध भोग इन्द्रियोंका दुरुपयोग है। अवैध भोग ही मनुष्यको अकालवार्धक्यके अधीन कर देता है। मनुष्यको अपनी इन्द्रियोंपर पूर्ण संयम रखकर जीवनपर विजय पाकर रहना चाहिए। इस विराट् प्रकृतिमेंसे जो थोडीसी प्रकृति मनुष्यको प्रकृतिका योग्य प्रबन्धक और विजेता बनकर आत्मप्रसाद लाभ करनेके लिये मिली है इन्द्रियां भी उसी प्रकृतिका एक भाग हैं। दो प्रकारके मनुष्य होते हैं एक वे जो अपनी प्रकृतिपर अपना वश रखते हैं। दूसरे वे जो अपनी प्रकृतिकी अधीनतामें उसके दास बनकर रहते हैं। या तो मनुष्य अपनी शक्तियोंका स्वामी बनकर रहे या अपनी शक्तियोंकी दासता स्वीकार करके रहे। संसारमें जितने महापुरुष आते हैं वे सब अपनी प्रकृतिपर अपना पूर्णाधिपत्य रखते हैं। वे जैसा चाहते हैं उनकी प्रकृतिको उन्हींकी इच्छाकी अनुचारिणी बनकर रहना पडता है। संसारमें जितने महत्वहीन लोग होते हैं वे सब अपनी शक्तियोंके दास बनकर रहते हैं। इन्द्रियां भी मनुष्यकी शक्ति हैं। वे यदि उच्छृंखल होकर रहें तो उनका दास मानव अपनेको वार्धक्यको सौंपकर दुःख भोगता है।

जीवेम शरदः शतम्। अदीनाः स्याम शरदः शतम्॥

हम सौ वर्ष जियें और सौ वर्ष हमें अपने जीवनमें दूसरोंसे व्यक्तिगत सेवा लेनी न पडे। महाघोष इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय पाये रहनेसे ही पूर्ण होना संभव है। इसलिए जो लोग स्वस्थ कर्मक्षम जीवन पाना चाहें, वे इन्द्रियविजयी होकर रहें।

(प्रभु बनाने योग्य)

सानुक्रोशं भर्तारमाजीवेत् ॥२८१॥

जो प्रभु अपने सेवककी मनुष्यताका सम्मान अपनी मनुष्यताके समान ही करता हो वही सेव्य बनाने योग्य होता है।

विवरण— निर्दय प्रभुके आश्रयसे जीविका संदिग्ध होती तथा अवनतिकी संभावना बनी रहती है। यदि किसी कारण सदय प्रभुसे धन न भी मिलसके तो भी दया तो सुलभ रहती है।

पंच त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः॥ (विदुर)

मनुष्यके साथ मित्र, अमित्र, मध्यस्थ, उपजीव्य तथा उपजीवक ये पांच अवश्य लगे रहते हैं। उसे अपने जीवननिर्वाहके लिये कुछ लोगोंका सहयोग लेना ही पडता है।

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात् फलं नास्ति छाया केन निवार्यते॥

फल तथा छाया दोनोंसे सम्पन्न महावृक्षकी सेवा करनी चाहिये। दैववश फल न भी मिले तो भी छाया तो कहीं नहीं चली जाती।

(लोभीको प्रभु बनानेसे हानि)

लुब्धसेवी पावकेच्छया खद्योतं धमति ॥ २८२ ॥

सहानुभूतिहीन प्रभुका सेवक आग्निकी इच्छासे खद्योतमें फूंक मारकर उससे आग जलाना (अर्थात् बैलसे दूध दुहना) चाहता है।

विवरण— जैसे खद्योतसेवी मानव वह्निलाभसे वंचित रहकर अपने ही श्रमसे विफलमनोरथ होता है, इसी प्रकार लुब्धसेवी मानव अपने पुरुषपरीक्षादोषसे अपने ही श्रमसे विफलमनोरथ होता है।

नीचाश्रयो न कर्तव्यः कर्तव्यो महदाश्रयः।
हीनका आश्रय न करके शक्तिसम्पन्न दयालुका आश्रय करना चाहिये।
उपासना चेन्महतामुपासना।
यदि किसीका आश्रय लेना ही पडे तो विशाल हृदयवालेका ही लेनेमें कल्याण है।

(आश्रयणीय प्रभुके गुण)

विशेषज्ञं स्वामिनमाश्रयेत् ॥ २८३ ॥

गुणोंका आदर करनेवाले, गुणीको पहचाननेवाले स्वामीकी ही सेवा करना स्वीकार करे।

विवरण— गुणी सदा गुणादरी व्यक्तिको ढूंढा करता है। गुणादरी स्वामीका आश्रय चाहनेवालेका स्वयं गुणी होना अनिवार्य होता है। गुणादरी स्वामीकी सेवामें गुणीके मनोरथका पूर्ण होना निश्चित होता है।

पुरुषस्य मैथुनं जरा ॥ २८४ ॥

स्त्रीणाममैथुनं जरा ॥ २८५ ॥

(असमान विवाहसे गार्हस्थ्यजीवनकी दुखदता)

न नीचोत्तमयोर्विवाहः ॥ २८६ ॥

नीच और उत्तममें वैवाहिक सम्बन्ध नहीं होने चाहिये।

विवरण— विवाहप्रथाका उद्देश्य समाजमें शान्तिकी शृंखला बनाए रखना है। विवाहप्रथा न रहे तो समाज निर्बाध व्यभिचारका क्षेत्र बन जाता है। मनुष्यकी वैवाहिक प्रवृत्तिमें संयमका सन्निवेश करके समाज-कल्याण करना ही मनुष्यताका आदर्श है। इस आदर्शको नष्ट न होने देने तथा समाजको असंयमके मार्गपर न चलने देनेके लिये ही विवाहप्रथाके रूपमें सामाजिक शासन प्रचलित हुआ है। प्रत्येक सामाजिक व्यवहारमें पात्रा-पात्र योग्यायोग्यका विचार करना मनुष्यका कर्तव्य है। वैवाहिक संबन्धके

लिये उच्चकुल छांटना आवश्यक है। आदर्शप्रेमी, संयमी, जितेन्द्रिय लोग ही समाजमें उच्च मानने योग्य हैं। आदर्शप्रियता संयम तथा जितेन्द्रियता ही उच्चकुलका लक्षण है। आदर्शच्युत स्वेच्छाचारी लोग नीचकुल समझे जाने चाहियें। आदर्शच्युति तथा स्वेच्छाचारिता ही कुलोंकी निम्नगामिता है। उच्चता मनुष्यका स्वभाव तथा पतन उसकी अस्वाभाविक स्थिति है। इसलिए गार्हस्थ्य जीवनमें प्रवेश करते समय वैवाहिक संबन्धके इस कल्याणकारी संबंधको ध्यानमें रखकर ही गार्हस्थ्य जीवनमें प्रवेश करना चाहिये।

यदि गार्हस्थ्य धर्मको कलंकित करनेवाले पतित अपात्रोंके साथ संबंध स्थापित न करनेकी सावधानी नहीं बरती जायगी तो समाजका पतित होजाना अनिवार्य होजायगा। समाजमें मनुष्यतारूपी उच्च कुलको प्राधान्य तथा पूज्यस्थान दिये रहना ही विवाहका आदर्श है। इस आदर्शको समाजके ऊपर शासनके रूपमें सुप्रतिष्ठित रखकर इसे नीचतासंशोधक दण्डके रूपमें क्रियाशील बनाये रखना ही समाजपति विज्ञ लोगोंका ध्येय होना चाहिये। अपरिणतबुद्धि विवाहार्थी लोगोंके निर्णयोंका रूपज या धनज मोहसे विपथगामी होजाना अपरिहार्य है। इस दृष्टिसे पारिवारिक जीवनको विशुद्ध रखनेके लिये वैवाहिक संबंधमें उच्चताकी रक्षाका सुप्रबन्ध रखना विज्ञ अभिभावकोंका उत्तरदायित्व है। 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत' गृहस्थ होनेका इच्छुक आयु, रूप, गुण, जाति, धर्म तथा शीलमें समान पत्नीको प्राप्त करे। विवाहका अर्थ विशेष प्रकारका संयमी गार्हस्थ्यधर्म स्वीकार करना है। समाजानुमोदित वैध पति तथा वैध पत्नी होना तथा केवल समाजको अपना योग्य प्रतिनिधि देनेकी भावनासे इस धर्मको अपनाना ही गार्हस्थ्य जीवनकी विशेषता है।

शिष्टाचार तथा शास्त्रकी अनुसारिता ही पति-पत्नियोंकी वैधता मानी जाती है। जो आयु यश तथा पुण्य सुरक्षित रखना और समाजको सद्गुणी सन्तान देना चाहें वे समाजानुमोदित दाम्पत्य संबंधमें सीमित रहें, अपने गृहस्थ जीवनको त्याग तथा संयमके अभ्यासकी तपोभूमि बनाकर उसे

भोगका कुअवसर न रहने देकर परमार्थलाभका सुअवसर बना डालें। मनुष्य गृहस्थधर्मको केवल सृष्टिपरम्परा चलाने मात्रके लिये स्वीकार करें। " प्रजायै गृहमेधिनाम् " के अनुसार मनुष्य केवल समाजको श्रेष्ठ सदस्य देनेके लिये गार्हस्थ्य धर्म स्वीकार करें। ऐसा करनेसे जहां मनुष्यको स्वास्थ्य, बुद्धिलाभ तथा आयुरक्षा होती है वहां समाजको स्वस्थ बलवान् संयमी सन्तान देनेका सन्तोष भी प्राप्त होता है। गृही लोग संयमी जीवन यापन करें, घरोंको तपोवन तथा सन्तानको सुचरित्रकी शिक्षा देनेवाला विश्वविद्यालय बनाकर रक्खें तो वे स्वयं भी वीर्यवान् मेधावी शक्तिमान् तथा आयुष्मान् हों और उनकी सन्तति भी ऐसी ही हो।

अगम्यागमनादायुर्यशःपुण्यानि क्षीयन्ते ॥ २८७ ॥

(मनुष्यका सबसे बडा वैरी)

नास्त्यहंकारसमः शत्रुः ॥ २८८ ॥

अहंकारसे बडा कोई शत्रु नहीं है।

विवरण — यहां जिस अहंकारको शत्रु कहा गया है वह भौतिक सामर्थ्यका दंभ है। उसे ही यहां अहंकारके नामसे निन्दित करके उसे शत्रु कहा गया है। यों तो यह सारा ही संसार अहम्मय है। दाम्भिकलोग भौतिक सामर्थ्यके उपासक होते हैं। भौतिक सामर्थ्यकी दासता ही धनबल, जनबल, देहबल रूपी आसुरिकता है। अपनेसे अधिक बलशालीका तो दास बनजाना तथा अपनेसे निर्बलपर आक्रमण करना ही अहंकार या असुर-स्वभाव है। देहात्मबुद्धि (अर्थात् अपने पांचभौतिक देह) को ही अपना स्वरूप समझना अहंकारकी परिभाषा है। मनुष्यकी इन्द्रियलालसाका ही नामान्तर देहात्मबुद्धि है। यह भावना ही मनुष्यकी भूल या अज्ञान है कि " हम भोगनेवाले हैं तथा रूप, रस आदि विषय हमारे योग्य हैं, हम इस संसारमें इन्हें भोगनेके लिये आये हैं। इन्हें भोगनेके अतिरिक्त हमारे पास और कोई काम नहीं है। " इन्द्रियोंमें भोगप्रवृत्ति स्वाभाविक है। इन्द्रियोंकी

भोगप्रवृत्तिको अपना स्वभाव मानलेना अज्ञानरूपी अहंकार है। अज्ञानी मनुष्यके पास आत्मतृप्ति नामकी कोई अवस्था नहीं होती। वह संपूर्ण जगत्को अपने भोग्य रूपमें देखना चाहता है। जगत्को अपने भोग्य रूपमें देखना और जगत्के पदार्थोंको देख-देखकर अपने मनमें कामाग्नि सुलगा लेना ही बन्धन है। यही कामना है। यही दुःख है। कामाग्नि रूपरसादि विषयोंकी आहुतियोंसे नहीं बुझती। कामाग्निका बुझते रहना ही मनुष्य-जीवनकी अखण्ड शान्तिका आदर्श है। अपनी इन्द्रियोंको ही अपना स्वरूप समझकर, उन्हींको भोक्ता मानकर भोगबन्धनमें फंसजाना अज्ञान है। देहको कर्ता भोक्ता न मानकर देहके स्वामी देहीको अपना स्वरूप समझ जाना ही ज्ञान है। देही स्वभावसे नित्य मुक्त रहनेवाली सत्ता है।

जब मनुष्य अपने इस रूपसे परिचित होजाता है तब भोगोंकी कीचड-मेंसे निकलजाता तथा उसका बन्धनरहित स्वभाव विजयी होजाता है। अज्ञानरूपी भोगबन्धन मनुष्यका परम शत्रु है। भोगबन्धन ही राज्याधि-कारियोंको कर्तव्यभ्रष्ट करनेवाला उनका परम शत्रु है। भोगनिरपेक्षतारूपी ज्ञान ही राज्याधिकारियोंकी प्रतिष्ठा बढानेवाला परम मित्र है। स्वयं ज्ञानी बनकर रहना ही अपने समाजको भी ज्ञानी बनानेवाला मनुष्योचित कर्तव्य-पालन है। समाजका शत्रु बनना समाजका ही द्रोह नहीं किन्तु आत्मद्रोह भी है। यह विश्व अपने विधाताका एक विराट् परिवार है। प्रत्येक प्राणी इस विश्वपरिवारका पारिवारिक है। सब ही जीवनाधिकार लेकर संसारमें आये हैं। सबके जीवनाधिकारको उदारतासे स्वीकार करनेसे ही संसारमें सुखका स्वर्ग उतर सकता है। परन्तु अहंकारका जो एक दूषित रूप है वही दूसरोंके अधिकारको उदारतापूर्वक स्वीकार करनेसे रोकता है। अहंकार मनुष्यको मनुष्यका शत्रु बनादेता है। मनुष्योंमें जो भेद पडता है वह उनके मिथ्या अहंकारसे ही पडता है। देहात्मवाद ही भेद और विवादका मूल है। मनुष्यको जानना चाहिये कि हम लोग देहोंसे अलग-अलग होने-पर भी देही रूपमें सब एक हैं। हम सबके समान लक्ष्य हैं। अपनेमें मानवताका पूर्ण विकास ही मानवमात्रका लक्ष्य है। इस लक्ष्यको पालेनेपर

पारस्परिक शत्रुताका अन्त होजाता है। अहंकार न रहनेपर यह समस्त संसार मनुष्यको अपना सहायक मित्र दीखने लगता है। अहंकाराभिभूत मनुष्य विवेकहीन होकर अपने अवैध आचरणोंसे अपना-पराया अनिष्ट करके संसारमें दुःखोंकी वृद्धि करदेते हैं। संसारमें अशान्ति पैदा होना अहंकारका ही दुष्परिणाम है। कर्ण, दुर्योधन, रावण आदिके जीवन अहंकारकृत अशांतिउत्पादनके उदाहरण हैं।

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता।
अतिमूढ उदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः॥ (भारवि)

अविवेक कभी भी दर्प तथा अहंकारसे समुद्धत राजासे अलग नहीं रहता। अतिमूढ (अविवेकी) मानव नीतिमार्गसे बाहर दूर फेंक दिया जाता अर्थात् नीतिहीन होजाता है। लोकमत नीतिहीनसे विरक्त तथा रुष्ट होजाता और उससे असहयोग करलेता है।

(सभामें शत्रुसे वाग्व्यवहारकी नीति)

संसदि शत्रुं न परिक्रोशेत् ॥ २८९ ॥

सभामें शत्रुके क्रोधको उत्तेजित करनेवाली कटुवाणी या अपभाषण करके विचारसभाको छेडछाडकी सभा मत बनाओ।

विवरण— सभामें शत्रुपक्ष या उसके वक्ताकी व्यक्तिगत निन्दा करके मुख्य विचारणीय विषयोंको खटाईमें मत डालो। सौजन्य तथा शिष्टाचारकी मर्यादामें रहते हुए अपने पक्षका मण्डन तथा शत्रुपक्षका खण्डन करो। सभामें बोलनेकी एक मार्यादा होती है। उसका उल्लंघन न करते हुए ही विवाद्य विषयपर आक्षेप या परिहार किये जाने चाहियें।

सूत्रका यह अभिप्राय नहीं कि सभासे बाहर शत्रुसे अपभाषण या वाग्युद्ध छेडा जाय। इसका यह भी अर्थ नहीं कि शत्रुकी अनुचित बातका खण्डन भी न किया जाय। सूत्रकारका तात्पर्य यह है कि सभाके ही शत्रुके साथ वाग्युद्धका स्वाभाविक क्षेत्र होनेके कारण वहां शत्रुकी ओरसे उत्तेजनाका कारण पाकर भी अपना वक्तव्य संयत सुसभ्य भाषामें रखना

चाहिये । शत्रुके मनमें रोष पैदा करनेवाली उसकी व्यक्तिगत निन्दा करना हानिकारक है । इस प्रकार असंयत छेड़छाड़का परिणाम यह होगा कि वह रुष्ट होकर तुम्हें अपमानित करनेवाली मर्मभेदी बातें कहनेपर उतर आयेगा और तब सभाके वार्तालापका उद्देश्य ही धूलमें मिल जायगा ।

किन्हीं निश्चित आलोच्य विषयोंपर सभाकी सम्मति पानेके लिये ही सभाका अधिवेशन नियत किया जाता है । सभाके अधिवेशनके समय किसीको भी सभाके आलोच्य प्रसंगसे बाहर कोई बात करनेका अधिकार नहीं होता । यदि कोई वक्ता सभाके आलोच्य विषयसे बाहर बातें करने लगे तो वह सभाके साथ धृष्टता करनेका अपराधी बनजाता है । वह अपनी इस प्रवृत्तिसे सभासे बहिष्कृत होने योग्य बनकर अपनी ही हानि करलेता है । सभाके अधिवेशनमें परस्पर शत्रुता रखनेवाले दोनों पक्ष किसी विशेष कारणसे ही उपस्थित होते हैं । शिष्टाचार चाहता है कि दोनों शत्रुपक्षोंको सभामें उपस्थित कर देनेवाले उस विशेष कारणका ध्यान रखकर अपनेसे शत्रुता रखनेवाले पक्षके साथ भी सभामें अन्य सदस्योंके समान ही व्यवहार करे । शिष्टाचार तो यहां तक चाहता है कि यदि वह सभा शत्रुके अपराध पर विचार करनेहीके लिये एकत्रित हुई हो तब भी उस विचारको निष्पक्ष विचारकोंके ही अधीन रखना चाहिये । उस विचारमें अभियुक्त (अपराधी) के विपक्षको निर्णय देनेका अधिकार नहीं देना चाहिये । अभियोक्तापक्ष अभियुक्तपक्षके साथ किसी प्रकारका अशिष्ट बर्ताव करने या उसके साथ सीधा कोई व्यवहार करनेका कोई अधिकार नहीं रखता । शत्रुपक्षके साथ व्यक्तिगत यथोचित व्यवहारका क्षेत्र सभासे बाहर होता है सभा नहीं । सभामें शत्रुके साथ सत्यरक्षाके नाम पर जो भी कोई बरताव किया जाता है वह असत्यविरोधरूपी सत्यनिष्ठा ही होता है । सभाके अधिकार पर हस्तक्षेप न करके सभाके निष्पक्ष निर्णयको सुगमतासे प्रभावशाली रहने देना ही सभाके प्रसंगके अनुकूल सत्यनिष्ठाका रूप होता है । सभाकी उपेक्षा करके सभास्थलमें शत्रुके प्रति व्यक्तिगत विद्वेषका

प्रदर्शन करना सभाका अधिकार बलात् अपहरण करनेवाली असत्यकी दासता है ।

(शत्रुका सर्वनाश करना मानवीय कर्तव्य)

शत्रुव्यसनं श्रवणसुखम् ॥ २८० ॥

शत्रुकी विपत्ति श्रुतिमधुर होती है ।

विवरण— अपने शत्रुको विपन्न करडालना ही सत्यनिष्ठ विजिगीषुके सफल कर्तव्यका एकमात्र ध्येय रहता है । कोई विजिगीषु असत्यदलनका अहंकार भी करे और असत्य मार्गपर चलनेवाला उसका शत्रु विपन्न न होकर सम्पन्न अर्थात् अपने भौतिक शक्तिके घमण्डमें निश्चिन्त बना रह जाय तो समझना चाहिये कि उसका शत्रुदमनका कर्तव्य अपालित रह रहा है । विजिगीषुको तो शत्रुके साथ प्रतिक्षण वह बर्ताव करके हर्षित रहना चाहिये जिससे उसके शत्रुका जीवन पग-पगपर कण्टकाकीर्ण होता रहे । सत्यनिष्ठ व्यक्तिकी दृष्टिमें शत्रुके व्यसनके श्रवणसुख होनेका यही रूप है ।

परस्पर शत्रुता रखनेवाले दोनों पक्ष एक-दूसरेको मिटानेका ही उद्देश्य रखते हैं । यही उनकी शत्रुताका अभिप्राय होता है । सत्य और मिथ्यामें वध्यघातक संबंध सदासे चला आरहा है । दो विवदमानोंमें एक सच्चा और दूसरा अन्यायी होना अनिवार्य है । सत्यनिष्ठ व्यक्ति असत्यको मिटाकर अपने जीवनव्यवहारमें सत्यको ही विजयी बनाये रखनेका विचार रखता है । उसके इस लक्ष्यमें विघ्न डालनेवाला ही उसका शत्रु होता है जिसे वह मूर्तिमान् असत्य माना करता है । सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपने शत्रुको मिटाना चाहता है । इसमें कोई संदेह नहीं कि शत्रुकी विपन्नस्थिति उसके असत्य दमन रूपी उद्देश्यके अनुकूल होनेसे उसके लिये सुखप्रद होती है । परन्तु असत्यनिष्ठ व्यक्तिपर काकतालीयन्यायसे आपत्ति आई देखकर प्रसन्न हो जानामात्र सत्यका विजयोल्लास नहीं कहा जासकता ।

सत्यके बलसे असत्यका दमन करचुकना ही सच्चा विजयोल्लास या विजयोल्लासकी योग्यता है । सत्यनिष्ठके हृदयमें इस विजयोल्लासका प्रत्येक

क्षण विद्यमान् रहना ही उसे असत्यविरोधमें प्रेरित करते रहनेवाला विश्व-विजयी अस्त्र है। सत्यनिष्ठ विजिगीषु इस विजयोल्लासको बाह्य प्रदर्शनका विषय कभी नहीं बनाता। वह तो प्रतिक्षण अपने हृदयमें सत्यकी महिमा तथा असत्यनिष्ठकी अवनति (दुःखमयी स्थिति) दोनोंको एक ही नेत्रसे देखता रहकर प्रसन्नता मनाता रहता है। उसका शत्रु असत्यकी दासता करके प्रतिक्षण मनुष्यताको तिलांजलि देता रहकर विनष्ट होचुका होता है। उसकी दृष्टिमें उस शत्रुके पांचभौतिक देहका विनाश उपेक्षाका विषय रहता है। यदि उसके पांचभौतिक देहके विनाशको ही सत्यका विजयोल्लास माना जाय तो उसके पांचभौतिक देहका विनष्ट न होना विजिगीषुके लिये दुःख-दायी मानना पडेगा। तब तो जबतक शत्रु जीवित है या सत्यनिष्ठसे अधिक भौतिक बलवाला है तबतक सत्यनिष्ठके हृदयमें सत्यका विजयो-ल्लास अनुपस्थित स्वीकार करना पडेगा तथा तबतक स्वयं सत्यमें सुखाभाव-रूपी दुःख स्वीकार करना पड जायगा। परन्तु सत्यकी अनुपम मधुरतामें दुःखको स्थान नहीं है। शत्रु चाहे जीता रहे, मर जाय, विपद्ग्रस्त होजाय या निर्विघ्न रहे, सत्यनिष्ठ व्यक्ति तो अपने सत्यकी महिमासे प्रत्येक क्षण सुखसागरमें निमग्न रहता है। उसके सुखदुःख शत्रुके भौतिक विनाश अविनाश पर निर्भर नहीं होते। सत्यनिष्ठकी सुखमयी स्थितिमें दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति होचुकी होती है।

(धनहीनतासे बुद्धिनाश)

अधनस्य बुद्धिर्न विद्यते ॥ २९१ ॥

धनहीन व्यक्तिकी बुद्धि नष्ट होजाती या प्रसृत होनेके अवस-रोंसे वंचित होजाती है।

विवरण— अर्थाभावसे जीवनयात्राकी चिन्तासे व्याकुलता बने रह-नेसे बुद्धि मन्द पड जाती तथा प्रतिभा सो जाती है। निर्धनताकी स्थितिमें बुद्धिको हताश निराश न होने देकर स्थिर रखना धनहीन मनुष्यका कर्तव्य

होता है। बुद्धिमान व्यक्ति समाजकी शक्ति होते हैं। राज्यसंस्थाका निर्माण करना इन्हीं लोगोंका उत्तरदायित्व होता है। राजा अपनी राज्यसंस्थामें राष्ट्रके बुद्धिमान् व्यक्तियोंको मुख्य स्थान देकर सच्ची राष्ट्रसेवा करनेमें तब ही समर्थ होसकता है जब कि वह समाजके बुद्धिमान् लोगोंको निर्धनताका आखेट बननेसे सुरक्षित रखनेका उचित प्रबन्ध करे।

धन स्वभावसे ही धनोपासकोंके पास रहता है। धन ही धनोपासकोंके जीवनका ध्येय होता है। धनोपासक धनके लिये अपने मनकी मूल्यवान् पवित्रताको बलिदान करचुका होता है। इसके विपरीत मनकी पवित्रता या सचाई लक्ष्यवालेको मनकी पवित्रताको सुरक्षित रखनेके लिये धनका बलिदान देदेना पडता है। सच्चे बुद्धिमान् वे ही लोग हैं जो अपनी सचाईको सुरक्षित रखकर मनुष्यतानामके सच्चे धनके धनवान् रहना ही अपना लक्ष्य बनालेते हैं तथा इसीसे वे समाजमें श्रद्धाकी दृष्टिसे देखेजाते हैं। ऐसे लोग राष्ट्रके भूषणस्वरूप होते हैं। ये लोग समाजमें मनुष्यताको जीवित रखनेके नामपर मनुष्यताका संरक्षण करनेवाली राज्यसंस्था बनानेको अपने जीवनका सर्वश्रेष्ठ, सर्वमहान् कर्तव्य बनालेते हैं।

परन्तु ध्यान रहे कि ऐसे समाजसेवक बुद्धिमान् व्यक्तियोंका निर्धन होना अनिवार्य है। इन महामना लोगोंके धनाभावको दूर करके इन्हें अपनी राज्यसंस्थाके मुख्य स्तम्भ बनाये रखनेके लिये उचित प्रबन्ध करना राजाका राष्ट्रहितकारी तथा स्वहितकारी कर्तव्य है। यदि राज्यको निर्विघ्नतासे चलाना हो तथा उसे प्रजाकल्याणकारी मार्गपर सु-प्रतिष्ठित रखना हो तो राजाको राष्ट्रके निर्धन परन्तु बुद्धिमान् व्यक्तियोंकी जीवनयात्रामें यथोचित सहयोग देकर राष्ट्रके लिये उनका बौद्धिक धार्मिक सहयोग प्राप्त करना ही चाहिये। बुद्धिमान् व्यक्तियोंके धनहीन होने पर भी उनकी बुद्धि समाज या राष्ट्रका अक्षय धन है। इन बुद्धिमान् व्यक्तियोंकी धनहीनताका भी राष्ट्रीय दृष्टिसे असाधारण मूल्य है। इन लोगोंकी धनहीनता समाजमें बुद्धिकी संरक्षिका है। ये लोग समाजमें बुद्धिके संरक्षक हैं। क्योंकि ये

धनोपासक न होकर बुद्ध्युपासक हैं इसीलिये तो ये लोग निर्धन हैं । यह समाजका सौभाग्य है कि ये लोग धनोपासक न होकर निर्धन हैं । यदि ये लोग भी धनोपासक होजाते तो समाजमें सद्बुद्धिको कहां आश्रय मिलता? सद्बुद्धि सिद्धान्तसेवी होनेके कारण अपने सेवकोंको सदा धनोपासनासे निवृत्त अतएव निर्धन बनाये रखती है। परंतु इस प्रकारके लोग राष्ट्रके अमूल्य धन हैं । जिस समाजका लक्ष्य धनोपासना होजाता है उस समाजमेंसे मनुष्यतारूपी अक्षय संपत्ति लुप्त होजाती तथा उसमें आसुरी प्रवृत्तिका प्रबल होना अनिवार्य होजाता है ।

(धनहीनताकी हानि)

हितमप्यधनस्य वाक्यं न शृणोति ॥ २९२॥

निर्धनके हितवचनोंपर भी कोई कान नहीं देता ।

विवरण— किसी समाजका धनोपासक होजाना, इस बातका प्रमाण है कि यह समाज अपनी हिताहित बुद्धि खोबैठा है । इस दृष्टिसे धनसंपत्तिको जीवनका लक्ष्य बनालेना स्वविनाशक तथा समाजद्रोही कल्पना है । इसलिये है कि धनोपासक लोगोंको समाजके हिताहितकी कोई अपेक्षा नहीं रहती । समाजहितकारी लोगोंका धनोपासक होना असंभव है । सारे समाजमें समाजका हित करनेकी बुद्धिको जाग्रत रखना राजाका कर्तव्य है । यही तो मुख्य राजधर्म है । जिस समाजमेंसे समाजहित करनेकी भावना लुप्त होजाती है उस पतित समाजकी बनायी हुई राज्यसंस्था, समाजद्रोही आसुरीराज्य बनजाता है । राजाका उत्तरदायित्व है कि समाजके लोगोंको समाजकी हिताहितबुद्धिकी चेतना प्रदान करता रहे । उसका यह भी उत्तरदायित्व है कि वह समाजके हितकी बात कहनेकी योग्यता रखनेवाले निर्धन व्यक्तियोंको समाजमें शीर्षस्थानीय मान्य तथा पूज्य बनाकर रक्खे । इसलिए रक्खे कि समाजके ये निर्धन बुद्धिमान् लोग राजशक्तिसे प्रोत्सा-

धन पाकर समृद्ध होकर भोजनाच्छादन चिन्तासे मुक्त रहें तथा उनकी निश्चिन्त बुद्धि समाजका कल्याण करनेके उपयोगमें आती रहसके ।

अधनः स्वभार्ययाऽप्यवमन्यते ॥ २९३ ॥

परिवारके लिये जीवनसाधन न जुटा सकनेवाला निर्धन अपनी भार्यासे भी अपमानित होता है ।

विवरण— पत्नी आदि परिवारकी जीवनयात्रामें धनकी आवश्यकता होती है । पारिवारिकोंकी जीवनयात्राके लिये गृहपतियोंका धनपति होना परमावश्यक है । जैसे वृक्षवासी पक्षी फलपुष्पपत्रहीन सूखे वृक्षोंको या जैसे जलवासी पक्षी शुष्क सरको त्याग देते हैं, इसीप्रकार धनहीन मानव अपने स्वजनोंकी श्रद्धा तथा स्नेहके आकर्षणसे वंचित होजाते हैं । इसलिये यह राजाका ही उत्तरदायित्व है कि वह राष्ट्रके बुद्धिमान् लोगोंको धनाभावके कारण पारिवारिक अशान्तिजनक व्यग्रतासे राष्ट्रके लिये अनुपयोगी तथा बेकार न होने दें, किन्तु उन्हें राष्ट्रसेवाके लिये कर्मशील बनाये रखें । इस सूत्रका यह भाव भी है कि जो लोग पारिवारिक सुख चाहें वे परिवारकी जीवन-यात्राके लिये वैध उपायोंसे धनसंग्रह करें ।

पाठान्तर— **धनहीनः ......** ।

पुष्पहीनं सहकारमपि नोपासते भ्रमराः ॥ २९४ ॥

जैसे भौंरे पुष्पकाल बीत जानेपर पुष्पहीन प्रिय आम्रवृक्षको भी त्याग देते हैं इसीप्रकार यह धनजीवी संसार निर्धन व्यक्तिके पास अपनी धनाकांक्षाकी पूर्तिकी संभावना न देखकर उसे त्याग देता है ।

विवरण— बुद्धिमानोंकी धनहीनताको दूर करके उन्हें समाजमें उपेक्षित होनेसे बचाना राष्ट्रसेवक राजाका ही उत्तरदायित्व है । इसलिए है कि राष्ट्र सुबुद्धिपरिचालित तथा सन्मार्गगामी बना रहसके ।

(निर्धनोंका सम्मानित धन)

विद्या धनमधनानाम् ॥ २९५ ॥

विद्या निर्धनोंका धन है।

विवरण— विद्यामें यह सामर्थ्य है कि वह गुणग्राही ज्ञानियोंसे निर्धन विद्वानोंका आदर करवा देती है। निर्धन विद्वान् लोग अपने विद्याधनको धनियोंके धनोंसे श्रेष्ठ धन मानकर उससे परितृप्त रहते तथा उसका सात्त्विक अहंकार भी रखते हैं। वे धनोपासक समाजकी ओरसे उपेक्षित होनेपर भी अपनी विद्याका आदर स्वयं करके तृप्ति अनुभव करते हैं। वे धनमत्त धनियोंके किये निरादर या उपेक्षाका पात्र बनना ही अपनी विद्वत्ताका प्राप्य गौरव समझते हैं। धनलोलुप संसारका यश धनमत्तोंके चाटुकारोंको ही प्राप्य होता है। विद्या भौतिक धनसे श्रेष्ठ होती है। धन अनेक प्रकारके होते हैं। सब व्यक्ति एक ही प्रकारके धनके धनी नहीं होते। यह सब संसार एक ही प्रकारके कामके लिये नहीं बना। भौतिक धनका धनी बनना सबके लिये प्रयोजनीय नहीं है। विद्या, कला, तपस्या, उदारता, सेवा आदि अनेक ऐसे देवदुर्लभ धन हैं जिन्हें दैवी धन कहते हैं, संसारी धन जिनके घर पानी भरते हैं, जिनसे निर्धनलोग भी संसारके पूज्य बनजाते तथा उनकी जीवनयात्रा भी सुकर होजाती है।

> वित्तं बन्धुर्वयश्चैव तपो विद्या यथोत्तरम्।
> पूजनीयानि सर्वेषां विद्या तेषां गरीयसी ॥

धन, बन्धु, आयु, तप तथा विद्यामें पिछले पहलोंसे पूजनीय है। विद्या (आत्मज्ञान-तत्त्वज्ञान) सबमें श्रेष्ठ है।

(विद्याधनकी श्रेष्ठता)

विद्या चोरैरपि न ग्राह्या ॥ २९६ ॥

विद्या मनुष्यका आन्तर गुप्त धन होनेसे चोरोंसे भी नहीं चुराई जासकती।

विवरण— विद्या विद्वानोंका अक्षय, अचौर्य, अविभाज्य, अनपहरणीय तथा व्ययसे वर्धिष्णु धन है। अपने विद्याधनसे सन्तुष्ट विद्वान्‌को सन्तोषधन स्वतः प्राप्त रहता है। विद्वान् होते हुए भी संतोषसे वंचित रहना मूढता है।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनम्।
विद्या राजसु पूजिता न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥
न चौरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

विद्या मनुष्यका असाधारण सौन्दर्य तथा गुप्त धन है। राजाओंमें विद्या पुजती है, धन नहीं। विद्याविहीन मनुष्य पशु है। विद्या चोरोंसे चुराई नहीं जाती, भाइयोंसे बांटी नहीं जाती, भार (बोझ) नहीं करती तथा जितना व्यय करो उतनी ही बढती है। सचमुच विद्याधन समस्त धनोंमें शिरोमणि है।

"जीवनसाफल्यकरी" तथा "अर्थकरी" भेदसे विद्याके दो रूप हैं। समाजको अर्थकरी विद्योपार्जनका प्रतीक्षक बनाना राष्ट्रको व्याधिग्रस्त बनाडालना है। आज संसारमें सर्वत्र धनोपासनाका विकृत आदर्श मनुष्यसमाजकी बुद्धिको भ्रष्ट कररहा है। समाजके बुद्धिमान् लोगोंको अपने राष्ट्रको इस व्याधिसे मुक्त रखनेके लिये उसे (उसकी राज्यसंस्थाको) धनोपासक समाजद्रोही भोगैश्वर्य-परायण प्रतारकोंके हाथोंसे बचाकर रखना चाहिये।

पाठान्तर— विद्या चौरैरपि न हार्या।

(विद्या यशःकरी)

विद्यया ख्यापिता ख्यातिः ॥ २९७ ॥

विद्यासे यशका विस्तार होता है।

विवरण— जिस राज्यमें सच्ची विद्याका आदर होता है उस राज्यकी प्रजामें राजाका सुयश अनिवार्य रूपसे फैलता है। राजा विद्याका आदर करके ही प्रजाके हृदयमें अपना अटल सिंहासन स्थापित कर सकता है।

प्रजामें ज्ञानालोकका प्रचार होते ही राज्यव्यवस्थामें गुणी लोग सुगमतासे प्रवेश पाजाते हैं। राज्यसंस्थाका उत्कृष्ट निर्माण प्रजाकी सुमतिपूर्ण सम्मतिसे ही संभव है। राज्यसंस्थाके सुनिर्मि होनेपर प्रजाकी शुभकामना राजाका नित्यसाथी बनजाती है। राजा तथा प्रजाके स्वार्थोंकी भिन्नता भयंकर राष्ट्रीय विपत्ति है। प्रजाकी शुभकामना पालेना ही राजाके पानेयोग्य सुयश है। राजाका विद्यानुरागी होना ही उसके सुयशकी योग्यता है।

पाठान्तर— विद्यया ख्यातिः।

(यश मानवका अमर देह)

यशःशरीरं न विनश्यति॥ २९८॥

मनुष्यका भौतिक देह ही मरता है, उसका यशःशरीर तो अमर रहता है।

विवरण— ज्ञानी समाजकी प्रतिष्ठा लाभ करना ही यशस्वी होना है। अज्ञानी समाजकी करतालें पिटवालेना यशकी कसौटी नहीं हैं। यशस्वीका यश ही उसका अमर देह है। यशस्वीके नाशवान पांचभौतिक देहका अन्त हो जानेपर भी उसका यश अनंतकालतक समाजमें चिरस्थायी रहता है। यशस्वी मानव पार्थिव देहकी मृत्युसे न मरकर संसारकी अमर स्मृतिमें अपना स्थान बनाकर अमर होजाता है। "कीर्तिर्यस्य स जीवति" जिसकी कीर्ति सत्कर्मजनित है वही जीता है। वह मरकर भी नहीं मरता।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥
येषां वैदुष्यविभवो भ्रमेश्च जगतीतले।
ते नरा निधनं प्राप्य विद्यन्ते नरमानसे॥

राज्यसंस्थाका यशस्वी विद्वानोंसे सुप्रभावित रहना ही राजाका यशःशरीर है। ऐसे यशःशरीरका शरीरी विद्याप्रेमी प्रजावत्सल राजा अपने नश्वर देहका अन्त होजानेपर भी अपने राज्यकी राजभक्त प्रजाके हृदय-

सिंहासनपर आरूढ रहकर अमर बनारहता है। रस (अर्थात् कर्तव्यपालनके आनन्द) से स्निग्ध वे सुकर्मा कवीश्वर लोग विश्वविजय पाचुके हैं, जिनके यशःशरीरको वृद्ध तथा मृत होनेका कोई भय नहीं है। संसारमें अपनी विद्वत्तारूपी लक्ष्मी तथा धर्मकी धाक बैठानेवाले हैं, वे महामानव देहसे मरजानेपर भी समाजके कृतज्ञ श्रद्धालु मानसमें अनंतकाल तक जीवित रहते हैं।

(सबके स्वार्थको अपना समझना सत्पुरुषता है)

यः परार्थमुपसर्पति स सत्पुरुषः ॥ २९९ ॥

जो दूसरोंके कल्याण करनेमें आगे बढता है वही सत्पुरुष है।

विवरण— सचाईमें ही सबका कल्याण है। सबके सामूहिक स्वार्थ (भलाई) में अपना स्वार्थ (भलाई-कल्याण) देखनेवाला जो मानव दूसरोंके कल्याणके लिये आगे बढता या दूसरोंकी सत्यार्थ विपत्तियोंमें हाथ बंटाता है, वही सत्पुरुष या महापुरुष है।

स्वार्थमें जीवोंकी प्रवृत्ति स्वभावसे होती है। परन्तु यह मनुष्यकी अज्ञानमयी स्थिति है। संसारमें अज्ञानियोंका ही बहुमत होता है। परार्थमें सहयोग करना ज्ञानमयी स्थिति है। परन्तु यह दुर्लभ स्थिति है। विचारशील-ताका संसारमें प्रायः अभाव रहता है। मनुष्यको जो बुरा या भला करनेकी स्वतंत्रता मिली है मनुष्य उस स्वतंत्रताका मूल्य न समझकर उसका दुरुप-योग करनेसे अविचारशील बनता है। विचारशीलतासे प्रत्यक्ष भौतिक हानि तथा अविचारशीलतासे प्रत्यक्ष भौतिक लाभकी संभावना देखकर संसारमें अविचारशीलोंका ही बहुमत होता है। इस मेषमनोवृत्तिसे निवृत्त रहनेके लिये मनुष्यको सत्य तथा मिथ्यालाभका भेद जानना चाहिये। मनुष्य यह जाने कि जिसमें समाजका कल्याण है उसीमें व्यक्तिका भी कल्याण है। जब किसी सत्यनिष्ठ व्यक्तिका कल्याण संकटमें आता तथा वह समाजसे सहायता पानेका अधिकारी बनता है, तब समाजके सत्पुरुष लोग कर्तव्यसे प्रेरित होकर उसकी विपत्तिको अपनी ही विपत्ति तथा उसके

अभ्युत्थान (विपदुद्धार) को अपना ही अभ्युत्थान मानकर उसकी सेवामें आत्मसमर्पण करदेते तथा इसी समर्पणमें अपने जीवनकी परम कृतकृत्यता अनुभव करते हैं। ऐसे लोग सत्यार्थी विपन्नके विपदुद्धारणमें प्राप्त होनेवाले अपने कष्टोंको नगण्य बनाकर पर-हित-साधनमें सत्यकी सेवाका आनन्द लेते हैं। ऐसे लोग सत्यको ही अपने स्वजनके रूपमें पाकर सत्यनिष्ठ व्यक्तिमात्रमें आत्मानुभूति करके उसके सुखदुःखमें स्वभावसे साझी हो जाते हैं।

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
मध्यस्थाः परकीयकार्यकुशलाः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं यैर्हन्यते स्वार्थतः,
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥ भर्तृहरिः

संसारमें चार प्रकारके मनुष्य होते हैं— एक वे सत्पुरुष हैं जो अपने स्वार्थकी उपेक्षा करके दूसरे सत्पुरुषोंके काम आते हैं। दूसरे वे मध्यम पुरुष हैं जो अपने स्वार्थोंको हानि न पहुंचाकर यथासंभव दूसरे सत्पुरुषके भी काम आते हैं। तीसरे वे क्रूरराक्षस हैं जो अपने स्वार्थके लिए दूसरोंके स्वार्थका गला घोंट देते हैं। चौथे वे लोग हैं जो विना किसी कारण परहितको हानि पहुंचाते हैं। इन चौथे लोगोंको क्या नाम दिया जाय यह समझनेमें हम असमर्थ हैं।

(शास्त्रकी उपकारिता)

इन्द्रियाणां प्रशमं शास्त्रम् ॥ ३०० ॥

इन्द्रियोंको शान्त रखनेवाली शक्ति ही 'शास्त्र' है।

विवरण— मनुष्यके मनमें विषयभोगोंके प्रति लम्पटताको रोकने तथा टोकनेवाली जो आन्तरिक सनातन प्रवृत्ति है, वही मनुष्यका ईश्वरचित शास्त्र अर्थात् हितानुशासनकारी दैवी ग्रन्थ है। मानवजीवनमें इन्द्रियोंका विजित होकर रहना ही मानवमनकी सच्ची शान्तिका स्वरूप है। मानव तो विजेता हो तथा इन्द्रियां विजित हों इसीमें मानवजीवनकी शान्ति

है। स्पष्ट शब्दोंमें जितेन्द्रियता ही मानवधर्म मानवशास्त्र या धर्मशास्त्र है। अध्यात्मकी जो सर्वोत्कृष्ट साधना है वही जितेन्द्रियता है। मनुष्यमें जो मनुष्यता है वही तो उसकी आत्मशासनकी शक्ति है। मनुष्यके मनमें स्वभावसे ही सदसद्विचारबुद्धि रहती है। या तो इन्द्रियोंको अपने शासनमें रखकर जितेन्द्रिय बने रहने या इन्द्रियोंसे शासित होकर इन्द्रियाधीन हो बैठनेकी स्वतंत्रता ही मनुष्यके मनका स्वरूप है। अपना जितेन्द्रिय मन ही मनुष्यके लिये प्रत्येक क्षण स्वाध्याय करने योग्य सच्चा ज्ञानग्रन्थ या शास्त्र है। वेदशास्त्रोंका प्रादुर्भाव उत्कृष्ट मानवमनमेंसे ही हुआ है। मानवसे ऊंचा संसारमें कुछ नहीं है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ उपनिषद्

जो इन्द्रियोंको शान्त रखनेवाले शास्त्रका ज्ञाता तथा तदनुकूल व्यवहार करनेवाला होता है उसके योगयुक्त मनसे उसकी इन्द्रियां सारथीके वशमें रहनेवाले सुशिक्षित अश्वोंके समान उसके वशमें रहती है।

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः॥ भारवि

सदाचारी अनुभवी विद्वानोंके सत्संगमें रहकर सीखा हुआ शुचिशास्त्र मानवदेहका भूषण है। (नहीं तो विद्वान् पुरुष शोचनीय होता है।) अपने कामक्रोधादि विकारोंपर विजय पाकर शान्त रहना शास्त्रज्ञताकी अलंक्रिया है। (नहीं तो शास्त्रज्ञता वन्ध्या है।) अवसर आनेपर अन्याय तथा अत्याचारके विरोधमें शूरता दिखाना ही इन्द्रियविजयसे मिलनेवाली शान्तिका भूषण है। (नहीं तो निस्तेज कायर शान्ति मनुष्यका परिभव कराने लगती है।) नीति अर्थात् विवेकसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि ही उस पराक्रमका भूषण है। अविवेकी साहसी मनुष्यको काकतालीयन्यायसे कभी कभी दिखावटी सिद्धि मिल तो जाती है परन्तु जब नहीं मिलती तब उसके

मिथ्या पराक्रमकी व्यर्थता प्रकट हो जाती है। विवेकपूर्वकारीको असिद्धिका कोई डर नहीं होता।

पाठान्तर— इन्द्रियाणां प्रशमनकारणं शास्त्रम्।

इन्द्रियोंकी लम्पटताके निवारकको शास्त्र कहते हैं।

अशास्त्रकार्यवृत्तौ शास्त्रांकुशं निवारयति ॥ ३०१ ॥

अवैध कार्य करनेकी भावना आनेपर शास्त्रांकुश (जितेन्द्रिय-मनका अंकुश) उसे रोक लेता है।

विवरण— इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संपर्क होकर मनमें अकार्य करनेकी उत्तेजना आजानेपर जितेन्द्रियतारूपी हृदयस्थ जीवितशास्त्र उत्तेजित इन्द्रियोंको अपने ज्ञानाङ्कुशसे वशीभूत करके उन्हें कुमार्गसे निवृत्त करता है।

पाठान्तर— अकार्ये प्रवृत्तौ शास्त्राङ्कुशं निवारयति।

अवैध कार्य करनेकी अभिलाषा उत्पन्न होते ही विवेकी मनमें उस दुरभिलाषाके प्रति भयंकर विद्रोह खडा होजाता है जो उसे कार्यरूपमें परिणत नहीं होने देता।

अपनी दुरभिलाषाको रोकनेसे मनमें एक ऐसी अदम्य शक्ति पैदा होती है जो मनुष्यको महापुरुष बनादेती है। अपनी शक्तिको दुरुपयोगसे रोके रहना ही मानवका महात्मापन या महापुरुषता है।

(नीचसे विद्याग्रहण हानिकारक)

नीचस्य विद्या नोपेतव्या ॥ ३०२ ॥

नीचकी विद्या (शास्त्रज्ञान) नहीं लेनी अर्थात् अग्राह्य होनी चाहिये।

विवरण— नीचकी विद्या नीचताका ही साधन हुई रहनेके कारण अविद्याके नामसे निन्दित होने योग्य तथा घृण्य होती है। नीचकी विद्या

नीचताको चरितार्थ करनेकी चतुराई बनजाती है। नीचके शास्त्रज्ञानको देखकर उसके धोखेमें नहीं आजाना चाहिये। श्रेष्ठाचारी उच्च लोगोंकी विद्या समाजकल्याणका साधन होती है। नीचका शास्त्रज्ञान दुष्टके हाथ लगे घातक शस्त्र जैसा मानवसमाजकी शान्तिके घातक रूपमें काममें आया करता है। शास्त्रज्ञ दस्यु लोग अशास्त्रज्ञ दस्युओंसे दस्युतामें अधिक प्रावीण्य प्राप्त किये रहते हैं।

नीचके आक्रमणोंसे बचनेके लिये उसकी विद्याको प्रयोगमें न लानेपर भी उसे जानना चाहिये। कुटिलता, माया, छल, कपट, अनृत, अपहरण, वंचन, स्वार्थकौशल ये ही नीचोंकी गुप्त विद्या हैं। इन्हें जानना तो चाहिये परन्तु अपनाना नहीं चाहिये। नीचता ही नीचका स्वभाव है तथा यही उसकी वह विद्या है जिससे वह श्रेष्ठ समाजको दुःख पहुंचाया करता है। नीचताकी भी एक कला है जिसे सर्वसाधारण नहीं पहचान सकता परन्तु उस पर नीचोंको गर्व होता है। राज्यसंस्थाके निर्माता विज्ञ लोगोंमें प्रजाको नीचोंके अत्याचारोंसे बचानेके लिये नीचताकी चतुराईको पहचाननेवाली तीक्ष्ण बुद्धि रहनी चाहिये। जो चतुराई नीचवृत्तिवाले असुरोंके पास रहकर समाजका ध्वंस करनेके लिये उद्यत रहती है, उसे व्यर्थ करनेकी चतुराई समाजके विज्ञ सेवकोंके पास पूर्ण प्रखरताके साथ जाग्रत रहनी चाहिये। जो शस्त्र दुष्टोंके पास पहुंचकर दुष्टताके उपयोगमें आते हैं वे ही शस्त्र शिष्टोंके पास दुष्टनाशके लिये रहने अत्यावश्यक हैं। नीचोंकी नीचताका आखेट बननेसे बचे रहने तथा उसका उचित प्रतिकार करनेके लिये उसे जानना आवश्यक है।

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृतांगान्निशिता इवेषवः॥

वे असावधान लोग पराभूत हो जाते हैं जो मायावियोंके साथ मायापूर्ण व्यवहार न करके सरल तथा उदार बर्ताव कर बैठते हैं। परकार्यनाशक धूर्त लोग नंगे देहमें घुसकर उसे मारडालनेवाले तीक्ष्ण बाणोंके समान

अपनी मधुरभाषितासे लोगोंके आत्मीय बनकर उन्हें नष्ट करडालते हैं— "आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः।" धूर्तोंके साथ सरलता नीति नहीं है किन्तु नीतिहीन विनाशक व्यवहार है।

(अश्लील भाषण अग्राह्य)

म्लेच्छभाषणं न शिक्षेत् ॥ ३०३ ॥

म्लेच्छकी भाषा न सीखे।

विवरण— म्लेच्छोंमें प्रचलित असभ्यभाषण, गन्दी गाली, अपमानकारी अरुन्तुद (मर्मभेदक) वाणी अश्लील लोकोक्ति, कामोत्तेजक उपन्यास, गल्प कथा आदि सब म्लेच्छभाषणकी श्रेणीमें आते हैं। लोगोंकी कुरुचि पूरा करने तथा सुरुचिको नष्ट करनेवाला समस्त कविता कहानी आदि साहित्य म्लेच्छभाषणमें सम्मिलित हैं। विद्वत्ताकी चादर ओढे हुए इन कुविद्या प्रचारक म्लेच्छोंके मुंहपर किसी प्रकारकी लगाम नहीं होती। ये समाजके अधःपतित म्लेच्छलोग, माताओं, बहनों तथा पुत्रपुत्रियों निःशंकभावसे पढाने समझानेयोग्य साहित्यसर्जन करना ही नहीं जानते। जैसे गन्दा भोजन करनेवालेके मुखसे गन्दी डकारें आती हैं इसीप्रकार इन कुरसभोजियोंके साहित्यमेंसे असह्य दुर्गन्ध आती है। ये लोग सब समय सभ्य-समाजकी परिपाटीके विरुद्ध अपनी जिह्वारूपी छुरी चलाते हैं। समाजके शिक्षा-विभागमें शिक्षकपदोंपर ऐसे लोगोंका प्रवेशाधिकार रोकनेके लिये दुर्ग-रक्षक हथियारबन्द प्रहरीके समान समाजके सर्वतोमुखी ज्ञान खड्गको सदा सन्नद्ध रखना चाहिये। यदि शिक्षाके नामपर समाजमें फैलनेवाले इस म्लेच्छपनको नहीं रोका जायगा तो समाज मनुष्यत्वहीन होकर आसुरिकताका क्रीडाक्षेत्र बनजायगा।

गोमांसखादको यस्तु विरुद्धं बहु भाषते।
सर्वाचारपरिभ्रष्टो म्लेच्छ इत्यभिधीयते॥

जो गोमांस खाता, संयमपूर्ण प्रत्येक आचार-व्यवहारपर कटाक्ष करता, उपदंश, कण्डुति आदि रोगवालोंके उच्छिष्ट पात्रोंमें खान-पान करता तथा किसी भी आचारधर्मका पालन नहीं करता वह 'म्लेच्छ' कहाता है।

शिक्षाका मुख्य ध्येय मनुष्यताविरोधी म्लेच्छरुचि रीति रहनसहनको समाजमें प्रवेशाधिकार न लेनेदेना है । म्लेच्छपन किसी भौगोलिक सीमामें सीमित नहीं है । नीचलोगोंकी नीच प्रवृत्ति ही म्लेच्छ मनोवृत्तिके रूपमें आत्मप्रकाश करनेका अवसर ढूंढा करती है । 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति ।' जब कभी मनुष्यसमाजमें धार्मिक लोगोंका प्रभाव मन्द पड जाता है तब ही संसारमें म्लेच्छवृत्ति बल पकड लेती है ।

पाठान्तर— **न म्लेच्छभाषणं शिक्षेत् ।**

(संघटन म्लेच्छोंसे शिक्षणीय)

म्लेच्छानामपि सुवृत्तं ग्राह्यम् ॥ ३०४ ॥

म्लेच्छोंसे भी सुवृत्त सीख लेना चाहिये ।

विवरण— म्लेच्छ भी हो तथा वह कोई सुवृत्त भी रखता हो यह परस्पर-विरोधी बात है । इसलिये आइये ढूंढें कि यह सूत्र कौनसे म्लेच्छसुवृत्तको सिखाना चाहता है ? म्लेच्छोंमें केवल एक ही सुवृत्त पाया जाता है कि वे अपने म्लेच्छस्वभावमें सुदृढ रहनेका हठ नहीं त्यागते । अपने स्वभावमें दृढ रहनेका हठ ही उनसे सीखनेकी अनुकरणीय वस्तु है । उनकी दृढता ही उनका सुवृत्त है । म्लेच्छदमन करनेके लिये हमारे म्लेच्छ द्वेषमें भी म्लेच्छों जैसी दृढता तथा संगठन होना चाहिये ।

शठे शाठ्यं समाचरेत् । आयसैरायसं छेद्यम् ॥

शठके साथ शठतासरा व्यवहार करना चाहिये । लोहोंको लोहोंसे ही काटना चाहिये ।

गुणे न मत्सरः कर्तव्यः ॥ ३०५ ॥

असहिष्णु बनकर गुणीके गुणोंको उपेक्षित न करो ।

विवरण— गुणद्वेषी न होकर गुणग्राही होना चाहिये । गुणीके गुणसे द्वेष या घृणा करनेवालेको दोष प्यारे लगते हैं । दोषोंसे प्यार करना दुष्टता है । गुणोंसे मत्सर करना दुष्ट स्वभाव है । गुणमात्सर्यसे समाजमें ज्ञानका निरादर होता तथा हिंसा द्वेष आत्मकलहका वातावरण बनजाता है । गुण-द्वेषिता असुर स्वभाव है । गुणको देखकर तो हर्ष होना चाहिये ।

गुण हितकारी होनेसे पूजनीय होता है। 'गुणैरुत्तमतां याति' मनुष्य गुणोंसे ही उत्तमता, श्रेष्ठताका लाभ करता है। गुण समाजके हितके लिये अत्यावश्यक हैं। गुणी लोग समाजके भूषण, समाजकी शक्ति तथा संपत्ति होते हैं। समाजमें सुखसमृद्धि रखनेके लिये समाजमें सद्गुणोंका आदर होना अत्यावश्यक है। स्वयं गुणी लोग ही गुणग्राही होसकते हैं। इन सब दृष्टियोंसे राज्यसंस्थाका निर्माण करनेवाले मनुष्यसमाजको सद्गुणोंसे विभूषित रखनेके लिये अपने शिक्षाविभागमें सद्गुणी सदाचारी गुणी लोगोंको आदरके साथ रखना चाहिये।

(शत्रुओंका रणकौशल शिक्षणीय)

शत्रोरपि सुगुणो ग्राह्यः ॥ ३०६ ॥

शत्रुका भी सद्गुण ग्रहण करने योग्य होता है।

विवरण— शत्रुके शत्रुताचरणका ही विरोध करना कर्तव्य होता है। यदि कभी शत्रुके गुणोंका आदर करनेका अवसर मिले तो अपनी गुणग्राहिताका परिचय देते हुए उससे उचित बर्ताव करना चाहिये। कुछ लोग शत्रुताचरण करनेके अभ्यासी होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये लोग असत्यके दास तथा सत्यके द्वेषी होते हैं। इन लोगोंकी असत्यकी दासता तथा इनके सत्यद्वेषको कभी भी इनका गुण नहीं माना जासकता। हाँ, इन लोगोंके पास रणकौशल नामकी जो वस्तु होती है वही इनसे सीखने योग्य गुण होता है। अपने प्रतिपक्षीको पराजित करनेके लिये इनके पास जो रणकौशल होता है असत्यविद्रोही सदाचारीको भी शत्रुदमनके लिये उस रणकौशलकी आवश्यकता होती है। इसलिये धर्मसंस्थापक वीरकी दृष्टिमें विपक्षदमनकी चतुराई ही शत्रुके गुणके रूपमें आदरणीय वस्तु होसकती है। जब कभी शत्रुके पास ऐसी कोई चतुराई दीखे तब ही उसे सत्यका ही साधन आदरणीय गुण समझकर अपनालेना चाहिये तथा उस गुणसे उस शत्रुका विनाश करके सत्यकी रक्षा करलेनी चाहिये। शत्रुका जो आचरण असत्यकी दासतामें प्रयुक्त होनेके कारण सत्यद्रोही रणक्षेत्रमें

उसे रणोत्साह दे रहा था वही हमारे हाथोंमें आजानेपर हमारे शत्रुदमनका साधन बनकर सत्यका संरक्षक होनेसे सत्य ही बनजायगा ।

पाठान्तर— शत्रोरपि सद्‌गुणो ग्राह्यः ।

विषादप्यमृतं ग्राह्यम् ॥ ३०७ ॥

विषसे भी अमृत ग्रहण करलेना चाहिये ।

विवरण— जब विष अमृतका काम देने लगे तब उसे विष न मानकर अमृतरूपमें स्वीकार करना चाहिये । विष अपने प्रयोक्ताके कौशलसे विष न रहकर अमरत्वदान करनेवाला अमृत बन जाता है। शत्रुताचरण करनेवाले लोग हमारे लिये विषके समान भयजनक होते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं । परन्तु शत्रुताचरणको भी अपने लिये हितकारी बनालेनेका एक विज्ञजनप्रसिद्ध निराला दृष्टिकोण है । शत्रुताचरणोंसे मनुष्यकी हानि ही हानि नहीं होती उनसे कुछ अकल्पित लाभ भी होते हैं । शत्रुताचरण करनेवालोंके शत्रुताचरणोंका भी अपने अभ्युत्थान, गौरव, दृढता, सतर्कता, व्यवहारकुशलता, लोकपरिचय, सत्यनिष्ठा आदिमें सदुपयोग किया जासकता है । हमें आत्मरक्षाके लिये उनके साथ जिस समय जो बर्ताव करना उचित हो उसे इसी ढंगसे किया जाना चाहिये, जिससे उनकी शत्रुता हमारे लिये नाशक न रहकर रक्षक बनजाय । जैसे वैद्यके हाथों रोगीको औषधरूपमें दिया हुआ विष मारक न होकर रोगके विषाक्त बीजका नाशक होजाता है, इसीप्रकार यदि हम शत्रुके शत्रुतापूर्ण आक्रमणको हमें आक्रमणका लक्ष्य बनवानेवाली निर्बलताको हटाकर हमें शक्तिमान् विरोद्धा बना देनेवाली उत्साहवर्धक उत्तेजक महौषध मानकर दुगने उत्साहसे शत्रुदमनकारिणी मृतसंजीवनीके रूपमें प्रयोगमें लायें तो हम विषको भी अमृत बनानेकी कलाके पारंगत होजांय । विजिगीषु मनुष्यको शत्रुके शत्रुताचरणसे भयभीत न होकर, उसे पीठ न दिखाकर, उसका सहर्ष स्वागत करके उसे पराभूत करनेके लिये अपने ही हृदयमें सुदृढवर्माभूत शक्तिकी खानको जगा लेना चाहिये । वीरोंका अनुभव है कि शत्रुकी शत्रुता हमें वीरतारूपी अमृतास्वादन करानेवाली होती है । शत्रुका शत्रुताचरण ही प्रयोगकौशलसे वीरके लिये वीरतारूपी अमृत बनसकता है ।

(कल्याणकारिणी परिस्थिति बनादेनेवालेका सम्मान)

अवस्थया पुरुषः सम्मान्यते ॥ ३०८ ॥

मनुष्य अनुकूल परिस्थितिमें ही सम्मान पाता है।

विवरण— राजाके सम्मान पानेकी एक अवस्था है। राजा अपनी शासनव्यवस्थामें प्रजासे सम्मानित होने योग्य परिस्थिति पैदा करके ही प्रजासे राजभक्ति या सम्मान पानेकी आशा करसकता है। जब तक राज्य-संस्था अपनेको प्रजाहितके अनुकूल नहीं बनालेती, तब तक उसे सम्मान प्राप्त नहीं होता।

राज्य राजाका प्रभावक्षेत्र होता है। वह अपना राज्य सुप्रतिष्ठित होनेकी आशा तब ही करसकता है, जब वह अपने प्रभावक्षेत्र राज्यको अपने सम्मानके अनुकूल बनाले। राजाकी राजोचित यही अवस्था है कि प्रजामें उसकी प्रतिष्ठा हो। इसके विपरीत परिस्थितिमें राजाका दुर्दशाग्रस्त होकर राज्यच्युत होजाना अनिवार्य है। राजाका सम्मान राज्यसंस्थाके प्रजाहितकारी होनेपर ही सुरक्षित रहसकता है। समाजको गुणग्राही बनाकर अपनी राज्यसंस्थाको गुणवती बनाये रखना ही राजाके आत्मसम्मानकी आधारशिला है। राजाका सम्मान तब ही सुरक्षित रहता है जब राज्यसंस्था भी गुणियोंका आदर करनेवाली हो तथा गुणी लोग भी उसका आदर करते हों।

जैसे राजा छत्र, चामर, मंत्री, सामन्त, दुर्ग, पोत, सेना आदिसे सम्मान पाता है ऐसे ही जब मनुष्यके पास धन, विद्या, मान, परिजन, अनुभव, समाजसेवा आदि समस्त अपेक्षित गुणोंके एकत्रित होनेकी अवस्था आती है तब उसे उसकी चिरकालीन तपस्या तथा सद्गुणोंके प्रति प्रगाढ निष्ठासे ही सम्मान प्राप्त होता है।

अथवा— जीवनके लम्बे अनुभवोंसे संपन्न बडी अवस्थावाले लोग समाजमें सम्मानकी दृष्टिसे देखे जाते हैं।

शूद्रोऽपि दशमीं गतः।

अवस्थावृद्ध शूद्र भी अनुभवसमृद्ध होकर पूज्य होजाता है।

(अपने प्रभावक्षेत्रमें ही मनुष्यकी पूजा)

स्थान एव नराः पूज्यन्ते ॥ ३०९ ॥

मनुष्य अपने प्रभावक्षेत्रमें ही पूजे जाते हैं ।

विवरण— स्थानका विवक्षित अर्थ मनुष्योंका अपना प्रभावक्षेत्र ही है। प्रभावका ही माहात्म्य है स्थानका नहीं। प्रभावहीन मनुष्य सब ही स्थानोंमें निष्प्रभ रहता है। सत्यका प्रभाव ही प्रभाव है। भौतिक बलका प्रभाव प्रभाव नहीं है, वह तो भीति है। सत्यहीन व्यक्ति प्रत्येक स्थानमें असत्यका दास रहता है। सत्यनिष्ठ प्रभावशाली मनुष्य अपने आत्मबलसे सब स्थानोंको अनुकूल बनाकर समुज्वल तथा आदरणीय रहता है। प्रतिष्ठित परिस्थितिमें वही प्रभावशाली होता है जिसने वह परिस्थिति स्वयं बनाई होती है। कोई भी परिस्थिति किसी पुरुषार्थहीन प्रभावहीन व्यक्तिको प्रभावशाली नहीं बनासकती। असत्यका दास तो सत्यनिष्ठ परिस्थितिमें नष्ट होजाता है। इसके विपरीत सत्यनिष्ठ व्यक्ति असत्यकी परिस्थितिमें उपेक्षित रहता है। असत्य परिस्थितिमें तो असत्यकी दासता करनेवाला ही आदर पाता है। उसकी बनाई परिस्थिति सदा उसकी अनुकूलता करती रहती है।

> स्थानस्थितस्य कमलस्य सहायौ वारिभास्करौ ।
> स्थानच्युतस्य तस्यैव क्लेदशोषकरावुभौ ॥

कमलके स्वस्थानमें लगे रहनेपर जल तथा सूर्य दोनों उसके सहायक होते हैं। परन्तु जब वह स्थानभ्रष्ट होजाता है तब जल तो उसके लिये क्लेदकारक तथा सूर्य उसके लिये शोषक बनजाता है। कमलकी सजीव अवस्था ही उसके मृणालको सरल बनाये रखनेमें नियुक्त रहती है। वही डण्ठल निर्जीव कमलके लिये जलसंचार करनेमें असमर्थ होजाता है।

मनुष्यको अपना प्रभावक्षेत्र, अपनी तपस्या तथा सत्यनिष्ठासे स्वयं बनाना पड़ता है। मानवहृदयमें अपनी मनुष्यताको प्रकट रखनेकी अनुकूलता या प्रवृत्ति स्वभावसे रहती है। सत्यनिष्ठा तथा असत्यद्रोह ही मनुष्यका मानव-

धर्म है। जो मानव अपने हृदयमें सत्यको अपने हृत्सिंहासनपर अभिषिक्त करदेता है, उसका स्वभाव अपनी बाह्य परिस्थितिको भी सत्यका रक्षक तथा असत्यका दलन करनेवाली बनाकर छोड़ता है। संसारका लोकमत उस बाह्य परिस्थितिपर उसीका अधिकार स्वीकार करता है जो सत्यकी अनुकूलता करता तथा असत्यके विरुद्ध अपने ज्ञानखड्गको तेजस्वी बनाये रखता है। राज्यसंस्थाके संचालक लोग सिंहासनारूढ रहनेके योग्य तब ही रह सकते हैं जब वे अपने हृदयमें असत्यको पराजित करके सत्यका संरक्षण करनेवाले विश्वसम्राट् बनचुके हों।

सत्य ही समाजकी मनुष्यताका संरक्षक है। समाजके हृदयमें समाजकी मनुष्यताके संरक्षक सत्यरूपी सम्राट्का राजसिंहासन स्वभावसे विद्यमान है। यह बाह्य राजसिंहासन समाजके हृदयस्थ सत्यसम्राट्के राजसिंहासनका ही बाह्य प्रतीक है। दैवयोगसे इस बाह्य राज्यसिंहासनके शून्य हो जानेपर इसे पूर्ण करनेकी योग्यता उसी व्यक्तिमें होती है जो अपने हृदयसिंहासन पर सत्यको अभिषिक्त करचुका होता है। सुसंगठित मनुष्यताका संरक्षक मानवसमाज ही सत्यानुरागी राजाका अनुकूल क्षेत्र है। जब कभी ऐसा राजा उस समाजपर अपने राज्याधिकारके सदुपयोग करनेका सामर्थ्य लेकर इस बाह्य सिंहासनपर आरूढ होता है तब उसे राजसम्मान स्वभावसे मिलजाता है।

सुसंगठित मानवसमाज ही राष्ट्रसेवक राजाका उपयुक्त स्थान है। मनुष्यताहीन असंगठित मानवसमाजका राजसिंहासन मनुष्यताहीन असुरोंकी पापी लीलाओंसे कलंकित रहता है। वह कभी श्रेष्ठ लोगोंके हाथोंमें नहीं जा सकता। उस सिंहासनपर असुरोंके अनुमोदनसे ही कोई बैठपाता तथा जो कोई बैठता है वह भी असुरोंके हाथोंकी कठपुतली असुर ही होता है। वह आसुरीलीलाको ही पूरा करनेवाला नरपशु असुरोंके हाथोंकी कठपुतली बनकर राजसिंहासनारूढ होकर अपनी राज्यलिप्साके सुखस्वप्नको भंग न होने देनेके लिये अपनी कर्तव्यहीनतासे समाजलुण्ठन, नारीहरण, नरहत्या,

शिशुवध, अग्निकाण्ड आदि पैशाचिक लीलाओंका नपुंसक तटस्थद्रष्टा मात्र बना रहता है। समाजद्रोहियोंका साथी बनकर धरित्रीको असुरभोग्य शक्तिहीन खंडोंमें विभक्त करके रुधिराप्लावित बनाकर दशों दिशाओंको चीत्कारों, हाहाकारों, करुण क्रन्दनोंसे संत्रस्त तथा त्राहि-त्राहिके करुणध्वनिसे आकाश पाताल एक करवादेनेवाली आसुरी राजशक्तिका दृष्टान्त भारतमें प्रत्यक्ष है। वह अपने स्वरूपको विचारशील लोगोंके सामने पापसमर्थक छद्मवेशी असुरके रूपमें रखदेता है।

भारत ब्रिटिशशासनकी सबसे पिछली आसुरिकलीलाके दिनोंमें अपने हृदयपर पत्थर रखकर अपने गुणोंसे अपना प्रभावस्थान न बनासकनेवाले अपने अयोग्य राजाओंकी करतूतें देखचुका है। चाणक्यने ढाई सहस्र वर्ष पूर्व भारतके लोगोंके लिये अपनी आत्मशक्तिसे ही भारतको अपना प्रभाव-क्षेत्र बनाये रखनेके सम्बन्धमें जो सावधान वाणी कही थी, उसकी उपेक्षा करनेका दुष्परिणाम आजके भारतके वक्षःस्थल पर रुधिररंजित भाषामें लिखा हुआ है। बात यह है कि राज्यसंस्था निर्माण करनेवाला क्षेत्र निद्रितावस्थामें अचेत पड़ा हो तो राजसिंहासन अनिवार्य रूपमें असुरोंके ही हाथोंमें जाता है। इस सिंहासन पर चाहे जो बैठे वही या तो मनुष्यताघाती असुर या असुरोंके हाथोंसे हांका जानेवाला नराकार पशु ही होता है। यदि किसी देशको स्वराज्यके मीठे फल चखने हों, तो उसे सत्यनिष्ठ राजाके प्रभावक्षेत्र तथा मानवताका संरक्षण करनेवाले समाजको ही स्वराज्यका उपयुक्त स्थान बनाना पड़ेगा। सत्यनिष्ठाका कर्मक्षेत्र सत्यरक्षक समाज ही स्वराज्यका उपयुक्त स्थान है। असत्यनिष्ठ समाजमें स्वराज्यका कोई स्थान नहीं है। असत्यनिष्ठ समाजका राज्य तो एक प्रकारका लूटका ठेका है। असत्यनिष्ठ समाजमें स्वराज्य होना संभव नहीं है। असत्यनिष्ठ समाजमें शासनव्यवस्थाका अति चालाक बड़े चोरोंके हाथोंमें चले जाना अनिवार्य होता है। स्वराज्यके फलनेफूलनेका योग्य स्थान सत्यनिष्ठ समाजमें ही है। असत्यनिष्ठ समाजमें बड़े चोरोंके हाथोंमें दण्डव्यवस्था होती है और छोटे चोर दण्डके भागी बनाये जाते हैं।

स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा द्विजाः।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः॥

सिंह सत्पुरुष तथा ब्राह्मण लोग अपनी जन्मभूमिके साधारण स्थानको त्यागकर उत्कृष्ट योग्यता तथा स्थान ढूंढनेके लिये विदेश चले जाते हैं। काक कापुरुष तथा मृग उत्पत्तिस्थानके मोहमें रहकर जहां पैदा होते हैं वहीं मरते हैं।

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
अरक्षितारं राजानं, ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥

भूमि बिलशयी जीवोंको खा डालनेवाले सर्पके समान प्रजाकी रक्षा न करनेवाले राजा तथा ज्ञानार्जनके लिये प्रवास न करनेवाले ब्राह्मणको निगल-जाती है।

(आर्य सदाचार पालनीय)

आर्यवृत्तमनुतिष्ठेत् ॥ ३१० ॥

मनुष्य आर्यस्वभावको सदा सुरक्षित रक्खे।

विवरण— विद्या, विनय, नीति, धर्म तथा ज्ञानसे सम्पन्न लोग आर्य सभ्य, सज्जन या साधु कहाते हैं। वशिष्ठने कहा है—

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे यः स आर्य इति स्मृतः॥ वशिष्ठ

मानवोचित कर्तव्यपालन करनेवाला तथा यथेच्छाचारी अमानवोचित कर्म करनेसे बचकर विचारशीलोंकी आचारपरम्पराको अक्षुण्ण रखनेवाला आर्य कहाता है।

आर्य चाणक्यको भारतको वैदेशिक आक्रमणोंसे बचानेकी जैसी धुन थी आज देशके क्षुब्ध वातावरणको, देशमें मानवताके नामपर काम करनेवाली शक्तियोंको झकझोर कर खडा करदेनेवाली तथा अनार्यताको कुचल डालनेवाली धुन रखनेवाले आर्य पुरुषोंकी आवश्यकता है। आर्य चाणक्य

पूछना चाहते हैं कि "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" नारेवाले कहां मुंह छिपाये बैठे हैं ?

(मर्यादोल्लंघन अकर्तव्य)

कदापि मर्यादां नातिक्रामेत् ॥ ३११ ॥

कभी भी शिष्टाचारकी सीमाका उल्लंघन न करो ।

विवरण— मनुष्य किसी भी उत्तेजना तथा कैसे भी संकटकालमें शिष्टोंकी मर्यादाओं नीतिनियमों तथा सदाचारसीमाओंका उल्लंघन न करे। शिष्ट व्यक्तिमें शिष्टाचार न त्यागनेका सुदृढ स्वभाव होता है। उसके मनमें प्रतिक्षण यह सावधानवाणी गूंजती रहती है कि कहीं मेरा शिष्टाचार मेरी किसी असावधानतासे भंग न हो जाय। यदि कोई क्षणिक उत्तेजनामें आकर शिष्टाचारका सीमातिक्रमण करता है तो वह उसकी अशिष्ट मनोवृत्तिकी अभिव्यक्ति माना जाता है। सच्चा शिष्टाचारी अपने आपको कभी भी अशिष्टकी स्थितिमें अधःपतित नहीं करसकता। उसका मन शिष्टाचारकी सीमामें रहनेके लिये प्रतिक्षण सजग रहता है।

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्रतत्रोपविश्यते ।
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति ॥

जैसे मनुष्य मलिनवस्त्र होजानेपर (उनके मैला होनेका डर न रहनेपर) उन्हें पहनकर जहां कहीं बैठ जाता है, इसीप्रकार चलितवृत्त मानव अपने शेष वृत्तको बचानेमें असमर्थ होकर दुराचारके हाथोंमें आत्मसमर्पण करके अपना स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त करलेता है। मानव जाने कि मर्यादाका उल्लंघन या नीतिनियमोंका भंग करते समय मनुष्यको जो क्षुद्र भौतिक सुख या लाभ होता दीखता है वह उसके सर्वनाशका श्रीगणेश होता है।

पाठान्तर-- न कदापि मर्यादामतिक्रमेत् ।

(गुणी पुरुष राष्ट्रके अमूल्य धन)

नास्त्यर्घः पुरुषरत्नस्य ॥ ३१२ ॥

अपनी जीवनव्यापी तपस्यासे राष्ट्रके ललामभूत उत्तम बने हुए पुरुषरत्नकी कोई उपमा या भौतिक मूल्य नहीं है ।

विवरण— गुणीके गुणका कोई मूल्य नहीं होता। उसका गुण संसारी बाटोंसे नहीं तोला जासकता। विपुलतम भौतिक संपत्ति भी गुणोंकी यथोचित पूजा नहीं करसकती। यद्यपि रत्नोंके व्यापारी रत्नोंका मूल्य आंक लेते हैं परन्तु अपार वैदुष्य, अगाध गाम्भीर्य, उच्च चारित्र्य, अनुपम धैर्य, अप्रतिहत वीरता, सभापाण्डित्य, यशमें रुचि, साहस, संयम, सहन आदि गुणोंसे सम्पन्न पुरुषोंका मूल्य निर्धारित नहीं किया जासकता। गुणी लोगोंके गुण उनके आत्मसंतोषसे स्वयं पूजित रहते हैं। वे बाह्य जगत्के प्रमाणपत्रोंके प्रतीक्षक नहीं होते।

> गुरून् कुर्वन्ति ते वंश्यानन्वर्था तैर्वसुन्धरा।
> येषां यशांसि शुभ्राणि ह्रेपयन्तीन्दुमण्डलम्॥

वे लोग अपनी महिमासे अपने कुलमें उत्पन्न होनेवाले सबको ही बड़ा बनादेते हैं, उन लोगोंके संसारकी महत्वपूर्ण विभूति होनेसे वसुन्धरा उनके कारण सच्चे अर्थोंमें वसुन्धरा कहाने लगती है, जिनके निष्कलंक शुभ्रयश अपने सौन्दर्यसे चन्द्रमण्डलको भी नीचा दिखा देते हैं। धन्य हैं वे देश जहां ऐसे पुरुषरत्न उत्पन्न होते तथा जहांके लोग अपनी शिक्षाशालाओंको ऐसे पुरुष उत्पन्न करनेवाली बनाकर रखते हैं।

(सच्चरित्र तपस्विनी स्त्रियाँ राष्ट्रके अनुपमरत्न)

न स्त्रीरत्नसमं रत्नम्॥ ३१३॥

कुलभूषण सहधर्मिणीके समान संसारमें कोई रत्न नहीं है।

विवरण— जाति कुलधर्मोंकी संरक्षिका, सच्चरित्रा, तपस्विनी, सहधर्मिणियों जैसा संसारमें कोई रत्न नहीं है। स्त्रीरत्न महापुरुषोंको कोखमें धारण करनेवाली माता है। वह अपने पवित्र, उदार, तेजस्वी, तपस्वी विचारोंसे महापुरुषोंका निर्माण करती है। जिस देशमें पुरुषसिंह उत्पन्न करनेवाली जगद्धात्री जगन्माताका प्रत्यक्ष प्रतीक आदर्शसन्तानपालिनी स्त्री रूपधारी रत्न उत्पन्न होते हैं वह धन्य है।

(गुणी स्त्रीपुरुषोंकी दुर्लभता समाजका महादुर्भाग्य)

सुदुर्लभं रत्नम् ॥ ३१४ ॥

गुणी लोग संसारमें सुदुर्लभ होते हैं ।

विवरण— जिसका सौन्दर्य तथा तेजस्विता चित्ताकर्षक होती है वही रत्न कहाता है । समाजको अलंकृत करनेवाले स्त्रीपुरुष रत्न कहाते हैं । किसी देशमें समाजके ललामभूत स्त्रीपुरुषोंका उत्पन्न होते रहना उस देशका सौभाग्य है । राज्यव्यवस्थापकोंका कर्तव्य है कि वे अपने देशमें रत्नोंको उत्पन्न करनेयोग्य पवित्र वातावरण बनाकर रक्खें । राजाका कर्तव्य है कि वह स्वयं अपने समाजके ऐसे दुर्लभ नरनारियोंको पहचाननेवाला रत्न बनकर उन्हें अपने राष्ट्रके शिरोभूषणके रूपमें पूज्य वरेण्य स्थान देकर समाजकी श्रीवृद्धि करे ।

रत्न शब्द स्वजातिमें श्रेष्ठ तथा सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, पद्मराग, नीलकान्त आदि विविधरत्नोंका वाचक है । रत्न धारण करना धन्य यशस्य आयुष्य, श्रीवर्धक व्यसननाशक हर्षण, काम्य तथा औजस्य मानाजाता है । समाजमें मनुष्यत्वके संरक्षक लोग राष्ट्रके वरेण्य रत्न हैं । मनुष्यताका संरक्षण रत्नपरिचय करनेकी कसौटी है । भारतकी वैदेशिक विश्वविद्यालयों तथा वैदेशिक वक्तृतामंचों (प्लेटफार्मों) से विजातीय रहन-सहनके उपासक मनुष्यताघाती वैदेशिक जडवादी सभ्यताके उच्छिष्टभोजी आसुरी सभ्यताकी चापलूसीकरके प्रमाणपत्रसंग्रह करनेवाले आत्मसम्मानहीन अनुकरणपरायण पवित्र सनातन आर्यसंस्कृति पर कुठाराघात करनेवाले श्वेतवस्त्रावृत (सफेदपोश) नकली रत्नोंको झाडबुहार कर फेंकनेवाली आंखें खुलजानी चाहियें ।

पाठान्तर— **दुर्लभं रत्नम् ।**

(निन्दित आचरण जीवनकी भीषण अवस्था)

अयशो भयं भयेषु ॥ ३१५ ॥

अपयश अर्थात् निन्दार्ह आचरण मनुष्यको मनुष्यतासे हीन बनाडालनेवाली भीषणतम अवस्था है ।

विवरण — जब राज्यसंस्था लोकनिन्दाका पात्र नहीं बनती, तब ही राष्ट्रमें गुणोंका प्रसार होता है। इसके विपरीत राज्यव्यवस्थामें भ्रष्टाचारी लोकनिन्दित देशद्रोही अयोग्य लोगोंको प्रवेशाधिकार मिलजाना राष्ट्रका कलंक है। यह स्थिति राष्ट्रकी पतितावस्थाकी द्योतक है। धार्मिक दृष्टिसे उन्नत राष्ट्र ही नररत्नोंको उत्पन्न करनेवाली रत्नखान होता है।

अयश शब्द गुणहीनता अपकीर्ति तथा निन्दाका वाचक है। गीताके शब्दोंमें " **संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते** " प्रतिष्ठित मनुष्यकी अकीर्ति मरणसे अधिक कष्टप्रद है।

अपमानं तथा लज्जा बन्धनं भयमेव च।
रोगशोकौ स्मृतेर्भंगो मृत्युश्चाष्टविधः स्मृतः॥

अपमान, अकर्तव्यानुष्ठानसे प्राप्त लज्जा, बन्धन, भय, रोग, शोक, स्मृतिभ्रंश इन सात भेदोंके कारण मृत्यु आठ प्रकारकी मानी जाती है।

समाजसे अननुमोदित अवैध कर्म करनेसे अयश होता है। इसलिये मनुष्य अपने जीवनमें अपवादका अवसर न आनेदेनेके लिये पूर्ण सावधान रहे। किंवदन्ती है— " परिवादस्तथ्यो हरति महिमानं जनरवः " सच्ची निन्दा करनेवाला निष्पक्ष न्यायदण्डधारी लोकमत मनुष्यकी महिमाको नष्ट करडालता है।

(अलस विद्याका अनधिकारी)

नास्त्यलसस्य शास्त्राधिगमः ॥ ३१६ ॥

पुरुषार्थहीन अजितेन्द्रिय व्यक्तिको शास्त्र पर अधिकार प्राप्त नहीं होता।

विवरण— शास्त्रपर पूर्ण अधिकार पानेके लिये सुदीर्घ कालतक निरन्तर श्रद्धा, उत्साह तथा गहरी लगनसे सतत जाग्रत रहकर उसका विलोडन तथा हृदयका मंथन करके ज्ञानामृत निकालना पडता है। यद्यपि मनु-

ष्यके मनमें ज्ञानका सागर है, परन्तु वह ज्ञानरूपी मन्थन दण्डसे हृदयका मन्थन करने पर ही प्राप्त होकर मानवको शास्त्रज्ञ बनाता है। प्राप्तव्य वस्तुके प्रति उदासीनता ही आलस्य है। जितेन्द्रियता ही मनुष्यका एकमात्र अध्येतव्य तथा प्राप्तव्य अनुपम शास्त्र है। ऊपर कह आये हैं '**इन्द्रियाणां प्रशमं शास्त्रम्**'। जितेन्द्रियताको अपनानेके लिये सात्विक पुरुषार्थ न करनेवाले लोग ही आलसी कहाते हैं।

> **अलसो मन्दबुद्धिश्च सुखी वा व्याधिपीडितः।**
> **निद्रालुः कामुकश्चैव षडेते शास्त्रवर्जिताः॥**

आलसी, मन्दबुद्धि, सुखलोलुप, रोगी, निद्रालु तथा कामी ये शास्त्र-वर्जित लोग हैं।

> आलस्याद् बुद्धिमान्द्यंच आलस्यात्कार्यवैक्लवम्।
> आलस्यादवनतिश्चैव गौरवं तेन नश्यति॥

आलस्यसे बुद्धिकी मन्दता, कार्यकी हानि तथा अवनति होती है। उससे गौरव नष्ट होजाता है। इसलिये उन्नतिकामी लोग सदा निरलस रहें।

पाठान्तर— **नास्त्यालस्यस्य शास्त्राधिगमः।**

(स्त्रैण कर्तव्यहीन तथा दुःखी)

न स्त्रैणस्य स्वर्गाप्तिर्धर्मकृत्यञ्च ॥ ३१७ ॥

रमणीरत स्त्रैण न तो धर्मकृत्य करसकता तथा न सुखी रह सकता है।

विवरण— इन्द्रियाधीन, भोगैकसर्वस्व, कामकिंकर, विषयलम्पट मर्यादाहीन कामी पुरुष न तो अपना मानवोचित कर्तव्य पालसकता और न शारीरिक मानसिक किसी भी प्रकारका सुख पासकता है।

तपस्वी, संयमी, उद्यमी, इन्द्रियनिग्रही जीवन बितानेसे मनुष्यमें तेज, ओज, वर्चस, प्रभाव आदि वे गुण पैदा होते हैं जो मनुष्यको प्रभावशाली बनाते हैं। भोगलोलुपतासे मनुष्यका ओज क्षीण होकर उसका मन,

इन्द्रिय तथा देह किसी भी शुभकर्म करनेके योग्य नहीं रहते । ऐसे मानवको शारीरिक मानसिक किसी भी प्रकारका सुख प्राप्त नहीं होता। समाज-सेवा, यज्ञ, सत्संग आदि आत्मोद्धारक कर्म धर्मकृत्य कहाते हैं। कामुक, लम्पट, स्त्र्यासक्त, स्त्रैण, रमणीरत आदि पर्यायवाची शब्द हैं।

(स्त्रैण स्त्रियोंसे भी अपमानित)

स्त्रियोऽपि स्त्रैणमवमन्यन्ते ॥ ३१८ ॥

सहधर्मिणी भी स्त्रैण पुरुषोंको अवज्ञाकी दृष्टिसे देखती हैं।

विवरण— विषयलोलुप कामासक्त लोग अपनी विषयलोलुपता, कामासक्ति, निरयगामी नीच स्वभाव तथा अमनुष्योचित भोगप्रवृत्तियोंसे अपनी धर्मपरायण स्त्रियोंकी दृष्टिमें भी अवज्ञाके पात्र बनजाते हैं।

विचारशील पत्नियां अपने सहधर्मी पुरुषोंको धीर, गंभीर, संयमी, अलोलुप, स्वावलम्बी और हृष्ट पुष्ट देखना चाहती है। लोलुप, कामी लोग समाजमें तो निन्दित होते ही हैं, अपने घरमें भी अपनी प्रतिष्ठा खोलेते तथा घरोंको अनीति तथा दुराचारका अड्डा बनालेते हैं। लोलुप, कामी लोग मानसिक रूपमें दुर्बल होनेके कारण अकर्मण्य, अविश्वासी, अनुत्साही, अश्रद्धेय, अधीर, अगंभीर, असंयमी, अयशस्वी तथा निर्बल होजाते हैं। स्त्रैण लोग सच्चारित्र्य तथा सच्छक्तिके अभावके कारण सुधी समाजमें अवहेलित रहते हैं। पुरुषका यही गुण माना जाता है कि वह पुरुषार्थसे सम्पन्न हो तथा अपने गुणों तथा परिश्रमोंसे अपने समाजको अलंकृत करे। जो लोग इन गुणोंसे भ्रष्ट होते हैं, जो समाजके कलंकस्वरूप होते हैं, उनकी सहधर्मिणियां भी उन्हें घृणाकी दृष्टिसे देखती हैं। सहधर्मिणी अपने भर्ताको समाजमें तो यशस्वी पुरुषसिंहके रूपमें तथा घरमें घरको गौरवान्वित करनेवाले रूपमें देखनेकी इच्छा लेकर ही उसे पतिरूपमें वरण करती हैं। वे अपने घरको कलंकसागरमें डुबोदेनेके लिये भर्ताका वरण नहीं करती।

न पुष्पार्थी सिंचति शुष्कतरुम् ॥ ३१९ ॥

जैसे पुष्पार्थी शुष्क तरुको न सींचकर जीवितको सींचता है

इसी प्रकार समाजकी शोभा बढानेवाले पुत्ररत्न उत्पन्न करनेवाली पत्नियोंमें स्वाभाविक आग्रह होता है कि उन्हें ऐसे पति मिलें जो समाजको सुशोभित करनेवाले हों ।

विवरण— पुत्ररत्नोंकी उत्पादक पत्नियां आदर्शच्युत स्त्रैण पतिके आदर्शसे अपने घरोंके वातावरणको कलंकित देखना नहीं चाहतीं । जितेन्द्रियता (अर्थात् धर्मविरोधी कामभोग न चाहना) ही संसारका सच्चा सुख तथा मानवजीवनकी आकांक्षणीय सार वस्तु है । सारग्राही लोग आलस्य तथा अवैध भोगको कभी नहीं अपनासकते तथा विषयलोलुप निकम्मे होकर कभी नहीं पडे रहसकते । जिसकी जिसमें प्रयोजनसिद्धि हो वह उसीके लिये प्रयत्न करे । उदाहरणके रूपमें दुग्धार्थी धेनुसेवासे दुग्ध प्राप्त करसकता है वृषभ दोहनसे नहीं ।

अथवा— जैसे पुष्पार्थी शुष्कतरुसिंचन नहीं करते, इसीप्रकार मनुष्योचित जीवन बिताने तथा अपनी सन्तानोंके लिये सुशिक्षाका वातावरण बनाकर अपनेको समाजका भूषणस्वरूप बनाकर रखनेकी इच्छुक पत्नियां अमनुष्योचित लोलुपता तथा लम्पटतावाले अधीर पतियोंसे प्रसन्न नहीं होती ।

पाठान्तर— पुष्पार्थिनः सिञ्चन्ति अद्भिः पुष्पतरुम् ।

जैसे पुष्पार्थी लोग जलोंसे पुष्पवृक्षको ही सींचते हैं, इसी प्रकार सुखार्थी लोग अपने जीवनको सुखके प्रस्रवण संयमस्रोतस्विनीसे ही सिंचित करें ।

(भ्रान्त उपायोंसे सुखान्वेषण निष्फल)

अद्रव्यप्रयत्नो वालुकाक्राथनादनन्यः ॥ ३२० ॥

जैसे भूख मिटानेके लिये वालुकाको उबालना निरर्थक होता है इसी प्रकार भ्रान्त उपायोंसे सुखान्वेषण भी व्यर्थ होता है ।

विवरण— इन्द्रियासक्ति ऊपरसे सुखद दीखनेपर भी सुखकी ऊसपर

भूमि है। इन्द्रियासक्तिमें सुख पानेकी इच्छा मनुष्यका उतना ही व्यर्थ प्रयत्न है जितना कि बालुका उबालकर सरस भोजन पानेकी अभिलाषा। विषयतृष्णाको चरितार्थ करके सुखान्वेषण करना अपनेको अनन्त दुःखजालमें फंसालेना होता है। समाजमें मनुष्यताके संरक्षक संयमका आदर्श रखनेपर ही उसमें सुख शान्ति सुरक्षित रह सकती है। इसके विपरीत समाजको भोगमात्रलक्ष्यवाले जडवादके पीछे चलाना उसे दुःख तथा नैराश्यके मार्गपर लेचलना है। समाजको मानवताके संरक्षक संयमके आदर्श पर रखना राज्यसंस्थाका सामाजिक उत्तरदायित्व है। अपनी राज्यसंस्थाको सामाजिक उत्तरदायित्वको पूरा करनेवाले कर्तव्यमार्गपर रखना ही समाजपति विज्ञपुरुषोंका ध्येय होना चाहिये।

पाठान्तर— ... ... बालुकापीडनादनन्यः।

अनुचित स्थानमें प्रयत्न तेलके लिये बालू निचोडने जैसा निष्फल प्रयत्न है।

(सीधे-सादे सत्यनिष्ठोंका परिहास अकर्तव्य)

न महाजनहासः कर्तव्यः ॥ ३२१ ॥

विज्ञ समाजसेवकोंका उपहास नहीं करना चाहिये।

विवरण— मनुष्यमें विद्या, प्रताप, उदारता, अनुभव, धन तथा धर्मके कारण महानता आती है। इन गुणोंसे संपन्न वर्तमान या भूत लोगोंको उपहास या उपेक्षाका पात्र नहीं बनाना चाहिये। इस प्रवृत्तिसे अपने मनमें भी हीनवृत्ति पैदा होती तथा उपहासकर्ताको भी लोगोंकी दृष्टिमें हीन बनादेती है। ऐसे लोग साधुताद्रोही होकर महापुरुषोंसे मिलनेवाले लाभोंसे वंचित होजाते हैं। लोकोक्ति है- "प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूज्याव्यतिक्रमः" पूज्योंकी पूजा न करनेसे मनुष्यका कल्याण नष्ट होजाता है। असत्यनिष्ठ भोगपरायण जडवादके पीछे भटकनेवाली सभ्यता नामवाली बर्बरता जहां कहीं विद्वत्ता, सत्यनिष्ठा, मनुष्यता, तेजस्विता,

धीरता, साधुता, सादगी आदि सद्गुण देखती है, वहीं उसकी ओर उपेक्षा तथा उपहासपरायण घृणाभरी दृष्टि डाले बिना नहीं मानती। आसुरी समाजका साहित्य, सभा-समिति, शिक्षा-दीक्षा, वेश-भूषा आदि सब कुछ मनुष्यताके आदर्शको नीचा दिखाने तथा उसकी हंसी उडानेमें ही अपनी बुद्धिमत्ता तथा सार्थकता समझते हैं।

(अश्लील परिहास न करो)

(अधिक सूत्र) न नर्मपरीहासः कर्तव्यः ।

अश्लील परिहास न करे।

विवरण— अश्लील गंवार परिहास, लघुता, असारता, अगंभीरता, अप्रतिष्ठा, अपमान तथा नीतिभ्रष्टताका परिचायक है। सभ्यसमाजको अपने राष्ट्रकी पवित्रताकी रक्षा करनेके लिये अपनी शिक्षाव्यवस्थामें मनुष्यता संरक्षक सत्यानुमोदित शासन करनेवाले शिष्टाचारको महत्व देना चाहिये। शिष्टाचारमें चपलता, लघुता, मिथ्यादिखावा, असंयम, मदान्धभोगियोंकी अनुकरणप्रियताको प्रवेशाधिकार नहीं मिलता। समाजके सच्चे सेवक ही शिष्ट नामसे सम्मानित होने योग्य हैं। उनका आचार ही शिष्टाचाररूपमें सम्मान पानेका अधिकारी है।

(कारणसंग्रहसे कार्यसफलता)

कार्यसम्पदं निमित्तानि सूचयन्ति ॥ ३२२॥

कारणसंग्रह ही कार्यकी सफलताकी सूचना देते हैं।

विवरण— असत्यका विरोध करना ही सत्यरक्षारूपी कार्य है। असत्य विरोधरूपी सत्यरक्षा ही मनुष्यसमाजमें सर्वमान्य कर्तव्य है। इस कर्तव्यको स्वीकार करनेकी प्रेरणा देनेवाली प्रेरक भावना ही इस सत्यरक्षारूपी महत्व-पूर्ण कार्यका कारण या निमित्त है। भावनाकी जो शुद्धता होती है वही तो कर्तव्यकी सफलताकी सूचना होती है। कर्तव्यमें पश्चातापके अवसरका न रहना ही कर्तव्यकी सफलता है। जो किसी कामको अपने अत्याज्य कर्तव्यके

रूपमें स्वीकार करलेता है वह अपनी भावनाकी शुद्धताको स्वयं अपने मानसनेत्रोंसे देखकर उसके शुभाशुभ भौतिक परिणामोंके विषयमें समदृष्टि रखकर पश्चातापके अतीत होजाता है। कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति गीताके शब्दोंमें "आत्मन्येवात्मना तुष्टः" की स्थितिमें पहुंचकर असत्यविरोधरूपी धर्मयुद्धका विजयी योद्धा बनचुका होता है। उसे अपने विजयशील योद्धा बनचुकनेकी सूचना अपने अभ्रान्त कर्तव्यनिर्णयसे स्वयं ही मिलजाती है।

(कारणसंग्रहका महत्व)

नक्षत्रादपि निमित्तानि विशेषयन्ति ॥ ३२३ ॥

निमित्त नक्षत्रोंसे भी अधिक महत्व रखते हैं।

विवरण— मनुष्यसमाजमें किसी शुभ कार्यका प्रारंभ करनेके लिये नक्षत्रगतियोंके आधार पर शुभ मुहूर्त देखना प्रचलित है। परन्तु वास्तविकताकी दृष्टिमें कार्यकी निश्चित सफलताकी सूचना तो यही होती है कि शुभ कार्यमें उस कार्यके निमित्तकारण अभ्रान्त हों। निमित्तोंके अभ्रान्त होनेका अभिप्राय यह है कि उस कर्तव्यकी प्रेरणा देनेवाली भावना शुद्ध अटल तथा बलवती हो। जब वर्तमान क्षणके कर्तव्यको इस रीतिसे निश्चित कर लिया जाय फिर उसमें विलम्ब न करके उसे तत्क्षण पाललेना चाहिये। कर्तव्यपालनमें विलम्ब करना ही शुभ मुहूर्तको खोदेना तथा उसे तत्क्षण करडालना ही शुभ मुहूर्तको मुष्टिमें निगृहीत करलेना होता है।

पाठान्तर— नक्षत्रादिनिमित्तानि विशेषयन्ति।

नक्षत्र आदि निमित्त भावी घटनाओंकी विशेष सूचना देदेते हैं।

(शैघ्र्यार्थी मुहूर्त नहीं देखता)

न त्वरितस्य नक्षत्रपरीक्षा ॥ ३२४ ॥

जिसे किसी कार्यको शीघ्र करना हो वह नक्षत्रपरीक्षाके झगडेमें न पडे।

विवरण— वह तो उत्साह तथा अपनी दृढताको ही शुभ मुहूर्त मानकर काम प्रारंभ करे। कर्तव्यको तत्काल पालन करनेवाले कर्तव्यशीलके लिये नक्षत्रकी अनुकूलता देखनेका अवसर नहीं है। कर्तव्यशीलके लिए नक्षत्रकी अनुकूलता कोई महत्व नहीं रखती। इसके लिए कर्तव्यकी अनिवार्यता ही अनुकूलता है।

(दोषज्ञानकी स्थिति)

परिचये दोषा न छाद्यन्ते ॥ ३२५ ॥

परिचित होजानेपर किसीके दोष अज्ञात नहीं रहते।

विवरण— परिचितके दोषगुणके संबंधमें अभ्रान्त तथा निःसंदिग्ध होजाना ही सच्चा परिचय है। किसीका विश्वास करनेसे पहले उससे सुपरिचित होजाना अत्यावश्यक है। पर्याप्त परिचयके बिना किसीका विश्वास करलेनेसे प्रतारित होनेकी पूरी आशंका रहती है। परिचय होनेपर गुणदोष दोनों प्रकाशमें आजाते हैं। पूरा परिचय हुए बिना लोकचरित्रको समझना असंभव है। परिचयके बिना मनुष्यके विषयमें पर्याप्त भ्रम रहता है। ज्ञानी अपने जैसे ज्ञानीका ही विश्वास करसकता है। मनुष्य स्वयं कसौटी बनकर ही दूसरे ज्ञानीके साथ सहयोगका संबन्ध जोडनेकी योग्यता पाता है।

(बुरोंके लिये संसारमें कोई भला नहीं)

स्वयमशुद्धः परानाशंकते ॥ ३२६ ॥

स्वयं पापी व्यक्ति अपनी कसौटी पर कसकर दूसरे भद्र लोगोंको भी पापी समझलेता है।

विवरण— स्वयं पतित व्यक्ति दूसरोंको भी अपनी ही कसौटी पर कसकर सबको अपने ही समान अशुद्ध समझकर अपना सहयोगी बनाना चाहता है। अशुद्धके लिये संसारमें भले लोग नामकी कोई वस्तु नहीं होती।

(स्वभाव नहीं छूट सकता)

स्वभावो दुरतिक्रमः॥ ३२७॥

स्वभाव त्यागना कष्टसाध्य होता है।

विवरण— मनुष्यका मन ज्ञानी या अज्ञानी दोनोंमेंसे किसी एक स्थितिको अपनाकर स्वभावके प्रवाहमें बहकर या तो ज्ञानानुकूल या अज्ञानोचित आचरणोंमें आनन्द मानाकरता है। एक दिन किया हुआ कर्म अगले दिन स्वभाव बनजाता है। स्वभावानुयायी काम करना किसी एक दिनमें सीमित न रहकर सदातन स्वभावका रूप ग्रहण करलेता है। यह असंभव बात है कि एक दिन शुभकर्ममें आनंद लेनेवाला मनुष्य अगले दिन अशुभकर्म करनेवाला अज्ञानी बनजाय। यह भी असंभव है कि पहले दिन अशुभकर्म करनेवाला अशुभकर्ममें सुखबुद्धि रखता हुआ अज्ञानी अगले दिन शुभकर्म करनेवाला ज्ञानी बनजाय। जबतक अज्ञानीको अज्ञानमें मिठास आता रहता है तबतक शुभकर्म उसके लिये कष्टसाध्य या कष्टप्रद ही बना रहता है। शुद्ध भावनाकी मधुरता ही शुभकर्म कराती तथा करासकती है। शुद्ध भावना ही ज्ञान है। जब मनुष्य ज्ञानी बनचुकता है तब ही उसका मन शुभकर्मका मिष्टास्वादन करनेमें समर्थ होता है। यों ज्ञानकी आंखें बन्द करके रहनेवाले अज्ञानीका कोई भी आचरण उन्मीलितचक्षु ज्ञानीकेआचरणोंके समान नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे ज्ञानीसमाजका कर्तव्य है कि वह राष्ट्रसेवार्थीके ज्ञानका पूर्ण परिचय पाये बिना, उसे समाजकल्याणसे संबन्ध रखनेवाली राष्ट्रसेवाके क्षेत्रमें सम्मिलित वा नियुक्त न करे। यही यहां इस सूत्रका अभिप्राय है।

पहले तो मनुष्य अपनी स्वतंत्रताका दुरुपयोग करके अज्ञानी स्वभाव बनालेता है फिर उसीके अधीन होकर बैठजाता है। फिर अपना ही बनाया हुआ स्वभाव उसे अत्याज्य दीखने लगता है। यह मनुष्यकी अज्ञानमयी स्थिति है। परन्तु जब मनुष्य ज्ञानकी अभ्रान्त दृष्टि लेकर कोई दृढनिश्चय करता है तब उसके पुरुषार्थके सामने कोई भी शुभकर्म दुःसाध्य नहीं रह-

पाता। जब एक क्षुद्र नदी चलपडनेका दृढनिश्चय करके अपने उद्‌गम स्थानसे निकल पडती है, तब विशालकाय पर्वतोंकी भीमकाय चट्टानोंको भी, उस दृढनिश्चयी नदीको मार्ग देनेके लिये अपने आपको द्वितटभूमि बना- लेना पडता है। यह सब दृढनिश्चयकी अपार महिमा है। दृढनिश्चय ज्ञानीका ही एकाधिकार है। ज्ञानमें ही दृढता स्थिरता तथा अक्षय सुख है अज्ञानमें अदृढता अस्थिरता तथा दुःख है। दृढनिश्चयके अभावमें अज्ञानीका मोहग्रस्त स्वभाव दुरतिक्रम या दुस्त्याज्य बनारहता है। ज्ञानी अज्ञानी दोनों सूर्यकी तेजस्विता तथा अंगारकी कालिमाकी भांति सर्वथा अपरित्याज्य भिन्न- भिन्न स्वभाव रखते हैं। परन्तु जैसे अंगारके जलकर राख होजानेपर उसमें शुभ्रता आजाती है, इसीप्रकार अज्ञानके परित्यक्त होजानेपर मानवमनमें शुभ्रता आना स्वाभाविक होजाता है।

मनुष्यका मन स्वभावसे सुखानुरागी है। वह दुःखसेवी बनना कभी नहीं चाहता। अज्ञानी अज्ञानमें सुख मानता तथा ज्ञानी ज्ञानमें सुख मानता है। अज्ञानी ज्ञानीके तथा ज्ञानी अज्ञानीके आचरणोंको नहीं अपना- सकता। इसलिये नहीं अपनासकता कि उसे उसीमें सुख प्राप्त होता है। ज्ञानीके लिये ज्ञानयुक्त तथा अज्ञानीके लिये अज्ञानयुक्त आचरण ही सुख- साध्य होता है। प्रायः लोग समझते हैं कि ज्ञानी अज्ञानियोंके साथ मिल- कर उपयोगी कार्य करसकता है। परन्तु यह उनका भ्रम है। ज्ञानी अज्ञानि- योंके साथ मिलकर कोई भी महान् उद्देश्य सिद्ध नहीं करसकता। ज्ञानीका आचरण ही राष्ट्रमें सार्वजनिक कल्याणकारी आचरणके रूपमें अपनाने योग्य होता है। ज्ञानी ही राष्ट्रकल्याणमें अपना जीवन समर्पित करसकता है।

राष्ट्रसंस्थामें ज्ञानियोंको ही प्रवेशाधिकार मिलना चाहिये। राज्यसंस्थाके सुखलोभ पैदा करसकनेवाला होनेसे उसका निर्माण करनेवाला मनुष्यसमाज राज्यसंस्थानिर्माणके कामको मनुष्यताके संरक्षक ज्ञानी लोगोंके हाथोंमें सौंपकर ही निश्चित होसकता है। इस दृष्टिसे सुखलोभ पैदा करसकनेवाली राजसेवामें अज्ञानियोंको सम्मिलित करनेकी भ्रान्ति नहीं करनी तथा नहीं होने देनी चाहिये। इसलिये नहीं करनी चाहिये कि अज्ञानी मानव अपने आचरणोंमेंसे अमनुष्योचित सुखेच्छाका त्याग नहीं करसकता। वह हाथमें

राज्याधिकार पाकर राष्ट्रको अपनी आसुरिकताका ताण्डवक्षेत्र बनाये बिना नहीं मानता। इस दृष्टिसे ज्ञानीसमाजका कर्तव्य है कि वह राष्ट्रसेवार्थीके ज्ञान अर्थात् हृदयशुद्धिका पूरा परिचय पाये बिना उसे समाजकल्याणसे संबन्ध रखनेवाले राष्ट्रसेवाक्षेत्रमें सम्मिलित न करे या न होने दे। यह बात भी ज्ञानीके स्वभावके विरुद्ध है कि वह अज्ञानियोंके साथ समझौता करके मिली-जुली राष्ट्रसेवामें उनका सहयोग करे या उनसे सहयोग प्राप्त करे। बात यह है कि सेवा आत्मसन्तोष दिलानेवाली है। पद-पद पर विरोध उपस्थित करते रहनेवाले अज्ञानीके साथ सम्मिलित होना ज्ञानीके स्वभावके विरुद्ध है। विचारोंकी एकता ही मिलनकी कुंजी है। ज्ञानी अज्ञानीके स्वभाव पूर्व-पश्चिमके समान सर्वथा भिन्न होते हैं। विचार मनुष्यके स्वभावका ही प्रतिनिधित्व करता है। विचारोंका पूर्ण परिचय पाये बिना किसीके स्वभावका परिचय होना असंभव है।

(दण्डका परिमाण)

अपराधानुरूपो दण्डः ॥ ३२८ ॥

दण्ड अपराधके अनुरूप होना चाहिये।

विवरण— गुरु अपराधमें लघुदण्ड, लघु अपराधमें गुरुदण्ड, निरपराधको दण्ड, तथा सापराधको अदण्ड होनेसे समाजमें क्षोभ तथा अनीति फैलती है। दण्डव्यवस्था न होनेसे लोकमें मात्स्यन्याय (बडी मछलीका छोटियोंको खालेना- शक्तिमानोंका निर्बलोंको उत्पीडित करने लगना) चल पडता है तथा राष्ट्र अराजक होजाता है। दण्ड प्रजाकी रक्षा तथा सुशासन बनाये रखनेमें अत्यावश्यक साधन है।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ (मनु)

दण्ड ही प्रजा पर शासन तथा उसकी रक्षा करनेवाला है। वह सोते-हुओंमें भी जागता है। इसलिये विद्वान् लोग (धर्मको धर्म न कहकर धर्मका संरक्षक होनेसे) दण्डको ही धर्म कहते हैं।

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकञ्चाधिगच्छति ॥

अदण्डनीयोंको दण्ड देता तथा दण्डनीयोंको दण्ड न देताहुआ राजा अपयश पाता तथा अदण्डित होनेसे उद्दण्ड बने हुए अपराधियोंकी बुलाई विपत्तिमें फंसजाता है। दण्ड अपराधीका अनिवार्य प्राप्य है। अपराधी अपराध करके अपने आप दण्डका आह्वान करता है। पापीके दंडित होनेके मूलमें दण्डदाताका कर्तापन न होकर अपराधीका ही कर्तापन रहता है। पापी ही स्वयं दण्डदाताको दण्ड देनेके लिये विवश करता है।

जैसे अनुचित कठोरदण्ड प्रजामें अशुभ प्रतिक्रियाका उत्पादक होनेसे उत्तेजना फैलानेवाला होता है, इसीप्रकार मृदुदण्ड भी पापोत्तेजक होनेसे हानिकारक होता है।

वधोऽर्थग्रहणं चैव परिक्लेशस्तथैव च।
इति दण्डविधानज्ञैर्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः ॥

दण्डविधिके ज्ञाता वध, अर्थग्रहण तथा शरीरके बन्धन, ताडन, भर्त्सना, निन्दा आदि भेदसे दण्डको तीन प्रकारका कहते हैं। दण्डके संबन्धमें विशेष जाननेके लिये अर्थशास्त्र, युक्तिकल्पतरु, भार्गवनीति, महाभारत, राजधर्म आदि देखने चाहियें।

(उत्तर कैसा हो ?)

कथानुरूपं प्रतिवचनम् ॥ ३२९ ॥

प्रत्युत्तर प्रश्नके अनुरूप होना चाहिये।

विवरण— अविश्वासपात्र लोगोंके प्रश्नोंका उत्तर देते समय निम्न-प्रकारसे सोचना चाहिये। प्रश्नसे अधिक उत्तर देनेसे मनके वे गुप्त तत्व, जिन्हें अनधिकारीको नहीं बताना चाहिये, मुंहसे निकलपडते हैं तथा हानि करते हैं। प्रश्नका उत्तर संयत भाषामें अपने तथा प्रश्नकर्ताके अधिकारको पूरा विचारकर देना चाहिये कि प्रश्नकर्ताको मुझसे इस बातका उत्तर लेने

तथा मुझे उसे इसका यथार्थ उत्तर देनेका अधिकार भी है या नहीं ? यदि प्रश्नकर्ताको अधिकार न हो, या हमारा उसे उसके प्रश्नका यथार्थ उत्तरदेना कर्तव्य न हो, तो दोनों अवस्थाओंमें बातको किसी भी प्रकार टालदेना चाहिये या अयथार्थ उत्तर देकर उसकी अनधिकारचेष्टापर आघात करना चाहिये। सत्यवादी या यथार्थवादीपनके भ्रममें आकर चाहे जिसे चाहे जो बात बताकर समाजका अकल्याण करबैठना नीतिहीनता है। समाजका कल्याण ही प्रश्नोत्तरोंके औचित्यकी कसौटी है। प्रश्नकर्ताकी समाजहितैषिता तथा उत्तरका समाजहितके लिये औचित्य स्पष्ट देख लेनेपर ही प्रश्न करना तथा उसका उत्तर देना उचित होता है। अन्यथा प्रश्नोत्तरोंके व्यर्थ तथा अहितकारी होनेसे उन्हें त्यागदेना ही कर्तव्य होता है। मनुष्य यह जाने कि कुछ उत्तर न देना भी उत्तर देनेका ही एक निराला ढंग है। मौनसे भी तो अपना मनोभाव या कर्तव्य व्यक्त किया जासकता है। व्यर्थभाषण रोकनेके लिये मौन ही उसका प्रासंगिक उत्तर है। व्यर्थवचन वचनसे ही वृद्धि पाता है। व्यर्थवचनकी बढबारको रोकना ही स्पष्ट कथनके रूपमें परिस्थित्यनुसार अपनानेयोग्य है। इसके विपरीत जब विश्वासपात्र लोगोंको उत्तर देनेका प्रसंग आवे तब न तो प्रश्नका कुछ भाग अनुत्तरित छोडना चाहिये तथा न अपृष्ट बातें कहकर वक्तव्यको लम्बा करना चाहिये। मितभाषी रहकर उत्तर देना चाहिये।

जब कोई प्रश्न विवादका विषय बनरहा हो तब प्रसंगको न समझकर उत्तर देनेसे विवाद तथा वितण्डा पैदा होजाती है। अनुचित भाषण करने वाला मनुष्य निन्दित होता तथा न्यायालयोंमें दण्डाई मानाजाता है।

(वेशभूषा कैसी हो ?)

विभवानुरूपमाभरणम् ॥ ३३० ॥

मनुष्य अपने देहकी सजावटको अपनी आर्थिक स्थितिमें सीमित रक्खे।

विवरण— देहको सुसज्जित रखना समाजमें प्रचलित है। मानवका

यह स्वभाव अति न कर जाय इसलिये इसपर नियन्त्रणकी परम आवश्यकता है। वही नियन्त्रण इस सूत्रका अभिप्राय है। पशुओंमें देहको सुसज्जित रखनेकी प्रवृत्ति नहीं होती। पशुके पास मन नहीं है। मनुष्यका विवेकी मन जहां उसे आध्यात्मिक संपत्तिसे सुसज्जित देखना चाहता है वहां वह उसे लोकविद्विष्ट असुन्दर वेषमें भी रहने देना नहीं चाहता। देहको सौम्यदर्शन बनाकर रखना मनुष्यकी ही विशेषता है। उसकी यह विशेषता मानवोचित शिष्टाचारोंमें सम्मिलित होगई है। शिष्टाचार मनुष्य समाजका अलंकार है। शिष्टाचार ही मनुष्यसमाजकी संपत्ति है। जो समाजभरका अलंकार है वही व्यक्तिके व्यक्तिगत आचरणका भी अलंकार है। परन्तु ध्यान रहे कि देहको सुसज्जित रखना समाजकी शिष्टाचाररूपी सम्पत्तिमें ही सीमित रहना चाहिये। किसीका भी अपने देहको सामाजिक शिष्टाचारके विरुद्ध सज्जित करनेका अधिकार नहीं है।

मनुष्य अपने देहको सजानेकी प्रवृत्तिवाले मानवधर्मसे तब ही अलंकृत-करसकता है जब वह इस सम्बन्धी शिष्टाचारका पालन करे। मानवधर्म या मनुष्यता ही समाज तथा व्यक्तिकी साम्पत्तिक या आर्थिक स्थिति या वैभव है। पार्थिव धनकी बहुलता या न्यूनताको मानवधर्म नामवाली उस वैभवमयी स्थितिमें वैषम्य उत्पन्न करनेवाली नहीं बनने देना चाहिये। यह विषमता समाजमें अशान्ति उत्पन्न करनेवाली सामाजिक व्याधि है। अपने देहको अलंकृत करनेके इस स्वाभाविक स्वभावको कदापि किसी भी प्रकार अपना सीमोल्लंघन नहीं करने देना चाहिये। अपने देहालंकरणी स्वभावको व्यक्तिके हृदयको व्याधिग्रस्त करके समाजके भी हृदयको व्याधिग्रस्त करनेवाला नहीं बनने देना चाहिये। मनुष्यता समाजभरका समानाधिकार है। समाजमें मनुष्यतारूपी समानाधिकारको उपेक्षित नहीं होने देना चाहिये। समाजमें मनुष्यतारूपी समानाधिकारकी उपेक्षा होनेपर धनसंपत्तिके साथ नियमसे लगी रहनेवाली भेदोत्पादक ईर्ष्या द्वेष, लोभ, अतृप्त कामना आदि व्याधियां उत्पन्न होजाती तथा समाजके सामाजिक अधिकारमें विघ्न आखडे होते हैं। इससे समाज अलंकृत होनेके स्थानमें बीभत्स विषमरूप धारण

करलेता है। समाजके विज्ञ लोगोंको उसे ऐसा बनने देनेसे रोकना चाहिये। देहको अलंकृत करना व्यक्तिका स्वेच्छाचार नहीं होना चाहिये।

देहको अलंकृत करनेके अधिकारको व्यक्तिके स्वेच्छाचारमें सम्मिलित न होने देकर उसे सामाजिक शिष्टाचार, सुरुचि तथा नैतिक कल्याणमें सम्मिलित रखना चाहिये। क्योंकि सामाजिक कल्याणमें ही मानवका कल्याण है इसलिये सामाजिक शिष्टाचार, सुरुचि तथा मानवका नैतिक अभ्युत्थान ही मनुष्यका सच्चा वैभव या आर्थिक सामर्थ्य है। परमार्थ ही मनुष्यका सच्चा वैभव है। अपनी उपार्जित सुवर्णमुद्राओं पर यथेच्छ उपयोगका व्यक्तिगत अधिकार जमालेना व्यक्ति तथा समाज दोनों ही के लिये अनर्थकारी है।

सत्य ही मनुष्यकी सार्वजनिक संपत्ति है। सत्यरूपी सार्वजनिक संपत्तिके अधिकारमें समर्पित होजानेवाले व्यक्तिका धन, उसका व्यक्तिगत धन न रहकर समाजके सार्वजनिक कल्याणके उपयोगमें आसकनेवाला सार्वजनिक धन बनजाता है। जब मनुष्य इस समाजधर्मको भूलकर भ्रान्तिसे धन पर मनुष्यका अधिकार मानलेता है तब ही वह अपने धन पर अपना अधिकार मानता है। यह उसकी भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्तिका परिणाम यह होता है कि वह अपने धनका दुरुपयोग करके समाजका अकल्याण करनेमें प्रवृत्त होजाता है। सूत्र कहना चाहता है कि देह सजानेकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको साम्पत्तिक दुरुपयोगसे बचाकर रखना चाहिये। अपने देहपर वस्त्रालंकार धारण करनेसे पहले सावधान होकर सोच लेना चाहिये कि हमारी उस चेष्टाका हमारे समाजपर क्या प्रभाव होगा? वह प्रभाव समाजमें ईर्ष्याकामना या किसीके किसी प्रकारके अधःपतनका कारण तो नहीं बन जायगा?

समाजवासी प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह अपनी वेश-भूषाके संबन्धमें इस सार्वजनिक कल्याणकी दृष्टिसे विचार किया करे और उत्सव-सम्मेलन तथा स्वाभाविक, सामाजिक अनुष्ठानोंके अवसरों पर आडम्बर-

रहित शिष्टाचारकी सीमासे शासित रहकर इसमें सम्मिलित हुआ करे। विज्ञ मनुष्योंका कर्तव्य है कि वे अपने परिवारके सदस्योंसे भी वेशभूषाके सम्बन्धमें सामाजिक सुरुचिको सुरक्षित रखवानेका ध्यान रक्खें। देहको अलंकृत करनेके अधिकारको अपना सीमोल्लंघन करने देना कदापि अभीष्ट नहीं है।

(आचरण कैसा हो ?)

कुलानुरूपं वृत्तम् ॥ ३३१ ॥

आचरण अपने अभ्यर्हित कुलके अनुरूप होना चाहिये।

विवरण-- अपने आचरणोंसे अपने यशस्वी कुलकी मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिये। ज्ञानीसमाज ही मनुष्यका कुल है। ज्ञानीसमाज ही राष्ट्रकी राजशक्तिका निर्माता है। वही प्रभु या स्वामी बनकर राजशक्तिको सर्वहितकारी ज्ञानमार्ग पर चलाता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यका ज्ञानी समाजका सदस्य बने रहना ही अपना स्वाभिमान है। इस बातको कभी न भूलकर अपने स्वभावको सामाजिक सुख-समृद्धिमें सीमित रखना चाहिये। ज्ञानी ही मनुष्यसमाजका यशस्वी विशाल कुल है। ज्ञानियोंके कुलमें जन्म लेनेवालोंसे यह आशा की जाती है कि उनका सदाचार उनकी नीतिपरायणता आदि ऊंची श्रेणीकी हो। उनका आचार निर्मल तथा हृदयग्राही हो। निकृष्ट आचरण बताते हैं कि यह मनुष्य किसी हीनकुलकी प्रसूति है।

पाठान्तर— कुलानुरूपं वित्तम्।

वित्त मनुष्यके पास अपनी कुलपरम्पराकी उपार्जन योग्यताके अनुसार होता है।

(प्रयत्न कितना हो ?)

कार्यानुरूपः प्रयत्नः ॥ ३३२ ॥

प्रयत्न कर्मके अनुसार होना चाहिये।

विवरण— कार्यकी लघुता या गुरुताके अनुरूप ही प्रयत्न भी लघु या

गुरु होना चाहिये । कार्यकी लघुता या गुरुताके अनुसार सामग्री एकत्रित करके कार्यका उपक्रम करना चाहिये । जैसे साधन जुटाये जायगे, जैसा प्रयत्न किया जायगा, वैसा ही फल प्राप्त होगा । कर्तव्य छेड़नेसे पहले उसका उचित समय, उसके सहायक, उसके अनुरूप देश, अपनी धनशक्ति, उत्साहशक्ति, उससे होनेवाले लाभ तथा अपनी कर्मशक्तिकी इयत्तासे पूरा परिचित होना चाहिये । कर्तव्य प्रारंभ करनेसे पहले सोचना चाहिये यह काम मेरे स्वयं करनेका है या दूसरोंसे करानेका है ? अपने व्यक्तिगत स्वार्थके लिये है ? या समाजकी उचित सेवाके लिये है ? अभी करनेका है ? या भविष्यमें हितकारी है ? या अनिष्ट संभावनाओंसे भरपूर है ?

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ ।
को वाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥

कार्योपयोगी काल सहायक मित्र कार्योपयोगी देश है या नहीं ? मेरे आयव्यय इस कार्यको करनेकी आज्ञा देते हैं या नहीं ? मेरी स्थिति क्या है ? मुझे यह काम करना चाहिये या नहीं ? यह मेरी शक्तिमें है या शक्तिसे बाहर है ? ये सब बातें प्रत्येक काममें सदा सोचनी चाहिये । इन प्रश्नोंका उचित समाधान होने पर ही काम करना चाहिये ।

(दान कितना दें ?)

पात्रानुरूपं दानम् ।। ३३२ ।।

दान तथा उसकी मात्रा, दानपात्रकी उत्तमता, मध्यमता तथा अधमता अर्थात् उसकी विद्या, गुण, अवस्था तथा आवश्यकता-रूपी योग्यताके अनुसार होना चाहिये ।

विवरण— दीन, रोगी, निराश्रय, अनाथ, पंगु, अंधे, विपन्न, निर्धन, विद्यार्थी, देव, द्विज, गुरु, विद्वान्की जीवनयात्रा तथा समाजोत्थानके कामोंमें विभवानुसार दान देकर अपने समाजको सुखी, सम्पन्न, सद्गुणी बनाये रखना

चाहिये। यों भी कह सकते हैं कि समाज तथा अपनेमें अभेद सम्बन्धका दर्शन करते रहकर समाजके अभ्युत्थानको अपना ही अभ्युत्थान मानना चाहिये। हमारे पास रक्खे हुए धनका जो यथार्थस्वामी था वह याचकका मिष लेकर हमारे सामने आ खड़ा हुआ, इसकी धरोहर इसे सौंपकर उऋण होजाना ही दानका यथार्थ स्वरूप है।

पाठान्तर— अर्थानुरूपं दानम्।

दान अपनी अर्थशक्तिके अनुरूप होना चाहिये।

(वेश कैसा हो ?)

वयोऽनुरूपो वेशः ॥ ३३४ ॥

वेश अवस्थाके अनुरूप होना चाहिये।

विवरण— परिणतवयस्क (बालिग) लोगोंके ऊपर यह सामाजिक उत्तरदायित्व स्वभावसे समर्पित है कि वे पूरे ज्ञानी अनुभवसे समृद्ध मितव्ययी तथा शिष्टाचारी हों तथा वे जो वेश धारण करें वह परिष्कृत रुचिको सुरक्षित रखनेवाला तथा समाजहितकारी मानवधर्मके अनुरूप हो। उनका यह कर्तव्य है कि सामाजिक अकल्याणकारी रुचिविगर्हित वेश न पहनें तथा समाजको विपथगामी परानुकरणप्रिय तथा दुर्बल हृदय न बनने दें। सत्यकी उपेक्षा करके व्यक्तित्वका अनुकरण करना मनुष्यका विवेक-हीन हृद्दौर्बल्य है। विवेक सत्यका ही अभ्रान्त अनुकरण कराता है, व्यक्ति-त्वका नहीं। वयस्क लोगोंको पूर्ण ज्ञानी तथा समाजके स्तम्भ बनानेका उद्देश रखनेवाले विवेकी सदस्योंका यह गंभीर उत्तरदायित्व है कि वे आजके भारतीय राष्ट्रमें फैली हुई विदेशी वेषानुकरणकी दूषित मनोवृत्तिको दृढतासे रोकें तथा अपने व्यवहारके द्वारा उनमें समाजकी कुरुचिके विरुद्ध खड़े होनेका सत्साहस पैदा करके समाजको दृढचरित्रवाला बनायें।

(भृत्य कैसा हो ?

स्वाम्यनुकूलो भृत्यः ॥ ३३५ ॥

भृत्यको स्वामीके अनुकूल आचरण करनेवाला होना चाहिये।

विवरण— सत्य ही स्वामी तथा भृत्य दोनोंका प्रभु है। भृत्यका सत्यानुकूल बनाना ही आदर्श, सत्यनिष्ठ, सफल स्वामीके अनुकूल बनना है।

भृत्यको सुयोग्य स्वामीकी ही नीति अपनानी चाहिये तथा उसीके हितमें अपना हित मानना चाहिये। भृत्यकी नीतिके सत्यनिष्ठ स्वामीके अनुकूल न होनेपर भृत्यका अपना भी अनिष्ट तथा स्वामीके कार्यकी भी हानि होती है। भृत्यको स्वामीकी आज्ञा पालनी चाहिये तथा उसीके अनुकूल आचरण करना चाहिये। राष्ट्रसेवक स्वामीको राष्ट्रसेवापरायण भृत्योंसे ही काम लेना चाहिये। राष्ट्रसेवापरायणता ही राजकीय भृत्योंकी योग्यता है। योग्यताकी इस कसौटी पर कस कर ही नवीन भृत्योंकी सेवा स्वीकार करनी चाहिये।

(भार्या कैसी हो ?

भर्तृवशवर्तिनी भार्या ॥ ३३६ ॥

भार्याके भर्ताके अनुकूल रहनेमें ही गृहस्थजीवनका कल्याण है।

विवरण— गृहस्थजीवन नामक रथ पतिपत्नी नामके दो चक्रोंसे चलता है। इन दोनोंकी पारस्परिक अनुकूलता ही दोनोंकी स्वतंत्रता है तथा प्रतिकूलता दोनोंकी ही पराधीनता है। भर्ता भार्या दोनोंका आदर्श-समाजसेवक होना अत्यावश्यक है। परन्तु इन दोनोंमें पारस्परिक एकता तब ही संभव है जब कि दोनोंके जीवनका लक्ष्य एक हो। पारस्परिक प्रति-कूलताका एकमात्र कारण आदर्शकी भिन्नता तथा विचारका विरोध ही होता है। भर्ताका ध्येय तो अपने श्रेष्ठ आचरणोंसे अपनी भार्याको अनुकूल बनाये रखना होना चाहिये, तथा भार्याका ध्येय अपनेको भर्ताकी अनुकूल सहधर्मिणी बनाना होना चाहिये। पारस्परिक अनुकूलता दोनों हीका उत्तरदायित्व है। समाजके सच्चे सेवक मनुष्यताके संरक्षक सुयोग्य सन्ता-नोंका मातापिता होना ही भर्ता तथा भार्या दोनोंके जीवनका एकमात्र

लक्ष्य रहना चाहिये। यही वह लक्ष्य है जो दोनोंकी पारस्परिक तथा सामाजिक शान्तिको सुदृढ बनाये रखनेवाली आधारशिला है।

पाठान्तर— भर्तृवशानुवर्तिनी भार्या।

(शिष्य कैसा हो ?)

गुरुवशानुवर्ती शिष्यः ॥ ३३७ ॥

शिष्यको गुरुकी इच्छाका अनुवर्ती होना चाहिये।

विवरण— यहां वश शब्द इच्छाके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। मानव-समाजमें मनुष्यताका संरक्षण तथा सुखसमृद्धिका उत्पादन करनेवाली आध्यात्मिक तथा सर्वप्रकारकी भौतिक विद्या गुरुपरम्परासे ही सुरक्षित रहती हैं। गुरुका कर्तव्य है कि वह समाजसेवाके द्वारा अपनी विद्याका सदुपयोग करके ऋषिऋणसे उऋण होजाय। उसका कर्तव्य है कि वह योग्य पात्रको शिष्यके रूपमें अपनाकर उसकी यथोचित ज्ञानसेवा करके समाजके प्रति अपनी कृतज्ञताका प्रदर्शन करे। शिष्य विद्यार्जन तब ही कर-सकता है जब वह गुरुमें आत्मसमर्पण करके रहे। अर्थात् अपने आपको गुरुके वातावरणका आज्ञाकारी अंग बनाकर रक्खे। गुरुकी विद्याका ग्रहण तब ही संभव है जब शिष्य गुरुकी इच्छाका अनुवर्तन करके उसके प्रेमको अपनी ओर आकृष्ट करले।

शिष्यका यह सामाजिक कर्तव्य है कि वह अपने विद्याधनको अपने स्वार्थसाधनके उपयोगमें आनेवाला न माने किन्तु उसे समाजकी सेवाके साधनके रूपमें स्वीकार करे। सच्छिष्यकी यही योग्यता मानी जाती है कि वह आदर्शसमाजसेवक गुरुकी सदिच्छाका अनुवर्तन करनेवाला हो। गुरुका समाजसेवी होना अत्यावश्यक है। गुरुका समाजद्रोही होना कदापि अभीष्ट नहीं है तथा यह कोई शुभलक्षण नहीं है। समाजसेवा ही विद्वान् गुरुओंके गुरुपदको शोभित करनेकी योग्यता है। शिष्योंको इस योग्यताको अपने हृदयमें सुप्रतिष्ठित करनेवाले गुरुओंके हाथोंमें पूर्ण आत्मसमर्पण करके

रहना चाहिये । यदि शिष्य लोग गुरुलोगोंसे उनकी पूरी ज्ञाननिधि लेलेना चाहें तो अपने ऊपर उनका मन द्रवित करनेके लिये उनके वशमें रहें तथा उन्हींका अनुसरण करें । शिष्यको ज्ञान तथा चरित्रकी दीक्षा देनेवाले गुरुका अनुसर्ता होना चाहिये ।

जैसे गोवत्स अपने बालोचित आत्मसमर्पण या प्रेमदानसे अपनी गोमाताको पवासकर उसे दूध पिलानेके लिये विवश करलेता है, या जैसे जलार्थी मनुष्य खनित्रसे खोदता–खोदता अन्तमें भूमिको जल देनेके लिये विवश करदेता है, इसीप्रकार शिष्य लोग अपनी शुश्रूषा, आराधना, अनुसारिता, समर्पण तथा समाजसेवाके उच्चादर्शसे गुरुको प्रभावित करके उसे विद्यामृत पिलानेके लिये विवश कर डालनेवाले बनें तब ही वे किसी विषयके पारंगत विद्वान् बनसकते हैं ।

> यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
> तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥

दुर्विनीत दुःशील अशुश्रूषु असेवक समर्पणहीन लोग शिष्य होने या किसी विद्याका रहस्य पानेके योग्य नहीं होते । गुरु भी शान्त, शास्त्रज्ञ, धार्मिक, दयालु, शीलवान्, समाजसेवक विचक्षण, लोक–चरित्रज्ञ तथा प्रतिभासे सम्पन्न होना चाहिये । शिष्यलोग गुरुके अगाध पांडित्य तथा उच्च चरित्रसे ही प्रभावित होते हैं । ऐसे शिष्य लोग गुरुओंके वशवर्ती होकर विद्या, शील, नीति, नैपुण्य तथा ज्ञानको अनायास पाजाते हैं ।

(पुत्र कैसा हो ?)

पितृवशानुवर्ती पुत्रः ॥ ३३८ ॥

पुत्रको पिताकी इच्छाका अनुवर्ती होना चाहिये ।

विवरण— पिताके समस्त अनुभव तथा उसकी सम्पत्ति चाहनेवाले पुत्रको उसकी शुभ इच्छाओंका अनुवर्ती होकर रहना चाहिये ।

पुत्रको अपने पिताको शरीरधारी या साकार ईश्वर मानकर उसके साथ पूर्ण आत्मसमर्पणका सम्बन्ध जोडकर रहना चाहिये। पिता बननेकी अभिलाषा रखनेवालोंका समाजकी मनुष्यताका संरक्षक समाजसेवक होना अनिवार्यरूपसे आवश्यक है। उनका यह भी कर्तव्य है कि वे अपनी सन्ततिके सम्मुख इसी आदर्शको रखकर पारिवारिक नेतृत्व ग्रहण करें। जो पिता बननेवाले लोग अपनी सन्तानके सम्मुख इस उच्च आदर्शको नहीं रखते, उनकी सन्तानोंका लक्ष्यहीन उच्छृंखल निर्गुण होना अनिवार्य है। पिता ही सन्तानोंके स्वभाविक संरक्षक तथा आदर्श होते हैं। सन्तति अपने स्वभाविक संरक्षक मातापिताकी इच्छाके अनुयायी जीवनलक्ष्य निर्णय करनेमें ही अपने जीवनकी सफलता समझती हैं। सन्तानकी इस अनुकरणप्रवृत्तिका दुरुपयोग न करके इसका सदुपयोग करना योग्य मातापिताका गंभीर कर्तव्य है। सन्तानका उच्छृंखल होना सिद्ध करता है कि पिता लक्ष्यहीन है तथा इसीलिये कर्तव्यहीन है।

(अनुचित आदर तथा भेंट मत सहो)

अत्युपचारः शङ्कितव्यः ॥ ३३९ ॥

किसीका अधिक लोभनीय सामग्री प्रस्तुत करना संदेहकी दृष्टिसे देखना चाहिये कि ऐसा क्यों किया जा रहा है ?

(कुपित स्वामीपर प्रतिकोप न करके अपनी भूल सुधारो)

स्वामिनि कुपिते स्वामिनमेवानुवर्तेत ॥ ३४० ॥

प्रभुके कुपित होनेपर उसीको प्रसन्न करना चाहिये।

विवरण— जैसे भूमिपर गिरपडनेवाला मनुष्य उसीपर हाथ टेककर ऊपर उठता है, इसीप्रकार आश्रित भृत्यलोग अपनी किसी भूलसे या भ्रमवश स्वामीके कुपित होजानेपर अपने यथार्थ उपकारक नायक पालक स्वामीको ही प्रसन्न करनेका प्रयत्न करें।

प्रभुपदपर अभिषिक्त व्यक्ति आश्रितका कल्याणकारी होता है। जब कोई किसीका आश्रय स्वीकार करता है तब उसमें आश्रितपालनकी शक्ति देखकर ही उसका आश्रित बनता है। मनुष्य स्वभावसे उसीका आश्रित बनता है जहांसे उसे अभाव दूर करनेका आश्वासन मिलजाता है। समाज अपने योग्य सेवकोंको ही राज्याभिषिक्त करके उन्हें प्रजापालकका आसन देता है। राजा समाजका ही प्रतिनिधि होता है। राजाका प्रभुत्व स्वीकार करनेवाली प्रजा राजाको समाजका ही प्रतिनिधि मानती है। इस अर्थमें प्रजा ऊपरसे देखनेमें तो राजाका परन्तु वास्तवमें समाजका ही प्रभुत्व स्वीकार करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी व्यक्तिका राजाका कोपभाजन बनना समाजका ही कोपभाजन होना है। राजाका द्रोह करना समाजका ही द्रोह करना है। इसलिये राजभक्त प्रजाको राजरोष देखते ही अपना अपराध पहचानकर आत्मसुधार करना चाहिये।

इसी प्रकार राजाका भी कर्तव्य है कि यह समाजको ही अपने प्रभुके रूपमें पहचानकर अपनेको राष्ट्रसेवककी स्थितिमें रखकर अपने समाज या लोकमतको प्रकुपित करनेवाले आचरणका संशोधन करके अपने सच्चे प्रभु राष्ट्रके प्रतिनिधि लोकमतको प्रसन्न रखे।

मातृताडितो वत्सो मातरमेवानुरोदिति ॥ ३४१ ॥

जैसे मातासे ताडित बालक ताडनजन्य रुदन करता हुआ भी माता हीके पास जाता तथा उसीके आंचलमें मुंह छिपाकर उसीसे अपना रोना रोता है, इसीप्रकार मनुष्य अपने हितैषियों, स्वजनों, गुरुओं तथा प्रभुओंके उचित कारणसे कुपित होजानेपर उन्हें ही अपनाये रहे तथा आत्मसुधार करके अपनी ओरसे उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयत्न करता रहे।

विवरण— अपने अपराधका क्षालन करके उन्हें प्रसन्न करना ही उन्हें

अपनायेरहनेका एकमात्र उपाय है । अपराधी बने रहकर तो हितैषी प्रभुके द्वेषका पात्र ही बने रहना अनिवार्य होता है ।

पाठान्तर— मातृताडितो बालो .... ।

(हितैषियोंके रोषमें अनिष्ट भावना नहीं होती)

स्नेहवतः स्वल्पो हि रोषः ॥ ३४२ ॥

स्नेही गुरुलोगोंका रोष अनिष्टभावसे रहित होता है ।

विवरण— स्नेहवानोंका रोष अनिष्टकारी न होकर सुधारक भावना या हितबुद्धिसे प्रेरित होता है । ऊपर इसी भावनासे उनके कुपित होजाने पर भी उन्हींका अनुसरण करनेके लिये कहा गया है ।

पाठान्तर— स्नेहवतः स्वल्पोऽपि रोषः ।

अपि शब्द हीका स्थानापन्न होनेसे अर्थसमान है ।

(मूढका स्वभाव)

आत्मच्छिद्रं न पश्यति परच्छिद्रमेव पश्यति बालिशः ॥ ३४३ ॥

मूर्ख अपना अपराध न देखकर दूसरोंहीका अपराध देखा करता है ।

विवरण— मूर्ख अपना दोष या अपराध न देखकर दूसरोंका अहिताचरण करनेकी अपनी दुष्प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर दूसरों हीके अपराध ढूंढता फिरा करता है । वह आत्मसुधार न करके अपनी मूढतासे ही चिपटा रहनेवाला चिरमूर्ख बनारहता है । वह दूसरोंका छिद्रान्वेषण करके उन्हें भी अपनी जैसी मूर्ख श्रेणीमें घसीटनेका मूढ प्रयत्न करके मिथ्या आत्मसन्तोष कमाया करता है । वह हिताहितविवेकशक्तिहीन होनेसे निजदोषोंकी ओरसे अंधा होकर दूसरोंके दोषोंका आविष्कार करनेमें अपने अमूल्य दुर्लभ मानवजीवनका दुरुपयोग किया करता है ।

नीचः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥

नीच मनुष्य दूसरोंके तो सर्षपतुल्य छोटे नगण्य दोष भी देखता फिरा करता है । परन्तु अपने तो बिल्व जैसे महादोष भी उसे दिखाई नहीं देते ।

गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः ।
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ॥ (दण्डी)

अशास्त्रज्ञ अर्थात् संयमसे अनभिज्ञ मनुष्य बुराई भलाईको नहीं पहचान सकता, क्या कहीं कभी अंधोंको भी रूपोंके भेद जाननेका अधिकार हुआ है ?

मूर्ख जब कोई मूर्खता करबैठता है, तब उसकी मूर्खताका यही रूप होता है कि उसमें अपनी मूर्खताको पकडने तथा उसे निन्दित करनेवाली बुद्धि नहीं होती । यदि किसीमें मूर्खता पहचानने तथा उसे निन्दित करनेवाली बुद्धि हो तब तो उसे बुद्धिमान् ही कहना होगा । उस बुद्धिका न होना ही तो मूर्खता है । आत्मसुधारकी जो भावना है वही तो बुद्धिमत्ता है । जिस हृदयमें आत्मसुधारकी प्रवृत्ति प्रहरीका काम करती रहती है उस हृदयमें मूर्खताको स्थान नहीं मिलता । उस हृदयमें भ्रान्ति कभी होती ही नहीं । मनुष्यताके संरक्षक समाजसेवकोंको चाहिये कि वे अपने सेव्य प्रभु मानवसमाजको प्रत्येक क्षण आत्मसुधारके लिये सतर्क रक्खें तथा समाजमें आसुरिकताको न घुसने देनेके लिये समाजके प्रहरी बनकर रहें । आत्मसुधारकी जो भावना है वही तो मूर्खताविध्वंसक पाण्डित्य या विद्वत्ता है । अपने मनमें मलिनताको प्रवेश न लेनेदेना ही आत्मसुधारककी भावनाका अर्थ है । पवित्र हृदय ही आत्मसुधारका क्रियाशील क्षेत्र है । मलिन हृदयमें तो मलिनता ही बद्धमूल होकर रहती है । उसमें आत्मसुधारकी भावनाको उत्पन्न होनेका अवसर ही नहीं मिलता । मूर्खलोग मलिनताको चिपटे रहकर स्वापराधजनित क्षतिको भी परापराधजनित माननेकी भ्रान्ति करके आत्मसुधारसे वंचित रहते तथा सदा मूर्ख बने रहते हैं ।

(धूर्तोंका वशीकरण मन्त्र)

सोपचारः कैतवः ॥ ३४४ ॥

धूर्तलोग दूसरोंके कपटसेवक बनाकरते हैं ।

विवरण— धूर्तलोग मीठी बातों, रमणीय उपहारों, परितोषक उपकरणोंसे अपना उल्लू सीधा करना चाहाकरते हैं । सेवा तथा परितोषके उपकरण ' उपचार ' कहाते हैं । उपचार शब्द उत्कोच अर्थमें भी व्यवहृत होता है ।

पाठान्तर— **नोपचारः कैतवः ।**

यह पाठ अर्थहीन है ।

(धूर्ततावाली सेवा उपचार है)

काम्यैर्विशेषैरुपचरणमुपचारः ॥ ३४५ ॥

विशिष्ट काम्य पदार्थोंकी भेटोंसे दूसरोंको अपनी असत्यकी दासतामें सहायक बनानेका प्रयत्न करना धूर्तोंकी सेवाका स्वरूप होता और यही ' उपचार ' कहाता है ।

विवरण— धूर्तलोग अपने सेव्य मनुष्यकी नीचप्रवृत्तियोंकी तृप्तिके लिये ईंधन जुटाकर उसकी गिरावटसे लाभ उठानेकी दुरभिसंधि रखते हैं । धूर्तोंकी सेवा भी प्रच्छन्न लूट ही होती है ।

(शंकनीय सेवा)

चिरपरिचितानाम् अत्युपचारः शंकितव्यः ॥ ३४६ ॥

चिरपरिचित व्यक्तिकी अनुचित सेवा शंकनीय होनी चाहिये ।

विवरण— किसीकी भी अनुचित सेवाको शंकाकी दृष्टिसे देखना चाहिये । विशेष रूपसे चिरपरिचितोंकी अनुचित सेवा चाटुकारिता है । अत्युपचार चाटुकारिताका ही दूसरा नाम है । चाटुकारके फंदेमें फंसजाना

मनुष्यताविरोधी मूर्खता है। जब तुम्हारे पास चिरपरिचित लोग तुम्हारे सामने बढ बढकर लोभनीय सामग्री रखकर भक्ति प्रदर्शित कर रहे हों तब तुम्हारे मनमें उनकी गुप्त स्वार्थी मानसिक स्थितिके संबन्धमें शंका होजानी चाहिये कि आज ये अपने किसी विशेष स्वार्थसे मेरी इस प्रकारकी दिखावटी अतिसेवा कर रहे हैं। चिरपरिचितोंकी समुचित स्वाभाविक सेवा कभी संदेहका कारण नहीं होती। परन्तु जब कोई सेवा सेव्य सेवक दोनोंकी दृष्टिसे औचित्यका अतिक्रमण करजाती है तब उस सेवाको संदेहकी दृष्टिसे देखना और अस्वीकार करदेना चाहिये।

(निर्बलसे सदोष परिचित नहीं छोडे जाते)

(अधिक सूत्र) चिरपरिचितानां त्यागो दुष्करः।

जब चिरपरिचित लोग लोभोपादानोंसे वशीकरण मंत्र चलाने लगें तब उनका या उनके उपचारोंका त्याग निर्बल मनवालेके लिये दुष्कर होजाता अर्थात् तब, त्याग और ग्रहणकी विकट समस्या खडी होजाती है।

विवरण— ऐसे समय उन आत्मीय कहलानेवाले ठगोंकी ठगाईसे बचे रहनेका सूक्ष्म, गंभीर, जटिल कर्तव्यरूपी परीक्षावसर उपस्थित होजाता है। उस समय दो परस्परविरोधी ग्राह्य वस्तुओंमेंसे एकको स्वीकार तथा दूसरोंको अस्वीकार करदेनेका प्रश्न उपस्थित होजाता है। तब उन परिचित ठगोंसे आत्मरक्षा करनी चाहिये। ऐसे समय उन परिचित ठगोंकी बात तथा अपने धर्मरक्षा नामक कर्तव्यका पालन इन दो विरोधी प्रसंगोंको धर्मतुला या कर्तव्यतुलाके दो पलडोंपर रखकर तोलना चाहिये। उस समय अपने धर्मरक्षक कर्तव्यको महत्व देनेसे ही उन धूर्तोंके त्यागकी दुष्करताको हटाया जासकता है। दुष्कर या कठिन संसारमें कुछ नहीं है। जिसके लिये जो प्रस्तुत नहीं है वही उसके लिये दुष्कर या कठिन है। कठिनताके प्रति कठोर होते ही कठिनता या दुष्करता, मृदुता तथा सुकरतामें परिणत हो

जाती है। वही काम एकके लिये दुष्कर तथा दूसरेके लिये सुकर होता है। वीरके लिये सत्यार्थ मरना सुकर है कायरके लिये सत्यार्थ मरना दुष्कर है। जो जिसके लिये प्रस्तुत है वह उसके लिये सुकर है। जो जिसके लिये प्रस्तुत नहीं है वही उसके लिये दुष्कर है। सुकरता दुष्करता मनकी कल्पना है। ये कर्मके धर्म न होकर मनके धर्म हैं। अब सोचिये कि ऐसे चिरपरिचित ठगोंका त्याग दुष्कर कैसे है? सूत्र निर्बल मनवालोंकी स्थितिको कह रहा है और सबल मनवालोंकी स्थितिके सम्बन्धमें चुप रहकर इसका निर्णय पाठकोंके ऊपर छोडरहा है।

गौर्दुष्करा श्वसहस्रादेकाकिनी श्रेयसी ॥ ३४७ ॥

जैसे बिगड भी अकेली गौ सहस्र कुत्तोंसे अधिक उपकारी होती है इसीप्रकार उपचारहीन रूखा भी उपकारी व्यक्ति अनुपकारी सहस्रों ठग परिचितोंसे श्रेष्ठ होता है।

विवरण— उपकारस्वभाववाला चाहे एक ही हो उसे अपनाओ अनुपकार स्वभाववाले सहस्रोंको त्याग दो। संख्याधिक्यका भरोसा न करके गुणका भरोसा करो। गुण ही ग्राह्य है संख्याधिक्य नहीं।

(अधिक सूत्र) **श्वः सहस्रादद्यकाकिनी श्रेयसी।**

जैसे भविष्यमें मिलनेवाले सहस्र धनसे वर्तमानमें मिलनेवाली दमडी (छदाम) श्रेष्ठ होती है, इसीप्रकार भविष्यके कल्पित महालाभकी अपेक्षा प्रत्यक्षका अल्पलाभ श्रेष्ठ है।

वराटकानां दशकद्वयं यत् सा काकिनी ताश्च पणश्चतस्रः।

बीस कौडोंकी एक काकिनी चार काकिनीका एक पण।

(वर्तमान छोटी स्थिति आशाके बडे मेघोंसे अच्छी)

श्वो मयूरादद्य कपोतो वरः ॥ ३४८ ॥

भविष्यमें मिलनेवाले बडे मोरसे अब मिलनेवाला छोटासा कबूतर अच्छा है।

विवरण— हस्तगत साधनको ही साधन मानना चाहिये । अनागत साधनोंको अपनी श्रद्धा नहीं देनी चाहिये । अनिश्चित साधनका भरोसा करके हस्तगत साधनका उपयोग न करना कर्तव्यभ्रष्टता है । अनिश्चित अप्राप्त साधनोंका भरोसा करना वृथा है । कल कुछ मिल सकेगा या नहीं यह अनागत होनेसे अनिश्चित है । हाथकी वस्तु समक्ष उपस्थित है । उपस्थित स्वल्प भी श्रेष्ठ है । अनुपस्थित बहुतका भी कोई व्यवहारिक मूल्य नहीं है ।

(अनैतिकता कर्तव्यभ्रष्टताकी उत्पादक)

अतिप्रसंगो दोषमुत्पादयति ॥ ३४९ ॥

किसी भी कार्यमें अनैतिकताका आघुसना उस कार्यके उद्दे-श्यको विनष्ट करनेवाली कर्तव्यभ्रष्टता है ।

विवरण— विषयोंमें अतिप्रसक्ति अर्थात् उनका अवैध सेवन अनिष्ट उत्पन्न करता है । इससे शारीरिक ऐन्द्रियक तथा भौतिक अनिष्ट होते हैं । इससे मनुष्यका तेजस्वी भाग नष्ट होजाता तथा वह निस्तेज होकर उपेक्षित पदद्लित होकर परनिर्भर जीवन काटनेके लिये विवश होजाता है ।

अथवा— किसीके साथ अनुचित घनिष्ठता बढाना अनिष्ट उत्पन्न करने-वाला होता है ।

(विश्वविजयी मानव)

सर्वं जयत्यक्रोधः ॥ ३५० ॥

क्रोधहीन (रागहीन विनीत सुशील) व्यक्ति विश्वविजयी बनजाता है ।

विवरण— चित्तचांचल्य ही क्रोध है । बुद्धिको स्थिर रखना विजेताके लिये अनिवार्य रूपसे आवश्यक है । स्पष्ट शब्दोंमें क्रोधपर विजय पालेना ही विश्वविजय है । बुद्धिकी जो स्थिरता है वही तो विजय है । बुद्धिकी जो अस्थिरता है वही तो पराजय है । संग्राममें जिसकी बुद्धि अन्ततक स्थिर

रहती है वही वीर कहाता और संग्राममें विजयी बनता है। अपने लक्ष्यपर स्थिर रहना ही अक्रोधकी स्थिति है। क्रोध स्वयं लक्ष्यभ्रष्टता है। निज शान्तिकी सुरक्षा ही विश्वके संपूर्ण संग्रामोंमें सुरक्षित रक्खे जाने योग्य विजयी स्थिति है।

भौतिक शक्तिकी अनुचित इच्छा ही पराजित स्थिति है। यह इच्छा अपनी रुकावटको देखते ही भडक उठती है और क्रोध बनजाती है यही बात गीताके शब्दोंमें 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' कामसे क्रोधका जन्म होता है। भौतिक शक्तिके प्रयोगसे अनुचित ढंगसे लाभान्वित होजानेकी इच्छा ही क्रोध है। यह भौतिक शक्तिकी अभावग्रस्ततासे पीडित अवस्था होनेके कारण निर्बल स्थिति है। अजेय मानसिक स्थितिमें क्रोधको कहीं स्थान नहीं है। अजेय मानसिक स्थिति निश्चित विजयवाली, शक्ति तथा उल्लाससे परिपूर्ण स्थिति है।

अपनी कामनाके मार्गको हटानेका आग्रह ही क्रोधका रूप लेलेता है। जो लोग अपनी अनुचित इच्छाओंके विजेता होते हैं, अक्रोध उन्हींकी मानसिक स्थितिका नाम है। अक्रोधशील लोग भौतिक शक्तिकी अल्पतासे अपनेको निर्बल अनुभव नहीं करते। वे शस्त्रास्त्रोंसे विश्वविजयी न होकर मनोबलसे विश्वविजयी होते हैं।

(बुद्धिविजय उदीयमान मानवका सबसे पहला काम)

(अधिक सूत्र) **मतिमुत्तिष्ठन् जयति।**

उन्नतिशील मनुष्य, अपने अक्रोधके कारण, अपनी बुद्धिको अपनी गंभीर विचारशक्तिसे अभिभूत करके समुन्नत रखता है।

विवरण— उन्नतिशील मनुष्य अपनी बुद्धिको नीचाभिगमन नहीं करनेदेता। वह उसे क्रोधादि दोषोंसे अभिभूत नहीं होने देता।

(क्रोधपर कोप करना कर्तव्य)

यद्यपकारिणि कोपः कोपे कोप एव कर्तव्यः ॥३५१॥

उन्नतिशील मनुष्य, अपने अक्रोधके कारण, अपनी बुद्धिको अपनी गंभीर विचारशक्तिसे अभिभूत करके समुन्नत रखता है।

विवरण— अपकारकपर क्रोध आनेवालेको अपने आभ्यन्तरिक रिपु क्रोधको ही सच्चे अपकारकके रूपमें पहचानना चाहिये । बाहरी अपकारक लोग तो मनुष्यके सामने क्रोधके कारण उत्पन्न या उपस्थित करके मानवको क्रोधाधीन न होकर संग्रामविजयी बननेका अवसर देते हैं । ऐसे महत्वपूर्ण अवसरपर क्रोधी बनते ही मनुष्यको विजयगौरवसे वंचित करदेनेवाला क्रोध उसका सच्चा शत्रु सिद्ध होता है । ऐसे समय उस क्रोधको व्यर्थ करदेना ही उसकी विजय बनजाता है । मनुष्यको चाहिये कि वह शत्रुपर विजय पानेसे भी पहले अपने क्रोधी स्वभावपर क्रोध करके अक्रोध बनकर काममें हाथ लगाये ।

कार्यका प्रसंग आते ही क्रोधमें आपेसे बाहर होजाना कार्यविनाशक मानसिक स्थिति है । क्रोधसे बढकर कोई अपकारी नहीं है । अपकारीको पराजित करनेकी कला क्रोधाधीन न होनेमें ही है । क्योंकि अक्रोध स्वयं विश्वविजयी स्थिति है, इसलिये कोई भी अपकर्ता क्रोधविजयी मनुष्यसे उसकी विश्वविजयी स्थिति नहीं छीन सकता । अपकर्ता लोग अक्रोधके सामने पराजित होकर रहते हैं । क्रोधाविष्ट न होजाना ही अपकारीको पराजित करना है ।

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः ।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते ॥

(भारवि)

उदयाभिलाषी लोग अपनी विवेकबुद्धिसे रोष या क्रोधसे पैदा होनेवाले अंधेरको हटायें । ये देखें कि सूर्य भी अपने तेजसे रात्रिके ध्वान्तका भेदन किये बिना उदित नहीं होता ।

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः ।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसंपदः ॥

(भारवि)

जो बलवान् होनेपर भी क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले मोहके आक्रमणको हटा

नहीं देता वह कृष्णपक्षमें घटती चली जानेवाली इन्दुकलाओंके समान अपनी प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति तथा उत्साहशक्ति तीनों शक्तियोंको नष्ट कर डालता है। क्रोधान्धका लोकोत्तर सामर्थ्य भी अंधेके जंघाबलके समान व्यर्थ होजाता है।

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः॥
(भारवि)

जो राजा अपनी बुद्धिवृत्तिको साम्यावस्थामें रखकर जब जैसा अवसर हो तब कभी मृदु तथा कभी तीक्ष्ण बनाना जानता है वह ऋतुभेदसे मृदु तथा तीक्ष्ण होते रहनेवाले सूर्यके समान अपने ओज, तेज, धैर्य, मृदुता, तीक्ष्णता आदि लोकरक्षार्थ अपेक्षित आवश्यक गुणोंसे समस्त लोकपर आधिपत्य स्थापित करता है।

(विवाद किनसे न किया जाय ?)

मतिमत्सु मूर्ख-मित्र-गुरु-वल्लभेषु विवादो न कर्तव्यः ॥३५२॥

बुद्धिमानों, मूर्खों, मित्रों, गुरुओं तथा प्रभुओंके मुंह चढ़े लोगोंसे कलह न करना चाहिये।

विवरण— बुद्धिमान्से कलह करना मूर्खता है। मूर्खसे अपनी ओरसे कलह छेडना मूर्खता है। मित्रसे कलह करना अपने ही हितसे द्वेष करना है। गुरुओंसे कलह करना ज्ञानीलोकसे वंचित रहना है। अपने पालक या रक्षक प्रभुसे कलह करना अपना सर्वनाश करना है। बुद्धिमान्के जीवनमें मूर्खको छोडकर अन्य किसीसे भी कलह करनेका अवसर नहीं आसकता। मूर्खोंकी मूर्खताके कारण उनके साथ संग्राम करनेके अवसर बुद्धिमानोंके पास भी आजाते हैं। परन्तु उनसे जहांतक संभव हो बचना ही बुद्धिमत्ता है। फिर भी इस संग्रामसे सदा बचे रहना संभव नहीं होता। सत्पुरुषोंके जीवनमें मूर्खोंकी ओरसे शतशः विघ्नोंका उपस्थित होना स्वाभाविक है।

यदि सत्पुरुष लोग संग्राम छेड़नेवाले मूर्खोंकी आक्रामक वृत्तिको निवृत्त करनेमें सफलता पालिया करते तो संसारमें मूर्खोंका रहना असंभव हो जाता। सत्पुरुषोंसे विवाद छेड़ना ही मूर्खोंका स्वभाव होता है। यह सूत्र मूर्खोंके संबंधमें बुद्धिमान्का यह कर्तव्य बताना चाहता है कि बुद्धिमान् मनुष्य मूर्खसे वाग्विवाद करके उसकी आक्रामक मनोवृत्तिको रोकनेकी दुराशा न करे। बुद्धिमान्का कर्तव्य तो मूर्खकी समझमें आसकनेवाले दाण्डिक उपायोंके द्वारा उससे मूर्खोंचित बर्ताव करके आत्मरक्षा करना है। इसीमें बुद्धिमत्ता है।

खलानां कण्टकानां च द्विधैवास्ति प्रतिक्रिया।
उपानन्मुखमर्दो वा दूरतो वापि वर्जनम्॥

दुष्टों तथा कण्टकोंके दो ही प्रतिकार हैं। या तो इनका जूतेसे मुखमर्दन कर दिया जाय या इनसे दूर रहा जाय।

(ऐश्वर्यमें पैशाचिकता अनिवार्य)

नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम् ॥ ३५३ ॥

ऐश्वर्य पैशाचिकतासे रहित होता ही नहीं।

विवरण— कोई भी मनुष्य पैशाचिकता (परस्वापहरण परानिष्टकरण) धारण किये बिना भौतिक ऐश्वर्यका उपासक अतुलसम्पत्तिमान नहीं बन-सकता। भौतिक ऐश्वर्यका जो दंभ या अहंकार है वह पैशाचिकताका ही तो दूसरा नाम है। जहां कहीं भौतिक ऐश्वर्यके दंभरूपी असुरको पाओ वहीं निम्न तीन बात समझ जाओ कि उसका धन पैशाचिक ढंगोंसे संग्रहित हुआ है उसीसे सुरक्षित रक्खा जा रहा है और उसके पिशाचोचित दुरु-पयोगसे समाजकी शान्तिको नष्ट किया जा रहा है। मनुष्य सत्यको त्यागे बिना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारोंमेंसे तीनको त्यागकर केवल एक धनका उपासक नहीं हो सकता। सच्चे लोग धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारोंको समान महत्व देकर चारोंकी साथ-साथ उपासना करते हैं। सत्यद्रोह (या

दूसरोंके जीवनाधिकारको उदारतासे स्वीकार न करना और केवल वैयक्तिक दृष्टि रख कर अंधा होकर धन बटोरते चलेजाना) ही पैशाचिकता है। यही कारण है कि मानवताके प्रेमी लोग धनोपासक नहीं होते। वे धनोपासनासे बचते हैं। धर्म केवल उन लोगोंकी वस्तु है जो धनके पीछे पडकर पिशाच नहीं बनजाते। मनुष्यके शब्दोंमें "अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते" धर्मज्ञान उन लोगोंके लिये है जो अर्थ और कामको संसारका सर्वश्रेष्ठ प्राप्य न मानकर अपने जीवनमें चारों पुरुषार्थोंका समविभाजन या सन्तुलन करके रखते हैं।

जहां धनका बाहुल्य या केवल धनमात्रकी सेवा होती देखोगे, वहीं अर्जन तथा उसके व्ययकी नीतिनिर्धारणके समय काम, क्रोध, छल, कपट, अनृत, माया, जिह्म आदि दोषोंका व्यवहारमें आना अनिवार्य पाओगे। ऐश्वर्य अधिक संग्रहित होनेसे लोभ, क्रोध, मद, अभिमान और मोहका उत्पन्न होना अनिवार्य है। विभवके धर्मनिरपेक्ष होनेपर परिवारके प्रत्येक प्राणीमें इन दोषोंकी उत्पत्ति अनिवार्य है। "श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो दर्पयेन्मोहयेदपि" धनका निरन्तर सहवास मनुष्यमें दर्प और मोह पैदा किये बिना नहीं मानता। अनुभवी वृद्ध कह गये हैं—

> अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या वेदेषु ये द्विजाः।
> नाहत्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम्।
> नानपेक्ष्य सतां मार्गं प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

मनुष्य दूसरोंके उचित अधिकारों पर मर्मघाती प्रहार किये बिना, अमनुष्योचित घोर कर्म किये बिना, तथा भद्र पुरुषोंके मार्गकी उपेक्षा किये बिना अधिक सम्पत्तिमान नहीं बन सकता। समाजहीनता धनियोंका अनिवार्य स्वभाव होता है। वे समाजके सहयोगसे होनेवाले कामोंको धनबलसे करके समाजहीन होकर रहते हैं। समाजकल्याणके प्रति समाजसेवक लोग अपनी शक्तियोंको समाजसेवामें सौंपे रहनेके कारण अनिवार्य रूपसे अधन या अल्पधन होते हैं। उनके व्यक्तिगत धनभंडारके रिक्त रहनेपर भी उनका

उदार हृदय धनवान् ही रहता है। अल्पधनी या अधन लोग समाजके साथ रहनेमें अपना कल्याण समझते हैं। बिना सिद्धान्त उपार्जित धनसे मनुष्यमें समाजहीनता आना अनिवार्य है। समाजकी उपेक्षा ही मनुष्यकी पैशाचिकता है। तुम जिस समाजके सहयोगसे धनी बने हो उसके अभ्युत्थानमें सहयोग देना तुम्हारा अनिवार्य कर्तव्य है। चाणक्य चाहते हैं कि धनी लोग धनपिशाच न बननेके लिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंका समसेवन करें। इनमेंसे किसी भी एकको दूसरेका बाधक न बनने दें।

पाठान्तर— **नास्त्यविशालमैश्वर्यम्।**

ऐश्वर्य विशालतासे हीन नहीं होता।

विशालता ही ऐश्वर्य है।

(धनोपासक सुकर्मसे मानवोचित प्रसन्नता पानेके अनधिकारी)

नास्ति धनवतां सुकर्मसु श्रमः ॥ ३५४॥

धनोपासक सुकर्मोंमें श्रम नहीं करते।

विवरण— उनकी दृष्टिमें सुकर्म कष्टकारक तथा धननाशक होता है। वे सत्कर्म करनेका कष्ट नहीं उठाते। उनका किसी सत्कर्ममें प्रेरित होना दुराशा है। धनोपासकोंमें दातापन असंभव है। पदार्थके योग्य अधिकारीको आया जानकर उसकी धरोहर उसे सौंपकर उऋण होजाना तथा दानके बदलेमें घमंड न भोगना ही दानका यथार्थस्वरूप है। स्वार्थमूलक दान दान न होकर एक प्रकारका कुसीद जीवन (सूदपर रूपया लगाना) है। धनलोलुप लोग जब दानका नाटक खेलते हैं, तब वह दान न होकर उनकी यशोलिप्सा या किसी प्रकारकी फलाभिलाषा होती है। दान सौदा नहीं है। समाजका उचित अधिकार समाजको लौटाना ही सच्चे दानका रूप है। उसका उसे सौंप देना तथा भूलकर भी दातापनका अभिमान न भोगना ही सच्चा दान है। सत्पात्रको श्रद्धाके साथ धरोहर लौटा देनेकी बुद्धिसे दिया दान ही सच्चा दान है। धनी लोग सत्पात्रोंके स्वभावसे वैरी,

द्रोही तथा उपेक्षक होते हैं। इन धनियोंके चाटुकार लोग ही सांपको खिलाने-वाले सपेरोंके समान इन्हें खिलाना, बुलाना घुमाना तथा द्रवित करना जानते हैं। ये लोग योग्य अधिकारीके लिये सदा ही दुर्ग बने रहते हैं।

नास्ति गतिश्रमो यानवताम् ॥ ३५५ ॥

यान (वाहन) पर निर्भर रहनेवाले लोग गतिश्रम नहीं उठाते।

विवरण— जैसे यात्राके लिये यानोंपर निर्भर होजानेवाले लोग पैर होते और चलनेमें समर्थ होते हुए भी पंगु बने रहते हैं, इसीप्रकार धनैक सर्वस्व, धनोपासक, धनपिशाच लोग सुकर्म करके मानवोचित प्रसन्नता पानेके अधिकारी होते हुए भी अपनी मनुष्यताको तिलांजलि देदेते हैं। धनको ही अपने जीवनकी सारवस्तु समझते हैं तथा धनसे समाजसेवा करके उससे मिलनेवाली आत्मप्रसाद रूपी सारवस्तुसे वंचित होजाते हैं। धनोपासक लोग अपने व्यक्तिगत कर्तव्योंको भी धनशक्तिसे मोल ली हुई दूसरोंकी कर्मशक्तिसे करा कर अपने शरीरको आलस्यभोग करनेके लिये सुरक्षित करलेते हैं। वे गर्हित उपायोंसे धनोपार्जन करते-करते सत्कर्म करनेके योग्य ही नहीं रहते। उनका आत्मा उनकी धनलोलुपताके कारण मनुष्यतासे हीन आसुरी बनजाता है। उनकी धनासक्तिसे उनका सुकर्ममें धनदान करनेके आत्मप्रसाद पानेका द्वार अवरुद्ध होजाता है। धनासक्ति न त्यागने तक मनुष्यको सत्कर्मका सुखास्वाद मिलना संभव नहीं होता। धनासक्ति न छोडने पर सत्कर्म करना इतना ही कष्टप्रद दीखने लगता है जितना कि यानवाहनका सुख छोडकर पथश्रमको अपनाना। जैसे यानपर निर्भरशील धनियोंका श्रमविमुखता रूपी आलस्य उनके ऊपर एक बोझ बन जाता है, वैसे ही धनोपासककी धनासक्ति मनुष्योचित समाजसेवासे मिलने-वाले आत्मप्रसाद रूप सारवस्तुको उसकी दृष्टिसे बहिष्कृत रखनेवाला विघ्न बनजाती है। जैसे यानोंपर निर्भर रहनेवाले लोग अपने पैरोंका उपयोग करनेसे बचते तथा अपने शरीरको निकम्मे बोझके रूपमें ढोये फिरते हैं

इसीप्रकार धनी लोग अपनेको सत्कर्मके आनन्दसे वंचित करके धनचिंताके भारसे आक्रान्त रहते हैं।

पाठान्तर— **नास्ति यानवतां गतिश्रमः।**

(विवाहप्रथा स्वकृत अपराध-रोधक स्वेच्छा-धर्मबन्धन)

अलोहमयं निगडं कलत्रम् ॥ ३५६ ॥

भार्या भर्ताके लिये बिना लोहेकी (अर्थात् अपनी सम्मतिसे स्वीकार की हुई) बेडी है।

विवरण— जैसे अपराधीको बलपूर्वक लोहेकी बेडी पहनाकर उसे अपराध करनेसे रोका जाता है इसीप्रकार वैवाहिक प्रथा भी एक प्रकारकी स्वेच्छास्वीकृत अपराधरोधक बेडी है। एकनिष्ठदाम्पत्यकी प्रथा विवाहित व्यक्तिको अपने ही हार्दिक अनुमोदनसे सामाजिक शृंखलामें बांधे रहती है। जो दम्पति इस प्रथाको स्वीकार करके वैवाहिक संबन्ध जोडते हैं वे अपनी ही इच्छासे सामाजिक शृंखलाकी अधीनता स्वीकार करलेते हैं। यह बन्धन धर्मका बन्धन है। समाजमें शान्तिकी स्थापना करना धर्मबन्धनसे ही संभव है। मानवधर्म स्वयं ही एक सुदृढ बन्धन है। वही इस दाम्पत्य संबन्धको समाजकल्याणकारी शासनके अधीन रखता है। इस बन्धनमें रहनेवाले दम्पति ही अपने जीवनको समाजकल्याणमें समर्पित करसकते तथा अपने राष्ट्रको धर्मरक्षा करनेवाली शक्तिमती राज्यव्यवस्थाका संगठन करनेवाली प्रभुशक्तिके रूपमें सुप्रतिष्ठित करसकते हैं। चाहे स्त्री हो या पुरुष जो कोई इस धर्मबन्धनको तोडता है वह अधार्मिक तथा राष्ट्रघाती होकर समाजको पतित करदेता है तथा अपनी उच्छृंखल प्रवृत्तियोंसे राज्यव्यवस्थामें भी अनैतिकताको प्रवेशाधिकार देबैठता है। विवाहबन्धनकी पवित्रताकी अवहेलना करनेवाले अनैतिक समाजके द्वारा निर्मित अनैतिक राज्यव्यवस्था अपने कुप्रभावसे राष्ट्रको छिन्न-भिन्न कर डालती तथा धर्मबन्धनहीन लुटेरोंके उच्छृंखल झुंडके रूपमें परिणत होजाती है।

(नियुक्तिकी योग्यता)

यो यस्मिन् कुशलः स तस्मिन् योक्तव्यः ॥ ३५७ ॥

जो जिस काममें कुशल हो उसे उसी काममें लगाना चाहिये।

विवरण— जो मनुष्य अध्यक्षता, मन्त्रिता, विचार, निरीक्षण, न्याय, श्रम, कोष, वाणिज्य, दौत्य आदि जिस कर्ममें कुशल हो उसे उसी काममें लगाना चाहिये। किसीको किसी काम या पदपर नियुक्त करते समय उस कर्मकी कुशलता ही योग्यताके रूपमें स्वीकृत होना चाहिये, सिफारिश या उत्कोच आदि नहीं। कर्मकुशलतासे विरोध करनेवाली दूसरी सब योग्यतायें अस्वीकृत होनी चाहियें। सिफारिशों या उत्कोचोंके बलसे अयोग्य लोगोंकी नियुक्तियोंसे कर्मकी हानि तथा देशमें अविचारकी परम्परा चल निकलती है। कर्मकुशलता ही राज्य-व्यवस्था-संचालनकी योग्यताके रूपमें स्वीकार की जानी चाहिये। व्यक्तिगत स्वार्थ मनुष्यकी कर्मकुशलताका सबसे बडा बाधक है। जब अकुशल लोगोंको राज्याधिकार सौंप दिया जाता है तब वे राजकाज करते समय अपने व्यक्तिगत स्वार्थको महत्व देते हैं तथा परिणामस्वरूप राज्यव्यवस्थाको सुसम्पन्न करनेकी ओरसे उदासीन होजाते हैं। उस अवस्थामें राष्ट्रकल्याण उपेक्षित होजाता है तथा स्वार्थी राज्यधिकारियोंकी दुष्प्रवृत्तिको छूट मिल जाती है। यदि नये राजकर्मचारियोंको नियुक्त करनेवाले लोग उत्कोचजीवी चाटुकारिताप्रिय तथा देशद्रोही हों तो वे राज्यसंस्थामें दुष्प्रवृत्तियोंसे लाभ उठाना चाहनेवाले उत्कोचजीवी चाटुकार देशद्रोहियोंको ही भरलेते हैं तथा अपने दोषसे उस राज्यसंस्थाको राष्ट्रद्रोही संस्था बनादेते हैं।

पाठान्तर— यस्मिन् कर्मणि यः कुशलः स तस्मिन्नियोक्तव्यः।

(दुष्कलत्रकी दुखदायिता)

दुष्कलत्रं मनस्विनां शरीरकर्शनम् ॥ ३५८ ॥

मनस्वी लोग दुष्ट भार्याको क्लेश तथा उद्वेग करनेवालीके रूपमें देखते हैं।

विवरण— भार्या गृहस्थरूपी शरीरका आधा भाग है। जिसका आधा शरीर दुष्ट होता है उसका दुःखी रहना अनिवार्य होजाता है। मनस्वी लोग गार्हस्थ्य जीवनका लक्ष्य इसीको मानते हैं कि अपनी भार्याके साथ संबन्ध रखनेवाले मानव-धर्मके लोहबन्धनको अपने ऊपर सत्यके शासनके रूपमें स्वीकार करें और अपने आपको समाजसेवामें लगाये रहें। यह धर्म स्त्री पुरुष दोनोंको ही पालना चाहिये। इस धर्मबन्धनको तोडफेंकनेवाली दुष्कलत्र अपने धार्मिक पतिके मानवधर्मपालनकी विघ्न बनजाती है तथा उसके सम्मुख दो कर्तव्य उपस्थित करदेती है कि या तो अपनी भार्याको योग्य सहधर्मिणी बनाकर उसे अपने जीवनका सुयोग्य साथी बनाकर रक्खे, या (उसके किसीप्रकार योग्य बननेकी संभावना शेष न रह जानेपर) उसे (दुष्टा भार्याको) त्याग दे। अर्थात् स्त्रीसम्बद्ध मानवधर्मका परित्याग करके स्त्रीनिरपेक्ष मानवधर्मको अपनाकर शुद्ध समाजसेवामें दीक्षित होजाय।

पाठान्तर— ······शरीरकर्षणम्।

(अप्रमत्तपति पत्नीको सुमार्गपर रखनेका अधिकारी)

अप्रमत्तो दारान् निरीक्षेत् ॥ ३५९ ॥

मनुष्य प्रमादरहित होकर सहधर्मिणीका निरीक्षण करे।

विवरण— अपनी भार्याको प्रमादसे बचाना और उसे आदर्शगार्हस्थ्यधर्ममें दीक्षित करके उसे समाजसेवाका व्रत देकर रखना स्वयं प्रमादरहित मनस्वी व्यक्तिका ही काम है। भर्ताका अपनी सहधर्मिणीके निरीक्षणका अधिकार तब ही स्वीकार किया जासकता है तथा भार्याका पतिको भर्ताके रूपमें स्वीकार करना तब ही कुछ अर्थ रखसकता है, जब दोनों समाजसेवाको अपना लक्ष्य रखते हों। अर्थात् जब दोनों अपने समाजके सामने अपना उच्चादर्श रखना पवित्र कर्तव्य मानते हों। जहां पति-पत्नी दोनोंका प्रमादरहित होना आवश्यक है, वहां दोनोंमें एक दूसरेका निरीक्षण करनेकी योग्यताका रहना भी अनिवार्य रूपसे आवश्यक है।

अथवा— जब मनुष्य स्त्रियोंकी ओर देखे तब अप्रमत्त अर्थात् निष्काम अप्रमादी स्थिरतत्त्वदर्शी, आत्मसम्मानी तथा जितेन्द्रियमनवाला होकर देखे।

मनुष्य अपने बाह्य दर्शनोंमें इन्द्रियोंकी स्वाभाविक विषयासक्तिके ऊपर विजय पाकर रहे। राज्यव्यवस्थाके संबंधसे राजकर्मचारियोंका स्त्री अपराधियोंके साथ संबन्ध होना अनिवार्य होता है। राज्याधिकारी लोग प्रबन्धवश अधिकारमें आजानेवाली अपराधी, पीडित या अत्याचारी स्त्रियोंको राष्ट्रकी धरोहर मानकर उनके साथ सुसंयत व्यवहार करें।

(स्त्रीजातिकी अविश्वास्यता)

स्त्रीषु किंचिदपि न विश्वसेत् ॥ ३६० ॥

स्त्रीजाति पर थोडासा भी विश्वास न करें।

विवरण— ऊपरसे देखनेमें यह आक्षेप स्त्रीजातिपर प्रतीत होता है। परन्तु आर्य चाणक्यका यह आक्षेप वास्तवमें स्त्री जातिको ज्ञानालोकसे वंचित करके उसे दलित स्थितिमें रखनेवाले पुरुष समाजपर ही है। हम इस सूत्रका यह अभिप्राय कदापि स्वीकार नहीं कर सकते कि मनस्वी व्यक्ति अपनी धर्मपरायणा सुयोग्या तपस्विनी विदुषी सहधर्मिणीका भी विश्वास न करे। मनस्वी व्यक्तिका तो यह उत्तरदायित्व है कि वह गार्हस्थ्यधर्मका पालन सपत्नीक करे। इस दृष्टिसे अपनी सहधर्मचारिणीको विश्वासपात्र बनाये रखनेके लिये उसे ज्ञानालोक देना भी उसीका उत्तरदायित्व है। सूत्रकार कहना केवल यह चाहते हैं कि इस उत्तरदायित्वको पूरा न करनेवाला व्यक्ति अपने इस उत्तरदायित्वको पूरा करे अन्यथा उसके गार्हस्थ्य जीवनमें अविश्वास मूलक अशान्तिका होना अनिवार्य है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रकल्याणसे संबंध रखनेवाले राज्यव्यवस्था संबंधी गुह्य विषयोंको सुगुप्त तथा सुरक्षित रखनेके कठोर कर्तव्यको दृढतासे पालनेकी दृष्टिसे यह अत्यन्त आवश्यक है कि राज्यके वे परिचालक लोग जो राष्ट्रके गुप्त विषयोंको समग्र बाह्य संसारसे सुरक्षित रखनेके उत्तरदायी हों अपनी विश्वासपरायणा सहधर्मिणी तकसे भी गुप्त रक्खें। जैसे राष्ट्रका मंत्र अन्य पुरुषोंको नहीं बताना है इसी प्रकार राष्ट्रका रहस्य अपनी सहधर्मिणी तकको नहीं बताना है।

(अज्ञान और चांचल्य स्त्रीस्वभाव)

न समाधिः स्त्रीषु लोकज्ञता च ॥ ३६१ ॥

स्त्रीजातिमें स्थिरता तथा लोकचरित्रका ज्ञान नहीं होता।

विवरण— समाजमें पुरुषके प्रबल होनेसे स्त्रीजातिको कूपमण्डूक बनाये रखनेका उत्तरदायित्व पुरुष समाजका ही है। इसलिये यह आक्षेप भी वास्तवमें पुरुषसमाजका ही कलंक है। व्यवहारकुशलता सामाजिक व्यवहार करते रहनेसे प्राप्त होती है। क्योंकि स्त्रीजातिको सामाजिक व्यवहार करनेका अवसर नहीं दिया जा रहा है इस कारण व्यवहारकुशलतामें जिस स्थिरबुद्धिता तथा जिस लोकचरित्रके परिचयकी आवश्यकता होती है स्त्रीजातिको उसे प्राप्त करनेका सुअवसर नहीं मिलता। यह सूत्र समाजका ध्यान इसी वास्तविकताकी ओर खींचना चाहता है। यह आक्षेप वास्तवमें स्त्रीमात्रके चरित्रपर नहीं है किन्तु अविकसित स्त्रीस्वभावपर ही है। विकासका अवसर मिलनेपर स्त्रीजाति पुरुषसे कभी न्यून नहीं रह सकती। इस न्यूनताको दूर करना समाजका कर्तव्य है। समाजकी इस न्यूनताने समाजको अर्धाङ्गी पक्षाघात रोगका रोगी बना रखा है। राष्ट्रको इस रोगसे मुक्त करनेका कर्तव्य सुझादेना ही इस सूत्रका स्वीकारणीय अर्थ होसकता है। स्त्रीजातिके अविकसित मस्तिष्क बने रहनेसे सन्ततिका अप्रौढ अज्ञ अव्यावहारिक होना अनिवार्य है।

चलितवृत्त, घुमक्कड या साधारण स्त्रियोंमें न तो अपनी चरित्ररक्षाके सम्बन्धमें स्थिरबुद्धिता, अचांचल्य या कर्तव्यनिष्ठारूपी समाधि होती है और न वे सामाजिक कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वोंसे परिचित होती हैं। इसलिये राष्ट्रकी किन्हीं भी गोपनीय बातोंके सम्बन्धमें इसी स्त्रियोंपर विश्वास करना उनकी गोपनीयताको ही नष्ट करडालना है। राज्यसंस्थाका सफल संचालन करना चाहनेवाले राज्याधिकारी इस प्रकारकी उच्छृंखल स्त्रियोंके सम्बन्धमें पूरी सावधानी करते और किसी प्रकारकी गुप्तचर स्त्रीके

वाग्जाल या मोहजालमें न फंसकर अपने राष्ट्रको बचायें। यदि वे ऐसी भूल करेंगे तो उनका उनके मोहमें फंस जाना तथा राज्यसंस्थाके भेद दे बैठना अनिवार्य होजायगा तथा राष्ट्रका मंत्रभेद होकर उनकी यह स्त्र्यासक्ति राष्ट्रके सर्वनाशका कारण उपस्थित करडालेगी।

पाठक फिर देखें यह स्त्रीनिन्दाका प्रसंग नहीं है किन्तु राज्यमें काम करनेवालोंके लिये सावधान वाणी है। "**यो यस्मिन् कर्मणि कुशलः स तस्मिन् योक्तव्यः**" इस पहले छठे सूत्रमें राज्याधिकारियोंकी जिस कुशलताका वर्णन है उसीमें एक कुशलता स्त्रीविषयकी उपेक्षा भी है। आर्य चाणक्य चाहते हैं कि जो राज्याधिकारी पूरे जितेन्द्रिय सिद्ध होचुके हों, जिनमें स्त्रियोंके सम्पर्कसे न डोलनेकी स्थिरबुद्धिता हो वे ही राजदौत्य आदि उत्तरदायित्वपूर्ण पदोंपर नियुक्त किये जाने चाहियें।

पाठान्तर— **न समाधिः स्त्रीषु लोलता च।**

स्त्रियोंमें सौम्यता, शान्ति और निरपेक्षता नहीं होती वे चंचल तथा अस्थिरमति होती हैं।

विचारशील लोग इनके मायापाशसे बचें तथा राष्ट्रको बचावें।

(जीवनमें माताका सर्वोपरिस्थान)

गुरूणां माता गरीयसी ॥ ३६२ ॥

सब गुरुओंमें माताका सर्वोच्च स्थान है।

विवरण— पहले सूत्रमें स्त्रीजातिकी त्रुटि दिखाकर इस सूत्रमें माताको सर्वोच्च स्थान देनेका यही स्पष्ट अभिप्राय है कि जो समाज मातृजातिको अज्ञानान्धकारमें रखता है उससे वह स्वयं ही रोगग्रस्त होजाता है। पुरुष-जातिपर यह उत्तरदायित्व है कि वह मातृजातिको उसका उचित प्राप्य गौरवमय स्थान देकर स्वयं उन्नत हो।

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ (मनु)

आचार्यका पद उपाध्यायसे दसगुना ऊंचा है। पिताका पद आचार्यसे सौगुना ऊंचा है। परन्तु माताका पद तो गौरवकी दृष्टिसे पितासे सहस्र-गुण ऊंचा है। सूत्रकार कहना चाहते हैं कि स्त्रियोंका कलत्ररूप आदरणीय न होकर मातृरूप ही आदरणीय है। पति-पत्नीका दाम्पत्य सम्बन्ध स्वार्थ-मूलक होता है जब कि मातापुत्रका सम्बन्ध अहैतुक होता है। उस संबन्धकी अहैतुकता ही उसकी श्रेष्ठता है। मनुष्यकी माता उसके सामने स्नेह, करुणा, क्लेशसहन, कर्तव्यपालन तथा आत्मत्यागका जो अपूर्व आदर्श उपस्थित करती है उससे मानव सन्तानको मानवताके आदर्शका जीवित पाठ मिलता है। माता ही मनुष्यका प्राथमिक विश्वविद्यालय है।

(मातृसेवा अत्याज्य कर्तव्य)

सर्वावस्थासु माता भर्तव्या ॥ ३६३ ॥

सर्वावस्थामें माताका भरणपोषण करना सन्तानका कर्तव्य है।

विवरण— सन्तानके लिये ऐसी कोई भी अवस्था स्वीकार नहीं की जा सकती जिसमें उसे मातृसेवा त्यागनेका अधिकार प्राप्त होसके। यद्यपि पिताकी सेवा भी सन्तानका कर्तव्य है तो भी इस सूत्रमें मातृसेवाको महत्व देनेका कारण यह है कि कभी-कभी पिता सन्तानसे सेवा पानेके अधिकारसे वंचित होनेवाले काम कर सकते हैं, परन्तु माताका ऐसा होना स्वभावविरुद्ध मानाजाता है। जो माता सन्तानको अपने प्राणोंसे भी प्रिय जानकर अपनी छातीका दूध पिलाती है, उसकी इस महती सेवाका प्रति-दान देना सन्तानका अपरिहार्य कर्तव्य है। उसका किसी भी अवस्थामें मातृत्याग करना विवेकानुमोदित नहीं है। मातृसेवा त्यागनेकी कोई परि-स्थिति नहीं होनी चाहिये। प्रतीत होता है कि सूत्रकारने " कृतदाराश्च मातरम् " समाजमें मातृनिरादरके बहुल दृष्टान्त देखकर समाजपर यह धार्मिक बोझ (दबाव) डालना चाहा है कि मनुष्य किसी भी प्रकारके प्रलोभन या दुष्टा भार्याकी कुमन्त्रणासे प्रभावित न हो तथा मातृसेवाके

कर्तव्यको न त्यागे। यदि मनुष्य किसी भी अवस्थामें मातृसेवाका कर्तव्य न त्यागे तो उसके शेष सब कर्तव्य स्वयमेव पालित होजाते हैं। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि यदि मनुष्य कर्तव्यबुद्धिको किसी भी एक क्षेत्रमें सुरक्षित करले तो फिर उसकी कर्तव्य बुद्धि सब ही क्षेत्रोंमें प्रभावशालिनी होकर रहनेलगती है।

यह सूत्र इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर लिखा गया है। सर्वत्र देखा जाता है कि जो व्यक्ति माताके प्रति उपेक्षा रखता है वह किसीके भी प्रति कर्तव्यपरायण नहीं होसकता। जो व्यक्ति दुष्टा भार्याके वशीभूत होकर माताकी अवहेलना करता है वह अपने पत्नीसंबन्ध उत्तरदायित्वकी भी उपेक्षा करचुका होता है। वह अपनी दुष्टा भार्याके विपथगमनका प्रोत्साहक बनजाता है। मातृसेवा ही घरमें शान्ति बनाये रखनेवाला प्रहरी है। यदि हृदयोंमेंसे इस प्रहरीको हटा दिया जाता है तो घरकी शान्तिका बन्धन भी छिन्न-भिन्न होकर संसारका विनष्ट होजाना अवश्यंभावी होजाता है। निष्कर्ष यही है कि यदि राष्ट्रमें शान्ति चाहो तो घरमें शान्ति रक्खो। यदि घरमें शान्ति चाहो तो तुमपर किसी प्रकारका भौतिक दबाव न डालसकनेवाली माताका सम्मान तथा सेवा करो। जो मनुष्य घरमें शान्ति रक्खेगा वही राष्ट्रमें शान्ति रखसकेगा।

माता स्वभावसे प्रेरित होकर सन्तानका पालन करती है। वह सन्तानपालनके प्रतिदानमें सन्तानसे मिलनेवाली सेवाका लोभ नहीं रखती। उसकी सन्तान मातृभक्त है या नहीं इस बातकी कल्पना माताके मनमें स्वभावसे अनुपस्थित रहती है। जैसे वृक्ष अपने मूलके सहारेसे वृद्धि पाकर ही पत्र, पुष्प, फलोंसे सुशोभित होता है इसी प्रकार सन्तान मातृमूलके सहारेसे ही जीवनीशक्ति पाकर वृद्धि पाता है। जैसे मूलसे पृथक् वृक्षका जीवन संभव नहीं है इसी प्रकार माताकी गोदसे अलग सन्तानका जीवन भी संभव नहीं है। सन्तान माताके इस ऋणको किसी भी प्रकारकी सेवासे नहीं उतार सकता। उसके प्रति स्वाभाविक रूपसे अत्यन्त कृतज्ञ

बने रहना ही इस ऋणको उतारनेका एकमात्र उपाय है। पिताके हाथोंमें भौतिक दबाव रहनेके कारण पिताकेप्रति अकृतज्ञ लोग उसकी सेवा तो कुछ सीमातक करते हैं। परन्तु माताके हाथोंमें भौतिक दबाव न होनेके कारण यदि सन्तान अकृतज्ञ हो तो माता उसके ऊपर अपनी सेवाके लिये कोई भी भौतिक दबाव नहीं डालसकती। जिस योग्य सन्तानमें मातृभक्ति होती है वह अहैतुकी कर्तव्यबुद्धिसे ही होती है। इस कर्तव्यबुद्धिको स्वीकार करना ही सन्तानकी मातृभक्ति है। जो सन्तान किसी प्रकारके भौतिक या पार्थिव दबावके बिना केवल पवित्र कर्तव्यबुद्धिसे प्रेरित होकर मातृभक्ति करता है उसकी यह कर्तव्यबुद्धि उसके जीवनके प्रत्येक कर्म-क्षेत्रमें प्रकट रहती है। जो पवित्रकर्तव्यबुद्धिसे अपनी माताकी सेवा करता है वही समाजकी सच्ची सेवा करसकता है। यदि समाजको सच्चे देश-सेवक ढूंढने हों तो उनके विषयमें यह देखना चाहिये कि वे अपनी माताकी निष्कामसेवा करते हैं या नहीं? मातृसेवारूपी कर्तव्यबुद्धिका समाजसेवाके रूपमें प्रतिफलित रहना ही मनुष्यकी मनुष्यता है। समाज-सेवा भी तो वास्तवमें मातृसेवा ही है। जन्मभूमि भी तो मनुष्यकी माता ही है। दूध पिलानेवाली माता तथा अन्नदायिनी जन्मभूमि दोनोंका एक ही जैसा पूज्य स्थान है। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' जो एक माताको पहचानेगा वह दोनों माताओंको पहचानकर रहेगा। जो एककी उपेक्षा करेगा वह दूसरीकी भी अवहेलना किये बिना नहीं मानेगा।

समाजसेवा देशभक्तिके रूपमें जन्मभूमिरूपी माताकी ही मानवोचित सेवा है। जननी तथा जन्मभूमि दोनोंकी सेवा मातृभक्तिके ही दो बाह्य रूप हैं। पारिवारिक शान्तिको सुरक्षित रखनेकी कला मातृभक्तिमें ही सन्निहित है। जो मातृभक्तिके द्वारा अपनी पारिवारिक शान्तिको सुरक्षित रखनेकी कला सीख लेता है वही समाजसेवाके द्वारा अपनी माताके मातृत्वको सार्थक करते हुए अपनी जन्मभूमिकी शान्तिको सुरक्षित रखनेवाला निःस्वार्थ कर्मवीर निकलता है। मातृभक्तिके भीतर निःस्वार्थ समाजसेवाका

अंकुर विद्यमान है। आजका मनुष्यसमाज निःस्वार्थ सेवाके उसी अंकुरको उखाडकर मातृभूमिको शोषण करके उदरपूर्ति करनेवाला स्वार्थलोलुप समाजद्रोही बन गया है। जिस मातृभक्तिके भीतर समाजको सुदृढ करके राष्ट्रसंघटन करनेका मूलमंत्र या मूलशक्ति विद्यमान है, समाजमें उस मातृभक्तिको संजीवित करना ही समाजकी सर्वमान्य राष्ट्रीय पाठविधि है। मनुष्यके स्वाभाविक शिक्षक राष्ट्रसेवकोंका यही स्वधर्म है कि वे इस राष्ट्रीय विधिसे मनुष्यमात्रको परिचित करादें। समाजके स्वाभाविक शिक्षक सच्चे राष्ट्रसेवक लोग इस मातृसेवा धर्मको स्वयं पालकर ही राज्यव्यवस्थामें प्रविष्ट हों तथा समाजको सन्मार्गपर चलायें।

(विद्वत्ताविरोधी आचरण)

वैदुष्यमलंकारेणाच्छाद्यते ॥ ३६४ ॥

मनुष्यकी विद्वत्ता देहसज्जासे आच्छादित होजाती है।

विवरण— वेषभूषाकी अलंकृतिसे सम्मान पाना चाहनेवाले नामधारी विद्वान् अपनी विद्याको अपमानित करके उसे अपनी वेषभूषामें छिपा लेते हैं। देह सजानेवाले लोग विद्वत्ताके मर्मसे अपरिचित रहते हैं। देहको शोभित करने या बनठनकर रहनेकी भावना अज्ञानी मनोवृत्ति है। मनुष्य जाने कि दैहिक शृंगारके साथ ज्ञानका वध्यघातक संबंध है। मनुष्य शृंगार प्रिय भी हो तथा वह पण्डित भी हो यह परस्परविरुद्ध बात है। जिसमें पाण्डित्य होता है उसकी चित्तवृत्ति ज्ञानज्योतिसे सुशोभित रहती है। ज्ञान ही विद्वान्के हृदयको समुज्ज्वल रखनेवाला स्वाभाविक आभरण है। यदि कोई विद्वान् नामधारी पुरुष या स्त्री इस सत्य सिद्धान्तकी उपेक्षा करके अपने देहको सजानेके लिये कृत्रिम आभरणोंका उपयोग करता है तो समझ जाना चाहिये उसकी विद्वत्ता ज्ञानसे रहित शुकविद्या (तोतारटन) है। उसकी विद्वत्ता अज्ञानान्धकारसे ढका हुआ बोझा है। अपने दैहिक रूपको अलंकारोंसे सुशोभित करनेकी भावना मानसिक कुरूपताका ही द्योतक है। "नाकामी मण्डनप्रियः" अकामी व्यक्ति कभी भी मण्डनप्रिय नहीं

होता। मण्डनप्रियका कामी होना अनिवार्य है। ज्ञानीलोक मनुष्यकी हार्दिक सम्पत्ति या शोभा है। देह सजानेके लिए आभरणोंकी अपेक्षासे मनुष्यकी देहात्मबुद्धि प्रकट होती है। आभरणोंसे सजावट देहात्मबुद्धिको प्रकट करनेवाली चंचल स्थिति है। सच्चा वैदुष्य मनकी स्थिरतामें ही प्रकट होता है। जहां मनकी स्थिरता होती है वहां बाह्य चपलता या लघुताको स्थान नहीं मिला करता।

अथवा— पिछले नौवें सूत्रमें वर्णित राज्याधिकारियोंकी दूसरी कुशलता वैदुष्य है। उनका वह वैदुष्य उनकी अनुद्धत सौम्य वेषभूशासे स्पष्ट होना चाहिये। वह मण्डनप्रिय वैदुष्य न होना चाहिये। कामासक्त निम्न श्रेणीके लोग ही मण्डनप्रिय होते हैं। मण्डनप्रियता मनुष्यकी अन्तःसार हीनताकी सूचना है। जिसका मन सुशोभित नहीं है जिसके मनमें अभिमान करने योग्य मनुष्योचित सद्गुण नहीं है, वही बाहरके कृत्रिम भौतिक सौन्दर्यसे सजना चाहता है। वेशभूषाकी अलंकृतिसे सम्मान पाना चाहनेवाला अपनी विद्याको अपमानित करके उसे अपनी वेशभूषामें छिपा लेता है। अपनी विद्याको वेशभूषामें छिपानेका अर्थ छिपानेवालेकी विद्याका मूल्यहीन होना है। उसकी दृष्टिमें विद्याका उतना मूल्य नहीं है जितना अलंकारोंका है। कृत्रिम उपायोंसे सम्मानित होनेकी इच्छा मनुष्यकी मूढता है। विद्वत्ता स्वयं ही संसारका सर्वश्रेष्ठ अलंकार है। सच्चा विद्वान् अपनी विद्याके गौरवसे गौरवान्वित रहता है अलंकृतिसे नहीं। जो अपनेको वेशभूषासे सजाता है उसकी विद्यामें ओज, तेज तथा ब्रह्मवर्चस नहीं है। वह अनार्यविद्या है। सुयोग्य राज्यकर्मचारियोंका वैदुष्य सुन्दर सिले, सुन्दर धुले वस्त्रों, सुगंधित प्रसाधनों, दैनिक क्षुरकृत्योंसे उत्पन्न होनेवाले सौन्दर्यपर निर्भर न होकर उनका वैदुष्य चारित्रिक श्रेष्ठतासे प्रभावशाली रहनेवाला वैदुष्य होना चाहिये।

पाठान्तर— वैरूप्यमलंका ....।

विरूपता अलंकारोंसे तिरोहित होजाती है। यह पाठ महत्त्वहीन होनेसे अपपाठ है।

(देहाङ्गोंकी नग्नताकी असह्यता स्त्रियोंका अलंकार)

स्त्रीणां भूषणं लज्जा ॥ ३६५ ॥

लज्जा स्त्रियोंका भूषण है ।

विवरण— जैसे पौरुष अर्थात् पराक्रम या विपत्सम्मुखीनता पुरुषोंकी विशेषता है इसी प्रकार लज्जा अर्थात् अपनी मान-मर्यादाकी रक्षा स्त्रियोंका विशेष भूषण है ।

निर्लज्ज स्त्री निराभरण है । अपने देहांगोंका प्रदर्शन करनेकी भावना ही निर्लज्जता है । अपने भगिनीरूप तथा मातृरूपकी रक्षा करना ही स्त्रियोंका कर्तव्य है । निर्लज्ज स्त्रियां समाजको पतित करनेकी भावनासे कलंकित होती है । समाजको पवित्र रखना स्त्रीपुरुष दोनों ही का सम्मिलित कर्तव्य है । इसके लिये स्त्रीपुरुष दोनों समानरूपसे उत्तरदायी हैं । समाजकी पवित्रता-ही समाजका भूषण है । समाजको अपनी निर्लज्जतासे पतित करनेवाली स्त्री समाजसे तो शत्रुता करती तथा स्वयं अपने लज्जारूपी स्वाभाविक भूषणको त्यागकर अधःपतित होजाती है । चारित्रिक अधःपतन अपने स्वाभाविक सौन्दर्यको नष्टभ्रष्ट करडालनेवाली भयावनी स्थिति है ।

इस प्रकारके अधःपतनसे आत्मरक्षा करनेकी भावना ही नारीका स्वाभाविक धर्म है । समाजमें इस नारीधर्मको महत्वपूर्ण स्थान मिलने या देनेसे समाजका पतन अनिवार्य रूपसे अवरुद्ध होजाता है । मुखको छोडकर शेष अंगोंकी नग्नताकी असह्यता, दैहिक आकर्षकताका यथाशक्ति आवरण तथा दुःसाहसिकताका त्याग स्त्रीदेहधारियोंका विशेष स्वभाव होता है । उनकी इस लज्जासे ही कुटुम्बोंमें कुलधर्म तथा परम्पराप्राप्त सनातन जातिधर्म सुरक्षित रहते हैं । जब स्त्रियां निर्लज्ज होकर अपने रूपयौवनको जानबूझ-कर सर्वसाधारणके सामने लानेका प्रयत्न करने लगती हैं तब परम्पराप्राप्त शालीनता आदि कुलधर्म तथा जातिधर्म नष्ट होकर समाजमें विशृंखलता पैदा होजाती है तथा देश अधार्मिक बनजाता है ।

दोष, पाप, अन्याय तथा अकर्तव्यसे आत्मसंकोच ही लज्जा है। समाजमें पापी होनेके अपयशकी शंका या विभीषिका लज्जा कही जाती है। मानवका अभ्युत्थान करनेवाली दैवी संपत्तिरूपी लज्जाका स्वरूप अकर्तव्यसे संकोच है। यह लज्जा स्त्रीपुरुष उभयसाधारण लज्जा है। पाप आसुरी प्रवृत्ति है। पापको गुप्त रखनेकी भावना अर्थात् गुप्त पाप करनेका स्वभाव लज्जा नहीं है। यह पापप्रवृत्ति है। यह स्वभाव मनुष्यको पाप करनेसे रोकती नहीं किन्तु उसे छिपवाती है।

(ब्रह्मज्ञान ब्राह्मणोंका अलंकार)

विप्राणां भूषणं वेदः ॥ ३६६ ॥

वेद अर्थात् ब्रह्मज्ञान अर्थात् ब्रह्मवित् होना ब्राह्मणोंका भूषण है।

विवरण — जातिमात्रोपजीवी अज्ञानी ब्राह्मण ब्राह्मणत्वसे पतित है। वह काठके हाथी या चामके कृत्रिम मृगके समान दिखावटी है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

जो ब्राह्मण वेदज्ञान प्राप्त करके अन्य विद्याओंमें श्रम करता है वह परिवारसहित शूद्र होजाता है।

वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
तथा विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥ (मनु)

द्विजोत्तम बननेके इच्छुक सदा वेदाभ्यासमें रत रहें। वेदाभ्यास ही ब्राह्मणका सर्वोत्तम तप कहाता है। अनध्ययनशील ब्राह्मण, काठके हाथी या चर्मनिर्मित कृत्रिम मृग जैसा है। ये तीनों नाम ही नामके होते हैं। इनमें यथार्थता कुछ नहीं होती। महाभाष्यकर पतंजलिने कहा है— "ब्राह्मणेन

निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति " षडंगवेदका अध्ययन तथा ज्ञान प्राप्त करना ब्राह्मणका अहैतुक कर्तव्य है। वेदज्ञानके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं बन सकता। मानव बननेका जो रहस्य है वही वेदज्ञान है।

(कर्तव्यपालन मानवमात्रका अहंकार)

सर्वेषां भूषणं धर्मः ॥ ३६७ ॥

सत्यनिष्ठा या स्वकर्तव्यपालन ही मनुष्यमात्रका भूषण है। सत्य या कर्तव्यसे हीन मनुष्य मनुष्यताहीन श्रीहीन असुर है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतत्सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ (मनु)

मनुने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, बाह्याभ्यन्तर शुद्धि तथा इन्द्रियनिग्रहको चातुर्वर्णका सम्मिलित धर्म बताया है।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ (वैशेषिक दर्शन)

जिस मानवोचित कर्तव्यपालनसे ऐहिक अभ्युत्थान तथा मानसिक कल्याण दोनों हों वही धर्म है।

मनुष्योंके भोजन, आहार, निद्रादि पशुओंके ही समान है। मनुष्यमें धर्म ही पशुओंसे विशिष्ट वस्तु है। धर्मसे हीन मनुष्य और पशुमें कोई अन्तर नहीं है। महाभारतमें कहा है— "धारणाद्धर्ममित्याहुर्न लोकचरितं चरेत्" मनुष्यसमाजको सुव्यस्थित रखनेवाली नीति या कार्यप्रणाली ही धर्म कहा जाता है। मनुष्य लोकचरित्रका अनुसरण न करे। लोकचरित्रके कामादि दोषोंसे भरपूर होनेसे मनुष्य उसका अनुसरण न करें। लोकचरित्रका अनुसरण करनेसे धर्मका नाश निश्चित है।

गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः।

लोक सारसोंकी पंक्तिके समान एक दूसरेका अनुकरण करता है। वह सोचकर काम नहीं करता।

(अलंकारोंका भी अलंकार)

भूषणानां भूषणं सविनया विद्या ॥ ३६८ ॥

विनयसहित विद्या सब भूषणोंमें श्रेष्ठ भूषण है ।

विवरण— मनुष्यको विनीत नम्र, सुजन, सुव्यवहारी बनादेनेवाली विद्या संसारके समस्त भूषणोंसे श्रेष्ठ भूषण है ।

पाठान्तर— **भूषणानामतिभूषणं विनयो विद्या च ।**

विनय तथा विद्या दोनोंका सहवास सब भूषणोंमें श्रेष्ठ भूषण है ।

सत्यनिष्ठा ही विनय है । सत्यके शासनमें रहना ही विनय है । संपूर्ण विद्याओंके साथ सत्यनिष्ठाका सम्मिलित रहना ही सच्ची विद्वता है । मनुष्यमें सत्यनिष्ठा न हो तो उसकी सब विद्या अविद्या होजाती है और वह केवल लोकविनाशके काम आती है । सत्यनिष्ठाके बिना बडे-बडे विद्वान् नामधारी भयंकर हिंस्रजन्तुओंसे भी भयानक त्रासदाता बनजाते हैं । सत्यनिष्ठ विद्वान्का मन संसारके सर्वश्रेष्ठ भूषणसे विभूषित रहता है । मनुष्यका सत्यनिष्ठारूपी भूषणसे वंचित रहना मूर्खता है । मूर्ख व्यक्तिके शरीरको भूषित करनेवाले संपूर्ण कृत्रिम भूषण उसकी मूर्खताको ही व्यक्त करनेवाले होते हैं । वह जितना ही अपने देहको कृत्रिम आभरणोंसे सजाता है संसारमें उतनी ही उसकी मूढता प्रगट होती है । मनुष्यकी मूर्खता मिटा डालनेवाली विद्या ही उसे विभूषित करनेवाला सच्चा भूषण है । जो विद्या मनुष्यकी मूर्खता नहीं मिटापाती वह विद्या नहीं है । केवल देहको विभूषित करनेकी भावना मानवहृदयको विभ्रम करा देनेवाला अज्ञानान्धकार है । सत्यके प्रभावसे नम्र रहना ही विनय है । सत्यहीन विद्या अविद्या है । सत्यहीन विनय सुषुप्त भयंकर ज्वालामुखी है तथा कपटपूर्ण निकृष्ट प्रकारका वंचक औद्धत्य है । राजकाजमें नियुक्त लोगोंमें उक्त प्रकारकी सरलतासे पूर्ण, निर्दोष, नम्र वैदुष्य तथा कार्यकुशलता होनी चाहिये । राजपुरुष कार्यार्थियोंके साथ ऐंठसे व्यवहार न करें तथा प्रजापर अपना मिथ्या सम्मान या प्रभाव आरोपित करने (रोब गांठने) का दुष्प्रयत्न न करें ।

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥ (विष्णुशर्मा)

विद्यासे विनय, विनयसे पात्रता, उससे धन, उससे धर्म तथा उससे सुख प्राप्त होता है। सन्मार्गसे- आई हुई विद्या- मनुष्यको विनय सिखा ही देती है। विद्यासे विनीत, सुजन, निर्दोषवैदुष्यसम्पन्न कार्यकुशल लोग ही राजकाजमें नियुक्त होने चाहियें। नहीं तो राज्यसंस्थाका लूटका ठेका (इजारा) होजाना अनिवार्य है।

(भुजबलसे निरुपद्रव बनाये देशमें रहो)

अनुपद्रवं देशमावसेत् ॥ ३६९॥

उपद्रवहीन देशमें निवास करे।

विवरण— उपद्रव शान्तिप्रिय मनुष्यके तो स्वभावके विरुद्ध तथा अशान्तिप्रियके स्वभावके अनुकूल है। किसी देशमें उपद्रवकारी लोग न रहें यह कभी संभव नहीं है। प्रकृतिमाता सदा ही दो प्रकारके मनुष्य उत्पन्न करती रहती है। ऐसी अवस्थामें शान्तिप्रिय मनुष्योंके सम्मुख यह कर्तव्य अनिवार्य रूपसे सदा ही विद्यमान रहता है और रहता रहेगा कि वे अपने देशको उपद्रव करनेवाले लोगोंके अधिकारमें न रहने देकर अपने अधिकारमें रक्खें।

निरुपद्रव लोगोंका यह स्वभाविक कर्तव्य है कि वे उपद्रवी लोगोंके ऊपर अपना शासनदण्ड स्थापित किये रहें। यदि उनकी निरुपद्रवतामें उपद्रवदमनका सामर्थ्य नहीं है तो ऐसी कायर निरुपद्रवता समाजघाती तत्व होनेसे अपना कोई मूल्य नहीं रखती। सच्चे निरुपद्रव वे ही लोग हैं जो उपद्रवियोंके सिरपर अपना शासनदण्ड स्थापित रखते हैं। इस दृष्टिसे उपद्रवदमन न करसकनेवाले निरुपद्रवी लोग अपनेको निरुपद्रव नामसे सम्मानित करनेका अधिकार नहीं रखते।

उपद्रवियोंसे संग्राम किये विना निरुपद्रव जीवन बिताना किसी भी प्रकार संभव नहीं है। मानवधर्म यही है कि समाजके निरुपद्रव लोग

उपद्रवियोंके विरोधके लिये आगे आयें, उनपर अपना शासन स्थापित करें तथा यों जीवनको शान्तिमय बनाये रखनेका मानवीय कर्तव्य पूरा करके दिखायें। शान्तिका दर्शन करना तब ही संभव है जब मनुष्य अशान्तिके विरुद्ध खड्ग उठाये तथा प्रत्येक क्षण उसे परास्त करनेके लिये निरन्तर संग्रामशील रहे। उपद्रवदमन प्रत्येक शान्त नागरिकका सबसे पहला कर्तव्य है। उपद्रवदमन ही राजभक्ता है। उपद्रवदमन न करसकनेवालेको नागरिकताका अधिकार प्राप्त नहीं होता।

असावधान घरोंमें लूटनेवालोंको प्रवेशाधिकार रहता है। अपनी ओरसे ऐसा कोई काम न करना कि लूटनेवालेको प्रवेशाधिकार मिलसके यही 'सावधानता' है। असावधान घरोंमें संयोगवश लूटनेवालोंका न आना निरुपद्रव स्थिति नहीं है। निरुपद्रव देशमें रहनेका सच्चा अभिप्राय तो यही है कि मनुष्य अपने बुद्धिकौशल तथा भुजबलसे अपने देशमेंसे उपद्रवोंकी संभावनाओं तकको नष्ट करडाले। मानवधर्म तो यही है मनुष्यको यदृच्छासे जब जहां जितने समय रहना पड़े उतने समयके लिये उस देशको (अर्थात् अपने निवासस्थानको) निरुपद्रव रखनेके सम्बन्धमें पूरी सावधानता बरतें तथा कर्तव्य करें। उपद्रवहीनता नैष्कर्म्यावलम्बियोंका धर्म नहीं है। उपद्रवोंके साथ संग्राम छेड़े रहनेका ही दूसरा नाम उपद्रवहीनता है। उपद्रवोंका सक्रिय सफल विरोध ही निरुपद्रव स्थिति है। उपद्रवोंकी तात्कालिक अनुपस्थितिको उपद्रवहीनता समझनेकी भ्रान्ति करके असावधान होकर रहना तो उपद्रवोंका आखेट बने रहना होता है। देशको अपने बुद्धिकौशल तथा भुजबलसे क्षोभोत्पादक उत्पात, क्लेश, पीडा, अनुत्पत्ति तथा व्याधियोंसे रहित बनाकर उसमें गौरवके साथ वास करना मनुष्यका कर्तव्य है। मानसिक शांति तथा जीविकाकी सुगमता ही निरुपद्रवता है।

विद्या, वित्त, शिल्प, वाणिज्य, कृषि, शिक्षा, शान्ति आदिके सुप्रबन्धवाला देश ही निवासयोग्य होता है। निरुपद्रव स्थानमें बसनेसे स्वास्थ्य,

चित्तस्फूर्ति, आयु, कलाकौशल तथा धनधान्यकी वृद्धि होती है। कूपों, नदियों तथा वृष्टियोंके जलोंसे उर्वर व्रीहिसम्पन्न निरुपद्रव देश ही निवास के लिये स्वीकृत होने चाहिये। देश नदीमातृक, देवमातृक तथा कूपमातृक भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। इसीप्रकार जांगल, अनूप तथा साधारण भेदसे फिर तीन प्रकारके माने जाते हैं। जीविकारहित देशमें रहना निरर्थक है।

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पंचमः।
पंच यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात्तत्र संस्थितिम्॥

समयपर लोककल्याणार्थ धनका सदुपयोग करनेवाला धनी, कर्तव्य-निर्देशक वेदवेदांगतत्वज्ञ विद्वान्, उपद्रव रोकनेवाला राजा, प्रकृतिमाताका अकृत्रिम सौंदर्य दिखाकर विधाताका ध्यान दिलानेवाली नदी तथा रोगोंसे त्राण करनेवाला वैद्य ये पांच जहां न हों वहां न ठहरे।

(सच्चा देश)

साधुजनबहुलो देशः॥ ३७०॥

बहुसंख्यक सत्यनिष्ठ साधुओंका वासस्थान ही देश कहाता है।

विवरण-- जिस सौभाग्यशाली देशमें असाधुलोग साधुओंके प्रभावसे शासित रहते हैं वही सच्चा देश है। साधुलोगोंका सामूहिक देशप्रेम ही देशके निवासियोंको एकराष्ट्रका रूप देदेता है। यद्यपि मनुष्यसमाजमें साधुओंकी संख्या अधिक है, यद्यपि निरुपद्रव शान्तिप्रिय रहना मनुष्यका स्वभाव है। यद्यपि आक्रामकोंका आखेट बनजाना मनुष्यके स्वभावके विरुद्ध है यद्यपि प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें आक्रामकका आखेट बननेसे बचनेकी भावना स्वभावसे विद्यमान है परन्तु यह भावना जब कभी आलस्य या अनव-धानताका रूप लेलेती है तब ही समाजकी शान्तिपर आक्रमण करनेवाले कुछ इनेगिने उपद्रवी लोग उस जडताका अनुचित लाभ उठाकर समा-जकी शान्तिपर आक्रमण करबैठते हैं। समाजपर उपद्रवियोंके आक्रमणका

उत्तरदायित्व देशके निर्विरोध शान्त लोगोंपर है। मनुष्यसमाजको दुःखी करनेवाले उपद्रवी लोग संख्यामें अल्प होनेपर भी भद्र समाज (बहुमत) की जडताके कारण समाजको असंगठित पाकर उसे तिरस्कृत करडालते हैं। इन सब दृष्टियोंसे स्वयं भला रहनेके साथ ही साथ मनुष्यसमाजमें समाजकी स्वभाविक साधुताको जगाकर रखना भी तो समाज हितैषियोंका ही कर्तव्य है। सच्चे समाजमें साधुवृत्तिका जाग्रत रहना ही मनुष्यसमाजमें साधुओंकी बहुलता होजाना है। समाजमें साधुवृत्तिके जागे रहते हुए उसमें साधुओंकी बाढ आजाना इतना हो सुगम होजाता है जैसा कि मेघमुक्त आकाशमें प्रभातसूर्यके उदयसे पृथिवीका आलोकीत होना सुगम तथा सुनिश्चित होता है।

(राजनियम श्रद्धासे पालो)

राज्ञो भेतव्यं सार्वकालम् ॥ ३७१ ॥

राजरोषका पात्र नहीं बनना चाहिये।

विवरण— आदर्श राजा वही है जो समग्र राष्ट्रके हित तथा अपने व्यक्तिगत हितको अभिन्न समझता है तथा राष्ट्रकी स्पष्ट या अस्पष्ट सम्मतिसे सिंहासनारूढ होता है। अज्ञानमें डूबा हुआ राष्ट्रका महत्वहीन भाग राष्ट्र नहीं, राष्ट्रके प्रधान बुद्धिमान है, किन्तु सेवापरायण लोग ही राष्ट्र हैं। इन लोगोंकी सम्मति या इनका सहयोग ही राष्ट्रकी सम्मति है। (इस दृष्टिसे राष्ट्रके इन बुद्धिमान लोगोंके सहयोगके कारण भारतके एकतंत्र दीखनेवाले प्राचीन राज्य सदासे प्रजातन्त्र रहते चले आरहे हैं।) इस प्रकारके आदर्श राजाके रोषका पात्र बनना राष्ट्रद्रोह है। राष्ट्रद्रोही न बनना ही राजभक्ति है। राष्ट्रद्रोह आत्मद्रोह है। राजसिंहासनारूढ राजा सारे राष्ट्रका प्रतीक या उसका मूर्तिमान प्रतिनिधि है। जैसे झण्डा राष्ट्रकी पूज्यताका प्रतीक है इसी प्रकार राजा भी उसकी पूज्यबुद्धिका प्रतीक होनेसे आदरणीय है। राजाको ऐसा ही होना चाहिये तथा उसे ऐसा ही मानना भी चाहिये। जब समाजमें राजाको इस दृष्टिसे देखनेकी भावना

जाग्रत रहेगी तथा जब राजा ऐसा बनकर रहना अपना कर्तव्य मानेंगे तब ही समाज अपने हितचिन्तक राष्ट्रसेवकको राज्यभार सौंपकर उसीके शासनमें रहनेको अपना धर्म स्वीकार करनेके लिये उद्यत होसकेगा। भारतकी परम्परागत राजभक्ति राजसिंहासनारूढ व्यक्तिकी भक्ति नहीं है। भारतकी राजभक्ति तो अपनी मातृभूमिकी ही भक्ति है।

राजा प्रजाहितका उत्तरदायी है। वह प्रजाके कल्याणके लिये कुपथगामियोंका पथरोध करके समाजमें शान्तिरक्षाका उत्तरदायी है। राजशक्ति प्रजाकी सदिच्छासे प्रजाशक्तिसे ही बनती है। राजा प्रजाहितका सामूहिक प्रतीक होनेसे दण्डनीतिका प्रधानपुरुष है। इस अर्थमें राजद्रोह तो प्रजाद्रोह तथा प्रजाद्रोह राजद्रोह होजाता है। राजद्रोहसे बचनेमें ही प्रजाका हित है। प्रजाहितकारी कर्तव्य करना ही राजासे अद्रोह या राजभक्ति है। राज्यशासन न रहनेपर प्रजामें मात्स्यन्याय चल पडता है। हां, यदि राजा अपना कर्तव्य छोडकर अकर्तव्य करनेपर उतर आये तो राष्ट्रकल्याणकी दृष्टिसे निडर होकर राजाका विरोध करना प्रजाका व्यक्तिगत नहीं किन्तु सामूहिक पवित्र कर्तव्य हो जाता है।

पाठान्तर— राज्ञो भेतव्यं सर्वकालम्।

(राजा राष्ट्रभरसे धर्मपालन करानेवाला जीवित देवता)

न राज्ञः परं दैवतम् ॥ ३७९ ॥

राजासे श्रेष्ठ देव कोई नहीं है।

विवरण— प्रजारंजक कर्तव्यपरायण राजासे श्रेष्ठ पूजनीय देव कोई नहीं है। अन्य देव न दीखनेवाले देव हैं। राजा प्रत्यक्ष दीखनेवाला देवता है। "त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि" राजा समस्त प्रजाहितका मूर्तिमान प्रतिनिधि तथा उत्तरदायी है। प्रजा पाप करे तो उसे दण्डका भय दिखाकर पापसे रोककर प्रजामें सदाचारकी परम्परा प्रवाहित करना अन्य सब देवोंसे अधिक राजाका ही उत्तरदायित्व है। राजाके इस उत्तरदायित्वमें सहायक बननेके लिये अपने उपार्जनमेंसे राजभाग देते रहकर उसे सुपुष्ट

बनाये रखना प्रजाका स्वहितकारी कर्तव्य है। राजा ईश्वरकी भांति अपनी समस्त प्रजामें अहंभाव रखकर उसके सुखदुःखका अभिन्न साथी बनजाता है। ऐसे प्रत्यक्षहितैषी राजाकी कर आदिसे पूजा, प्रजाके लिये श्रेष्ठ भगवत्-पूजा है। मार्कण्डेय पुराणके अनुसार " प्रजाः पुत्रानिवौरसान् " राजा प्रजाको अपने औरस पुत्रोंके समान पाले। अपनी समस्त प्रजामें सत्यनिष्ठा बनाये रखना और असत्यनिष्ठाको निरुत्साहित करते रहना ही राजाका देवत्व है तथा यह उसका प्रत्यक्ष देवत्व है। इसी अर्थमें आर्य राजनीतिमें राजाको समस्त देवोंका अंशावतार माना गया है। राजसिंहासनको सुशोभित करनेवाले ऐसे सुयोग्य राजाको राज्याधिकार देना प्रजाके ही अधिकारमें है। जो राजा प्रजाकी सम्मतिसे सिंहासनारूढ हुआ है उसे सर्वोच्च पूज्य स्थान देना प्रजाका स्वहितकारिणी सम्मतिकी ही पूजना है।

पाठान्तर-- **न राज्ञः परा देवता।**

(राजशक्तिका व्यापक कर्मक्षेत्र)

सुदूरमपि दहति राजवन्हिः ॥ ३७३ ॥

राजाकी क्रोधाग्नि राज्यके सुदूर कोने कोनेमें पहुंचकर राजद्रोहियोंको दग्ध करनेमें समर्थ होती है।

विवरण-- राजा अपनी दूरदृष्टिसे राजद्रोहियोंको दूर-दूरतक देखता रहता है। राजाके पास, छिपाकर अशान्ति उत्पन्न करनेवाले देशद्रोहियोंको उचित दण्ड देनेवाली दूरगामिनी शक्ति रहती है। इसलिये रहती है कि राष्ट्रका प्रत्येक सच्चा नागरिक राजाके राजदण्डको धारण करनेवाले प्रतिनिधिके रूपमें देशभरमें सर्वत्र, सब समय प्रहरीका रूप लेकर नियुक्त रहता है। पापियोंका उन्मूलन करनेमें राज्यसंस्थाकी सहायता करना नागरिकोंका स्वहितकारी कर्तव्य है। राजाको इन राष्ट्रसेवक नागरिकोंके द्वारा राजनियम भंग करनेवालोंका समाचार मिल जाता है। राष्ट्रसेवक सच्चे नागरिक लोग ही राजाके बुद्धिसम्पन्न सुदीर्घ बाहुबल हैं।

दीर्घौ बुद्धिमतो बाहुः ।

राजद्रोहको दमन करनेमें समर्थ होना ही राजसिंहासन धारण करनेकी योग्यता है ।

पाठान्तर-- सुदूरमपि दहति राजाग्निः ।

पाठान्तर-- सुतमपि दहति राजाग्निः ।

राजा अपराधी पुत्रतकको दण्ड देता है । अन्योंका तो कहना ही क्या ?

(राजदर्शनका आचार)

रिक्तहस्तो न राजानमभिगच्छेत् ॥ ३७४ ॥

राजाके पास रीते हाथ जाना चाहिये ।

विवरण-- समग्र देशका हितसाधन करनेमें रत राजा समस्त राज्यकी सबसे मूल्यवान् माननीय, अभिनंदनीय तथा प्रोत्साहनीय सम्पत्ति है । प्रजाहितकारी राजाके राजकाजमें समर्थन, प्रोत्साहन तथा सहयोग देकर कृतार्थ होना प्रजामात्रका स्वहितकारी कर्तव्य है । इस दृष्टिसे अपनी भौतिक शक्तिको राष्ट्रके सदुपयोगके लिये सुयोग्य राजाको सौंप देना उसपर कोई कृपा नहीं, किन्तु अपने ही हितमें सहयोग देना है । इसलिये राजदर्शन राजभक्तिसूचक उपहारके साथ होना चाहिये और यह उपहार औपचारिक न होकर राष्ट्रकी आवश्यकता पडनेपर अपनी भौतिक शक्ति राज्यको सहर्ष सौंप देनेकी अपनी प्रस्तुतताका सूचक होना चाहिये । वृद्ध चाणक्यने कहा है--

" रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं श्रोत्रियं गुरुम् । "

भक्तिसूचक उपहारके बिना राजा, वेदज्ञ ब्राह्मण, तथा पूज्य पुरुषोंके पास न जाना चाहिये । राजाका राष्ट्रव्यापी राजकार्योंमें व्यग्र रहना अनिवार्य है । राजाके पास इतना समय नहीं होता कि लोग बिना कर्तव्यके संबन्धके भी उसके पास जाते आते रहें । राजदर्शनार्थी लोग कर्तव्यके संबन्धसे ही उसके सम्मुख उपस्थित होनेके अधिकारी होसकते हैं । केवल दर्शन करना

कर्तव्यमें सम्मिलित नहीं होसकता। सूत्रकारका अभिप्राय कर्तव्यके अवसर-पर राजदर्शनार्थीको राजाके प्रति सम्मानप्रदर्शनकी प्रेरणा देना है। समाजने राजाको आत्मकल्याणकी दृष्टिसे उच्चासन देरक्खा है। इस दृष्टिसे उसके सम्मुख राजदर्शनके शिष्टाचारका पालन करना दर्शनार्थीका अत्यावश्यक कर्तव्य होजाता है। ऐसे अवसरपर किसी भी प्रकारका शिष्टाचार प्रदर्शन न करना दर्शनार्थीकी ओरसे राजाकी अवज्ञा करना बनजाता है। इसलिये उचित यही है कि दर्शनार्थी लोग राजाके हृदयपर अपनी यथोचित (मर्या-दित) राजभक्तिका प्रभाव उत्पन्न करके ही अपना वक्तव्य उपस्थित करें। इस प्रकारका सम्मानसूचक उपहार न लेजाना यह संदेह उत्पन्न करसकता है कि यह व्यक्ति समाजभरके सामूहिक प्रतीक राजाके प्रति अवज्ञाका प्रदर्शन करना चाहता है।

सर्वसाधारणके मनोंमें उपहारोंसे शिष्टों तथा राजाओंको भक्तिका प्रद-र्शन करनेकी जो स्वाभाविक प्रेरणा रहती है और परिपाटी चली आरही है, उसके विरुद्ध आचरण करनेसे राजाके मनमें दर्शनार्थीके सम्बन्धमें संदेहो-त्पादन होनेकी पूरी संभावना रहती है। इस प्रकारके व्यवहारसे दर्शनार्थीके कर्तव्यके राजाका समर्थन पानेसे वंचित रहजानेकी शंका पैदा होजाती है। इस सूत्रमें इसी शंकासे अतीत रहकर राजदर्शन करनेका परामर्श दिया जारहा है। राजभक्तिके प्रदर्शनके द्वारा राजाके मनको अनुचित प्रभावसे मुक्त रखना भी राजदर्शनार्थी प्रजाका कर्तव्य है। जिस प्रकार राजाके मनपर अनुचित प्रभाव डालना अपराध है, इसी प्रकार राजाके साथ प्रजाका पिता–पुत्रका–सा घनिष्ट सम्बन्ध रहना ही सच्चा राष्ट्रीय सम्बन्ध है। राष्ट्र भी तो एक विराट् परिवार ही है। इस राष्ट्ररूपी परिवारमें प्रजाका राजाके साथ स्नेहपूर्ण निकटतम सम्बन्ध जुडा रहना ही आदर्श राष्ट्रनीति है। इन बातोंको ध्यानमें रखते हुए राजदर्शनके समय प्रजाका व्यवहार स्वाभाविक स्नेह और प्रत्यक्ष हार्दिकताकी साक्षी उपस्थित करनेवाला होना चाहिये। राजदर्शनके समय प्रजाको किसी प्रकारका कोई उपहार लेकर जाना चाहिये।

प्रजाका उपहार आर्थिक मूल्यसे निर्णीत न होकर प्रजाके हार्दिक प्रेमसे पूत होकर ऐसी मंत्रशक्ति धारण करनेवाला होना चाहिये कि राजाका हृदय प्रजाके प्रति आकृष्ट होसके। राज्याधिकारका दुरुपयोग करनेवाले सत्ताधारियोंको घूस देनेकी प्रवृत्तिमें प्रोत्साहन देना इस सूत्रका उद्देश्य कदापि नहीं है।

(गुरुदर्शन तथा देवदर्शनका आचार)

गुरुं च दैवं च ॥ ३७५ ॥

ज्ञानदाता गुरू, देवस्थान या धर्मोपदेष्टा शीलसम्पन्न महात्माके पास भी श्रद्धाभक्तिसूचक उपहार लेकर ही जाना चाहिये।

विवरण— इन लोगोंसे ज्ञानका हार्दिक आदानप्रदान होते रहने तथा इनका हार्दिक अनुमोदन पाते रहनेके लिये इस प्रकार विनम्र शुश्रूषु बर्ताव स्वहितकारी कर्तव्य है।

> वित्तं बन्धु वयः कर्म विद्या भवति पंचमी।
> एतानि मान्यस्थानानि गरीयो ह्युत्तरोत्तरम्॥

धन, बन्धुता, आयु, आचरण तथा विद्या ये पांच मान्यताके कारण हैं। इनमें पिछले पिछलोंका महत्व बडा है।

गुरुजनों तथा देवताओंको उपहार देनेमें इनका नहीं किन्तु इनके गुणोंका ही आदर किया जाता है। मनुष्य अपने मनको गुणग्राही बनाकर ही गुणीका प्रेमपात्र बनसकता है। ऐसे गुणग्राही लोगोंके लिये उपहारोंके द्वारा गुणोंकी पूजा करना स्वाभाविक शिष्टाचार है। इस शिष्टाचारको न पालना गुणोंकी उपेक्षा करना तथा उद्धत स्वभावका परिचय देना होता है। गुणग्राहिता ही गुणी समाजमें सम्मान पानेकी योग्यता है। गुणोंके दर्शनाभिलाषी लोग गुणीके व्यक्तित्वको ही उसके गुणोंका प्रतीक मानकर उसकी पूजा करते हैं। गुणीसमाजका यह पारस्परिक शिष्टाचार सर्वमान्य शिष्टाचार है।

(राजाके पारिवारिकोंका सत्कार)

कुटुम्बिनो भेतव्यम् ॥ ३७६ ॥

राजासे कौटुम्बिक संबन्ध रखनेवालोंका द्वेष्य नहीं बनना चाहिये ।

विवरण— राजपरिवारके सदस्योंकी अवज्ञा करना वास्तवमें राजाकी ही अवज्ञा है । राजाके कुटुम्बियोंको भी राजतुल्य शिष्टाचार पानेका अधिकार होता है । उन्हें शिष्टाचारसे वंचित करना राजरोषका कारण बनसकता है । प्रजाका राजाके साथ जो संबन्ध है, वही संबन्ध राजाके कुटुम्बियोंके साथ भी कुछ अंशोंतक वांछनीय है । प्रजाके मनमें राजा या उसके कुटुम्बियोंके असंन्तोष या संदेहका पात्र बननेकी ओरसे सतर्कता सदा ही रहनी चाहिये । मनमें प्रेमपात्रके प्रेमसे वंचित न होनेकी सतर्कता रहना ही प्रेमकी परिभाषा है । यहां पर भीतिका अर्थ शत्रुभाव न होकर सब समय सतर्क रहना ही है ।

अथवा— कुटुम्बी अपने पारिवारिकोंमेंसे किसी पर रोषोत्पादक अन्याय न होने देनेके लिये निरन्तर सावधान रहे ।

पाठान्तर— कुटुम्बिना भेतव्यम् ।

कुटुम्बियोंको पालन करनेवाला व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व पालन करनेके मार्गके विघ्नोंको भयावह मानकर उनसे आत्मरक्षा करता रहे और समाजका सौमनस्य पानेमें प्रयत्नशील रहे ।

जिस मनुष्यकी कर्तव्यनिष्ठापर परिवारके अनेक व्यक्तियोंका भरणपोषण निर्भर होता है, उसके कर्तव्यमार्गमें पगपगपर विघ्नोंकी संभावना रहती है । यदि कुटुम्बियोंका नेता अपनी असतर्कताके कारण उन विघ्नोंको दूर करनेमें असमर्थ होजाता है तो कुटुम्बके सब व्यक्तियोंमें अनिवार्यरूपसे अशान्ति आदर्शहीनता, अनैतिकता आदि मानसिक व्याधियें उत्पन्न होजाती हैं । अपने विपुल परिवारको नैतिक बन्धनमें बांधकर सन्मार्गपर रखनेके लिये असामान्य सावधानताकी आवश्यकता है ।

अथवा-- कुटुम्बियोंको विश्वासघाती तथा गृह-शत्रु न बनने देनेके लिए सदा सतर्क रहना चाहिए । गृह-कलहका कारण निर्मूल करके कुटुंबियोंके बाहरी शत्रुके प्रभावमें जानेकी संभावनाको दूर रखना चाहिए । कुटुंबियोंके शत्रुपक्षावलंबनके भीतिजनक परिणामको ध्यानमें रखकर उन्हें हार्दिकतासे अपनाए रहनेके सर्वप्रकारके संभव प्रयत्न निष्फल होजानेपर उन्हें कौटुंबिक अधिकारसे दृढतासे वंचित कर देना ही इस सूत्रका सैद्धान्तिक अभिप्राय है ।

(राजपरिषत्की गतिविधिसे परिचित रहो)

गन्तव्यं च सदा राजकुलम् ॥ ३७७ ॥

राजकुलमें सदा जाना चाहिये । प्रजाके हिताहितसे संबन्ध रखनेवाले राजकीय मन्तव्यों तथा निर्णयोंके परिचयोंसे लाभान्वित होते रहनेके लिये सदा राजकुल (राजपरिषत्) में जाते रहना चाहिये ।

विवरण— राजकुल अर्थात् राजसभामें नियमित रूपसे उपस्थित होकर राजकाजमें सहयोग देना चाहिये । राज्यसंस्था हमारी ही प्रतिनिधि संस्था है । उसका सुधार हमारा अपना ही सुधार है । वह क्या कर रही है ? यह जानते रहना तथा अपनी राज्यसंस्थाको अकर्तव्य न करने देनेके लिये उसके संपर्कमें रहना प्रजाका स्वहितकारी कर्तव्य है । राज्यसंस्थाके प्रति उदासीनता आजके भारतका भयंकर आत्मद्रोह है । जनतामें उद्घोष्यमान राज्यसंस्थाके प्रति उपेक्षापरक " कोउ नृप होउ हमें का हानि " वाक्य नागरिकोंके आत्मद्रोहका रूप है ।

राजपुरुषैः सम्बन्धं कुर्यात् ॥ ३७८ ॥

राजकाजसे सम्बद्ध मंत्री आदि राजपुरुषोंके साथ मैत्री या परिचयका संबंध बनाये रखना व्यवहारसहायक स्वहितकारी कर्तव्य है ।

चक्रः सेव्यो नृपः सेव्यो न सेव्यः केवलो नृपः ।
पश्य चक्रस्य माहात्म्यं मृत्पिण्डः पात्रतां गतः ॥

राजाके चक्र (कार्यकर्ता = अमले) और राजा दोनोंको प्रसन्न रखना चाहिये। चक्रका माहात्म्य देखो कि मृत्पिण्ड भी उसकी कृपासे पात्र बन गया। तात्पर्य यह है कि राजाकी कृपाके पात्र बननेके इच्छुकोंको राज्यके कार्यकर्ताओं तथा राज्यमें प्रभावशाली हाथ रखनेवालोंको भी रुष्ट करनेवाला कोई काम न करना चाहिये।

पाठान्तर— राजपुरुषैः सह संबन्धं कुर्यात् ।

राजदासी न सेवितव्या ॥ ३७९ ॥

राजपरिचारिकाओंके व्यक्तिगत संपर्कमें नहीं आना चाहिये।

न चक्षुषापि राजानं निरीक्षेत ॥ ३८० ॥

आंखसे राजाको न देखे।

यह पाठ युक्तिहीन होनेसे अपपाठ है।

(राजधन अग्राह्य)

(अधिक सूत्र) न चक्षुषापि राजधनं निरीक्षेत ।

राजधनके हरण तथा ग्रहणकी तो बात ही क्या ? इस भावनासे राजकोशकी ओर आंखोंसे भी न देखे, उसकी ओर सतृष्ण दृष्टि तक न डाले, और ऐसा करके राजपुरुषोंको अपने संबन्धमें शंकालु न बना ले। राजधनपर लोभ न करे।

(पिताका स्वर्ग)

पुत्रे गुणवति कुटुम्बिनः स्वर्गः ॥ ३८१ ॥

पुत्रके सदाचारी तथा गुणवान् होनेपर पिताको अनुपम सुख होता है।

विवरण— पिताको अपनी सन्तानकी पवित्रतासे जितनी ठंडक पडती है उससे अधिक अन्य किसी बातसे नहीं। किसीके भाग्योदय होनेपर ही

उसे गुणी पुत्र प्राप्त होते हैं । पुत्रोंके पास विद्या, धन तथा सुचरित्र होनेपर पिता ही नहीं समस्त संबन्धियोंको दिव्य सुख और दिव्य हर्ष प्राप्त होता है । इसीसे यह किंवदन्ती प्रचलित हो गई है कि– " पुत्रेणैवायं लोको जय्यः " यह लोक योग्य सन्तानोंसे ही जीता जाता है ।

एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना ।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं तथा ॥

जैसे एक भी सुगन्धवाले पुष्पित सुवृक्षसे समस्त वन सुगन्धस्नात हो जाता है, इसी प्रकार एक भी सुपुत्रसे समस्त कुल गौरव पा जाता है ।

(सन्तानके प्रति पिताका कर्तव्य)

पुत्रा विद्यानां पारं गमयितव्याः ॥ ३८२ ॥

पुत्रोंको विद्याओंका पारंगत बनाना चाहिये ।

विवरण— अपने देशके बालकोंको मानवताकी संरक्षक तथा जीवनोपयोगी दोनों ही प्रकारकी विद्याओंका पारंगत बनाना चाहिये । अपने देशके बालकोंको लौकिक, अभ्युदय तथा मानसिक शान्ति दोनों ही कला सिखानी चाहिये । उनका अभ्युदय उनकी मानसिक शान्तिके नेतृत्व और प्राधान्यमें ही फूलना फलना चाहिये । उन्हें धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, वार्ताशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, शिल्प, राजनीति, युद्धविद्या आदि समस्त विद्याओंका पारंगत बनाना चाहिये । देशके जिन बालकोंमें समस्त विद्याओंके ग्रहण, धारण तथा उपयोगका सामर्थ्य होता है वे देशकी विभूति बन जाते हैं ।

सत्कुले योजयेत् कन्यां मित्रं धर्मेण योजयेत् ।
व्यसने योजयेच्छत्रून् पुत्रान् विद्यासु योजयेत् ॥

कन्याको सत्कुलमें, मित्रको धर्मसे, शत्रुको विपत्तिसे, तथा पुत्रोंको विद्याओंसे युक्त कर देनेमें ही कल्याण है । सत्यनिष्ठा ही संपूर्ण विद्याओंका सार है । अपने पुत्रोंको सत्यनिष्ठ बनाना ही पिताका सन्तानपालन धर्म है । पिता स्वयं सत्यनिष्ठ बनकर ही पुत्रको सत्यके मार्गपर चला सकता है ।

यदि देशके माता-पिता लोग सत्यनिष्ठ न हों तो पुत्रोंके सत्यनिष्ठरूपमें सच्चे विद्वान् बननेकी कोई संभावना नहीं है। यदि अपने समग्र राष्ट्रमें आत्मरक्षाके बीज बोने हों तो सन्तानपालनके इस सिद्धान्तको राष्ट्रके प्रत्येक परिवारमें पलवाना होगा। मातापिताका सत्यनिष्ठ होना ही सुसभ्य सन्तति-पालनका एकमात्र सिद्धान्त और आश्वासन है। व्यक्ति ही तो राष्ट्रका मूल है। परिवार ही तो व्यक्तिके जीवनतरुको हरा भरा रखनेवाला उर्वर क्षेत्र है। परिवार ही मनुष्योंको चरित्र सिखानेवाले विश्वविद्यालय हैं। राष्ट्रके परिवार जिस परिमाणमें कर्तव्यशील होंगे राष्ट्र उसी परिमाणसे योग्य गुणी पुत्रोंको उत्पन्न करसकेगा।

पाठान्तर-- पुत्रा विद्यादानार्थं प्रारम्भयितव्याः।

यह पाठ महत्वहीन है।

(ग्रामीण स्वार्थके बलिदानकी स्थिति)

जनपदार्थं ग्रामं त्यजेत् ॥ २८३ ॥

अपने ग्रामके देशद्रोही होजानेपर उसे छोडकर देशका साथ दे।

विवरण— न्याय तथा शान्तिकी सुरक्षामें ही देशका कल्याण है। जिस ग्रामका मनुष्यसमाज न्यायनिष्ठ तथा शान्तिप्रिय न हो वह ग्राम-समाज त्याज्य होजाता है अर्थात् उसकी देशद्रोहिताका विरोध करना कर्तव्य होजाता है।

सूत्र कहना चाहता है कि राष्ट्रके सार्वजनिक हितको सुरक्षित रखनेके लिये ग्रामके क्षुद्र स्वार्थका बलिदान करदे। ग्राम अपने सीमित अस्तित्वको राष्ट्रसे पृथक् न समझकर, राष्ट्रके प्रति आत्मसमर्पण करके अपना क्षुद्रत्व मिटा डाले।

पाठान्तर— जनपदार्थं ग्रामस्त्यज्यते।

राष्ट्रहितके लिये ग्रामका क्षुद्रहित त्याग दिया जाता है।

(कौटुम्बिक स्वार्थके बलिदानकी स्थिति)

ग्रामार्थं कुटुम्बस्त्यज्यते ॥ २८४ ॥

जब किसीका कुटुम्ब ग्रामकी शान्तिका विघ्न बन रहा हो तब वह कुटुम्बको त्यागकर ग्रामको अपनाये रहे या उसका साथ दे।

विवरण— मनुष्य ग्रामके सार्वजनिक कल्याणकी सुरक्षाके लिये पारिवारिक क्षुद्र स्वार्थको त्याग दे। दूसरे शब्दोंमें अपने पारिवारिक स्वार्थको ग्रामके सार्वजनिक स्वार्थसे अलग न समझे। संसारमें जितने विवाद, कलह और युद्ध खडे होते हैं सब अपने स्वार्थको सार्वजनिक स्वार्थसे अलग मान रखनेसे ही होते हैं। यदि समाजमें सार्वजनिक कल्याणकी रक्षाकी प्रवृत्ति जाग उठे या जगा दी जाय तो देशमें सतयुग या रामराज्य आजाय।

(पुत्रत्यागकी स्थिति)

(अधिक सूत्र) कुटुम्बार्थं पुत्रस्त्यज्यते।

पुत्रके कुटुम्बकी शान्तिमें विघ्न बनजानेपर उसे त्याग दे और कुटुम्बको अपनाये रहे।

विवरण— जिस पुत्रसे कुलकी रक्षाकी आशा बांधी जाती है, उसीसे यदि कुलोच्छेदकी संभावना प्रबल होजाय तो उस पुत्रको त्याग देना कर्तव्य होजाता है और त्याग देना पडता है। इसलिये मनुष्य अपने समस्त परिवारकी स्वार्थरक्षाके लिये अपने आत्मज पुत्रसे संबंध रखनेवाली क्षुद्र स्वार्थबुद्धिको त्याग दे। कुटुम्बके नेताका कर्तव्य है कि वह परिवारके प्रत्येक सदस्यके साथ औरस पुत्रके समान बर्ताव करे। ऐसा न करनेपर कुटुम्बका नेतृत्व सुरक्षित नहीं रह सकता।

(सर्वत्यागकी स्थिति)

(अधिक सूत्र) आत्मार्थं सर्वं त्यजति।

अपने आत्मकल्याणके लिये (दूसरे शब्दोंमें अपनी आत्म-

स्थितिरूपी सत्ताको सुरक्षित रखनेके लिये) अपने संपूर्ण पार्थिव स्वार्थोंको त्याग दे।

विवरण— यहांतक त्याग दे कि संपूर्ण राष्ट्रके असत्यका दास होजाने पर सत्यरक्षा या आत्मरक्षाके नाम पर निःसंकोच होकर संपूर्ण संसारका विरोध करनेको खडा होजाय। एकमात्र सत्यरक्षा ही मनुष्यकी आत्मरक्षा है। मनुष्यजीवनका लक्ष्य यही है कि मनुष्य सत्यस्वरूपको अपनाये, विश्व-विजयी बने, सम्पूर्ण जगत्के असत्य मिथ्याचार अनधिकार अन्यायके विरोधमें खडा होजाय और सत्यस्वरूप आत्मस्थितिकी रक्षा करे। यही मनुष्यके जीवनका व्यक्तिगत आदर्श भी है। मनुष्य इस अपने व्यक्तिगत आदर्शको कभी न भूले। आत्म विस्मृतिमें न पडना ही मनुष्यजीवनका लक्ष्य है।

अपने राष्ट्रकी सेवा करना ज्ञानीका ही अत्याज्य धर्म है। ज्ञानी ही राष्ट्रका संरक्षक होता है। अज्ञानी तो राष्ट्रके घातक होते हैं। इनका तो राष्ट्रके साथ केवल स्वार्थका संबंध होता है। अज्ञानी लोग तो राष्ट्रके बहेलिये (शिकारी) होते हैं। इनकी दृष्टिमें समाज स्वार्थसाधनरूपी लूटका क्षेत्र होता है। ज्ञानी राष्ट्रके साथ परमार्थ या सेवाका संबंध रखता है। मनुष्य यह जाने कि अपने व्यक्तिगत कल्याणमें ही राष्ट्रका तथा राष्ट्रके कल्याणमें व्यक्तिका कल्याण हैं। मनुष्य ज्ञानी बना रहे यही उसका व्यक्तिगत कल्याण है। मनुष्यका इससे बडा और क्या कल्याण हो सकता है कि वह ज्ञानी हो। यदि संयोगवश ज्ञानीका संपूर्ण राष्ट्र अज्ञानी बन जाय, उस समय ज्ञानीका पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि वह संपूर्ण राष्ट्रके कल्याणको अपनेमें केन्द्रीभूत करले और अकेला ही असत्यका विरोध करके सत्यके रक्षक बननेके स्वाभाविक मानवोचित अधिकारका भोग करे और अपनेको इसीमें गौरवान्वित माने। ज्ञानी अकेला होनेपर भी संपूर्ण राष्ट्रका कर्णधार होता है।

एकोऽहमसहायोऽहं कृशोऽहमपरिच्छदः।
स्वप्नेऽप्येवं विधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते॥

जैसे मृगराजके मनमें यह चिन्ता कभी नहीं आती कि मैं अकेला असहाय, कृश या सामग्रीहीन हूं। इसी प्रकार ज्ञानी भी कभी अकेला नहीं है। उसके साथ उसका आराध्यदेव वह सत्यनारायण सदा ही लगा रहता है जो सदा उसकी पीठपर अनुमोदनका हाथ रक्खे रहता है। यदि समस्त देश आत्मद्रोही, सत्यद्रोही सिद्धान्तविरुद्धगामी हो जाय तो ज्ञानी मानव जनपदको त्यागकर सत्यके पथपर अकेला चलकर असत्यविरोधी संग्रामशील जीवनयात्रा करे।

ये चारों सूत्र यह कहना चाहते हैं कि मनुष्य या समाजके साथ अपने त्याज्य ग्राह्यकी कसौटी, शान्ति और न्याय ही होनी चाहिये। मनुष्य सर्वावस्थामें न्याय तथा शान्तिको अपनाये रहे। भले ही ऐसा करनेसे उसे पुत्र, कुटुम्ब, ग्राम, देश यहांतक सारे संसारको त्याग देना पडे और अकेला रहकर अन्यायी संसारके साथ लडकर सत्यार्थ बलि होजाना पडे।

मनुष्यता ही शान्ति तथा न्यायकी संरक्षक है। मनुष्यको किसी भी अवस्थामें मनुष्यताको न त्यागनेकी प्रबल प्रेरणा देना ही इन सूत्रोंका अभिप्राय है। मनीषी सूत्रकारने जनपद, ग्राम, कुटुम्ब और पुत्र सबको त्याज्य कोटिमें रखकर मनुष्यकी मनुष्यताको ही अत्याज्य समझाया है।

(गुणवान् पुत्रके लाभकी प्रशंसा)

अतिलाभः पुत्रलाभः ॥ ३८५ ॥

पुत्रलाभ सर्वश्रेष्ठ लाभ है।

विवरण-- गुणी पुत्रका पिता होना ही सन्तानवान् होना है। निर्गुण पुत्रका पिता होना पिताकी अयोग्यता भी है और साथ ही उसकी पुत्रहीनता भी है। निर्गुण अयोग्य पुत्र तो परिवारका ही नहीं राष्ट्रका भी शत्रु है। राष्ट्र-शत्रु, समाज-शत्रु, परिवार-शत्रु पुत्रका पालनपोषण करना, राष्ट्रद्रोह, समाजद्रोह, परिवारद्रोह तथा आत्मद्रोह है। सत्पुत्र पाजाना पिताका असाधारण लाभ या सौभाग्य है। सत्पुत्र या गुणी पुत्र पाजाना ही

पुत्रलाभ है। जातिधर्मों, कुलधर्मों तथा संस्कृतियोंकी रक्षा सत्पुत्रोंसे ही होती है। ऐसे उदारपुत्र पाना संसारका सर्वोच्च लाभ है। मनुष्यके सिर जो पितृऋण नामक ऋण है वह समाजको योग्य, गुणी, ज्ञानी, महात्मा पुत्र देनेसे ही उतरता है और पिता ऋण-मुक्त होजाता है। वंश तथा वंशानुगत सदाचारोंकी परम्पराका संरक्षण और उस परम्पराका संशोधन परिवर्धन तथा संस्करण सुपुत्रोंसे ही होता है।

(अधिक सुत्र) **प्रायेण हि पुत्राः पितरमनुवर्तन्ते।**

साधारण नियम तो यही है कि पुत्र पिताके ही जीवनाचारके अनुकूल बनजाते हैं।

विवरण-- पुत्र प्रायः पिताके ही चरित्रसे चरित्र सीखते हैं। इसी-लिये पुत्रके सामने मनुष्यताका आदर्श रखना पिताका ही उत्तरदायित्व है। सुपुत्रका पिता बनना ही पितृत्वकी सार्थकता है।

याद‍ृशैः सन्निविशते याद‍ृशांश्चोपसेवते।
याद‍ृगिच्छेच्च भवितुं ताद‍ृग्भवति पूरुषः॥ (विदुर)

मनुष्य जैसोंके संपर्कमें उठता बैठता, जिनकी श्रद्धासे उपासना करता और स्वयं जैसा बनना चाहता है वैसा बनजाता है।

कुछ पुत्र पिताके विपरीत अच्छे बुरे आचरण समाजमेंसे सीखते हैं। अच्छे पिताकी बुरी सन्तति तथा बुरे पिताकी अच्छी सन्तति यह एक कादाचित्क घटना है। गुणी पिताके अविनीत अज्ञानी पुत्र पिताकी जीवन-नीतिसे विपरीत चलकर अपयश तथा दुःख भोगते हैं। विद्या, विनय तथा धर्मसे सम्पन्न पुत्र अपने धार्मिक पिताके आदेश तथा आदर्शका अनु-सरण करते हैं।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
येन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥

मनुष्य पिता-पितामह जिस भद्रमार्गसे यात्रा करके यश और सुख

पाकर गये हैं मनुष्य मानवताके विकासक उसी सन्मार्गसे चले। उसपर चलनेसे कभी दुःख नहीं भोगता।

मज्जास्थिस्नायवः शुक्राद्रक्तात्त्वङ्मांसशोणिताः।

सन्तानके शरीरमें मज्जा, अस्थि तथा स्नायु पिताके देहसे आते हैं। त्वचा, मांस तथा रक्त माताके शरीरसे आते हैं।

(सच्चा पुत्र)

दुर्गतेः पितरौ रक्षति स पुत्रः ॥ ३८६ ॥

पुत्र दुर्गतिसे मातापिताकी रक्षा करते हैं।

विवरण— पुत्रका जन्म होते ही पिता-माताके सम्मुख सन्तानपालन धर्मका उत्तरदायित्व आ खड़ा होता है। यों भी कह सकते हैं कि पुत्रका जन्म होना ही धार्मिक पिता-माताके जीवनका पवित्र धर्मबन्धनमें बंध होजाता है। पुत्रजन्म होते ही पिता-माताके सम्मुख पुत्रके सामने मनुष्यताके आदर्शको मूर्तिमान् करके रखनेका कर्तव्य उनके जीवनके लक्ष्यका रूप ले लेता है। पुत्रजन्म होते ही अभिभावके उच्छृंखल जीवन बितानेका मार्ग रोक देनेवाला मानवीय आदर्श शक्तिमान् बनकर माता-पिताको सत्यरक्षा नामक लोहशृंखलामें बांधकर खड़ा कर देता है और परिवारको आदर्श तपोवनका रूप दे डालता है। आर्य विचारोंके अनुसार अज्ञानरूपी नरकसे त्राण करनेके अर्थमें ही सन्तानको पुत्र कहा जाता है। सत्यस्वरूप ज्ञानज्योति ही मनुष्यको अज्ञानरूपी नरकसे बचाती है। अज्ञानरूपी नरकसे माता-पिताका त्राण करनेवाली सत्यस्वरूप ज्ञानज्योति स्वयं ही सन्तानपालन धर्मका रूप लेकर माता-पिताकी गोदको ज्योतिर्मय बना डालती है। जीवनके उच्च आदर्शको अपने परिवारके बालमुनिमण्डलमें व्यावहारिक रूप देकर धन्य होना माता-पिता बननेके अभिलाषियोंके लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है। यही सौभाग्य माता-पिताके पास सन्तानका रूप लेकर आता है। सन्तानके रूपमें उपस्थित हुआ यह सौभाग्य माता-पिताको कुगृहस्थीका

भारवाही मात्र न रहने देकर उन्हें आदर्श राष्ट्रसेवामें दीक्षित कर देता है। पिता-माता बननेवालोंका धर्म है कि वे राष्ट्रमें मनुष्यताकी परम्पराको जीवित रक्खें।

पुत्रकी सार्थकता इसीमें है कि भूमिष्ठ होकर माता-पिताको दुराचार, उच्छृंखल निर्मर्याद जीवन बिताने रूपी दुर्गतिसे रोक ले तथा उनके शारीरिक दृष्टिसे असमर्थ दिनोंमें उनकी उचित सेवा करके उन्हें क्लेश, संताप तथा शोकरूपी नरकसे उबार ले।

योग्य गुणी सत्पुत्रोंकी सेवासे वंचित रहना ही माता-पिताकी दुर्गति है। उन्हें तब ही ठंडक पडती है जब उनका पुत्र पवित्र होता है। माता-पिता सुसन्तानकी कामनासे ही संतानपालन धर्मका आचरण करें इसीमें उनका तथा उन्हें पालनेवाले राष्ट्रका कल्याण है। माता-पिताका सन्तान-पालन धर्म सार्थक होजाय और उनका पुत्र गुणी बन जाय यही उनका स्वर्ग है। माता-पिताका सन्तानपालन धर्म सार्थक न हो और उन्हें कुपुत्रोंके मुख देखने पडें यही उनकी दुर्गति है। "सहैव दशभिः पुत्रै-र्भारं वहति गर्दभी" गधी दस बेटोंकी माँ होती हुई भी उन्हींके रहते उन्हींके साथ बोझ ढोती ढोती मर जाती है। जैसे उसे उन दसों पुत्रोंके होनेका कोई गुण नहीं लगता, इसी प्रकार अयोग्य सन्तानोंसे माता-पिताका कोई लाभ नहीं है। अपने जैसे प्राणी तो कीडेमकौडे भी उत्पन्न कर लेते हैं। अयशस्वी पुत्रोंका माता-पिता बनजानेमें कोई महत्व नहीं है। अब आप देखिये माता-पिता बननेकी इच्छा करना कितना बडा उत्तर-दायित्व है। जबतक माता-पिता लोग अपने घरोंको ऋषियोंकी तपोभूमि और वैदिक विश्वविद्यालय नहीं बना लेंगे तबतक उनका दुर्गतिनिवारक संतान पाना असंभव है। देशको सुसन्तान मिलना बन्द होजाना ही आजका रोना है। जबतक देशकी जनता और राज्यव्यवस्था सुसन्तानोंके निर्माणका सुनिश्चित प्रबन्ध नहीं करेगी तबतक देशका दुर्गत रहना अनि-वार्य है।

कुलं प्रख्यापयति पुत्रः ॥ ३८७ ॥

सुसन्तान अपनी विद्या, दान, मान, यश तथा धर्मसे अपने वंशका मुख उज्ज्वल कर देता है।

एको हि गुणवान् पुत्रो निर्गुणेन शतेन किम्?
चन्द्रो हंति तमांस्येको न च ज्योतिः सहस्रशः ॥

एक गुणी पुत्र ही पर्याप्त है। सौ निर्गुण पुत्रोंमें कल्याण नहीं है। चन्द्रमा एक ही उन अंधकारोंको मिटा डालता है जो सहस्रों तारोंसे नहीं मिट पाते।

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी च मध्यमः।
अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः ॥

उत्तम पुत्र वह है जो योग्य पिताके चिंतितमात्रको समझ जाय और करले, मध्यम वह है जो उसके कहे हुएको करले, अधम वह है जो अश्रद्धासे करे। जो करे ही नहीं वह पुत्र नहीं।

(सच्चा पुरुष)

(अधिक सूत्र) **येन तत्कुलं प्रख्यातं सः पुरुषः।**

कुलमें उत्पन्न होनेवाले जिस मानवसे उसका कुल, विद्या, गुण, धर्म तथा गौरवसे जगमगा उठे वही सच्चा पुरुष है।

विवरण— जिसके उत्पन्न होनेसे कुलको अगौरव मिले, वह पुरुष पुरुषगणनामें आनेके योग्य नहीं है।

पात्रे त्यागी, गुणे रागी, भोगी परिजनैः सह।
शास्त्रे बोद्धा, रणे योद्धा, पुरुषः पंचलक्षणः ॥

पात्रको दान देनेवाला, गुणोंका प्रेमी, परिजनोंको खिलाकर खानेवाला, विद्याका पारंगत, पापके विरुद्ध संग्राम करनेमें प्रवीण ये पांच बातें जिसमें हैं वही सच्चा मानव है।

(सुपुत्रविना सुखकी असंभवता)

नाऽनपत्यस्य स्वर्गः ॥ ३८८ ॥

जिसका पुत्र सुपुत्र नहीं होता उसे सुख प्राप्त नहीं होता।

विवरण— सुसन्ततिहीन पुरुषको शुद्ध वंशपरम्परा चलाने या सृष्टि-रक्षामें सहयोग देनेका हर्ष प्राप्त नहीं होता। अपने जैसे दो चार, दस पांच प्राणी उत्पन्न होनेका कारण बन जाना यह साधारण पुरुषकी मानसिक स्थिति है। उच्च श्रेणीके ऊर्ध्वरेता दान्त लोग अपने शरीरसे, अपने जैसे पैदा करनेका प्रयत्न न करके लोगोंको विचारोंमें अपने जैसे शुद्ध, उदार, सदाचारी बनानेका प्रयत्न करते हैं और आजन्म ऊर्ध्वरेता रहकर समाजको सद्गुणी बनानेकी तपस्या किया करते हैं। ये लोग नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहाते हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी लोग अपना विद्यावंश चलाकर आर्ष सम्प्रदायको जीवित रखते हैं। सारे विद्वान् इन्हींके अपत्य हैं।

(भार्यात्वकी सफलता)

या प्रसूते (सा) भार्या ॥ ३८९ ॥

सुसन्तानकी जननी ही पतिकी सच्ची भार्या है। सुसन्तानोत्पत्तिमें ही भार्यात्वकी सफलता है।

विवरण— भार्यामें सुपुत्र-जनकतासे ही विशेषता तथा मान्यता आती है। यह इस सृष्टिव्यवस्थाका ही अंग है। सृष्टिव्यवस्था समस्त प्राणियोंकी परम्परा चलानेके लिये जैसे पशुपक्षियोंको दाम्पत्य धर्ममें दीक्षित करती है वैसे ही मानवोंको भी करती है। शारीरिक दृष्टिसे अपने जैसे प्राणी उत्पन्न करना पशुओंका स्वभाव तथा मानसिक दृष्टिसे उदार मानवोंको सृष्टिमें आनेका अवसर देना मानवका कर्तव्य है। समाजको योग्य सदस्य देना गृहस्थाश्रमका उत्तरदायित्व है। अयोग्य, पापी, दुराचारी मनुष्य उत्पन्न करना गृहस्थाश्रमका कलंक है। ऐसे नराधम पैदा करनेसे तो भार्याका वन्ध्या रहना ही अच्छा है।

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससंभ्रमाद्यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ॥
(विष्णुशर्मा)

गुणियोंकी गणना आरम्भ होनेपर जिस पुत्रके लिये ज्ञानि-समाजकी साश्चर्य, सगौरव अंगुली नहीं उठती, उस पुत्रसे भी यदि माता पुत्रवाली कहलाती हों तो बताओ वन्ध्या कैसी होती है ? सृष्टिपरम्पराकी मानवको दी हुई दाम्पत्यदीक्षा सुयोग्य सन्तानोत्पादनके लिये सुसंयत गृहस्थाश्रम बितानेसे ही सफल होती है । गर्भधारणी बन जाना मातृ मातृत्व नहीं है । किन्तु भूलोकमें अवतीर्ण सन्तानका उचित लालनपालन करके उसे वंशका मुख उज्ज्वल करनेवाला बनाना ही माता नामको सार्थक करनेवाला मातृत्व धर्म है । अयोग्य गर्भको धारण करना मातृत्वका कलंक है ।

तीर्थसमवाये पुत्रवतीमनुगच्छेत् ॥ ३९० ॥

पाठान्तर— तीर्थसमवाये जीवत्पुत्रां गच्छेत् ।
पाठान्तर- तीर्थसमवाये पुत्रसुतामधिगच्छेत् ।

(ब्रह्मचर्यविनाशकी स्थिति)

सतीर्थाऽभिगमनाद् ब्रह्मचर्यं नश्यति ॥ ३९१ ॥

एक गुरूसे पढनेवाले विद्यार्थी विद्यार्थिनीका निकट संपर्क ब्रह्मचर्यका विनाशक है ।

विवरण- 'सतीर्थ्यास्त्वेकगुरवः' एक गुरूसे विद्याध्ययन करनेवाले परस्परमें सतीर्थ्य कहाते हैं । सतीर्थ्य लोग एक गुरूकी सन्तान हैं । 'वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च' वंश या कुल विद्यावंश तथा जन्मवंशके भेदसे दो प्रकारका होता है । एक गुरूसे विद्याध्ययन करनेवाले बालक बालिकाओंका परस्पर भ्राता-भागिनीका संबंध होता है । सतीर्थ्य लोग गुरुवंशकी सहोदर सन्तति होते हैं । इनका संबन्ध जन्मज सहोदर सहोदराके संबन्धसे न्यून पवित्र नहीं होता । ये परस्पर गुरुभाई या गुरुभगिनी कहाते हैं ।

विद्यावंशके भाई बहनोंके इस पवित्र संबंधको सुरक्षित रखना ही स्वाभाविक तथा सुरक्ष्य मानना चाहिये, जितना कि सहोदर सहोदराका संबन्ध स्वभावसे सुरक्षित रहता और माना जाता है। यदि किन्हीं सतीर्थ्य विद्यार्थी विद्यार्थिनियोंके इस संबंधके कलुषित होनेकी संभावना हो तो इस प्रवृत्तिका पूर्ण दमन करनेकी आवश्यकता है। यह सूत्र सतीर्थ्योंको कालुष्यशंकासे अतीत रखनेवाली सावधानवाणीके ही रूपमें कहा जा रहा है। यह सूत्र कहना चाहता है कि शिक्षाग्रहणके नामपर सतीर्थ्य विद्यार्थी विद्यार्थिनियोंका निकट निवास विपत्से रहित नहीं है।

घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्।
तस्मादग्निश्च कुम्भश्च नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

नारी घृतकुम्भके तथा पुरुष तप्ताङ्गारके समान होता है। इसलिये बुद्धिमान् शिक्षाप्रबन्धक स्त्रीपुरुष विद्यार्थियोंका एकत्रावस्थान न होने दें। विद्यार्थी विद्यार्थिनियोंकी सहशिक्षा तब ही समर्थनीय हो सकती है जब उनकी विद्या उनके मनोंमें भ्राताभगिनीके पवित्र संबंधको सुदृढ बनाये रखनेके लिये नैतिक उच्चादर्शको समुज्ज्वल रख सकें। विद्यार्थी विद्यार्थिनियों दोनोंपर गुरुओंका यह शासन रहना चाहिये कि वे विद्याग्रहणके अतिरिक्त अन्य किसी (उच्छृंखल) भावनाको मनमें स्थान न दें और उन्हें अनिष्टकारी संबंधसे बचाये रखनेमें शिथिलता या प्रमाद न करें। विद्यास्थान विद्याका ही प्रभावक्षेत्र रहना चाहिये। विद्यास्थानोंमें विद्याबहिर्भूत उच्छृंखल कल्पनाओंको प्रवेशाधिकार नहीं मिलना चाहिये। राष्ट्रको अपनी शिक्षाशालाओंको अनैतिकतासे कलुषित नहीं होने देना चाहिये।

इस सूत्रमें अभिगमन शब्द द्वारा पुरुष विद्यार्थियोंके निकट सम्बन्ध होजानेके आशंकाजनक परिणामपर प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है। इस सूत्रमें अभिगमनके परिणामको ही ब्रह्मचर्य विनाशक बताया जा रहा है। जो निकट संपर्क या जिस निकट संपर्कका परिणाम अनिष्टकारक है उस निकट संपर्कसे आत्मरक्षा करने रूपी उपदेशके अभिप्रायको ध्यानमें रखकर

*

अभिगमनका वह अर्थ लगाना भ्रान्तिमूलक होगा जो कि अनिष्ट परिणामका ही नामान्तर है। इसपर प्रश्न होता है कि जिस आशंकाके निकट संबन्ध अनिष्ट कर बताया जा रहा है उस निकट संपर्कका स्वरूप क्या है? पतन-संभावनासे बचाये रखनेवाला शारीरिक, प्रार्थक्य या दूरता किस सीमातक संरक्षणीय है इस बातका निर्णय कौन करे? उत्तर यही है कि जो विद्यार्थी विद्यार्थिनी पवित्रताको सुरक्षित रखनेके आदर्शको पालना अपना कर्तव्य समझें वे ही स्वयं इसके निर्णायक होनेके योग्य हैं। उन्हींको इसका निर्णय करना चाहिये।

जब गुरुलोग उन्हें सावधानताके उपदेश दें तब वे उनके सामने केवल पवित्रताकी महिमाका बखान करें। उनके समक्ष पवित्रताकी महिमाके कीर्तनके अतिरिक्त उनके सहावस्थानकी सीमायें न बतायें। इसलिये न बतायें कि सीमा बताना या न बताना कोई अर्थ नहीं रखता। वह सब बेकार जाता है। बात यह है कि पतनकी सम्भावना शारीरिक पार्थक्यपर निर्भर नहीं है। इसलिये नहीं है कि पतनका स्थान तो मन ही है। इस सूक्ष्म विवेचनके आधारपर इस सूत्रने सतीर्थ्य नरनारियोंके सम्बन्धमें जो शंका प्रकट की है इसका वास्तव प्रतिकार सहशिक्षाको रोक देना ही है। सूत्रकार प्रकारान्तरसे कहना चाहते हैं कि सहशिक्षा नहीं होनी चाहिये। जो क्षेत्र शंकासे व्याप्त है, मनुष्य उसमें प्रवेश ही क्यों करे? शंकाक्षेत्रमें प्रवेश करना अनिवार्य कर्तव्य नहीं हुआ करता। शंकाके क्षेत्रका वर्जन ही आत्मरक्षाका एकमात्र उपाय होता है। जिस क्षेत्रमें पतनकी सम्भावना होती है, आत्मरक्षार्थीके लिये उस क्षेत्रका वरण करना कदापि वांछनीय नहीं होता। ऐसे क्षेत्रका तो परित्याग ही आदर्शके अनुकूल होता है।

इस सूत्रमें आपात दृष्टिसे कुछ सीमातक सहशिक्षाका समर्थन किया गया प्रतीत होता है परन्तु उसके भयावह परिणामोंकी ओर संकेत करके सहशिक्षाका खण्डन कर डाला गया है। विद्यार्जन ही विद्यार्थी–विद्यार्थि-नियोंका ध्येय है, पारस्परिक सान्निध्य नहीं। जब कि विद्यार्जनके लिए

सहशिक्षा अनिवार्य रूपमें कदापि स्वीकरणीय नहीं है तब सहशिक्षा स्वयमेव परित्याज्य सिद्ध होजाती है । सूत्रमें इसी सिद्धान्तका स्पष्ट समर्थन है ।

पाठान्तर-- **न सतीर्थाभिगमनाद् ब्रह्मचर्यं नश्यति ।**

न परक्षेत्रे बीजं निक्षिपेत् ॥ ३९२ ॥

यह पाठ अपपाठ है ।

(पत्नीत्वका सदुपयोग)

पुत्रार्था हि स्त्रियः ॥ ३९३ ॥

पत्नियें भोगार्थ न होकर सत्पुत्रोत्पादनार्थ हैं ।

विवरण— स्त्रियें धर्मपूर्वक सत्पुत्र उत्पन्न करके समाजको गुणी, स्वस्थ, विद्वान्, सदाचारी और बलवान् सदस्य देकर पितृऋण उतारने या कर्तव्यबुद्धिसे सृष्टि परम्पराकी रक्षामें धार्मिक सहयोग देनेके लिये हैं । पत्नीसंग्रहका एकमात्र लक्ष्य समाजको धार्मिक प्रवृत्तिकी सन्तान देना है । समाजने योग्य सदस्य पानेके लिये एकनिष्ठ दाम्पत्यकी व्यवस्था की है । समाजको धार्मिक प्रवृत्तिकी सन्तान देनेके लिये पति-पत्नीका भोगाकर्षणसे संबद्ध न होकर यज्ञक्रिया अर्थात् विवाहको धार्मिक कर्तव्य समझ कर परस्पर संबद्ध होना आवश्यक है । समाज सद्गुणी सदस्य पानेके लिये चाहता है कि पति-पत्नीका सम्मिलन " प्रजायै गृहमेधिनाम् " केवल योग्य सन्तानोत्पत्ति रूपी लक्ष्यको पूरा करनेके लिये हो और वह भोगार्थ न होकर अपने उपर धार्मिक कर्तव्यका रूप लेकर रहे ।

स्वदासीपरिग्रहो हि स्वदासभावः ॥ ३९४ ॥

अपनी दासीको भोग्या बनाकर ग्रहण करना उसीका दास बनकर पतित होजाना है ।

विवरण— जीविकार्जनके लिये अपने सम्पर्कमें आनेवाली दासीपर कुदृष्टि डालना और उसे भोगपात्र बनाना स्वयं भी उसीका दास बन जाना है ।

(विनाशका पूर्वचिन्ह)

उपस्थितविनाशः पथ्यवाक्यं न शृणोति ॥ ३९५ ॥

अवश्यंभावी विनाशवाला हितैषियोंके पथ्य वाक्य नहीं सुना करता ।

दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् ।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥

नष्ट होनेको प्रस्तुत लोगोंको दीपक बुझनेकी गंध नहीं आती, हितैषियोंके उपदेश सुनाई नहीं देते और अरुन्धती नहीं दीखती। "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।" बुरे दिन आनेपर मनुष्यकी बुद्धि विपरीतग्राहिणी होजाती है । विपत्तिके दिनों बडों बडोंकी बुद्धियां भ्रष्ट होजाती हैं ।

बुद्धिमान् वही है जो सर्वावस्थामें ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध हितैषियोंके साथ सम्मिलित रहकर उन्हींकी सुबुद्धिसे परिचालित होकर उन्हींकी अभिज्ञता और उन्हींके ज्ञानालोकसे अपना कर्तव्यमार्ग देखता रहता है । कर्तव्यभ्रष्ट न रहनेकी यही कुंजी है कि मनुष्य कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयके संकटपर बुद्धिमान् लोगोंसे परामर्श लेकर अभ्रान्त बना रहे ।

(सुखदुःख जीवनकी अनिवार्य स्थिति)

नास्ति देहिनां सुखदुःखाभावः ॥ ३९६ ॥

देहधारियोंको भौतिक सुखदुःख मिलना कभी बंद नहीं हो सकता ।

विवरण— मनुष्यको उचित है कि वह संसारी सुखदुःख दोनोंको संसारकी अनिवार्य घटना मानकर इनसे विचलित न होकर (अर्थात् कभी सुखी कभी दुःखी न होकर) अप्रभावित रहे और इनके विषयमें अपना दृष्टिकोण बदलकर अपनी बुद्धिको स्थिर रक्खे । वह सुखमें उल्लसित होना तथा दुःखसे पराभूत या अवसन्न होना त्याग दे । वह जाने कि यह तो होना ही है । बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा दृष्टिकोण बनाकर संसारमें विजेताकी

स्थिति लेकर रहने लगता है। वह सुखदुःख किसीका भी दीनदास नहीं रहता। सुखदुःखातीत साम्यावस्थामें रहना ही सच्चे सुखी बननेका एकमात्र मार्ग है। भौतिक सुख न भी मिल सके तब भी सुखी रहने लगना तथा भौतिक दुःख मिलने लगे तब भी अपने सामर्थ्याधीन कर्तव्यमें अटल रहकर दुःख न मानना सच्चा सुख पाना है। जिस विचारशील मानवके पास सुखेच्छा और दुःखभीति न रही हो, वही सच्चा सुखी है। सुखदुःखातीत समताकी भावना ही शक्तिकी जननी है।

अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम्।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते॥

मनुष्य यह जाने कि जैसे अतर्कित दुःख देहधारियोंके पास जंगलमें अकस्मात आखडे होनेवाले भेडियोंके समान मनुष्यके पास आखडे होते हैं इसी प्रकार सुख भी मनुष्यके पास जंगलमें अकस्मात मिल जानेवाले कुछ कालके यात्री सुन्दर मृगोंके समान आखडे होते हैं। इस घटनाचक्रमें दैवकी वह अचिन्त्य गुप्त उदार इच्छा काम करती रहती है जिसकी ओर मूढ मानवका ध्यान ही नहीं जाता। सुखदुःख दोनों मनुष्यके सामने क्रम क्रमसे लाये और हटाये जाकर उसे यह सुझाव देना चाहते हैं कि "यदि तुम्हें सच्चा सुख पाना हो तो अपनी संसारयात्रामें हम कुछ कालके यात्रियोंके बंधनमें मत आओ तभी सुखी रह सकोगे।"

(सुखदुःख स्वोत्पादित)

मातरमिव वत्साः सुखदुःखानि कर्तारमेवानुगच्छन्ति॥३९७॥

सुखदुःख माताके पीछे पीछे घूमनेवाले वत्सोंके समान कर्मरत व्यक्तिका अनुसरण किया करते हैं।

विवरण— जैसे माता वत्सकी जननी है, इसी प्रकार मनुष्योंके कर्म भी सुखदुःख कहलानेवाले भौतिक सुफल कुफलोंके उत्पादक होते हैं। जहां कहीं कर्म होता है वहीं भौतिक सुफल कुफलोंके बन्धनमें फंसानेवाली

अज्ञानता तथा फंसनेकी सम्भावना भी रहती है। यही कर्मबन्धन है। इस कर्मबन्धनसे अतीत नित्य सुखी बने रहना ही सच्चा ज्ञान है।

कर्ममात्रका भौतिक, अनुकूल या प्रतिकूल फल अवश्यंभावी होता है। मनुष्य भौतिक अनुकूल, प्रतिकूल, फलोंको ही सुखदुःख नाम देनेकी भ्रान्ति कर बैठता है। कर्मफलोंको सुखदुःख कहने लगना या मानने लगना तो प्रतारित होना है। कर्मफलसे मनपर पडनेवाले अनिवार्य प्रभाव ही वास्तवमें सुखदुःख हैं। सुखदुःख समझे हुये कर्मफलोंकी प्रतारणामें फंस जाना अज्ञान है। कर्मफल अवश्यम्भावी परिवर्तनशील अस्थिर अवस्थायें हैं। इन अवश्यंभावी परिवर्तनशील अस्थिर अवस्थाओंको ज्ञानसे पराभूत करके स्थिर बनकर रहना ही दुःखहीन अखण्ड विजयोल्लास या नित्य सुख है।

सुख या दुःख माताके पीछे नियमसे लगे फिरनेवाले बालकोंके समान स्वभावसे कर्ताके पीछे नियमसे लगे फिरते हैं। सुखदुःख पुण्यपापके परिणामके प्रतीक्षककी भ्रान्तिसे ही उत्पन्न होते हैं। अध्यात्मरामायणके अनुसार—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।

सुखदुःख कोई दूसरा देता है यह मनुष्यकी कुबुद्धि है। मनुष्यकी बुरी भली कल्पना ही उसे सुखदुःख देनेवाली है। जो बुरी भावना करता है, वह पापजन्य अशान्तिरूपी मानसदुःख पानेसे अपनेको बचा ही नहीं सकता। जो सुभावनारूपी पुण्यकारी होता है वह पुण्यजन्य शान्तिनामक मानससुखसे कभी वंचित रह ही नहीं सकता। जो करता है वही भोगता है। बुरी भावना ही बुरा कर्म और शुभ भावना ही शुभ कर्म है। कर्म स्वयं न तो बुरा होता है और न भला। कर्ममें दीखनेवाली बुराई भलाई भावनाकी ही बुराई भलाई होती है। कर्ममें बुराई कर्मप्रेरक भावनाओंका उधार होता है। भावना शुद्ध होनेपर अपराध समझे हुए कर्म भी निर्दोष माने जाते हैं। भावना अशुद्ध होनेपर किये हुए भले काम भी पापपक्षमें ही गिने जाते हैं। जैसे चोरी करने या दूसरोंको ठगनेके लिये ओढा हुआ

रामनामी दुपट्टा भी चोरी और ठगईका ही साधन माना जाता है इसीप्रकार भावना शुद्ध न होनेपर शुभकर्म भी बुरी भावनाका ही अंग बन जाता है।

यह संसारचक्र, रागद्वेष, पुण्यपाप तथा सुखदुःख नामके ६ अरोंसे चलता है। मानवजीवनमें इनमेंसे किसी न किसी पक्षका निर्बल, सबल होते रहना अनिवार्य है। जो दुःखसे बचना चाहें वे मानसपाप करना त्याग दें। जो सुखी होना चाहें वे मानस पुण्यानुष्ठान करें अर्थात् सद्भावनासे जीवन-यापन करें। मनुष्य स्वाधीन मानस सुखदुःखोंको न समझ कर उन्हें हटानेका प्रयत्न न करके सारी आयु उन पराधीन भौतिक सुखदुःखोंसे झगडनेमें ही व्यर्थ खोदेते हैं जिनपर उनका कोई वश नहीं चलता। मानवके भौतिक अस्तित्वपर अंतिम विजय भौतिक दुःखोंकी ही होती। रोग, शोक, चोट और मृत्यु ही शरीरके अन्तिम स्वामी सिद्ध होते हैं। जिन मानस सुख-दुःखोंपर मनुष्यका वश चल सकता है, जहाँ वह पूरा दुःखविजयी बन सकता है, वहां अपने उस मानसक्षेत्रपर अपना वशीकार न करके मनुष्य अपनी ही भूलसे दुःखोंका पात्र बना रहता है।

मनुष्य भौतिक जगत्पर अधिकारहीन है, जब कि वह अपने मानस संसारका एकच्छत्र सम्राट् है। यह कितने बडे दुःखकी बात है जहां उसे सम्राट्की स्थिति लेकर रहना चाहिये वहां तो वह अपने अज्ञानसे भिख मंगेकी दीन हीन स्थिति लेकर रहता है और जहां (प्राकृतिक क्षेत्रमें) वह स्वभावसे अधिकारहीन है वहां वह अपना अधिकार स्थापित करनेकी धुनमें अपनी आयुष्यका अमूल्य थोडासा समय व्यर्थ खोकर यहांसे रीते हाथ चला जाता है। ओ मानव! तू सुखदुःखके स्वाधीनक्षेत्रपर ही सुखदुःख पर विजय पानेका प्रयत्न कर, अनधिकार क्षेत्रपर ठोकर मत मार और उसे उपेक्षापक्षमें डालकर सुखी बन।

(साधुका उपकारकके प्रति आत्मविक्रय)

तिलमात्रमप्युपकारं शैलमात्रं मन्यते साधुः॥ ३९८॥

साधुवृत्तिके लोग छोटेसे उपकारको भी महोपकार मानकर चिरकृतज्ञ बने रहते हैं।

विवरण— वे साधुलोग तिलमात्र उपकारके बदलेमें उपकारकके हाथमें आत्मविक्रय कर देते हैं। इसके विपरीत असाधुलोग हिमालयके बराबर उपकारको सरसोंके बराबर भी माननेको उद्यत नहीं होते। मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रने लंका विजयके पश्चात् अयोध्या आकर लंका विजयके प्रमुख सहायक परमउपकारक श्री हनुमान्‌के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कैसा सुन्दर कहा है—

मय्येव जीर्णतां यातु यत्वयोपकृतं हरे।
नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकांक्षति॥

"प्रिय मारुति, तुमने इस विजयमें मेरा जो उपकार किया है, मैं तुम्हें उसका कोई बदला देना नहीं चाहता। मैं चाहता हूं कि तुम्हारा उपकार मुझमें ही जीर्ण होजाय और जीवनभर कृतज्ञताके भारके रूपमें मेरे सिरपर खडा रहे। मैं तुम्हें तुम्हारे उपकारका बदला इसलिये देना नहीं चाहता कि प्रत्युपकार विपत्तियोंमें ही संभव होता है। उपकारकका प्रत्युपकार करना चाहनेवाले लोग चाहते हैं कि मित्रपर विपत्ति आये तो हम भी बदलेमें उसका उपकार करके दिखायें। मैं तुमपर ऐसी कोई विपत्ति आनेकी प्रतीक्षा नहीं करना चाहता कि जिसमें मुझे तुम्हारे विपद्दारणका सहायक बनना पडे। ईश्वर न करे कि तुमपर कोई विपत्ति आये।"

प्रश्न होता है कि साधु तिलमात्र उपकारको शैल समान क्यों देखता है? बात यह है कि साधुकी दृष्टिमें उपकारका भौतिक आकार या परिमाण विवेच्य नहीं होता। किन्तु उपकारकका विशाल हृदय ही उसे आत्मसमर्पणके लिये विवश करडालता है। साधु पुरुष उपकारीके साथ अपने उपकृत हृदयकी एकताका माधुर्य चखकर कृतकृत्य होजाता है। इसके विपरीत असाधुका कुटिल संकीर्ण हृदय अपनी परस्वापहारिणी लोलुप बुभुक्षाको परितृप्त करनेके लिये दूसरेके हिमालय तुल्य उपकारको भी अपनी लोभाग्निमें भस्मीभूत करके भूखाका भूखा ही रहजाता है। वह अपनी दुष्पूर कामाग्निसे प्रतारित होकर दूसरोंके उपकारोंको क्षणमात्रमें भूलकर अकृतज्ञ बुभुक्षु बना रहजाता है।

पाठान्तर— ··· ··· मन्यन्ते साधवः।

(अपात्रका उपकार अकर्तव्य)

उपकारोऽनार्येष्वकर्तव्यः ॥ ३९९ ॥

उपकार अकृतज्ञ अपात्रके साथ करनेकी वस्तु नहीं है ।

विवरण— परसुखलोभी ही अनार्य कहाते हैं । अनार्य लोग उपकर्ताको भी डंक मारनेवाले बिच्छूके समान स्वभावसे सबके ही द्वेषी होते हैं। इनसे परिचय बढाना इनके दुष्ट स्वभावोंका आखेट बनना तथा उन्हें बढावा देना होता है । किससे कैसा व्यवहार करना ? यह मनुष्यके सीखनेकी एक महत्त्वपूर्ण, नित्य-व्यवहार्य कला है । कौन मनुष्य किस योग्यता और अधिकारका है ? यह बिना जाने किया व्यवहार अपने ही लिये घातक होजाता है । मनुष्यको पुरुषपरीक्षा होनी चाहिये । नहीं तो संसारमें वह पदे पदे ठगा जायगा ।

अनार्य लोगोंके साथ तो उपेक्षाका बर्ताव करना चाहिये और इनसे उपेक्षाका ही संबन्ध भी रखना चाहिये। सज्जनोंसे मैत्री, उन्हींका उपकार, सुपात्र दीनोंपर दया, सुपात्र सुखियोंको देखकर मुदिता तथा पापियोंका विरोध ही श्रेष्ठ नीति है । इसी नीतिसे आर्यताकी रक्षा होती है । अनार्योंके साथ उपकारकर्ताका संबन्ध स्थापित करनेका परिणाम दुःख ही होता है । राज्यसंस्थामें अनार्योंको न जाने देनेके लिये राष्ट्रको आर्यभावापन्न होना चाहिये । यदि राज्यसंस्थाका निर्माण करनेका अधिकार रखनेवाला राष्ट्र असावधान होगा तो राष्ट्रको लूटकर अपना व्यक्तिगत धनभंडार बढानेके इच्छुक अनार्य लोग, राज्यसंस्थामें घुसकर अपनी भोगैश्वर्येच्छाकी पूर्तिके लिये राष्ट्रके साथ अवश्य ही विश्वासघात करेंगे। राष्ट्रका हिताहित समझनेवाले राष्ट्रके सत्पुरुषोंको विश्वास्य, अविश्वास्य, कृतघ्न, कृतज्ञकी पूरी पहचान होनी चाहिये । वे इस कामके लिये पहले परीक्षणके रूपमें दूसरोंका गर्हित हानिकी संभावना रहित विश्वास तथा उपकार करके ही कृतज्ञों तथा विश्वासपात्रोंको पहचान कर अपना सकते तथा विश्वासघातियों और कृतघ्नोंसे बच सकते हैं । आर्य तथा अनार्यकी पहचान व्यवहारविनिमयमें ही

होनी संभव है। आर्य या अनार्योंकी कोई शारीरिक टकसाल नहीं है जैसा कि कुछ आधुनिक भ्रान्त लेखकोंका मन्तव्य है।

पाठान्तर— उपकारो नास्तिकानादरेषु कर्तव्यः।

यह पाठ महत्वहीन है।

(अनार्यकी अकृतज्ञताका कारण)

प्रत्युपकारभयादनार्यः शत्रुर्भवति ॥ ४०० ॥

कलुषित हृदय अकृतज्ञ व्यक्ति किसीसे उपकृत होनेपर उसका प्रत्युपकार न करनेकी दुरभिसंधिसे उसका शत्रु होजाता है।

विवरण— अकृतज्ञ अनार्य पुरुष दूसरे भद्र पुरुषोंसे उपकृत होनेपर, प्रत्युपकार करना पडनेके डरसे वैसा प्रसंग आनेसे पहले ही उनका शत्रु बनकर कृतज्ञताके मानवोचित बन्धनको तोड फेंकनेमें ही अपनी चतुराई समझा करता है।

उपकर्ताकी विपत्तिको दूर करना या उसके किसी काममें सहायक बनना प्रत्युपकार कहाता है। अनार्यकी स्थिति दूध पिलानेवालोंको भी काटनेवाले सांपोंकी–सी होती है। वह अपने स्वभावसे किसीका प्रत्युपकार न करनेके लिये विवश होता है।

संसारका यह प्रायः अनुभव है कि सत्पुरुषोंके शत्रु साधारणतया वे ही होते हैं जो कभी न कभी उनकी उदारतासे उपकृत होचुके होते हैं। कुछ लोगोंका यह भी कटु अनुभव है कि उपकार करना शत्रु उत्पन्न करलेना होजाता है। इस अनुभवके आधारपर यह धारणा बनचुकी है कि उपकारक लोगोंको उपकारके बदलेमें शत्रुता ही मिला करती है। फिर भी सत्पुरुष शत्रुभयसे अपना स्वभाव नहीं त्याग देते। वे अपने स्वाभावानुसार सबसे सज्जनताका बर्ताव करके ही मनुष्यको अमुक मित्र है और अमुक शत्रु इस रूपमें पहचानकर मित्रको अपनाते और शत्रुको त्याग देते हैं।

अकृतज्ञ अनार्योंके हाथों हानि उठानेके पश्चात् ही अकृतज्ञ लोगोंसे सावधान रहनेका अवसर आता है। पात्र अपात्रके तात्कालिक विचारके द्वारा योग्य पात्रका उपकार करके ही मित्रलाभ होना सम्भव है। सर्वांगीण परीक्षा किये बिना किसीको मित्र रूपमें अपनाना या शत्रुबुद्धिसे त्यागना सम्भव नहीं है। आर्यत्व या अनार्यत्व किन्हीं व्यक्तियोंके अवयवों, कुलों या वंशोंमें सीमित नहीं है। मनुष्यकी मानसिक स्थितिमें ही आर्य या अनार्यकी पहचान है। व्यवहारसे ही आर्य अनार्य पहचाने जासकते हैं, लम्बी नासिका, विशाल ललाट, गौर वर्ण या हड्डियोंकी बनावटसे नहीं। इस सूत्रका यह अभिप्राय नहीं है कि किसी मनुष्यको जन्मके कारण अनार्य तथा अकृतज्ञ समझकर त्याग दिया जाय। किन्तु अनुभवके आधार पर ही आर्य अनार्यकी पहचान करके त्याज्य ग्राह्यका निर्णय किया जाय।

(उपकारकके प्रति साधुकी कर्तव्यशीलता)

स्वल्पमप्युपकारकृते प्रत्युपकारं कर्तुमार्यो न स्वपिति ॥४०१॥

सत्पुरुष जबतक उपकारीका प्रत्युपकार करनेका अपना मानवोचित कर्तव्य पूरा नहीं कर लेता तबतक क्षणमात्र भी निश्चिन्त नहीं बैठता।

विवरण— आर्थिक, शारीरिक, वाचिक तथा मानसभेदसे उपकार चार प्रकारका होता है। मनुष्य धन देकर, किसी विपद्ग्रस्तके लिये किसी प्रकारका परिश्रम करके, हितकारी मंत्रणा या हितकारी वाचिक सहायता देकर, अथवा उपकार्यकी हितकामनासे किसीके कल्याणमें सहायक हो सकता है।

(देवापमान अकर्तव्य)

न कदापि देवताऽवमन्तव्या ॥ ४०२ ॥

देवबुद्धिसे पूजे जानेवाले स्थान, प्रतिमा, चित्रादि वस्तु या

देवचरित्रवाले श्रेष्ठ व्यक्तियोंका प्रमाद या आलस्यसे कभी भी अपमान न करना चाहिये।

विवरण— प्रमाद या आलस्यसे देव, द्विज, गुरु, प्राज्ञ आदि उच्च श्रेणीकी विभूतियोंका अपमान नहीं करना चाहिये। इससे उनके श्रद्धालुओंका शत्रु बनना पडता है और अपनी विचारशीलता, शिष्टाचार तथा मनुष्यताका अपमान होता है।

पाठान्तर— **न कदाचिद्देवकृतान्यवमन्तव्यानि।**

देव, गुरु या राजाके कार्योंकी अवहेलना न करनी चाहिये।

(घटनास्थलके प्रत्यक्ष दर्शनका महत्व)

न चक्षुषः समं ज्योतिरस्ति ॥ ४०३ ॥

चक्षु संसारकी सबसे महत्वपूर्ण ज्योति है।

विवरण— चक्षुके बिना यह जगत् ज्योतिर्हीन होजाता है। चक्षुके समान कोई ज्योति नहीं है। वस्तुदर्शनमें चक्षु जैसी महत्वयुक्त दूसरी कोई ज्योति नहीं है।

चक्षु ही समस्त ज्योतियोंका उपयोग करनेवाली ज्योति है। उसके बिना समस्त ज्योति अनुपयोगी होजाती हैं। चक्षुके बिना अनन्तकोटि सूर्य भी मनुष्यको एक तिनका तक नहीं दिखा सकते। उसके बिना उनका मूल्य खद्योतके बराबर भी नहीं रहता। इसलिये मनुष्य चक्षुरक्षामें विशेष ध्यान रक्खें।

चक्षुका विषयोंके साथ अतियोग, अयोग या मिथ्यायोग होनेसे उसमें रोग उत्पन्न होकर उसके नष्ट होनेका प्रसंग होजाता है। इसलिये मनुष्य चक्षुके सदाचारके साथ साथ समस्त सदाचारोंका पालन करें तो उससे आरोग्य तथा इन्द्रियविजय दोनों ही प्राप्त होते हैं।

मातापिताके शारीरिक दोष, उदररोग तथा अन्य संक्रामक रोगादि दोषोंसे अन्धता पैदा होती है। कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेमें परिस्थि-

तिका प्रत्यक्ष ज्ञान होना अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। मनुष्य चक्षुसे मार्ग देखकर ही स्थूल देहको गन्तव्यस्थानमें ले जाता और अगन्तव्यस्थानसे बचालाता है। मनुष्य चक्षुसे देखकर ही ग्राह्यको ग्रहण करता तथा त्याज्यको त्यागता है। प्रत्यक्ष अनुभूति ही मानवजीवनको सुमार्गपर चलानेकी अव्यर्थ कला है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा तथा त्वगिन्द्रियोंकी स्वस्थ क्षेत्रकी अनुभूति ही उनकी जीवितावस्था या उनकी चक्षुष्मती स्थिति है। मनुष्य किसी भी कर्तव्यको देश, काल, पात्रका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किये बिना अभ्रान्त रीतिसे सुसम्पन्न नहीं कर सकता। सूत्र चक्षुको मिष बनाकर यह कहना चाहता है कि किसी भी व्यक्तिके साथ व्यवहार या किसी भी कर्तव्यमें हस्तक्षेप तबतक न किया जाय जबतक मनुष्य अपने ज्ञाननेत्रसे उस व्यक्ति या उस कर्तव्यकी अभ्रान्तताके संबंधमें निःसन्दिग्ध न होजाय। क्योंकि दर्शनशक्ति संपूर्ण इन्द्रियोंमें सूक्ष्म रूपमें विद्यमान रहती है इसीलिये इस सूत्रमें चक्षुको ही निमित्त बनाकर यह निर्देश किया है कि प्रत्यक्ष प्रमाणके बिना सत्यासत्यका निर्णय नहीं होसकता। मनुष्य यह जाने कि मानवका जीवन एक विशाल संग्रामभूमि है। मनुष्य अपने जीवनसंग्राममें अपने ज्ञाननेत्रको मार्गदर्शकके रूपमें आगे करके जीवनसंग्राममें पदार्पण करे।

चक्षुर्हि शरीरिणां नेता ॥ ४०४ ॥

ज्ञाननेत्र ही मनुष्यको विपथसे निवृत्त करनेवाला एकमात्र ज्योतिर्मय पथदर्शक है।

विवरण— चक्षु ही देहधारियोंका नेता है। इसीसे उसका नाम नेत्र है। सूक्ष्म स्नायुओंसे प्रवाहित, अक्षिगोलकके भीतर कृष्णतारेके अग्रभागमें रूपग्रहण करनेवाली तेजवाली इन्द्रिय चक्षु है।

अपचक्षुषः किं शरीरेण ॥ ४०५ ॥

नेत्रहीन शरीरसे संसारयात्रा क्लेशप्रद होजाती है।

विवरण— जैसे अंधेका देह निरुपयोगी हो जाता है इसी प्रकार अज्ञानान्धका जीवन लक्ष्यभ्रष्टतारूपी विनाश पाजाता है। नेत्रहीन मानव सारथिहीन रथके तुल्य अकार्यकारी होजाता है।

(सार्वजनिक जलोंके प्रति कर्तव्य)

नाप्सु मूत्रं कुर्यात् ॥ ४०६ ॥

जलमें मूत्र न करें।

विवरण— जलमें मूत्रत्यागसे वह दुष्ट, विषाक्त और अग्राह्य होजाता है। उसे पीनेसे रोगोत्पत्ति तथा स्वास्थ्यनाश होता है। जल सार्वजनिक संपत्ति है। कब किसे उसे पीना पडेगा इसका कोई नियम नहीं है। प्रत्येक मनुष्यपर सार्वजनिक स्वास्थ्यका जो उत्तरदायित्व है उसकी दृष्टिसे उसे जलमें मूत्रत्याग न करना चाहिये।

न मूत्रं पथि कुर्वीत, न भस्मनि, न गोव्रजे,
न फालकृष्टे, न जले, न चित्यां, न च पर्वते।
न जीर्णदेवायतने, न वल्मीके कदाचन ॥ (मनु)

मार्ग, भस्म, गोष्ठ, जुतीभूमि, जल, चिता, पर्वत, जीर्ण देवस्थान तथा वल्मीकमें कभी मूत्र न करे। इसीप्रकार देवालय, परिषद्, वासगृह, तीर्थस्थान, विचारसभा, विद्याशाला आदि स्थानोंमें भी मूत्रत्याग न करे। मूत्रके लिये नियत या अपेक्षित स्थानमें मूत्रत्याग करे। परन्तु ध्यान रहे कि मूत्रके वेगको धारण करना भी रोगकारक है। खडा होकर जल पीने या मूत्रत्याग करनेसे अण्डवृद्धिका रोग उत्पन्न होता है। पेय तथा स्नातव्य जलको दूषित करनेकी प्रवृत्ति अपने जीवनकी निर्मलता त्यागकर उसे मलिन बना लेनेकी कुप्रवृत्तिका द्योतक है। बाह्य स्वच्छताका अभाव मानसिक मलिनताका द्योतक होता है। मानसिक मलिनता दूर करनेपर बाह्य स्वच्छताकी रक्षा करना स्वभाव बनजाता है। बाह्य अस्वच्छता साक्षी देती है कि इस अस्वच्छ व्यक्तिकी मलिनता इसके मनमें समा चुकी है। बाह्य सदाचारीकी लोकदृष्टिसे बचकर पाप करनेकी प्रवृत्ति भी मनकी मलिनता ही है। मनकी शुद्धताका प्रचार ही सूत्रका उद्देश्य है। समाजके जीवनाधार जलाशयको मलमूत्र, ष्ठीवन, गण्डूष आदिसे कलुषित करनेकी विवेकहीनता अवसर मिलनेपर समाजको भी कलुषित किये बिना नहीं मानती।

(नग्नता असामाजिक स्थिति)

न नग्नो जलं प्रविशेत् ॥ ४०७ ॥

नग्न होकर जलमें न घुसे ।

विवरण— नग्नता दृष्टि कालुष्यकारी प्रवृत्ति है । नग्न होकर जलमें घुसने तथा जलसे निकल कर वस्त्र धारण करनेतक रहनेवाली नग्नता शिष्टाचार विरुद्ध है । नग्न होकर जलप्रवेशसे सुकोमल मूत्रस्थानपर जल जीवोंके दंशनकी सम्भावना भी रहती है तथा इस प्रकारका व्यवहार, निर्लज्जता तथा शिष्टाचारका परित्याग भी है । यह प्रवृत्ति सामाजिक सद्‌गुणोंकी विनाशक होनेसे त्याज्य है । जलप्रवेश ही नहीं, मनुष्यको मार्गगमन, भोजन, शयन, आदि किसी भी अवस्थामें नग्न नहीं रहना चाहिये । नग्नता सामाजिक सुरुचिपर पाशविक अत्याचार है । नग्न विचरणका केवल पशुको प्रकृतिदत्त अधिकार है । मनुष्यकी लज्जारूपी देवीसंपतने नग्न रहना मनुष्यके लिये निषिद्ध बना डाला है । इस सूत्रमें उसी निषेधको पुष्ट करनेके लिये नग्नताके विरोधमें यह सावधानवाणी घोषित की है कि समाजकी दृष्टिमें नग्न होनेकी बात तो अलग रही लोकचक्षुके बाहर जलमें भी नग्न होना निन्दनीय है । नग्नता समाजद्वेषी पशुसुलभ बर्बरता है ।

पाठान्तर— **न नग्नः प्रविशेज्जलम् ।**

(ज्ञान देहोत्पादक समाजके अनुसार)

यथा शरीरं तथा ज्ञानम् ॥ ४०८ ॥

जैसा शरीर वैसा ही ज्ञान होता है ।

विवरण— मनुष्यका ज्ञान उसके शरीरको जन्म देनेवाले समाज जैसा ही होता है । आइये, ज्ञानके शरीरके अनुरूप होनेके अर्थपर विचार करें । मानवदेह तो मनुष्यमात्रने धारण कर रक्खा है परन्तु इस मानवदेहमें मनुष्यताको प्रस्फुटित करनेवाला ज्ञानोदय हो यही इसकी स्वाभाविक स्थिति है । परन्तु दुर्भाग्यसे प्रत्येक मानवदेहधारी ज्ञानी नहीं होता । यह

एक गंभीर प्रश्न है कि मनुष्य मानवताके समान अधिकारी मानवदेहको धारण करके भी परस्पर वध्यघातक मानसिक स्थितियोंको क्यों अपनालेता है ? इस सूत्रमेंसे इसी प्रश्नके उत्तरका उद्धार करनेकी आवश्यकता है। यदि इस सूत्रसे इस प्रश्नके सदुत्तरका उद्धार नहीं किया जायगा तो यह सूत्र निरर्थक हो जायगा।

मानवदेह इस मर्त्यभूमिपर उतरकर पालापोसा जाता है। उस पालन-पोषणके ढंगमें ही उसके शरीरकी भिन्नताकी कल्पना की गई है। बात यह है कि शरीर शब्दके भीतर देह और बुद्धि दोनों ही सम्मिलित हैं। इस-लिये सम्मिलित हैं कि देहका परिचालन करनेवाली बुद्धि भी मनुष्यका देह जैसा ही साथी होता है। मनुष्यदेह जिस वातावरणमें, जिस समाजमें, जिन उपकरणोंके साथ भूमिष्ठ होकर शैशव, बाल्य, यौवन आदि अवस्थायें पाकर पूरा देहधारी बनता है, उसमें उन उपकरणों, उन वातावरणों तथा उन समाजोंका पूर्ण प्रतिबिम्ब विद्यमान रहता है। इस दृष्टिसे मनुष्यका देह अपने जन्मदाता माता-पिताके तथा संपूर्ण समाजके प्रभावसे प्रभावित रहकर जिस रीतिसे निर्मित और पालित होता है उसका ज्ञान अनिवार्य रूपसे उसीके अनुरूप या तो मनुष्योचित या मनुष्यताघाती होता है।

अथवा— शरीर स्वस्थ, शुद्ध-वंशज हो तो ज्ञान विषद, प्रखर तथा कार्यकारी होगा। शरीर रोगी, क्षीण या अशुद्ध-वंशज होगा तो ज्ञान निष्प्रभ, अस्पष्ट अकार्यकारी होगा। शरीरकी निरोगता तथा शरीरको जन्म देनेवाले समाजकी शुद्धतारूपी तपस्यासे ज्ञानका विकास होता है।

ज्ञान आध्यात्मिक तथा भौतिक भेदसे स्थूलतः द्विविध है परन्तु समाज-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, शिल्पकला-विज्ञानादि भौतिक ज्ञान अनेक प्रकारका है। जिस समाजमें ज्ञानके संग्रहको जैसी प्रवृत्ति होती है उस समाजमें आनेवाले बालक उसी प्रकारका ज्ञान सीख जाते हैं।

गवाशनानां स शृणोति वाक्यमहं हि राजंश्चरितं मुनीनाम् ।
न तस्य दोषो न च मद्गुणो वा संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ॥

मुनिपालित शुक कहता है— वह गोभक्षकोंकी अश्लील गालियां सुन कर गाली देता और मैं मुनिचरित्र सुन सुनकर सुवाक्य बोलता हूं। राजन्! इसमें न उस गाली देनेवाले तोतेका कुछ दोष है और न मेरा कोई गुण है। दोषगुण संसर्गसे होते हैं। जो लोग सन्तानको सुसभ्य, सदाचारी, विद्वान्, कार्यकुशल बनाना चाहें वे उनके लिये सदाचारी विद्वानोंके वातावरणका प्रबन्ध करें।

(वैभवकी भलाई बुराई बुद्धिपर निर्भर)

यथा बुद्धिस्तथा विभवः ॥ ४०९ ॥

जिसकी जैसी बुद्धि होती है उसका वैसा वैभव होता है।

विवरण— जिसकी जैसी पापपुण्यप्रिया बुद्धि होती है उसका उपार्जित या प्राप्त विभव भी उसे वैसा ही पतित या पुण्यात्मा बनाये रखनेवाला होजाता है। सुबुद्धिसे उपार्जित धन पुण्यार्जित होता और पुण्य कर्ममें ही नियुक्त होता है। जैसे मनुष्यका उपार्जित धन उसका वैभव माना जाता है इसी प्रकार उसके सदुपयोग, दुरुपयोगके सन्तोष और पश्चाताप भी तो उसके वैभवमें ही सम्मिलित हैं। गर्हित उपायोंसे उपार्जित धन दुरुपयोगका पश्चाताप उत्पन्न करनेवाला होता है। सदुपायसे उपार्जित धन अनिवार्यरूपसे सदुपयुक्त होकर उसे अक्षय सन्तोषरूपी वैभवसे सम्पन्न बनाये रखता है। जिस मनुष्यका धन समाज-कल्याणमें सदुपयुक्त होकर मनुष्य-समाजको मनुष्यतारूपी अक्षय दैवी सम्पत्तिसे सम्पन्न बनाये रखनेके काम आता है संपूर्ण राष्ट्र ही उस उदार मानवका वैभव बन जाता है। ऐसा मनुष्य अपने सदुपार्जित धनको समाजसेवामें समर्पित करके जल बरसाकर रीते लघु मेघोंके समान रिक्तहस्त बनकर समस्त राष्ट्रकी मनुष्यताके गौरवसे परिपूर्ण होजाता है। इस प्रकारकी गौरवपूर्ण स्थिति ही मनुष्यको उसकी सुबुद्धिसे प्राप्त होनेवाला वैभव है। कुबुद्धिसे उपार्जित धन पापार्जित होता है और उसका पापकर्मोंमें नियुक्त होना अनिवार्य होजाता है। ऐसी अवस्थामें पापबुद्धिसे धनोपार्जन करनेवाले लोगोंके धन किसी भी अच्छे काममें

*

नहीं आते । यह मनुष्यका कितना अधःपतन है कि उसका धन किसी भी अच्छे काममें न आये और वह निकृष्टतम उपायोंसे उपार्जन करता चला जाय। अनुभवी वृद्ध ठीक ही कह गये हैं— "**धर्माचारविहीनानां द्रविणं मलसंचयः**" धर्माचारविहीन लोगोंका द्रव्यसंचय मलका घृण्य ढेर है।

अथवा— मन्द या प्रखर जैसी भी बुद्धि होती है संपत्ति भी उसी परिमाणसे अल्प या अधिक प्राप्त होजाती है।

बुद्धिमान् लोग अपने बुद्धिबलसे अधिक धन उपार्जन कर लेते हैं। मतिहीन लोग अपने पितृपैतामहीन संचित धनोंको भी खोदेते हैं या थोडासा उपार्जन कर पाते हैं। जौहरी दिनमें लाखों उपार्जन कर लेता है जब कि काष्ठविक्रेता पेट भरने योग्य धन भी कठिनतासे पाता है।

शिक्षा, सौशील्य तथा विशेषज्ञोंके सत्संगसे बुद्धि प्रखर होती है। बुद्धिकी प्रखरतासे धन, मान आदि अपेक्षित वैभव पाना सुकर होजाता है। बुद्धिहीन लोग इस लाभसे वंचित रहते हैं।

बुद्धिरेव जयत्येका पुंसः सर्वार्थसाधनी।
यद्बलादेव किं किं न चक्रे चाणक्यभूसुरः॥

मनुष्यके समस्त प्रयोजन सिद्ध कर देनेवाली बुद्धि ही संसारका सर्वश्रेष्ठ वह साधन है जिसके बलसे विप्र चाणक्यने क्या क्या नहीं कर दिखाया ? उसने बुद्धिबलसे भारतको अखण्ड राष्ट्रका रूप दिया, राष्ट्रको चरित्रवान् बनाया तथा उसे चन्द्रगुप्त जैसा शक्तिशाली सम्राट् दिया।

ये याताः किमपि प्रधार्य मनसि पूर्वं गता एव ते।
ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः॥
एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका।
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम॥

चाणक्यका निज सुबुद्धि विषयक आत्मविश्वास सतत स्मरणीय है कि "जो लोग मनमें कुछ सोचकर गये हैं वे तो चले ही गये। जो लोग हैं

उनके मनमें आये तो वे भी भले ही चले जानेके संभार कर लें। नन्दोंके उन्मूलनमें अपनी शक्तिमहिमा दिखा चुकनेवाली कामसिद्ध करनेमें सैकड़ों सेनाओंसे अधिक काम कर दिखानेवाली मेरी केवल एक बुद्धि मेरे पाससे न चली जाय।"

(क्रोधके उत्तरमें क्रोध मत करो)

अग्नावग्निं न निक्षिपेत् ॥ ४१० ॥

आगमें आग न डाले, क्रोधके उत्तरमें क्रोध न करे।

विवरण— मनुष्य क्रोधाविष्टके क्रोधको अत्यन्त उत्तेजित करनेवाली ऐसी कोई बात या काम न करे कि स्वयं अशान्त होजाय और दूसरा प्राण तक लेनेको उद्यत होजाय। क्रोधीकी क्रोधाग्निमें कोई धन नहीं देना चाहिए। इसीसे कहा है— "अक्रोधेन जयत् क्रोधम्" किसीके क्रोध-पर विजय पाना हो अर्थात् व्यर्थ करना हो तो अपनी शान्तिको सुर-क्षित रखकर उत्तर दो। क्रोधका उत्तर क्रोधसे न देनेका अर्थ यह है कि क्रोधके प्रत्युत्तरमें क्रोध न करके उपायान्तरसे प्रतिकार करे। क्रोध करना स्वयं अशान्त होना और शत्रुके क्रोधको अत्यन्त भड़कनेका अवसर देना है। इसलिये जब कभी क्रोधीको प्रत्युत्तर देनेका अवसर आये तब स्वयं संयत, अक्रोधी बने रहकर ही विजयी बने रहना संभव है। यदि मनुष्य उस समय क्रोधीकी स्थिति लेलेगा तो उसका पराभूत होना अनिवार्य होजायगा। आगमें आग न डालकर उसपर तो उसे बुझानेवाला पानी डालना चाहिये। उत्तेजनाके अवसर पर उत्तेजक बातें न कहकर या उत्तेजक काम न करके अमृतवर्षी शीतल बात कहने या विवेकपूर्वक बर्ताव करनेसे ही शान्ति-रक्षा संभव है।

(जितेन्द्रिय समाजके मूल्यवान् धन)

तपस्विनः पूजनीयाः ॥ ४११ ॥

समाजके मार्गदर्शक जितेन्द्रिय लोग समस्त समाजके पूजनीय होते हैं।

विवरण— वे संसारमें अपने संयत चरित्रसे समाजको कल्याण तथा शान्तिका मार्ग दिखानेवाले मार्गदीपके रूपमें अवतीर्ण होते हैं। देशमें जितेन्द्रिय लोगोंके उदाहरणोंका बाहुल्य होनेसे देश क्षोभ, उत्तेजना और दुश्चिन्तासे हीन होकर शान्तिपूर्ण बन जाता है। समाजका यथार्थ हित इसीमें है कि तपस्वी लोगोंके उदाहरण उसके बालनारायणोंको अधिक-तासे दीखें, जिससे उनकी बुद्धियें जितेन्द्रियताकी ओर प्रवृत्त होजायें तथा बुरे उदाहरण उनके सामने आयें भी तो वे अपमानित, अनुत्साहित और तिरस्कृत रूप लेकर आयें।

(परदाराभिगामी समाजकी शान्तिका शत्रु)

परदारान् न गच्छेत् ॥ ४१२ ॥

परपत्नियोंसे संपर्क स्थापित करनेकी बात मनसे भी न सोचे।

विवरण— ऐसा करना अग्निमें अग्निक्षेप जैसा भयंकर उत्तेजना पैदा करनेवाला महाअनिष्ट व्यापार है। इस प्रकारकी दुष्ट प्रवृत्तियोंपर कठोर संयम रखनेमें ही मानवकी तथा उसके सामाजिक जीवनकी शान्ति संभव है। जीवनमें इस प्रकारके प्रज्ञापराधोंको कार्यकारी बन जाने देनेसे इन्द्रिय-चांचल्य, मानसिक शक्तिका ह्रास होकर मानवोचित समस्त गुणोंका निश्चित विनाश होजाता है और मानव अपनी आराध्य शान्तिके महान् आदर्शसे च्युत होकर अपने जीवनको नरक बना लेता और अपना सामा-जिक मूल्य फूटी कौडीका भी नहीं छोडता।

पाठान्तर— **परदारान् मनसापि न गच्छेत्।**

परपत्नियोंसे संपर्क स्थापित करनेकी बात मनसे भी न सोचे।

(अन्नदानका माहात्म्य)

अन्नदानं भ्रूणहत्यामपि प्रमार्ष्टि ॥ ४१३ ॥

अन्नदान भ्रूण हत्याका भी परिमार्जन कर देता है।

विवरण— अपने पास रक्खे हुए अन्नका देव, द्विज, ब्रह्मचारी, विद्यार्थी, दीन, अंध, आतुर, पंगु, रोगी, निःसहाय लोगोंको ही, जिन्हें पालना समाजका पवित्र कर्तव्य है, यथार्थ स्वामी मानकर प्रेमपूर्वक कर्तव्यबुद्धिसे दिया अन्नदान भयंकर पापोंका भी परिमार्जन कर देता है अर्थात् दाताको पुण्यात्मा बन चुकनेका आत्मप्रसाद देता है।

सच्चे दानसे मनुष्यकी पाप करनेकी प्रवृत्तियें ही मर जाती हैं। अनहंकृत दान ही दान है। अहंकारपूर्वक दिया दान दान न होकर एक प्रकारका व्यापार या कुसीदपर धन लगाना है। जिस मनुष्यके हृदयमें समाजकी दुर्भिक्ष पीडाके समय समाजका अन्नकष्ट दूर करनेकी उदार भावना समाज-नारायणकी अनन्यभक्तिका रूप लेकर उदित होजाती है, उस मनुष्यके हृदयकी पापप्रवृत्ति नष्ट होचुकी होती है। चाहे वह अपने अतीतमें भ्रूण-हत्या जैसे पाप ही क्यों न करचुका हो। ऐसा मनुष्य भूतकालमें पापी रहा होनेपर भी गीताके "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति" शब्दोंमें शीघ्र धर्मात्मा हो जाता तथा निरन्तर शान्ति पाजाता है। जब कोई दाता अपने हृदयकी दानप्रवृत्तिको समाजसेवामें नियुक्त कर देता है तब उसके हृदयमें प्रेमकी अमर गंगाकी धारा प्रवाहित होने लगती है। ऐसे मनुष्यके हृदयमेंसे पापप्रवृत्ति सदाके लिये लुप्त होजाती है।

पाठक ध्यान दें कि इस सूत्रमें भ्रूणहत्याके अपराधको हलका करनेके लिये दान देनेको नहीं कहा गया है। इसमें तो दानकी महिमा गाकर हृदयसे पापप्रवृत्तिको सदाके लिये निर्वासित करनेका अव्यर्थ उपाय बताया गया है। इस सूत्रमें समाजसेवाके लिये अपनी धनसंपत्तिपरसे अपना व्यक्तिगत अधिकार हटाकर उसपर अपने उपजीव्य समाजका अधिकार स्वीकार कर लेनेको ही अपने हृदयको पुण्यकी पवित्रतासे अमृतमय बना डालनेका रहस्य बताया गया है।

पाठान्तर— यथाचरितमन्नदानं ....।

विधिविहित रीतिसे किया अन्नदान शेष अर्थ समान है।

(धर्मका मूलाधार)

न वेदबाह्यो धर्मः ॥४१४॥

धर्म वेदसे बाहर नहीं होता।

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना संप्रकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

मनुने जिसका जो धर्म बताया है वह सब वेदमें वर्णित है। वेद समस्त ज्ञानका आगर है।

वेदविरुद्ध चलनेसे धर्म नहीं होता। वेदशासनके अधीन रहना ही मानवधर्म है। आत्मज्ञान मानवहृदयमें स्वभावसे विद्यमान् है। मानवहृदयमें स्वभावसे विद्यमान् आत्मज्ञान ही ऋषिप्रचारित वेद है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सासे हीन ऋगादिग्रन्थ वेद कहाते हैं। आत्माका अद्वैत अस्तित्व स्वीकार न करनेवाले धर्म वेदबाह्य धर्म कहाते हैं। वेदबाह्य धर्मों अर्थात् भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सासे अभिभूत लोगोंके रचे हुए ग्रन्थों या उपदेशोंसे प्रतिपादित धर्मोंका आचरण करनेसे मनुष्यका अकल्याण होता है। मैं कौन हूं ? संसार क्या है ? मेरे दूसरोंके तथा इस संसारके परस्पर क्या संबन्ध हैं ? इन अतीन्द्रिय तत्वोंपर अनुभवपूर्ण प्रकाश डालनेवाले ग्रन्थ वेद कहाते हैं। अपनी इन्द्रियशक्तियोंपर विजय पाकर शक्तिके यथार्थ स्वामीकी विजयमयी स्थिति लेकर रहना मनुष्यका जीवित वेद है। मनुष्यको कल्याणका मार्ग दिखानेवाली उसकी सदसद्विचारबुद्धि या उसका इन्द्रियविजय ही वेद है। "सकलं हि शास्त्रमिन्द्रियजयः।" इन्द्रियविजय ही वेदवेदान्तोंका सार सर्वस्व है। तत्वज्ञानकी जो अन्तिम साधना है वही तो इन्द्रियविजय है। असत्यको तो त्याग देना और सत्यको अपनाये रहना ही धर्म है। धर्म मनुष्यकी वह भावना है जो लोककी मर्यादा बनाये रखती अर्थात् उसके ऐहिक तथा मानसिक दोनों प्रकारके उत्थानका कारण बनती है।

कदाचिदपि (कथंचिदपि) धर्मं निषेवेत् ॥ ४१५ ॥

मनुष्य कभी (किसी प्रकार) तो धर्मानुष्ठान करे ।

विवरण— धर्मानुष्ठान ही मनुष्य-जीवनका ध्येय है । क्षणभरके लिए भी धर्मच्युत न होनेका सिद्धान्त प्रचार ही करने योग्य है । यह पाठ उचित प्रतीत नहीं होता ।

(धर्मद्रोह अकर्तव्य)

(अधिक सूत्र) **न कदाचिदपि धर्मं निषेधयेत् ।**

धर्मका विरोध कभी न करे और न कराये ।

विवरण— आत्मकल्याणमें मनुष्यमात्रका कल्याण तथा मनुष्यमात्रके कल्याणमें आत्मकल्याण देखनेवाली बुद्धि ही वेदप्रतिपादित मानवधर्म है । क्रोध, लोभ या द्वेषसे धर्मके प्रति अनादरकी मन्थनकारी उत्तेजना आजाने पर भी मन, वाणी तथा काया तीनोंमें धीरज रक्खे तथा धर्मविरुद्ध आचरणको न तो स्वयं अपनाये और न दूसरोंको धर्मनिषेधकी प्रेरणा दे ।

मनुष्य धर्मविरोधी आचरणको अपनाने तथा दूसरोंको धर्मच्युत होनेकी प्रेरणा देनेसे नीच अविश्वास्य तथा अपयशका भागी होजाता है । धार्मिक लोग आत्मसन्तुष्ट, परहित-निरत, माननीय तथा प्रशंसित रहते हैं ।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।

कल्याणकामी मानव अपने धर्मको काम, भय या लोभका प्रबलतम प्रभाव पडनेपर भी जीवित तकके लिये भी न त्यागे । मनुष्य धर्मरक्षाके लिये मृत्यु तकसे न डरे । मनुष्यको बारबार नहीं मरना है । उसे एक बार तो मरना ही पडेगा । सत्यरक्षाके नामपर मरना तो सौभाग्यशाली मृत्यु है । धर्महीन लोग स्वार्थान्धतासे पशुओंके समान काम, लोभ, क्रोधपरायण होकर दूसरोंपर निर्दय आक्रमण करते और कराते हैं । धर्महीन लोग जीवनमें अनन्त बार ज्ञानकी मौत मरते रहते हैं । ऐसे लोग संसारमें ऊंचेसे ऊंचा ऐश्वर्य पाकर भी सदा ही नीच कोटिके अविश्वास्य मानव माने जाते हैं ।

(स्वर्गका साधन)

स्वर्गं नयति सूनृतम् ॥ ४१६ ॥

सत्य मनुष्यको स्वर्गस्थ बनाता अर्थात् उसे अखण्ड सुखमयी स्थितिमें आरूढ कर देता है ।

विवरण— मनुष्यमात्रके कल्याणमें आत्मकल्याणबुद्धि ही सत्य है । मनुष्यका यथार्थज्ञान तथा तदनुकूल प्रामाणिक आचरण उसके जीवनको तथा उसके समाजको प्रत्यक्ष स्वर्ग बना देता है । दुःखातीत स्थिति ही स्वर्ग है । कामनातीत स्थिति ही सत्य है । सत्यको अपनाना निष्कामतारूपी अक्षय स्वर्ग पा लेना है ।

सत्यका अर्थ प्रत्यक्ष (नकद) भौतिक हानि उठाना और उठाकर भी आत्मप्रसाद देनेवाले सिद्धान्तको न छोडना है । असत्यका अर्थ प्रत्यक्ष (नकद) भौतिक लाभ उठानेके लोभमें आकर सिद्धान्तका सिर कुचलना है । सत्यसे मनका उत्कर्ष परन्तु भौतिक हानि अनिवार्य रूपसे होती है । क्योंकि सिद्धांतहीन लाभोंको घृण्य जानकर त्यागना ही सत्य है । असत्यसे मनका तो निश्चित रूपमें पतन होता, परन्तु भौतिक लाभ होता है । संसारका भोगवादी बहुमत सत्यसे भौतिक हानि तथा असत्य (सिद्धान्तहीनता) से भौतिक लाभ देखकर स्वर्गको ठुकराकर नरकनिवासको अपना लेता है । सत्यको अपनानेवालेको संसारमें धक्के, मुक्के, अपमान, विनाश और उपेक्षा नियमसे भोगनी पडती है । उसका मानसिक स्वर्ग ही उसके अत्याचारित पीडित हृदयको थामे रखनेवाला अकेला पृष्ठपोषक जीवनसंगी होता है । वही उनसे संसारकी बृहत्तम विपत्तियोंमें ढाढस बंधानेके लिये उसकी पीठपर अनुमोदनका हाथ लगाता रहता है । सत्य मनुष्यको और कुछ तो चाहे दे या न दे वह उसे स्वर्ग तो निश्चितरूपमें देता है । वह उसे दुःखातीत साम्राज्यका अनिभिषिक्त भूपति तो बना ही देता है । सत्य मनुष्यको मर्त्यलोकका कीडामकौडा न रहने देकर उसे स्वर्गकी दिव्य विभूति बना देता है । ओ सच्चे मानव ! बता तू सत्यसे इससे अधिक और क्या चाहता है ?

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥

(संसारमें सर्वत्र सत्यको धक्के लगनेपर भी सच्चोंके हृदयोंमें) सत्यकी ही विजय होती है। अनृतको (सच्चे लोगोंके हृदयोंमें) कभी भी विजय प्राप्त नहीं होती। (अनृत चाहे सारे संसारपर राज्य करने लगे परन्तु उसे सच्चोंके हृदयमें नियमसे पराजित, अपमानित, धिक्कृत और अस्वीकृत होकर रहना पड़ता है।) देवताओंका मार्ग सत्यसे पुरा पड़ा है। आप्तकाम ऋषिलोग उसी सत्यके मार्गसे देवत्वको प्राप्त हुए हैं। आप्तकाम लोग जिस पवित्र मानसिक स्थितिमें रहते हैं या रह रहे हैं वही सत्यका सनातन निवासस्थान है।

(सर्वश्रेष्ठ तपस्या)

नास्ति सत्यात्परं तपः॥ ४१७॥

संसारका कोई भी तप सत्यसे श्रेष्ठ नहीं है।

विवरण— मनुष्यसमाजके सार्वजनिक कल्याणमें आत्मकल्याणबुद्धि ही सत्य है। कामनातीत स्थिति ही सत्य है। कामात्मता मनुष्यकी आपात-मधुर हानिकारक, मनुष्यताविनाशक, पतनकारिणी आसुरी प्रवृत्ति है। परन्तु कामनाके विना मनुष्योचित जीवनव्यापार भी नहीं चलता। मनुष्यको कामनाओंके सदुपयोगकी कला सीखनी चाहिये। मनुष्य कामनातीत बननेमें ही कामनाओंका सदुपयोग कर सकता है। कामनाओंका सदुपयोग ही कामनातीत स्थिति पा लेना बन जाता है। मनुष्य निष्कामस्थिति पाना अपना लक्ष्य बना लेनेपर जो कुछ करता है सब फलाकांक्षारहित समाजकल्याणरूपी कर्तव्यपालनका रूप धारण कर लेता है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य इस संसारमें कुछ लेने या कुछ पदार्थोंका अस्थाई स्वामित्व पाने नहीं आया। वह तो इस सृष्टिनिर्माणका रहस्य समझने अपने तथा सृष्टिविषयक मिथ्या कल्पनाओंका विनाश करके ज्ञानमय लोकका निष्ठावान् सदस्य, अथवा अपने हृदयसिंहासनका सत्यरूपसम्राट् बननेके लिये

संसारमें आया है। निष्काम सत्यनिष्ठ व्यक्तिका सत्यनिष्ठ जीवन कर्तव्यमय तपोनिष्ठामें परिणत होजाता है। सत्यके परिस्थिति भेदसे समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, ध्यान, आर्यता, धृति, दया तथा अहिंसा ये तेरह रूप हैं।

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता।
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश॥

(स्वर्गका साधन)

सत्यं स्वर्गस्य साधनम् ॥४१८॥

सत्यनिष्ठारूपी स्वर्गका साधन भी तो स्वयं सत्य ही है।

विवरण— मानवहृदयवासी सत्यका एकमात्र काम यह है कि वह स्वार्थी प्रवृत्तियोंका परिमार्जन करके व्यवहारको परमार्थ बना डाले। सत्य स्वार्थभरी प्रवृत्तियोंका परिमार्जन करके मनुष्यको स्वर्गस्थ देवता बना देता है। मनुष्य यह जाने कि सत्य स्वयं ही अपना साधन है और स्वयं ही अपना साध्य है। सत्यनिष्ठ मनुष्य सत्यसे दूसरे किसी भी साधनको नहीं अपनाता। सत्य स्वातिरिक्त अवलम्बन नहीं चाहता। सत्यको अपनानेके लिये सत्यातिरिक्त साधनोंको अपनाना सत्यको त्यागकर असत्यको अपनाना होता है। मनुष्य सावधान रहे और सत्यके साधनोंके धोखेमें सत्यको ही तिलांजलि न दे बैठे।

जैसे पुण्यपापकारियोंके अन्तरात्माका आधा भाग न्यायाधीश तथा आधा दण्डनीय अपराधी या साधुवादका अधिकारी बन जाता है, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यका आधा भाग तो उसीके प्राप्य सत्यनारायणके सिंहासनपर जा बैठता है, तथा उसीका आधा भाग उसका आराधक बन जाता है। हम सब सृष्टिमें स्पष्ट अनुभव कर रहे हैं कि प्रत्येक मानवके भीतर सत्य ही

अज्ञातकालसे सत्यको पानेका अखण्ड उद्योग करता चला आरहा है। यही इस अनादि, अनन्त संसारक्रीडाका परम रहस्य है। यही सत्यनारायणकी अद्वैतलीला कहाती है।

(समाजव्यवस्था रखनेवाला तत्व)

सत्येन धार्यते लोकः ॥ ४१९ ॥

मानवसमाज सत्यसे ही सुव्यवस्थित रहता है।

विवरण— समाजके सार्वजनिक कल्याणमें आत्मकल्याणबुद्धि ही सत्य है। सत्य ही मानवसमाजको धारण करनेवाला आश्रय या समाजबन्धन है। सत्यहीन समाज समाजबन्धनहीन छिन्न भिन्न स्वेच्छाचारियोंका उच्छृंखल झुंड है। असत्याचरणसे इस संसारमें अव्यवस्था फैलती है जो इसका सर्वनाश कर डालती है।

(देवोंकी कृपा बरसानेवाला तत्व)

सत्याद् देवो वर्षति ॥ ४२० ॥

सत्यसे मानवसमाजके ऊपर देवोंकी कृपा बरसने लगती है। सत्याधीन समाजमें दैवीशक्ति सत्यकी वर्षा करती है। सत्यहीन समाजमें आसुरीशक्ति प्रबल बन जाती है।

विवरण— समाजमें सत्याचरणके वृद्धिंगत होनेपर मानवसमाजका अधिष्ठातृ देवता अपनी कृपावृष्टि करने लगता है। आत्मकल्याणको समाजकल्याणमें विलीन कर डालनेवाली मानवीय बुद्धि ही सत्य है। यह बुद्धि वह सत्य है जो देवोंको कृपा बरसानेके लिये विवश कर डालता है। इस सत्यके मूर्तिमान् अवतार, ज्ञानवृद्ध, समाजसंरक्षक, मुनि, ऋषि लोग ही कृपा बरसानेवाले देवता हैं। जैसे आकाशचारी मेघ आतपक्लान्त वसुन्धराको अमृतमय जलोंसे सींचकर हराभरा बनाये रहते हैं इसी प्रकार ये ज्ञानवृद्ध, समाजसंरक्षक, ऋषिमुनि लोग प्रागैतिहासिक कालसे सत्यसुखेच्छु मानवहृदयके ऊपर शान्तिधाराकी अमर वर्षा करते चले आरहे हैं।

इसके विपरीत प्राकृतिक विधानसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, उल्कापात, शलभ, दुर्भिक्ष, महामारी आदि संकट काल आ खडा होनेपर भी यदि समाजमें समाजकल्याणबुद्धि जाग रही हो और उससे समाजबन्धन सुदृढ रहरहा हो तो इन सार्वजनिक आकस्मिक विपत्तियोंको व्यर्थ करनेकी शक्ति समाजके सहोद्योगसे उत्पन्न होसकती है। समाजमें आकस्मिक विपत्तियोंको सामाजिक सहोद्योगसे व्यर्थ करनेकी शक्तिके उत्पन्न होजानेपर वह शक्ति सार्वजनिक कल्याणमें उपयुक्त होने लगती और समग्र समाजपर सुखशांति बरसाने लगती है। समाजमें सत्यका अभाव होजाने अर्थात् सम्पूर्ण समाजके सत्यहीन होजानेपर समाजमें अन्नकष्ट, महामारी, राष्ट्रविप्लव, बाह्य आक्रमण आदिका प्रकोप संहारकी मूर्ति धारण कर लेता है। समाजके सत्यहीन होजानेपर इन ऊपरवाले प्रकोपोंके न होनेपर भी जब समाजमें समाजघाती आसुरी शक्तिका प्रकोप होजाता है तब वह प्रकृतिकी सुभिक्ष करनेवाली अमृतवर्षाको भी व्यर्थ बनाकर अपने विषाक्त मनसे समाजको विनष्ट कर डालता है। सत्य ही समाजको धारण करनेवाला एकमात्र आधार है। सत्यहीनता आपाततः चाहे जितनी मधुर फलवर्षिणी लगनेपर भी आसुरिकताकी ही संहारलीला है।

अथवा— मानवसमाजमें सत्यकी प्रतिष्ठा रहनेपर ही देशमें अपेक्षित उचित वृष्टि होती है।

देशमें सुव्यवस्थिति शान्तिवृष्टि चाहनेवाले लोग देशवासियोंके चरित्रमें सत्यकी रक्षा होते रहनेका पूर्ण प्रबन्ध करें। देशके चरित्रमें सत्यका द्रोह भी होता रहे और वहां सब प्रकारकी शान्ति भी बनी रहे यह संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि मनुष्य इस बातको जाने या न जाने और माने या न माने वह स्वयं ही इस सृष्टिका विधाता है। इसलिये उसके चरित्रका सृष्टिप्रबन्धपर प्रभाव पडना अनिवार्य है। जैसे गृहव्यवस्थापर कौटुम्बिक लोगोंके पारस्परिक मनोमालिन्य और असहयोगका दुष्प्रभाव पडे बिना नहीं रहता, इसी प्रकार संसारके लोगोंके दुश्चरित्रका सांसारिक

समस्त व्यवस्थापर प्रभाव पडना अनिवार्य है। मनुष्योंमेंसे सार्वजनिक कल्याणबुद्धिके अन्तर्हित होजानेपर मनुष्योंकी दुर्भावनायें ध्वनिक्षेपक यन्त्रोंसे प्रसारित ध्वनियोंके समान इस समस्त विश्व तथा इसकी समस्त शक्तियोंपर अपना दुष्प्रभाव डाले विना नहीं मानतीं और वसुन्धराके प्राकृतिक वर्षासे सुसिंचित होनेपर भी उनका फल जनताकी रक्षाके उपयोगमें न आकर समाजकी शान्तिके शत्रु आसुरी शक्तिके अधिकारमें पहुंचकर मनुष्य-समाजमें ऐसा ही हाहाकार मचवा देता है जैसा कि अतिवृष्टि आदिसे होता है। यही इस सूत्रका महत्वपूर्ण अभिप्राय है।

अथवा— कुछ लोग इस सूत्रका सत्यानुष्ठानसे जलवृष्टि होती है यह अर्थ करते हैं। यही विचार चरकाचार्यने निम्न शब्दोंमें प्रकट किया है। विमानस्थान ३, अध्याय २०, २१ वाक्यसमूह—

अथ खलु भगवन् कुतो मूलमेषां वाय्वादीनां वैगुण्यमुत्पद्यते ? येनोपपन्ना जनपदमुद्ध्वंसयन्तीति ॥ २० ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—

सर्वेषामप्यग्निवेश ! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतम्। तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। तद्यथा- यदा देशनगरनिगम-जनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्त-यन्ति तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्म-मभिवर्धयन्ति। ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते। तेषां तथा-न्तर्हितधर्मणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते। तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति, नवा वर्षति, विकृतं वा वर्षति, वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षिति र्व्यापद्यते, सलिलान्युपशुष्यन्ति, ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिम्। तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पर्श्याभ्यवहार्यदोषात् ॥ २१ ॥

भगवन्, कृपया बताइये कि वायु, वृष्टि आदि क्यों ऐसे विगुण होजाते हैं कि देशका ध्वंस कर डालते है ?

भगवान् आत्रेयने उत्तर दिया— अग्निवेश ! मनुष्यसमाज ही हतध्वंसका अपराधी है। वायु आदिमें जो वैगुण्य पैदा होता है उसका मूल अधर्म है। अधर्मका मूल लोगोंकी असद् भावनायें हैं। दोनोंका मूल प्रज्ञापराध या राष्ट्रमें नीतिहीनताका प्रसार होजाना है। कैसे सो सुनिये— जब देश, नगर, ग्राम तथा प्रान्तोंके प्रधानपुरुष अर्थात् राज्याधिकारी लोग धर्मका मार्ग त्यागकर प्रजाके साथ अधर्मयुक्त व्यवहार करते हैं तब उनके आश्रित, उपाश्रित लोग तथा किसान, शिल्पी, व्यापारी आदि व्यवहारोपजीवी लोग पापोंको और अधिक बढावा दे देते हैं। तब वह अधर्म धर्मको ढक लेता है। तब वे धर्मको ढककर अधर्मप्रधान बनकर देवताओंका अपमान करने लगते हैं। उन अधार्मिकोंके अधर्मके प्रभावसे ऋतुएं विकृत होजाती है। उससे देव यथाकाल जल नहीं बरसाता या सर्वथा नहीं बरसाता अथवा अनियमित वृष्टि करता है। वायु ठीक नहीं बहते। पृथिवी वन्ध्या होजाती है। जल सूख जाते हैं। ओषधि अपना गुण छोडकर विकृत होजाती हैं। तब देशोंका ध्वंस होनेकी स्थिति आखडी होती हैं।

(सबसे बडा पाप)

नानृतात्पातकं परम् ॥ ४२१ ॥

अनृत व्यवहारसे बढकर कोई पाप नहीं है।

विवरण— सत्यको तो त्याग देना और मिथ्याचारी सत्यद्रोही बन जाना अपनी मनुष्यता त्यागकर असुर बन जाना है जो कि संसारका सबसे बडा पाप है। मनुष्यका शरीर मनुष्य नहीं है। उसका मन ही मनुष्यताका निवासस्थान है। जीवनमें मनुष्यताकी रक्षा न होनेसे मनुष्य मनुष्य-माताके पेटसे उत्पन्न होकर भी असुर बन जाता है। आसुरिकता मूर्तिमान् पाप है। आसुरिकताकी नसनस पापसे ठसाठस भरी हुई है। विश्वासपात्र लोगोंके साथ अनृत व्यवहार कर सकनेवाला किससे कौनसा पाप नहीं कर सकता ?

योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तां तु यः स्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥

जो पुरुष विश्वासपात्र भद्र पुरुषोंके साथ अविश्वासका व्यवहार करता है, वह पापी और चोर है। वह अपनी गर्भधारिणी माता, अन्नदाता पिता, स्नेहपरायण सहोदर, सहोदरा तथा संपूर्ण कुटुम्बवालोंके साथ विश्वासघात कर चुका है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह जीवनभर सबको ठग ही ठग रहा है। उसने संसारमें किसीके साथ विश्वास और प्रेमका संबन्ध स्थापित नहीं किया है। उसने सत्यका अमृतास्वादन नहीं किया है। सत्यकी मधुरता उसकी कल्पनामें भी नहीं है। वह तो पशुसे भी अधम मनुष्यता-विध्वंसी असुर है।

संसारके समस्त व्यवहार वाणीमेंसे उत्पन्न होते, वाणीमेंसे निकलते और उसीपर आधारित रहते हैं। मानवजीवनकी रचनामें वाणीका महत्वपूर्ण स्थान है। समस्त व्यवहारोंकी आधारशिला वाणी जैसी वह मनसे निकल कर आई थी, वैसा उसे विश्वासपात्रोंसे न कहकर, उसे अपने स्वार्थसे बदलकर चुराकर दूसरी बनावटी वाणी कहनेवाला समस्त चोरियोंका अपराधी है।

ध्यान रहे कि विश्वासके संबन्धसे हीन पापियोंसे प्राणरक्षा, धनरक्षा, सत्यरक्षा या सज्जनरक्षाके लिये बातको विकृत करके कहना कर्तव्य होता है। आततायीको जिस किसी उपायसे धोखा देकर आत्मरक्षा करना असत्य-विरोधरूपी अनाविल सत्य ही माना जाता है। पापीको इससे विश्वास पानेका अधिकार न होनेसे उसे उसके पापके संबन्धमें धोखा देकर उसकी पापप्रवृत्तिको व्यर्थ करना न केवल अपाप है, प्रत्युत वह पापको व्यर्थ करनेवाला आवश्यक धर्म है।

पाठान्तर— नानृतात् परं पापम् ।

८५ (चाणक्य.)

(गुरुओंकी भावना समझनेका प्रयत्न करो)

न मीमांस्या गुरवः ॥ ४२२ ॥

गुरुजनोंका छिद्रान्वेषण न करना चाहिये ।

विवरण— मनुष्य हिताकांक्षी ज्ञानवृद्धोंके सूक्ष्मबुद्धिसे किये गये कार्योंकी प्रतिकूल समालोचना न करके उनका हृद्गत अभिप्राय समझनेका प्रयन्त करे । वह उनकी अवस्थाजनित अभिज्ञतासे अपरिचित होनेके कारण उनकी अनधिकृत मीमांसा करके कार्यमें व्याघात न करे, अपने अशिष्टाचरणसे उनकी हिताकांक्षाके प्रवाहको न रोके और अपनेको उनके नेतृत्वके कल्याणकारी प्रभावसे वंचित न करे । ऐसा करनेसे समालोचककी सत्यदर्शनकी अयोग्यता तथा अन्धा दुराग्रह भी प्रकट होगा और हानि भी होगी ।

(दुर्जनतासे बचो)

खलत्वं नोपेयात् ॥ ४२३ ॥

मनुष्य खलताका आश्रय न करे ।

विवरण— उन्नतिकामी मानव आसुरिकतासे बचकर रहे । साधुजनोंसे प्रवंचनापूर्ण व्यवहार करना ही खलता है । सूत्र कहना चाहता है कि मनुष्य कलह, दुर्जनता या पिशुनताको न अपनावे । दुर्जनका जीवन मानवमातासे उत्पन्न होनेपर भी मानवजीवन नहीं गिना जा सकता । दुर्जन होना मानवजीवनका लक्ष्य नहीं है । दुर्जन होना तो मानवजीवनकी व्यर्थता है । जिसके हृदयस्थ मानवीय गुणोंको जीवनमें, व्यवहारमें आनेका अवसर ही नहीं मिलता वही दुर्जन है । दुर्जन अपने जीवनको अशान्तिकी अनलमें दग्ध करता रहता है । दुर्जन अपने जीवनको नष्ट करके ही दूसरोंके साथ दुर्जनता कर सकता है ।

पठान्तर— **कलहं नोपेयात्** ।

मनुष्य किसीसे अकारण कलह न करे ।

(धूर्तोंकी मित्रहीनता)

नास्ति खलस्य मित्रम् ॥ ४२४ ॥

धूर्तका कोई मित्र नहीं होता ।

विवरण— सज्जनसे दुर्व्यवहार करनेवाला खल बन्धुहीन होता है। मित्रताका गुण सज्जनोंमें ही रहता है। दुर्जन सज्जनोंसे वैर करके अनिवार्य रूपसे बन्धुहीन होकर मित्रद्वेषी बन जाता है। सत्य ही मित्रताका बन्धन है जो धूर्तमें नहीं होता। धूर्त सत्यहीन होता है। सत्यहीन धूर्त किसी एकका ही नहीं मनुष्यमात्रका जन्म-वैरी है। धूर्त लोग परस्पर सहायक दीखनेपर भी पारस्परिक अधःपतनमें ही एक दूसरेके सहायक साथी बना करते हैं। ये लोग अभ्युत्थानमें कभी किसीके मित्र नहीं होते। ये लोग पारस्परिक उपकारके मिषसे एक दूसरेका सर्वनाश ही किया करते हैं। इस कारण इन लोगोंको एक दूसरेका मित्र न कहकर शत्रु ही कहना चाहिये। धूर्तोंके हृदय मित्रताकी उदारस्थितिके लिये ऊसरभूमि होते हैं। न तो धूर्त किसीका मित्र होता है और न उसका ही कोई मित्र होता है।

न दुर्जनः सहायः स्यात् भुजंगप्रकृतिर्यतः।
उपकारच्छलेनैव पश्चाद् दुःखं प्रदास्यति॥

दुर्जन दूध पिलानेवालेको भी डंक मारनेवाले सांपकी प्रकृतिका होनेसे कभी किसीका सहायक नहीं बनता। वह उपकारके मिषसे अपने मित्र कहलानेवालोंकी भी हानि ही करता है।

पाठान्तर— नास्ति कलहस्य मित्रम्।

शान्तिप्रिय लोग कलहप्रिय लोगोंके मित्र नहीं हुआ करते। यह पाठ महत्वहीन होनेसे अपपाठ है।

(दरिद्रताके कष्ट)

लोकयात्रा दरिद्रं बाधते ॥ ४२५ ॥

जीवनयात्राकी समस्या दरिद्रको चिन्तित रखती है।

विवरण— अपने प्रत्येक सदस्यको सम्पन्न बनाये रखना तथा विलास, व्यसन, दुराचारसे मुक्त रखना समाजका उत्तरदायित्व है। समाजव्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि समाजका प्रत्येक सदस्य जीवनकी निर्दोष सुख-सुविधा पाता रहे। समाजकी विचारधारा ऐसी होनी चाहिये कि समाजका प्रत्येक सदस्य समाजके सार्वजनिक कल्याणको अपना कल्याण समझकर समाजहितकी अविरोधी प्रवृत्ति रखनेवाला हो। परन्तु यह कितनी दुःखद स्थिति है कि व्यक्तिगत धनाध्यक्ष अर्थात् अमीर बननेकी संकीर्ण दृष्टि समाजसे सामाजिक विचारधाराको छीन लेती है। 'अमीरी' नामक रोग ही समाजकी दरिद्रताका उत्पादक है। उसके परिणामस्वरूप समाजमें अनैतिकता, स्वार्थान्धता, विलासिता, व्यसनासक्ति, दुराचारके कारण दरिद्रता नामकी व्याधि उत्पन्न होजाती है।

जिस समाजके सत्यनिष्ठ सीधे साधे अनुत्कोचजीवी, अनपहारक अमायावी, निष्कपट लोग दरिद्रताके कारण जीवनयात्राकी समस्याके समाधानमें असमर्थ हो रहे हों समझलो कि वह समाज अपने उन भद्र पुरुषोंसे शत्रुता करके अनैतिक, स्वार्थी, विलासी, व्यसनासक्त, दुराचारी बनकर उनसे धन ऐंठकर या उन्हें सदुपायोंसे धनसंग्रह न करने देकर उन्हें दरिद्रतासे पीडित कर रहा है। राष्ट्रकी सच्ची सेवा करनेवाली राज्यसंस्थाका निर्माण करनेवाले आदर्श राष्ट्रका यह उत्तरदायित्व है कि वह जनताको दरिद्रतारूपी व्याधिसे मुक्त, परिवारपालनकी भोजनाच्छादनादि सामग्रियोंकी ओरसे निश्चिन्त बनाकर रखता हुआ समाजसेवाकी प्रवृत्ति रखनेवाले विद्वान् विवेकी लोगोंके कर्मोत्साहसे अपने समाजको शक्तिमान् बनाये रखे। जहांकी राज्यव्यवस्थामें उदरम्भरि आत्मम्भरि संकीर्णचेता लोगोंकी भरमार होती है वहांकी राज्यशक्ति जनताके धन तथा प्राणोंके निर्मम हत्यारे दस्युओं, लुटेरोंके हाथोंमें फंसे विना नहीं रह सकती। दरिद्रता मिटानेका एकमात्र उपाय क्षुद्रव्यक्तिगत स्वार्थभावनाहीन, अव्यसनासक्त, अनलस, उत्साहसम्पन्न रहकर कर्तव्यनिष्ठाको अपनाये रहना है। मनुष्य जीवनयात्राके लिये वैध

उपाय करे और इन सत्प्रयत्नोंके परिणामस्वरूप यथाप्राप्त जीवनसाधनको पर्याप्त मानकर उन्हींसे सहर्ष जीवनयात्रा करे, यही दरिद्रता मिटानेका मानवाधीन एकमात्र संभव उपाय है।

समाजकल्याणमें आत्मकल्याणबुद्धि रूपी सत्यको अपनाये रहकर धनाभावमें भी सत्याभाव न होजाने देना मानवकी दुःखातीत स्थिति या दुःखमें भी सुखी रह सकनेका निराला मार्ग है। फलाकांक्षाको मुख्यता न देकर कर्तव्यपालनको मुख्यता देनेका आत्मसन्तोष लेते रहना ही दारिद्र्य भीतिको परास्त करनेकी रामबाण चिकित्सा है। यदि दरिद्र लोग धनाभावसे सत्याभाव न होने देनेकी दृढता रखें तो वे अपने दरिद्र आकिंचन जीवनमें भी देवदुर्लभ स्वाभिमान भोग सकते हैं। धनगर्वित धनोपासक लोग चाहे जितने धनी होनेपर भी धनाभावका रोना रोया ही करते हैं। ऐसे लोगोंके पास धनकी न्यूनता न रहनेपर भी इनकी कोटिपति बननेकी इच्छा ही इनकी दरिद्रता है। इस प्रकारके कृपण लोग भी दरिद्र कोटिमें गिने जाते हैं। कौडीका कंगाल जितना कंगाल है करोडोंका कंगाल भी उतना ही कंगाल है। कंगलापन या दरिद्रता परस्वापहरण करनेवाली उस मानसिक स्थितिका ही दूसरा नाम है जो सदा अपनेको अभावग्रस्त समझती और विषयक्षुधाकी ज्वालासे सदा ही झुलसती रहती है।

> अधोधः पश्यतः कस्य महिमा नोपजायते।
> उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति॥

प्रत्येक मनुष्य अपनेसे नीची आर्थिक स्थितिवालोंकी तुलनासे श्रीमान् कहा जाता है। इसीके साथ यदि मनुष्य अपनेसे अधिक श्रीमानोंपर दृष्टि डाले तो प्रत्येक मनुष्य निर्धन कहा जा सकता है। धनी और निर्धनका कोई भी ऐसा मापदण्ड नहीं है जो निश्चितरूपमें किसीपर लागू होसके। यह मनुष्यकी मानसिक स्थितिपर निर्भर करता है कि वह अपने धर्मानुकूल उपार्जनसे सन्तुष्ट होता या नहीं? जो सन्तुष्ट है वह धनी है, जो सन्तुष्ट

नहीं है वह निर्धन है। यही बात "मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः" में कही है।

पाठान्तर— लोकयात्रा दरिद्रान् बाधते।

(सच्चा वीर)

अतिशूरो दानशूरः ॥ ४२६ ॥

दानमें शूरता दिखानेवाला सच्चा शूर है।

विवरण — अपने पास धरोहरके रूपमें रक्खी वस्तुको उसका सत्यरूपी वास्तविक अधिकारी पाते ही उसको उसे सौंपकर उऋण होनेकी स्थिति ही दान है। सत्यके हाथोंमें आत्मदान कर चुका व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण भौतिक शक्ति तथा सामर्थ्यको सत्यके हाथोंमें सौंपकर सत्यको ही अपना कोषाध्यक्ष बनाकर निर्विघ्न बन जाता है। उसकी मानसिक शान्तिके सम्मुख समग्र विश्वकी प्रतिकूलता पराभूत रहती है।

असत्य-विरोध तथा अज्ञान-संहार आदि राष्ट्रीय महत्व रखनेवाले काम दानशूरोंके कर्तव्यपालनकी भावनासे ही चलते हैं।

(मानवचरित्रका आभरण)

गुरुदेवब्राह्मणेषु भक्तिर्भूषणम् ॥ ४२७ ॥

गुरुदेव तथा ब्राह्मणों (भूदेवों) की भक्ति ही मनुष्यको सुशोभित करनेवाला भूषण है।

विवरण— विद्या, कौटुम्बिक संबन्ध तथा आयुमें ज्येष्ठ सदुपदेशदाता गुरु, दैवीसंपत्तिरूपी भागवतसत्ता तथा तपःश्रुतिसम्पन्न ब्रह्मदर्शी ब्राह्मणोंकी परमानुरक्तिरूपी भक्ति अर्थात् आत्मसुधारके लिये उनके वातावरणमें आत्मसमर्पण करके रहना, मानवचरित्रका आभरण है। मनुष्य गुरु, ईश्वर तथा ब्रह्मवेत्ता लोगोंके साथ अहैतुक अनुराग रखनेसे शिष्ट, शिक्षित, सदाचारी, विश्वसनीय तथा आदरपात्र बनते हैं।

पाठान्तर— भूषणं गुरुदेवब्राह्मणेषु भक्तिः।

(मनुष्यमात्रका भूषण)

सर्वस्य भूषणं विनयः ॥ ४२८ ॥

विनय (अर्थात् सत्यनारायणकी सेवामें आत्मसमर्पण करके सत्यस्वरूप सुशील, नम्र, विनीत, कर्तव्यशील बन जाना) मनुष्यमात्रका भूषण है।

अकुलिनोऽपि विनीतः कुलीनाद्विशिष्टः ॥ ४२९ ॥

कुलीनताके अहंकारमें डूबे हुए सत्यहीन, अविनीत व्यक्तिकी अपेक्षा अप्रतिष्ठित घरमें उत्पन्न होनेपर भी सत्यको शिरोधार्य करके जीवनयापन करनेवाला विनीत व्यक्ति श्रेष्ठ होता है।

(आर्यत्वकी पहचान)

(अधिक सूत्र) आचारवान् विनीतोऽकुलीनोऽपि आर्यः ।

विनय तथा आचारसे सम्पन्न मनुष्य उच्च कहलानेवाले कुलमें उत्पन्न न होनेपर भी आर्य ही है।

विवरण— सदाचार तथा विनयसे हीन आर्य नामधारी भी अनार्य ही कहाता है। आचार तथा विनय ही आर्यत्वके हेतु हैं। अमरमें आर्य, सभ्य, सज्जन, साधु इन सबको एकार्थक कहा है—

" महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः । "

नीतिमें कहा है—

" अकुलीनोऽपि शास्त्रज्ञो दैवतैरपि पूज्यते । "

देव भी शास्त्रमर्यादामें रहनेवाले अकुलीनकी पूजा करते हैं।

(आचार पालनके लाभ)

आचारादायुर्वर्धते कीर्तिश्च ॥ ४३० ॥

सदाचार पालनेसे आयु तथा यशकी वृद्धि होती है।

विवरण— सदाचारसे इन्द्रियविजय, उससे स्वास्थ्य, उससे इन्द्रिय-

नैर्मल्य, उससे बुद्धिकी प्रखरता, नैरोग्य तथा आयुकी वृद्धि होती है। १– गुरुपरम्परासे प्राप्त, २– ग्रन्थोंमें अलिखित परन्तु विशिष्ट कुलोंमें प्रचलित, तथा ३– शास्त्रोंमें उल्लिखित भेदसे सदाचार तीन प्रकारका होता है।

(अवक्तव्य)

प्रियमप्यहितं न वक्तव्यम् ॥ ४३१ ॥

अहितकारी प्रियवचन कभी न कहना चाहिये।

विवरण— हितकारी कटु बात तो कह दे, परन्तु किसीको अनुचित उपायोंसे प्रसन्न करने या ठगनेके लिये अहितकारी प्रिय वचन न बोले। अहितकारी प्रिय वचन समाजहितके लुटेरे आततायियोंको ही प्रिय लगा करता है। जिसे अहितकारी प्रिय वचन अच्छे लगते देखो उसे निःशंक होकर आततायी मान लो। यदि किसी राष्ट्रके प्रमादसे उसकी राज्यशक्ति उजले वस्त्र पहननेवाले प्रभुतालोभी धूर्तोंके हाथोंमें जा फंसी हो तो समझना होगा कि इस राष्ट्रने अपने हितोंको तिलांजलि देकर समाजके शत्रु धूर्तोंको ही राष्ट्रपर प्रभुता करनेका अधिकार दे रक्खा है। तब समझना होगा कि वह राष्ट्र उन प्रभुतालोभी आततायियोंके कानोंको प्यारे लगनेवाले, उनकी आसुरिकताकी ही चाटुकारिता करनेवाले वचनों, लेखों, व्याख्यानों, नारों तथा प्रचारोंसे लुटेरे, धूर्त असुरोंको प्रसन्न करनेमें लगा हुआ है और समाजके अहितकारी असुरराजका ही समर्थक बन गया है।

यह स्थिति किसी भी राष्ट्रके लिये महान् संकटकी स्थिति है। ऐसे राष्ट्रीय संकटोंके अवसरपर समाजका सच्चा हित चाहनेका अभिमान करनेवाले लोगोंको आगे आना चाहिये। प्रभुतालोभियोंके मिथ्या प्रचारमें सम्मिलित होनेसे न केवल बचना चाहिये प्रत्युत उसका विरोध करना चाहिये। समाजहितैषी लोगोंको प्रभुतालोभियोंकी आसुरिकतापर चोट पहुंचानेवाले, उन (सामाजिक लुटेरों) की दुरभिसंधियोंका भण्डाफोड करके उनके सन्तापक समाजका सच्चा हित करनेवाले असुरविध्वंसी सत्यका प्रचार करके राष्ट्रके

जननारायणको झकझोर कर जगा डालना चाहिये और उसे असुरराजके विरोधमें खड़ा कर देना चाहिये। प्रसन्न करनेके अभिप्रायसे बोला अहितकारी वचन अनिवार्य रूपसे मिथ्या होता है। इस प्रकारका वचन न कहनेमें मनुष्यका अपना कल्याण है।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

मनुष्य सत्यवचन कहे परन्तु उसीसे कहे जिसे यह जान ले कि इसे सत्यवचन प्रिय भी लगेगा और ग्राह्य भी लगेगा। (दूसरे शब्दोंमें ऊसर भूमिमें अपने सत्यका वपन न करे। जिसे सत्य अप्रिय लगता हो उससे सत्य कहकर उससे वाक्कलह मोल न ले) जिस श्रोताको मिथ्या सिद्धान्त-हीन असमानवोचित वचन प्रिय लगता हो उसे प्रसन्न करनेकी निर्बल भावनाके वशीभूत होकर उससे मिथ्या वचन न कहे। यह सतर्कता ही सत्यभाषणके संबन्धका सनातन धर्म या सत्यभाषणसंबन्धी सतर्कता है।

(व्यक्तित्वके पीछे न चलकर सत्यके पीछे चलो)

बहुजनविरुद्धमेकं नानुवर्तेत॥ ४३२॥

बहुजनहितके विरुद्ध एकका अर्थात् किसीके व्यक्तित्वका अनुगमन न करे।

विवरण— मनुष्य अनेक (समाज) और एक (व्यक्तित्व) मेंसे त्याज्य ग्राह्यकी समस्या उपस्थित होनेपर एक अर्थात् व्यक्तित्वके पीछे अंधा होकर चलनेकी प्रवृत्तिको तो त्याग दे और अपनी स्वतंत्र विचारबुद्धिको काममें लाकर उसीसे अपना तात्कालिक कर्तव्य निश्चय करे। अर्थात् दल-मिश्रित न हो क्योंकि दल व्यक्तित्वानुगामी होता है। यदि मनुष्य ऐसे समय अपने स्वतंत्र विचाराधिकारको तिलांजलि देकर बहुजन अर्थात् समाजविरोधी एक व्यक्तिके व्यक्तित्वका अन्धानुगमन करता है तो उसका आत्मकल्याण नहीं होता। सर्वावस्थामें समाज-हितको ही ध्येय रखना चाहिए।

संसारमें नेता या गुरुनामधारी लोग अनुयायियोंको अपने व्यक्तित्वके पीछे चलाते आ रहे हैं। सूत्रकारको समाजकी यह स्थिति सह्य नहीं है। वे इस सूत्रमें बहुमतके विरुद्ध एकके पीछे न चलनेके सम्बन्धमें सावधान वाणी कहकर स्पष्ट कह रहे हैं कि समग्र मनुष्यसमाजके कल्याणका विरोध करनेवाले किसी भी मतवादी नेता या गुरुके पीछे मत चलो; किन्तु जिस सत्यके पीछे चलनेसे समग्र मानवसमाजका कल्याण होता हो, होता आरहा हो या होनेकी पूर्ण संभावना हो उस सत्यका स्वयं दर्शन करो और उसीके पीछे चलो। इस रीतिसे सत्यके पीछे चलते हुए तुम्हें कोई एक मनुष्य साथीके रूपमें मिल जाय या तुम्हें किसी एकके साथ चलना पडे तो तुम्हारे मनमें इस आन्तरिकता सन्तोष अटल रहना चाहिये कि मैंने किसी व्यक्तिके पीछे न चलकर सत्यके पीछे चलकर सत्यकी सेवा की है। यह सूत्र मनुष्यकी व्यक्त्यनुगामिता छुडाकर उसे सत्यानुगामी बनाना चाहता है। मनुष्यको बहुमतानुगामी बनाना तो इस सूत्रका उद्देश्य कदापि नहीं है।

इस सूत्रमें बहुमतके अंधानुगमनका उपदेश नहीं दिया है। किन्तु एकके अन्धानुगमनका निषेध करके किसीके व्यक्तित्वके पीछे चलनेका ही निषेध किया है। मनुष्यको सत्यको अपनाने और उसीके पीछे चलनेका संतोष पाना चाहिये किसीके अनुगमनका नहीं। बात यह है कि एक या बहुत दोनोंसे अप्रभावित रहकर केवल सत्यका अनुगमन करनेसे ही कर्तव्यपालनका संतोष होता है, अन्यथा नहीं। यदि सूत्रका यह अभिप्राय होता तो इसे स्पष्ट शब्दोंमें यों कहना चाहिये था—

"बहुमतविरुद्धमेकं त्यक्त्वा बहुमतमनुवर्तेत।"

अर्थात् बहुमतविरोधी एकको त्यागकर बहुमतका ही अनुसरण करना चाहिये।

कुछ टीकाकार इस सूत्रका बहुजनविरोधी एकका साथ छोडकर बहुमत के साथ देना अर्थ करना चाहते हैं। वे चाहे ऐसा समझें परन्तु सूत्र अपने मुखसे यह बात कहना नहीं चाहता। उसने तो सम्पूर्ण समाजको

ही मनुष्यके सम्मुख उपस्थित करके स्वतन्त्र ··· ··· रीतिसे सोचकर समाजकल्याणकारी कर्तव्य करनेका उपदेश दिया है। सूत्रकी वचन परिपाटीकी गम्भीरता समाजके साथ अंधा बनकर चलनेको मना कर रही है और समाजकल्याणको अपनानेका उपदेश दे रही है। सूत्रकार स्वयं अपने मुखसे—

'सारं माहाजनः संग्रहः पीडयति।'

इस सूत्रमें बहुमतीय निर्णयोंका विरोध कर चुके हैं।

'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः।'

यह किंवदन्ती भी बहुमतको अविश्वास्य घोषित कर रही है। साधारण लोग विचार कर काम करनेवाले या सन्मार्ग छांटकर फिर उसपर चलनेवाले न होकर भेडा-चाल होते हैं। बहुमत कभी भी विचारशीलोंका नहीं होता। बहुमत चाहे सारा समाज ही क्यों न हो, उसका भी अन्धानुगमन न करके चक्षुष्मान होकर सत्यका अनुगमन करनेसे ही सम्पूर्ण समाजका कल्याण होता है। जिसमें समग्र मानवसमाजका कल्याण है वही चाणक्य जैसे विचारकको कहना चाहिये और वही उसके सूत्रका अर्थ भी होना चाहिये।

कभी कभी बहुमतका विरोध करना देशके विचारशील लोगोंका स्पष्ट कर्तव्य होता है। ऐसे प्रसंग बहुधा आते हैं जब समाजके अनुभवी विद्वानोंको अपने देशके मूढ बहुमतका विरोध करना पडता है। जब बहुजन विरोधमें एकका मत सकलजनहितकारी होता है उस समय विज्ञ लोगोंको अज्ञानियोंके बहुमतका अनादर करना ही पडता है। इसलिये इस सूत्रका यह यथाश्रुत अर्थ अनुभव विपरीत होनेसे उपादेय नहीं हो सकता कि बहुजनविरोध हो तो एक किसीका अनुसरण न करके बहुमतका अनुसरण करना चाहिये। यह अर्थ मानवकी सत्यनिष्ठा (या स्वतन्त्रता) पर चोट करनेवाला होनेसे मान्य नहीं है।

(दुर्जनोंका साझा हानिकारक)

न दुर्जनेषु भागधेयः कर्तव्यः ॥ ४३३ ॥

मनुष्य हीनस्वभाववाले दुष्ट, क्रूर दुर्जनोंके साझेमें कोई काम न करे।

विवरण— दुर्जनोंको किसी भी काममें साझी न बनाये। दुर्जन लोग स्वयं तो नष्ट हो ही चुके होते हैं और दूसरोंको भी नष्ट कर डालते हैं। ये बडे कृतघ्न होते हैं। जैसे दुष्ट वायुमें रहनेसे अस्वास्थ्य और रोग होता है इसी प्रकार दुर्जनसंयोगसे मनुष्यका दुःखी होना अनिवार्य होता है।

' दुर्जनः परिहर्तव्यः सद्भावै मण्डितोऽपि सन्। '

सद्भावोंसे मण्डित दीखनेपर भी दुर्जनसे दूर रहना चाहिये। ये लोग "विषकुम्भं पयोमुखम्" मुखमात्रमें ऊपर ही ऊपर दूध भरे विषसे भरपूर घडेके समान जिह्वा मात्रमें मीठे और हृदयमें अत्यन्त कडवे होते हैं।

पाठान्तर— न दुर्जनेषु भागधेयं कर्तव्यम्।

(सौभाग्यशाली नीचोंसे संबन्ध अकर्तव्य)

न कृतार्थेषु नीचेषु सम्बन्धः ॥ ४३४ ॥

सौभाग्यवान् नीचोंसे सम्बन्ध मत करो।

विवरण— सौभाग्यशाली नीचोंके सौभाग्यसे लाभान्वित होनेके लोभमें उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध मत स्थापित करो। नीचोंकी कृतार्थता, उनका सौभाग्य, उनकी मानप्रतिष्ठा, सबकी सब नीचताकी ही सफलतायें हैं। नीचका सौभाग्य अकाल जलदोदयके समान न जाने कब, कहां, किसका प्रलय बुला डाले। नीचोंकी सफलताओं और सौभाग्यलक्ष्मियोंमें सम्मिलित होजाना नीचताको ही अपनाना होता है। मनुष्यकी नीचताको अपनानेसे बडी और कोई दुर्गति नहीं हो सकती। यह सब समझकर मनुष्यको नीच

लोगोंके भौतिक कुप्रभावोंसे आत्मरक्षा करनी चाहिये। नीचोंकी सुख-समृद्धि, मानप्रतिष्ठा, सौभाग्य आदि प्रत्येक गुण समाजको पथभ्रष्ट करने तथा पतित बनानेके काम आते हैं। सूत्रकार भौतिक, सम्पत्तिशाली, यशस्वी नीचोंके सम्पर्कसे होनेवाले समाजके अधःपतनके विरुद्ध उन सुधारक नामधारी लोगोंको सावधान कर रहे हैं जो नीचोंकी भौतिक सफलताओंकी चकाचौंधमें अंधे होकर उनसे सम्बन्ध बढानेको उदारता, उन्नति, समाज-संशोधन और राष्ट्रोन्नयन समझनेकी भ्रान्ति करके देशमाताके वक्षःस्थल पर आततायियोंसे छूरी लगवाकर समस्त राष्ट्रको अशान्तिकी आगमें झोंक देते हैं।

(ऋण, शत्रु तथा व्याधिके संबन्धमें गंभीर कर्तव्य)

ऋणशत्रुव्याधिष्वशेषः कर्तव्यः ॥ ४३५ ॥

ऋण, शत्रु तथा व्याधिको निःशेष करना चाहिये।

विवरण— जबतक ऋण, अग्नि, शत्रु तथा व्याधिको पूरा निःशेष न कर डालो तबतक शान्तिसे मत बैठो। यदि ये शेष रह जायेंगे तो इनके बढ जानेपर इनसे अपना सम्पूर्ण विनाश होजानेका पूरा डर है। इन्हें शेष रख लिया जायगा तो यथाक्रम विनाश, दाह, हानि तथा मृत्यु अवश्यंभावी हो जायगी। शत्रु आन्तरबाह्य भेदसे दो प्रकारके होते हैं। पाप मनुष्यका अंतरशत्रु है। उसे पहचानकर क्षणभरमें भस्मीभूत कर डालना चाहिये। पाप मानवजीवनके सौंदर्य, सौख्य तथा यशका घातक शत्रु है।

पाठान्तर— **ऋणाग्निशत्रुव्याधिष्वशेषः कर्तव्यः।**

ऋण, अग्नि, शत्रु तथा व्याधिको निःशेष कर देना चाहिये।

पाठान्तर— **ऋणाग्निव्याधितेष्वशेषः कर्तव्यः।**

यह पाठ अपपाठ है।

(सम्पन्न जीवनका माहात्म्य)

भूत्यनुवर्तनं पुरुषस्य रसायनम् ॥ ४३६ ॥

सम्पत्तियुक्त जीवन बिताना दीर्घायु तथा स्वास्थ्यका जनक है।

विवरण— जीवनमें धनैश्वर्य संग्रहके प्रयत्नका निरन्तर चलते रहना पुरुषके लिये रसायन है। जैसे रसायनसे वीर्यादिकी वृद्धि होती है, इसी प्रकार धनसंग्रह सुखजनक होकर जरा, व्याधिविनाशक तथा दैहिक सुख देनेवाला होता है। जरा तथा व्याधिके विनाशक द्रव्योंको "रसायन" कहा जाता है।

दीर्घमायुः स्मृतिर्मेधामारोग्यं तरुणं वयः।
देहेन्द्रियबलं कान्तिं नरो विंदेद् रसायनात्॥

मनुष्य रसायनसे दीर्घ आयु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, यौवन, देहबल, इन्द्रियशक्ति तथा कान्ति प्राप्त करे। ये ही सब काम धनसंग्रहसे भी होते हैं। इसलिये वह भी रसायन है और उस (धनसंग्रह) का काम जीवन-पर्यन्त चलना चाहिये।

(याचकोंका अपमान अकर्तव्य)

नार्थिष्ववज्ञा कार्या ॥ ४३७ ॥

याचकोंका अपमान न करना चाहिये।

विवरण— अधिकारी अर्थियोंकी की जा सके तो उनकी देश, काल, पात्रके अनुसार यथोचित सहायता कर देनी चाहिये। न की जा सके तो उनके समक्ष विनय तथा सहानुभूतिके साथ मधुरवाणीसे अपनी असमर्थता प्रकट कर देनी चाहिये।

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

आसन, भूमि, जल, मीठी वाणी ये तो सत्पुरुषोंके घरोंसे कभी नष्ट नहीं होतीं। सत्यकी सेवा करनेके लिये धनका सदुपयोग करना ही धनवान्‌का दानधर्म है। जब कोई सत्यसेवक सत्यार्थदान करनेकी दृष्टिसे पात्र अपात्र विचारकर किसी सत्यनिष्ठको अपने द्वारपर पानेका सौभाग्य प्राप्त करे, तब उसे उसकी उचित सेवाके द्वारा सत्यकी सेवा करके कृतार्थ होजाना चाहिये। सत्य ही पात्रापात्र विचारकी कसौटी है।

धनीसम्पन्न लोग सत्यकी सेवा करनेकी दृष्टिसे निर्धनोंका उपकार करें यह मानवसमाजका सामाजिक नियम है और यह गुणी निर्धन लोगोंकी एक सदाशा भी है। कारण यह है कि मनुष्यको समाजके सहयोगसे ही धनोपार्जनका अवसर और साधन प्राप्त होते हैं। धनियोंको समाजकी मूक स्वीकृति और सहयोगसे ही धनी बननेके सुअवसर मिलते हैं। धनियोंको अपने समाजके इस मूक सहयोगका उचित मूल्य आंकना चाहिये। समाजका यह ऋण जब जिस रूपमें शीघ्रसे शीघ्र चुकाया जा सके चुकानेके लिये सहर्ष प्रस्तुत रहना चाहिये और इसमें ऋणमोक्ष अपनेको सौभाग्यशाली भी मानना चाहिये। धनियोंके पास जो अर्थी लोग आते हैं वे वेही लोग होते हैं जिन्होंने अपने मूक सहयोगसे उन्हें धनी बननेके अवसर दिये थे। आज परिस्थिति और आवश्यकताने विवश करके उन्हें अर्थी बनाकर भेजा है। ऐसे अर्थियोंकी अवज्ञा करना अपनी ही और अपने ही सौभाग्यकी, अपने ही सद्गुणोंकी अवज्ञा है। यह अवज्ञा आत्मविनाशका ही पूर्वाभास है।

इसके अतिरिक्त अर्थी बनकर आनेवालोंमें अधिकारी अनधिकारी सब ही प्रकारके लोग आते हैं। गृहस्थ मनुष्यपर अपने बच्चोंका ही नहीं इस समस्त संसारके सत्यार्थ पालनका भार है जिसे उसे सामर्थ्यानुसार पूरा करना है। यदि ऐसे प्रसंगपर अवज्ञा करनेके स्वभावसे भूलसे किसी अधिकारीकी अवज्ञा होगी तो अवज्ञाकर्ताका सत्यच्युतिरूपी अधःपतन प्रमाणित हो जायगा।

(नीच प्रभुका स्वभाव)

सुदुष्करं कर्म कारयित्वा कर्तारमवमन्यते नीचः ॥४३८॥

नीच व्यक्ति सुकठोर कर्म कराकर उसके न होने या अधूरा रह जानेपर या होजानेपर भी कर्ताको सफलताका यश न देनेकी भावनासे अपमानित किया करता है।

विवरण— नीच व्यक्ति काम भी कठोर करा लेता है और कर्ताको उसके कर्तृत्वका यश न पाने देनेके लिये उसका अपमान भी करता है।

यदि वह कर्मकर्ताकी किसी त्रुटिसे न हो पाया हो तब तो उसकी उचित मात्रामें गर्हणा ठीक है । यदि वह कर्म ही दुष्कर था और इसीलिये सफल नहीं हो सका तो उसमें उसका दोष नहीं है । अज्ञानी लोग दुष्कर कर्मकी दुष्करतापर ध्यान न देकर उसका संपूर्ण दोष कर्ताके सिर डाल देते हैं। ऐसे समय सोचना तो यह चाहिये कि हमारा काम कारणदोषसे बिगडा है कि कर्तृदोषसे ? यदि वह काम किसी त्रुटिवश पूरा न हुआ हो या पूरा होकर भी निष्फल रह गया हो तो उसे दुबारा करना चाहिये और यदि पूरा हो गया हो तो उसे उसका यश न देनेकी दुरभिसंधि त्यागकर उसका स्पष्टरूपसे कृतज्ञ होना चाहिये ।

पाठान्तर— **सुदुष्करं कर्म कारयित्वा कर्तारं नावमन्येत ।**

मनुष्य किसीसे दुष्कर कर्म कराकर न तो कारणवश विफल होजानेपर उसका अपमान करे और न कर्ताको कर्तृत्वका यश न पाने देनेकी दुर्भावनासे उसे अपमानित करे ।

ऐसा व्यवहार करनेसे कर्ता मिलने दुष्कर होजाते हैं और यह स्वभाव अपना ही हानि करनेवाला होता है ।

(अकृतज्ञ सर्वदा दुःखी)

नाकृतज्ञस्य नरकान्निवर्तनम् ॥ ४३९ ॥

कर्ताका उपकार न माननेवाले अकृतज्ञ मनुष्यका नरक (अधःपतनकी अवस्था) से कभी उत्थान नहीं होता ।

विवरण— अकृतज्ञ मनुष्य अपने इस दुष्ट स्वभावसे अपने सहायकोंको निरुत्साहित करके सहायकहीन बनकर अकेला रह जाता और अपनेको अपने ही हाथोंसे दुःखद अवस्थामें फेंक देता है। अपनी कृतघ्नतासे सहायक खोदेना ही नरकनिवास है ।

' कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः । '

कृतघ्नका कोई प्रायश्चित्त नहीं है ।

पाठान्तर— **न कृतघ्नस्य ··· ··· ।**

(वृद्धि या विनाश सुवाणी कुवाणीपर निर्भर)

जिह्वायत्तौ वृद्धिविनाशौ ॥ ४४० ॥

मनुष्यके वृद्धिविनाश उसकी सुवाणी तथा कुवाणीपर निर्भर होते हैं ।

विवरण— यदि मनुष्य अपने सहकर्मियोंका सम्मान तथा उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता रहे तो उसकी वृद्धि और यदि वह उनका अपमान करे तो उसका विनाश होता है । मनुष्यके वृद्धिविनाश वाणीके सदुपयोग दुरुपयोगपर ही निर्भर होते हैं । मनुष्य दुर्वाणीसे कार्यहानि तथा मधुर-वाणीसे कार्यमें सुकरता होती देखकर अपनी सुचिन्तासे अपनी वाणीको संयत रक्खे ।

> वाङ्माधुर्यात् सर्वलोकप्रियत्वम् ।
> वाक्पारुष्यात् सर्वलोकाप्रियत्वम् ॥

मधुरभाषी सबका प्रेम प्राप्त करनेमें सफल होजाता है । वाणीकी कठो-रता गर्दभके हेषारव या कुत्तेके भौंकनेके समान मनुष्यको सबकी घृणाका पात्र बना देती है ।

इस सूत्रमें जिह्वा दूसरी इन्द्रियोंका भी उपलक्षण है । जिह्वाके समान अन्य इन्द्रियोंके संयम तथा चंचलतायें भी मनुष्यकी वृद्धि या हानि करने-वाली होती हैं ।

(विष तथा अमृतका भंडार)

विषामृतयो राकरो जिह्वा ॥ ४४१ ॥

जिह्वा विष तथा अमृत चाहे जिसकी आकर बनाई जा सकती है ।

विवरण— मनुष्य अपने मनकी स्थितिके अनुसार ही वाक्योच्चारण करता है । शान्त मनसे शान्तवचन और अशान्तमनसे अशान्तवचन निक-लता है । अशान्त होकर वचन बोलना अशान्ति पैदा करनेवाला होता है ।

बाणका घाव तो भर सकता है, परन्तु दुरुक्त वाणीका घाव जीवनभर नहीं भरता। इस दृष्टिसे वचनको शान्त रखनेका उपाय मनको शान्त रखना है। शान्तवचन बाह्य संसारमें भी अशान्ति रोकनेवाला तथा वक्ताकी भी मानसिक शान्तिको सुरक्षित रखनेवाला होता है। शान्तिसे झगडे मिटते अशान्तिसे वातावरणमें आग लग जाती है।

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तया विद्धं न संरोहति वाक्क्षतम्॥

बाणोंके घाव तो भर जाते हैं, परशुसे काटे वन भी पुनः फूट आते हैं परन्तु दुरु (परु) क्त वाणीका बींधा घाव कभी नहीं भरता।

(प्रिय वाणीका महात्म्य)

प्रियवादिनो न शत्रुः ॥ ४४२ ॥

हितवादीका कोई शत्रु नहीं होता।

हितवाक्यप्रयोक्तुश्च दातुश्चैवोपकारिणः।
साधोर्बालस्य जगति रिपुर्नैव प्रदृश्यते॥

हितवचन बोलनेवाले, दाता, उपकारी, साधु तथा बालकका संसारमें (दुष्टोंको छोडकर) कोई शत्रु नहीं होता। मनको पतित करनेवाले काम-क्रोधादि मनोविकार ही मनुष्यके मूल शत्रु हैं। अपने मनको अपनी ओरसे निर्वैर बना चुकनेवालेकी जिह्वासे सत्यको प्रकट करनेवाला हित वचन संपूर्ण मनुष्यसमाजका मित्र होता है। उसके वचन मनुष्यसमाजको कल्याणमार्ग दिखानेवाले होते हैं। मनुष्यकी दूसरोंसे जो व्यक्तिगत शत्रुता ठनती है, वह भी वास्तवमें मनुष्यसमाजकी शान्तिपर आक्रमण करनेवाले दुष्टोंके अहित, कटु, अयथार्थ, उत्तेजक वचनोंसे ही ठनती है। अपने समाजका अपनी ओरसे शत्रु न बनना ही मनुष्यकी निर्वैर स्थिति है। यों तो संसारमें ज्ञानीके शत्रु अज्ञानी ही हैं। परन्तु ज्ञानी अपनी ओरसे किसीके साथ शत्रुताचरणका अपराध नहीं करता। वह अपना इस महामहिम मानसिक स्थितिसे निर्वैर रहता है।

मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः ।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ॥
पश्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि ।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥ (विदुर)

अपनी मुनिवृत्तिमें लगे हुए एकान्तवासी मुनिके भी मित्र, उदासीन, शत्रु नामक तीन पक्ष उत्पन्न हो ही जाते हैं । तू जहां कहीं जायगा वहीं मित्र, शत्रु, मध्यस्थ, उपजीव्य तथा उपजीवी तेरे साथ साथ चलेंगे ।

ज्ञानी पुरुष अपनी हितोक्तियोंसे सम्पूर्ण समाजका मित्र बना रहकर समाजके शत्रुओंको पराभूत करता रहता है ।

स्तुता अपि देवता स्तुष्यन्ति ॥ ४४३ ॥

मधुरवचनके समर्थनमें संसारमें यह लोकप्रिय लोकोक्ति प्रचलित है कि स्तुतिसे तो अदृश्य देवतातक प्रसन्न होकर प्रार्थीकी मनोकामना पूरी कर देते हैं मनुष्यका तो कहना ही क्या ?

विवरण— सूत्र कहना चाहता है कि शक्तिशाली सत्पुरुषके कानोंमें पड़ा हुआ उसका गुणकीर्तन व्यर्थ नहीं जाता । वह उसे गुणग्राही सत्यवादी स्तावकके प्रति आकृष्ट करनेवाला अमोघ साधन बन जाता है । सत्य ही मनुष्यहृदयका स्वाभाविक स्वामी है । मानवहृदयका स्वाभाविक स्वामी सत्य ही सम्पूर्ण मनुष्यसमाजका शक्तिशाली प्रभु है । वाणीके द्वारा सत्यका प्रचार करनेसे समाजका कल्याण सुनिश्चित होजाता है । सत्यका प्रचार कभी भी समाजका हित करनेमें व्यर्थ नहीं जाता । मनुष्यको इस ध्रुव सत्यको ध्यानमें रखकर किसीके आसुरी प्रभावमें आकर सत्यकी शक्तिके संबन्धमें संदिहान नहीं हो जाना चाहिये । गीताके शब्दोंमें—

" अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति । "

'अपने स्वरूप सत्यका ज्ञान न रखनेवाला, अपने स्वरूप सत्यपर श्रद्धा न

रखनेवाला तथा सत्यके सम्बन्धमें संदिहान रहनेवाला व्यक्ति विनष्ट होचुका होता है। ' इस दृष्टिसे निःसंकोच होकर समाजके श्रेष्ठतम व्यक्तियोंके सत्यका गुणगान करना सच्ची लोककल्याणकारिणी सेवा या वाक्चातुरी है। दोष या अपमानकी बातें सुनकर श्रोताके मनमें वक्ताके प्रति अप्रीति और उद्वेग पैदा होजाता है। इसलिये पराराधन-पण्डित लोग अपने प्रिय मधुर सत्य भाषणोंसे ज्ञानी श्रोताओंको अपने अनुकूल बनाया करें।

पाठान्तर— स्तुता देवा अपि चिरं तुष्यन्ति।

स्तुतिसे आवर्जित देवतातक स्तावकपर कृपालु होजाते हैं।

(दुर्वचन द्वेषोत्पादक)

अनृतमपि दुर्वचनं चिरं तिष्ठति ॥ ४४४ ॥

दुसरोंको संताप पहुंचाने या अवज्ञा करनेकी भावनासे कहा दुर्वचन अनृत (निराधार) हो तो भी श्रोताकी स्मृतिपर चिरकाल तक अपना द्वेषमूलक हानिकारक दुष्प्रभाव बनाये रहता है।

विवरण— सन्ताप पहुंचानेकी भावनासे किसीको साधार दुर्वचन कहना भी अनुचित है। निराधार दुर्वचन तो कभी किसीको कहना ही नहीं चाहिये। साधार दुर्वचन कहना पडे तो भी उसकी मर्यादाओंका पालन तो करना ही चाहिये। यदि दुर्वचन किसी अपराधकी भर्त्सना रूप हो और उचित मर्यादामें हो तो वह कल्याणकारी होता है। कर्तव्यवश किसीकी वास्तविक भूलपर कहे गए अवज्ञा या सन्तापकारी वचनसे अपराधी श्रोताको आत्मसुधारका अवसर दिया जाता है। सत्याधारित दुर्वचन इस विचारके प्रभावसे भर्त्सित श्रोताकी बुद्धिको विद्रोही नहीं बनाता। वह उसे आत्मसंशोधनका अवसर देकर सार्थक होजाता है। असत्याधारित या सहनकी सीमासे बाहरवाला दुर्वचन श्रोताको वक्तासे बदला लेनेके लिये उत्तेजित करता है।

दुर्वचन स्वयं एक महापराध है। दुर्वचनका उद्देश्य या परिणाम कलह

है। वक्ताका उद्देश्य ही उसके वचनके सत्यासत्यकी कसौटी होता है। शुभ उद्देश्यसे कर्तव्यवश कहा सभी वचन सत्यकी ही परिभाषामें आजाता है। कलहके उद्देश्यसे उच्चारित प्रत्येक वाक्य मिथ्या होता है। अपने हृदयको क्रोधसे कलुषित करके उच्चारित वचन असत्यकी दासता होता है। शरीर, मन या वचन किसीसे भी असत्यकी दासता न करना मनुष्यकी सत्यनिष्ठा है। अपने मन, वचन, कर्म तीनोंको कर्तव्यकी सीमासे बाहर न निकलने देना ही व्यर्थतारहित सफल जीवन है। मन, वचन, कर्मको कर्तव्यकी सीमासे बाहर निकाल जाने देना जीवनकी व्यर्थता या निष्फल जीवन है। मनमें उत्पन्न होनेवाले क्रोध आदि रिपुओंपर विजय पाकर रहना ही ज्ञानीकी विजय कुशलता है।

वचन अपने मन तथा समाजकी शान्तिके लिये ही बोला जाना चाहिये। दूसरेको सन्ताप पहुंचानेकी दृष्टिसे तो कोई वचन बोलना ही नहीं चाहिये। दूसरोंको सन्ताप पहुंचानेकी दृष्टिसे उच्चारित वचन दूसरेके मनपर आघात पहुंचानेसे भी पहले वक्ताके ही हृदयको सन्तप्त तथा अशान्त कर चुका होता है। जो मनुष्य दूसरेके प्रति दुर्वचन कहकर उसपर अपना क्रोध प्रकट करना चाहता है वह पहले स्वयं ही क्रोधका आखेट बन चुकता है और अपना जीवन व्यर्थ कर चुकता है।

दुर्वचन वास्तविकताके आधारपर हो या न हो वह दोनों ही परिस्थितियोंमें वक्ताके उद्देश्यकी कटुताके कारण श्रोताको दुःखी करनेवाला होजाता है। उदाहरणके रूपमें अंधेको अन्धा कहना उसकी विकलांगतापर कटाक्ष करनेवाला होनेसे अन्धेको दुःख पहुंचाता है। इसी प्रकार समाजको निन्दित करनेके लिये उसे अन्धा कहना भी उसको दुःख पहुंचानेवाला होता है। ऐसे शाब्दिक सत्याधारित भी दुर्वचनोंसे वक्ता, श्रोता किसीका भी उपकार नहीं होता। ऐसे दुर्वचन सदा ही असत्य और परिहार्य होते हैं। वचन अपने (वक्ता तथा श्रोता दोनोंके) हितार्थ ही बोला जाना चाहिये। जो वचन अपना ही अहित कर डाले वह श्रोताको भी पीडित करेगा ही। उसे बोलना बुद्धिहीनता है।

मनुष्यको जानना चाहिये कि उसके हितका केवल अपनेसे ही सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उसका हित दूसरोंके हितोंके साथ अविभाज्यरूपसे पूर्णतया सम्मिलित है। प्रत्येक वक्ताको अपने परसम्बद्ध हितको या अपने हितकी परसम्बद्धताको ध्यानमें रखकर ही वाक्य बोलना चाहिये। तब वक्ताका वचन समाजहितकी सीमाका भंग करनेवाला नहीं बनेगा। क्रुद्ध होकर बोला हुआ वचन पहले तो वक्ताके हृदयपर आघात करता है। उसके पश्चात् क्रोधपात्रके हृदयपर चोट पहुंचाता है। ऐसा वचन अपने वक्ताका अनिष्ट कर चुकनेके पश्चात् अपने श्रोताको क्रुद्ध तथा उत्तेजित कर डालता है। दुर्वचन वक्ता श्रोता दोनों ही पक्षोंके लिये अनावश्यक तथा अनिष्टकारी होता है। दुर्वचन साधार, निराधार किसी भी अवस्थामें समर्थनीय नहीं है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि वक्ता श्रोताके पारस्परिक संबन्ध मधुर होने चाहिये। जब वक्ता श्रोताके पारस्परिक संबन्ध कडवे होजाते हैं तब वक्ताके वचनोंमें कडवापन आना स्वाभाविक होजाता है इसलिए उस समय मौन ही सत्य भाषण है। पारस्परिक संबन्धोंकी मधुरता ही मधुर वचनोंकी जननी है।

इस सूत्रमें सत्पुरुषोंको ही अनिष्टकारी वचनोंसे रोका जा रहा है। असत्पुरुषोंको नहीं। असत्पुरुषोंके लिये कोई शास्त्र या विधिविधान नहीं होता। दण्ड ही असत्पुरुषोंका एकमात्र शास्त्र होता है। वक्ता उत्तेजनाके अवसरपर श्रोताका मर्मच्छेद करनेके लिये कडवी बात कहता है। उस समय उसके निराधार या साधार प्रत्येक वाक्यका परिणाम स्थायी शत्रुता होजाता है। चाहे मनुष्य अनिष्टकारीके आचरणपर उचित कटाक्ष ही क्यों न करे वह भी उसे उत्तेजित करनेवाला होजाता है। भद्र लोग अपनी भूलपर उचित भर्त्सना तो सुन सकते हैं परन्तु दुष्ट कदापि कटाक्ष या दुर्वचन सुननेको उद्यत नहीं होता। इसलिये जब कभी अनिष्टकारीको वचनके द्वारा अनिष्ट करनेसे रोकनेका कर्तव्य आये, तब यह ध्यान रखकर ही उससे कुछ कहना चाहिये कि उच्चार्यमाण वचनसे उसकी प्रतिहिंसाकी प्रवृत्तियोंको उत्तेजित होनेका अवसर न मिलने पाये, प्रत्युत तुम्हारे वह वचन उसकी

कुप्रवृत्तियोंको रोक देनेवाले श्रुतिमधुर, युक्तिसंगत तथा सह्य हों। यही वचनका एकमात्र उद्देश्य है। श्रुति कटुवाक्यसे यह उद्देश्य पूरा नहीं होता, प्रत्युत कटुवाक्य कलहकी सृष्टि करनेवाले कलहके चिरस्थायी बीज बन जाते हैं।

जब समाजकल्याणकी दृष्टिसे किसी सत्यको प्रकट करके अपराधीको अपराधी सिद्ध करना उद्देश्य हो, तब उसके प्रति विरुद्ध आरोपको व्यक्त करना समाजसेवाके रूपमें न केवल समर्थनीय प्रत्युत प्रशंसनीय भी होता है। तब भी कटाक्ष नहीं करना चाहिए।

सूत्र कहना चाहता है कि संताप पहुचानेकी भावनासे तो नीचको नीच भी मत कहो। कर्तव्यके वश होकर तो नीचको उचित मर्यादामें नीच कहना कर्तव्य होता है। समाजकल्याणकी दृष्टिसे नीचोंकी पर्याप्त भर्त्सना की जा सकती है। इस दृष्टिसे विचारशील लोग किसीकी निराधार भर्त्सना न करें। साधार भर्त्सना भी अपराधकी सीमातक ही करनी चाहिये उससे आगे साधार भर्त्सना भी असह्य होजाती है।

पाठान्तर— अनृतादपि दुर्वचश्चिरं तिष्ठति।

दुर्वाक्य असत्यसे भी अधिक चिरस्थायी होता है।

(राजाका द्वेष्य बनना अकर्तव्य)

राजद्विष्टं न च वक्तव्यं ॥ ४४९ ॥

राजाके व्यक्तित्वपर अप्रिय आरोप नहीं करना चाहिये। राजा या उसके प्रतिनिधिको अप्रिय वचन नहीं कहना चाहिये।

विवरण- राजा या उसके प्रतिनिधिको व्यक्तिगत रूपमें न देखकर उसे प्रजाकी सामूहिक शक्तिके केन्द्रके रूपमें देखना और उसके साथ अनुत्तेजक नम्र वाग्व्यवहार करना चाहिये। क्योंकि राजाके पास प्रजाकी सामूहिक शक्ति केन्द्रित रहती है इस कारण राजरोष मानवरोषसे सहस्रों गुणा अधिक होता है। राजाके प्रति बोले गये अप्रिय वचनोंसे उसके मनमें

वक्ताके लिये महा अनिष्टकारी रोष पैदा होकर निश्चित हानिकारक हो सकता है। इसलिये राजशक्तिवालोंके साथ सुविचारित सुसभ्य वाग्व्यवहार होना चाहिये। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य औरोंके साथ अप्रिय भाषण करे। यहां केवल राजाके साथ वाग्व्यवहारकी परिपाटी बताई जा रही है। राजाके ही समान देव, विप्र, गुरु, साधु, नारी, महापुरुष तथा अपरिचित लोगोंके साथ भी संयत भाषण होना चाहिये।

इस सूत्रसे राजकार्योंके विरुद्ध असभ्य समालोचना उसके भावी कार्यों पर निराधार दोषारोपण या राजनियमोंका उल्लंघन आदिका भी निषेध समझना चाहिये। इन कार्योंसे राजा प्रजा दोनोंकी हानि होती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि राज्यव्यवस्थामें दुर्नीति निन्दनीय होती है। परन्तु ध्यान रहे कि उस दुर्नीतिका उत्तरदायी अकेला राजा नहीं होता। राजचक्र (राजाके भृत्यवर्ग) तथा वह राष्ट्र जिसमें अत्याचारित रहता है दोनों ही राजकीय दुर्नीतिके उत्तरदायी होते हैं। राजा स्वयं अपनी इच्छामात्रसे राष्ट्रका राजा नहीं बना करता। वह राष्ट्रकी ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्मतिसे राज्यपरिचालनका भार ग्रहण किया करता है। यदि कोई राष्ट्र अपनी सम्मतिका दुरुपयोग करके किसी अयोग्य व्यक्तिको राज्यसिंहासनपर बैठा दे तो उस राजकीय अयोग्यताका अपराधी स्वयं राष्ट्र होता है। योग्य राजाका चुनाव करना और उसे योग्य बने रहनेके लिये विवश रखना राष्ट्रका ही कर्तव्य है। राष्ट्र तो राजाको ठीक रखनेका उत्तरदायी है और राजाका कर्तव्य राष्ट्रको ठीक रखना है। यह उभयपक्षीय राष्ट्रीय कर्तव्य है। यदि राजा अयोग्य है तो समझना होगा कि राष्ट्र अयोग्य है। अयोग्य राजा अयोग्य राष्ट्रका प्रतिनिधि होता है। इस दृष्टिसे राष्ट्रका संशोधन न करके, राजाके व्यक्तित्वपर दोषारोपण करना उसे असंशोधित रहने देकर क्रुद्ध तथा प्रतिहिंसापरायण कर देना मात्र होजाता है। जबतक राष्ट्र असंशोधित रहेगा तबतक राजसिंहासनपर अयोग्य लोग ही राज्य करते रहेंगे।

औषधप्रयोगकी आवश्यकता रोगी स्थानपर ही होती है। रोगके मूलको नष्ट न करके रोगके उपद्रवोंके साथ झगडनेसे रोग नहीं हटता। इस दृष्टिसे अयोग्य राजाके व्यक्तित्वपर क्लीबोचित क्रोध दिखाना राष्ट्रसेवा न होकर राष्ट्रद्रोह है। जबतक राजा राष्ट्रकी सम्मतिसे राजसिंहासनपर बैठा हुआ है, जबतक उसके व्यक्तित्वपर किसी भी प्रकारका आक्रमण करना राष्ट्रमें अशान्ति उत्पन्न करनेवाला होजाता है। ऐसी परिस्थितिमें राष्ट्र-सेवाका मर्म समझनेवालोंका यही कर्तव्य होजाता है कि कुशासक राजाके व्यक्तित्वपर आक्रमण न करके धैर्यके साथ राष्ट्रकी उस मानसिक व्याधिकी चिकित्सा करें जिसने अयोग्य व्यक्तिको राजसिंहासनपर बैठा रक्खा हो।

पाठान्तर— राजद्विष्टं न वक्तव्यम्।

(मधुर भाषणका प्रभाव)

श्रुतिसुखात्कोकिलालापात्तुष्यन्ति ॥ ४४६ ॥

जैसे मनुष्य श्रवणसुख कोकिलालापोंसे तृप्ति अनुभव करते हैं इसी प्रकार विज्ञ लोग राजाओं या राज्याधिकारी बड़े बने हुए लोगोंको श्रुतिमधुर सत्यानुमोदित वाक्यपरिपाटीसे सन्तुष्ट रक्खें। और अपने कामोंमें व्याघात उत्पन्न न होने दें।

विवरण— अयोग्य राजाके साथ वार्तालाप करनेकी आवश्यकता पड़ने पर उसकी अयोग्यतापर कटाक्ष करनेके लिये उसके कानोंमें चुभनेवाली बात कहकर उसे क्रुद्ध कर देना हानिकारक है। इस सूत्रमें कोकिलके कण्ठका उदाहरण इसलिये दिया है कि जब कि मनुष्यके कण्ठमें श्रोताके कानोंको पीडा न पहुंचानेका सामर्थ्य है, तब उसका दुरुपयोग क्यों किया जाय? कान सदा ही अनुकूलताके प्यासे होते हैं इसलिये वचनको कटु हो जाने देना वचनकलाकी अनभिज्ञता है। ज्ञानीके कान सदा सत्यसे प्यार करते हैं। अज्ञानीके कान सदा सत्यके शत्रु होते हैं। योग्य राजाको सत्यवचन सुनाकर तृप्त किया जाता है परन्तु अयोग्य राजा सत्यसे रुष्ट होजाता है।

सूत्र कहना चाहता है कि अयोग्य राजाको अकारण रुष्ट न करके उसे अपनी तात्कालिक वाक्चातुरीसे तृप्त करना ही बुद्धिमत्ता है। सारांश यह है कि जब कि राजाका हमसे स्वतंत्र कोई अस्तित्व ही नहीं है जब कि वह राष्ट्रके हाथोंका यन्त्रमात्र है, तब राजाको सत्य सुनानेके संकटमें न पडकर उसे अपने राष्ट्रसेवक कर्तव्यक्षेत्रमें ही सुनानेके लिये स्थगित रखना चाहिये।

पाठान्तर— श्रुतिसुखाः कोकिलालापाः।

जब कि कोकिलके आलापतक सुखकर होते हैं तब मानवके मधुरालापोंके सुखद होनेकी तो बात ही क्या?

(कुकर्मीका पश्चात्ताप)

(अधिक सूत्र) तप्यते दुष्करकारी यत्नवान् नाम ।

कुकर्ममें यत्न करनेवाला व्यक्ति सन्ताप पाया करता है।

विवरण— दुराचारी, क्रूरकर्मा, कठोर स्वभाववाला कापुरुष अति उद्योगी परम निपुण होनेपर भी अपने किये गर्हित कर्मके निकृष्ट फलसे स्वयमेव भीतर ही भीतर पश्चात्तापाग्निमें दग्ध होकर अनुतप्त और विषादी होता रहता है।

जैसे बालकपनमें विद्याध्ययनसे मन चुरानेवाले यौवनमें अपनी भूलपर पछताते हैं इसी प्रकार दुष्कर्माका अन्तरात्मा उसके गर्हित आचरणके लिये उसे सदा कोसता और नोचनोचकर खाया करता है। इसके विपरीत साधुकारी स्वयं भी सुखी रहता और दूसरोंको भी सुख पहुंचाता रहता है।

(सत्पुरुषका स्वभाव)

स्वधर्महेतुः सत्पुरुषः ॥ ४४७ ॥

सत्पुरुषत्वका हेतु स्वधर्म होता है। स्वधर्मपालनसे ही सत्पुरुष बनते हैं। स्वधर्मपालन (स्वकर्तव्यपालन सत्पुरुषोंको ढालनेवाला सांचा है।

पाठान्तर— स्वधर्महेतुभूतः सत्पुरुषविशेषः।

सत्पुरुष ही स्वधर्मपालन कर सकता है।

(गौरवहीन लोग)

नास्त्यर्थिनो गौरवम् ॥ ४४८ ॥

समाजमें याचकका तथा कृपणधनीका सम्मानपूर्ण स्थान नहीं है।

विवरण— अर्थी शब्द याचक तथा धनी दोनोंका वाचक है। समाजमें न तो याचकका सम्मानपूर्ण स्थान है क्योंकि वह प्रार्थी बन जानेसे दीन है और न समाजमें उस अर्थपिशाच धनीका कोई सम्मानित पद है जो समाजको लूटकर धन कमाता है और अनिवार्यरूपसे सामाजिक अभ्युत्थानमें अपना आर्थिक सहयोग न देनेवाला कृपण होता है।

(स्त्रियोंका भूषण)

स्त्रीणां भूषणं सौभाग्यम् ॥ ४४९ ॥

पतिव्रता तथा पतिपुत्रादिसे सौभाग्यशालिनी रहना स्त्रियोंका भूषण है।

'सौभाग्यलक्षणं स्त्रीणां पातिव्रत्यं प्रकीर्तितम्।'

पतिव्रता होना ही स्त्रीके लिये गौरवकी बात है। विनय, क्षमा, गृहकार्य-दक्षता, शिल्प, वैदुष्य, धीरता, ईश्वरभक्ति तथा पातिव्रत्य स्त्रियोंके सौभाग्य हैं।

'पतिपत्न्योर्विवाहमान्त्रिकसंस्कारणैकात्म्यात् पतिमत्वं पातिव्रत्यं च परं सौभाग्यम्।'

विवाहकालके मान्त्रिक संस्कारोंसे पतिपत्नीका ऐकात्म्य होजाता है। इसलिये पातिव्रत्य तथा सुयोग्य पतिवाली होना स्त्रियोंका सौभाग्य है।

मम व्रते ते हृदयं दधामि ।
मम चित्तमनु चित्तं तेऽस्तु ॥

विवाहकालमें पति पत्नीसे वेदकी भाषामें कहता है कि मैं तुम्हारे चित्तको अपने स्वीकृत व्रतमें संयुक्त करता हूं। तुम्हारा चित्त मेरे उद्देश्यकी अनुकूलता करता रहे।

असौभाग्यं ज्वरः स्त्रीणाम् । (वृ. चाणक्य)

पतिव्रता न होना, पतिपुत्रादिसे वंचित होना तथा विनयादि उपर्युक्त गुणोंसे हीन होना स्त्रियोंके लिये ज्वरके समान दुःखदायी स्थिति है।

(अधिक सूत्र) **सौभाग्यं कर्तुराचारता ।**

पतिके सदाचारके सदृश आचार बनाकर रखना ही पत्नीका सौभाग्य है ।

(वैध जीविका शत्रुकी भी अनाश्य)

शत्रोरपि न पतनीया वृत्तिः ॥ ४५० ॥

शत्रुकी भी (वैध) जीविका नष्ट नहीं करनी चाहिये ।

विवरण— समाजका शत्रु मनुष्यमात्रका शत्रु होता है। समाजमें अशान्ति फैलानेवाला ही मनुष्यका शत्रु होता है । शान्तिरक्षाके लिये शत्रुदमन करना भी मनुष्यका कर्तव्य है। परन्तु ध्यान रहे कि शत्रुकी अशान्तिकारक प्रवृत्तियां ही दमनीय होती हैं। शत्रुके आहारके साथ मनुष्य-समाजकी कोई शत्रुता नहीं है । शत्रुको यदि वह वैध आहार कर रहा है तो उससे वंचित कर देना उसे आहारसंग्रहके लिये समाजपर और अधिक आक्रमणके लिये विवश करना होजाता है। शत्रुको उसके वैध आहारसे वंचित कर देना समाजकी शान्तिपर अधिक आक्रमण करवाना होजाता है। अपनी वैध जीविकाका अधिकार तो आततायीको भी है । जब वह समाजपर आक्रमण करता है तब उसकी आक्रामक प्रवृत्तिको न रोककर उसकी वैध जीविकामात्र रोक देनेसे उसकी आक्रमण प्रवृत्ति दुगनी प्रोत्साहित होजाती है। यह समझ लेना चाहिये कि आततायीको मिटाना तथा उसकी वैध जीविका नष्ट करना या दो अलग अलग परिणाम रखनेवाली दो अलग बातें हैं। आततायीका बाल बांका न करसक कर उसकी वैध जीविकापर आक्रमण करनेसे उसका आततायीपन नष्ट नहीं होजाता।

यहांपर मनुष्यकी सामूहिक शक्तिको आततायीके विनाशमें प्रयुक्त करनेसे रोकना अभिष्ट नहीं है किन्तु वह तो कर्तव्यरूपमें स्वीकृत ही है । इस महत्त्वपूर्ण विवेचनाको ध्यानमें रखकर आततायीकी वैध जीविकामात्रमें विघ्न डालना उसके आततायीपनको प्रोत्साहित करना तथा समाजमें अशान्ति बढाना होजाता है । आततायी जीविकार्जन करके अपना तथा अपनेपर निर्भर परिवारका भरणपोषण करता है । आततायीकी जीविकाके साथ पारिवारिकोंकी भी जीविकाको नष्ट करना आततायियोंकी संख्या बढाना है । राष्ट्रमें बेकारी उत्पन्न न होने देना राजा तथा नागरिकोंका सबका कर्तव्य है । चोरों, लुटेरों, डाकुओं, आततायियोंको उचित दण्डके द्वारा ही शासनाधीन रक्खा जा सकता है । ये लोग समाजके दूषित अंग हैं । राजकीय कर्तव्य राजकल्याणकी दृष्टिसे निर्धारित होते हैं । राष्ट्रकल्याणकी दृष्टिसे राष्ट्रकंटक बन जानेवाले दो चार, दश पांच आततायियोंका वृत्तिसहित समुच्छेद करना राज्यव्यवस्थापकोंका अत्याज्य धर्म होजाता है । आततायी लोगोंकी जीविका परस्वापहरण हत्या आदि नृशंस उपायोंसे ही संपन्न होती है । जब इन समाजशत्रुओंके जीविका नष्ट करनेका प्रश्न अनिवार्य रूप लेकर उपस्थित होता है तब इनके इन गर्हित उपायोंको राष्ट्रकी ओरसे सुरक्षित रखना या रहने देना असंभव कल्पना है । इस दृष्टिसे इस सूत्रका यही एकमात्र अर्थ होना संभव है कि शत्रुकी वैध उपायोंसे होनेवाली जीविकाको नष्ट न किया जाय ।

जबतक शत्रुका अवैध जीविकार्जन प्रमाणित न होजाय तबतक उसका अर्जित धन राज्यव्यवस्थाकी ओरसे अर्थदण्डके रूप नहीं छीना जा सकता । यदि अपराध प्रमाणित न हो तो अभियुक्त व्यक्तिका निर्दोष स्वीकृत होना उसका वैध अधिकार है । किसीको संदिग्धावस्थामें दण्डित करना अवैध कार्यवाही है । जिस प्रकार डाकूके घर डाका डालना या चोरके घर चोरी करना उस जैसा अपराधी बन जाना होता है, इसी प्रकार इस सूत्रमें प्रतिहिंसाकी भावनासे शत्रुताचरण करनेको निन्दित निषिद्ध ठहराया गया है ।

सूत्रका दृष्टिकोण यह है कि मनुष्यसमाजके शत्रुको दण्डित करनेमें भी न्यायसंगत समाजकल्याणकी दृष्टि रहनी चाहिये। क्योंकि अपराधियोंको रोककर समाजकल्याणको सुरक्षित रखना ही राष्ट्र तथा नागरिकोंका कर्तव्य है। अपराधी लोगोंको दण्ड देनेके लिये उन्हें अपराधी सिद्ध करना भी राष्ट्र और समाजका कर्तव्य है। शंकामात्रसे किसीको दण्ड नहीं दिया जा सकता। अपराधी व्यक्तिको जीविकार्जनके अवैध उपायोंसे बलात् रोककर वैध जीविकाका अर्जनके लिये विवश करके रखना राष्ट्र तथा नागरिकोंका कर्तव्य है। आततायी प्रवृत्ति रखनेवाले मनुष्यको दण्डभयसे ताडित भीत और त्रस्त करके उन्हें समाजका अकल्याण न करने देना राष्ट्रका कर्तव्य है।

(जीवनोद्योगोंकी शत्रुसे रक्षा)

(अधिक सूत्र) शत्रुभिरनभिपतनीया वृत्तिः।

बुद्धिमानकी प्रवृत्तितक शत्रुका आक्रमण नहीं पहुंचना चाहिये। मनुष्यको अपने जीवनसाधनोंको शत्रुओंके आक्रमणोंसे सुरक्षित रखना चाहिये।

अप्रयत्नादेकं क्षेत्रम् ॥ ४२१ ॥

जहां जल सुलभ हो वहीं कृषियोग्य भूमि होती है।

विवरण— जिस स्थानमें कृषिके लिये अनायास जल मिल सके वही स्थान कृषिके योग्य होता है। कृषिके ही नहीं निवासके योग्य भी वही स्थान माना जाता है जहां जल अनायास मिलता है। मरुभूमि कृषि तथा निवास दोनोंहीके अयोग्य मानी जाती है। नदी, समुद्र या सरोवरोंके पासवाली सिकताहीन समतल उर्वरभूमि ही कृषि तथा निवासके योग्य और स्वास्थ्यकर होती है। 'क्षीयते धान्यादिभिरिति क्षेत्रम्' जो भूमि धान्यादि उत्पन्न करके क्षीण शक्ति होती रहती तथा वारंवार खाद मांगती रहती है वह भूमि क्षेत्र या कृषिभूमि कहाती है।

पाठान्तर— अप्रयत्नादेकं क्षेत्रम्।

साधारण प्रयत्नसे एक ही क्षेत्र अन्नकी उपज दे सकता है।

(क्षुद्रके भरोसे बलवान्से मत बिगाडो)

एरण्डमवलम्ब्य कुंजरं न कोपयेत् ।। ४५२ ।।

सारशून्य अदृढ एरण्डका आश्रय लेकर महाकाय हाथीको कुपित न करे।

विवरण— क्षुद्र सहारेके भरोसे बलवान्से न लडे। क्षुद्र साधनसे बलवान्का ताडन निवर्तन, निग्रह या अवरोध संभव नहीं है किन्तु इससे अपना ही महाअनिष्ट हो सकता है। मनुष्य जैसा कार्य करना सोचे उसी प्रकारकी सामग्री भी तो संचित करे। लघु उपायसे गुरुकार्य न छेड बैठे। जैसे नखनिकृन्तनसे वृक्षच्छेद असंभव है इसी प्रकार लघु उपायसे गुरु-कार्यकी सिद्धि असंभव है। वृक्षच्छेद कुठारसे ही संभव है। 'आ इरति वायुमिति एरण्डः' जो वायुका विनाशक वृक्ष है वह एरण्ड कहाता है। एरण्ड तैल तथा मूलकी त्वचा अत्यन्त वायुनाशक होती है।

(देहकी विशालता जयका साधन नहीं)

अतिप्रवृद्धा शाल्मली वारणस्तम्भो न भवति ।। ४५३ ।।

अत्यन्त पुराना या अति विशाल भी शाल्मली हाथीका बन्धन नहीं बनाया जाता।

विवरण— जैसे पुराना विशाल शाल्मलि अकठिन तथा असार होनेसे हाथी बांधने योग्य नहीं माना जाता इसी प्रकार निर्बल मनवाले लोग चाहे जितने समृद्ध और हृष्टपुष्ट हो जानेपर भी बलवान्से टक्कर लेने योग्य नहीं होते। मनुष्यमें बलवद्विरोधके लिये अन्तःसार (अर्थात् मनो-बल) होना चाहिये। हार्दिक बल ही संग्रामकी विशेष योग्यता है, भुजबल नहीं। मेदस्वी स्थूलकाय लोग कृशकाय निरोग लोगोंके साथ युद्ध छेडकर विजय नहीं पा सकते।

शाल्मलीके विषयमें किंवदन्ती है 'षष्ठिवर्षसहस्राणि वने

जीवति शाल्मली ' शाल्मलीका वृक्ष साठ हजार वर्षतक जीवित रहता है। इसीसे शाल्मलीका दूसरा नाम ' स्थिरायु ' भी है।

पाठान्तर— अतिप्रवृद्धा शाल्मलिर्न वारणस्तम्बः।

अतिदीर्घोऽपि कर्णिकारो न मुसली ॥ ४५४ ॥

जैसे कनकचम्पा (या कनेर) चाहे जितना लम्बा और मोटा होजानेपर भी मूसल बनानेके काम नहीं आता, इसी प्रकार निर्बल मनवालेके पास चाहे जितने भौतिक साधन होजानेपर भी वह बलके काम नहीं कर सकते।

पाठान्तर— न दीर्घोऽपि कर्णिकारः मूसलो भवति।

विशालकाय भी कनेर मूसल नहीं बन सकता।

(निर्बल मनसे बलके काम नहीं किये जाते)

अतिदीप्तोऽपि खद्योतो न पावकः ॥ ४५५ ॥

जैसे खद्योत चाहे जितना दीप्तिमान होनेपर भी अपने शक्तिवैकल्यके कारण आगका काम नहीं दे सकता, इसी प्रकार निर्बल मनवालोंसे बलका काम नहीं हुआ करता।

पाठान्तर— अतिज्वलितोऽपि खद्योतो न पावके नियुज्यते।

जैसे अति प्रज्वलित भी खद्योत आगके स्थानमें उपयुक्त नहीं होता, इसी प्रकार निर्बलोंसे बलके काम नहीं होते।

(बडोंका गुणी होना अनिवार्य नहीं)

न प्रवृद्धत्वं गुणहेतुः ॥ ४५६ ॥

किसीका किसी बातमें वृद्धि पा जाना उसके गुणी भी होनेका प्रमाण या साधक नहीं है।

विवरण— किसीका अवस्था धन, विद्या, यश आदिसे वृद्धि पा जाना अतिमान्य, यशस्वी या महावृद्धिसम्पन्न होजाना उसके धीरता, उदारता,

संयम, क्षमा आदि मानवोचित गुणोंसे गुणी होनेका प्रमाण नहीं है। कई लोग अवस्थावृद्ध, विद्यावृद्ध, धनवृद्ध, यशोवृद्ध, भाग्यवृद्ध या संयोगवृद्ध होनेपर भी अत्यन्त निर्गुण होते हैं। कईवार तो देखा गया है कि जहां यश होता है वहां धूर्तताकी जडें पाताल तक गहरी चली गई होती हैं। यश और धूर्तताका प्रायः साथ पाया जाता है। बडप्पनोंके पीछे धूर्तताके विराट् अड्डे पाये गये हैं। असाधारण दैहिक प्रदर्शन, असाधारण भोजनाडंबर, आत्मंभरिता, दिखावटी, त्याग, तपस्या और मुनिवेश धोखेकी टट्टियां पाई जाती हैं। इसलिये मनुष्यको इन यशोऽयवसायी बडे समझे हुए लोगोंसे सावधान रहना चाहिये। किसीका बडप्पन या यश देखकर अविचारित रूपसे उससे प्रभावित नहीं होजाना चाहिये। घनिष्ट निरीक्षणके पश्चात् ही किसीका विश्वास करना चाहिये।

(दुष्प्रकृतिवाले सारवान नहीं बनते)

सुजीर्णोऽपि पिचुमन्दो न शङ्कुलायते ॥ ४५७ ॥

जैसे अति पुराना भी नीमका काठ, लवित्र (चाकू) बनानेके काम नहीं आता, इसी प्रकार दुष्ट प्रकृतिके लोग पुराने पडकर भी अपनी सारहीनता नहीं छोड देते और सारवान नहीं बन जाया करते।

विवरण— जैसे कुत्तेकी पूंछ बारह बरस नलकीमें रक्खी जानेपर भी अपना टेढापन नहीं त्याग देती इसी प्रकार गुणहीन लोग पुराने होजानेसे अपने दुरभ्यास नहीं त्याग देते।

(सन्तान मातापिताके समान)

यथा बीजं तथा निष्पत्तिः ॥ ४५८ ॥

जैसा बीज वैसा फल।

विवरण— जैसी जिसकी कारणशक्ति वैसा उसका फलविपाक। जैसी बुरी-भली मंत्रणा वैसा ही कार्य। जैसे माता-पिता या समाज वैसे ही

बालक । जैसे बोओगे वैसा काटोगे । इसलिये बीजको सदा शुद्ध निर्दोष बनाकर रखना चाहिये । मातापिता ही बालकोंके बीज हैं । उनके निर्दोष आचरण होनेसे ही देशको ऊँचे मनुष्य मिलने संभव हैं । मानवशिशु जिन या जैसे मातापिताकी गोदमें उतरता है उसमें अनिवार्यरूपमें उन्हींके गुण आते हैं । संयमी असंयमी मातापिताके संयमी असंयमी सन्तति होती है ।

(बुद्धि शिक्षादीक्षाके अनुसार)

यथाश्रुतं तथा बुद्धिः ॥ ४५९ ॥

जैसी जिसकी शिक्षा होती है वैसी उसकी बुद्धि बनती है ।

विवरण— इसलिये शिक्षामें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विद्यार्थियोंको भ्रान्त इतिहास, भ्रान्त विचार, भ्रान्त चरित्र, पढाया, सुनाया, सिखाया या दिखाया ही न जाय । जिन बालकोंकी शिक्षादीक्षापर राष्ट्रोंका भविष्य निर्भर है उनके चारित्रिक विकासके विषयमें कितनी बडी सावधानीकी आवश्यकता है ? यह बात शिक्षाशास्त्रियोंके सोचनेकी है ।

(आचार कुलके अनुसार)

यथाकुलं तथाऽऽचारः ॥ ४६० ॥

जैसा कुल वैसा आचार ।

विवरण— लोगोंके आचार कुलोंकी आचारपरम्पराके अनुसार होते हैं । जो वंश, धर्म, गुण, गौरवमें जितना सम्पन्न होता है, उस कुलका लौकिकव्यवहार भी उसी प्रकारका उदार होता है । उस कुलमें पले बालकका उदार होना स्वाभाविक होता है । आचारके कुलाचार, शिष्टाचार, लोकाचार, स्त्र्याचार आदि अनेक भेद होते हैं । इसी अभिप्रायसे ' सुतं पितृगुणं धत्ते धत्ते मातृगुणं सुता ' की लोकोक्ति प्रचलित है ।

जिस कुलके बडे लोग सूरज निकलने तक सोते हैं, उस कुलके बालक भी सूरज निकलने तक सोये पडे रहते हैं। जिस कुलके बडे लोग खडे होकर

मूत्रोत्सर्जन करते हैं उसके बालक भी खड़े होकर मूत्र करनेमें गौरव अनुभव करते हैं। जिस कुटुम्बके बड़े लोग एक थालीमें एक दूसरेका जूठा खा लेते और एक पात्रमें जूठा पानी पी लेते हैं उस घरके बालकोंको उच्छिष्ट भोजन, मूत्रपान तथा उच्छिष्टपानमें घृणा नहीं रहती। उन्हें पतित रोगियोंकी जूठनकी संभावनावाले साझेके बाजारू पात्रोंमें पेयपान करनेमें घृणा नहीं रहती।

(ऊंचेसे ऊंचे विद्यालय कुलाचारसे ऊंचा आचरण नहीं सिखा सकते)

संस्कृतः पिचुमन्दो न सहकारो भवति ॥ ४६१ ॥

जैसे गुड आदिके संस्कारोंसे संस्कृत भी निम्बवृक्ष अपनी स्वभाविक तिक्तता त्याग कर आम्रवृक्ष नहीं बन जाता, इसी प्रकार दुर्जन किसी प्रकार भी उपदेश, प्रचार आदि द्वारा दुर्जनता त्याग कर सज्जन नहीं बनता।

विवरण— मनुष्य अपनी कुलपरम्परासे ऊंचा आचरण नहीं कर सकता। बालकपनमें अपने उत्पादक कुलसे सीखा हुआ स्वभाव सैकड़ों यत्नोंसे भी नहीं छूटता। जैसे मिट्टीके नये पात्रमें सबसे पहले भरी हुई वस्तुकी गन्ध उसके अन्तरतम तक समा जाती है और कभी नहीं बदलती, इसी प्रकार बाल्यावस्थामें सीखे कौटुम्बिक संस्कार अपरिवर्तनीय होते हैं।

पाठान्तर— सुसंस्कृतोऽपि पिचुमन्दो न सहकारः।

(अध्रुव महान्‌के लिये ध्रुव अल्पको मत त्यागो)

न चागतं सुखं परित्यजेत् ॥ ४६२ ॥

ध्रुव अल्पसुखको अनागत अध्रुव बृहतके लिये न त्यागे।

विवरण— अनुकूल वर्तमानको त्यागकर अनिश्चित भावीकी आशासे उसके पीछे दौड़कर उभयभ्रष्ट न बने। आया सुख न छोड़े। सुअवसर खोना नहीं चाहिये। सुअवसर गाढान्धकारमें प्रकाशदर्शनके समान दुर्लभ

हुआ करते हैं। सुअवसर कभी कभी आया करते हैं। सुअवसर सदा प्रार्थनीय और सदा उत्पादनीय होते हैं। परन्तु मनुष्यको सुखके भ्रममें दुःखको नहीं अपना लेना चाहिये। मनुष्य यह जाने कि इस संसारमें सुखकी मूरत लगाकर संसारको ठगते फिरनेवाले दुःखोंकी न्यूनता नहीं है।

(दुःख मनुष्यकी स्वेच्छास्वीकृत व्याधि)

स्वयमेव दुःखमधिगच्छति ॥ ४६३ ॥

मनुष्य स्वयं ही अपने दुःखोंका कारण बना करता है दूसरा नहीं।

विवरण— दुःख मनुष्यके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ रोगमात्र है। मनुष्यको बाहरवाला कोई दुःख देता है यह उसकी मूढ धारणा है। मनुष्यके पास तत्वज्ञान नामकी एक ऐसी कला है कि वह संसारभरके दुःखोंको शर्करालिप्त भोज्योंके मधुर बन जानेके समान सुखरूपमें परिवर्तन कर देती है। दुःखको सुख बनानेकी जो कला है वही तो तत्वज्ञान है। मनुष्य तत्वज्ञानी न होने तक तो दुःख भोगता और तत्वज्ञान होजानेपर दुःखके प्रश्नको समाप्त पाता है। यदि तत्वज्ञान होजानेपर भी दुःखका प्रश्न समाप्त नहीं हुआ तो निश्चय जानो कि तत्वज्ञान वास्तविक नहीं है।

श्रम या दानसे लेना भी लेना है और चोरीसे लेना भी लेना है। लेना एक समान होनेपर भी एक लेना सुखका कारण तथा दूसरा लेना दुःखका कारण होता है। उचित मार्गसे आये धनसे मनुष्य सुख पाता तथा अनधिकारपूर्वक (अर्थात् चोरी, माया, वंचना आदि गर्हित उपायोंसे) आये धनसे अपनी ही भूलोंसे दुःख भोगता है। लेना समान होनेपर भी लेनेकी दुर्नीतिसे दुःख तथा लेनेकी सुनीतिसे सुख होता है। लेनेकी दुर्नीतिसे होनेवाला दुःख उसे किसी दूसरेके देनेसे नहीं होता। इस दुःखका तो मनुष्य स्वयं ही विधाता है। सचमुच मनुष्य स्वयं ही अपने अच्छे बुरे भाग्यका एकमात्र विधाता है।

(जीवनका ऊंचा मापदण्ड मनुष्यके सुखका विनाशक)

(अधिक सूत्र) **स्वयमेव दुःखमधिगच्छति राजचर्यात् ।**

मनुष्य अपनी धनशक्तिसे अधिक राजाओंके आडम्बर (ठाठ-बाट) बनाकर अपना व्यय बढाकर अपने आपको दुःखोंमें फंसा लेता है । मनुष्यका भाग अपने ही हाथमें सुरक्षित या अरक्षित रहता है ।

'एतदेवात्र पाण्डित्यं यदायादल्पतरो व्ययः ।'

चतुराई तो यह है कि व्यय आयसे न्यून हो ।

यः काकिनीमप्यपथप्रणष्टां समुद्धरे निष्कसहस्रतुल्याम् ।
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्तस्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः ॥

जो कौडीको भी कुमार्गसे नष्ट न होने देकर सहस्र सुवर्ण मुद्राओंकी भांति बचाता और योग्य समय आनेपर करोडो मुद्राओंको मुक्तहस्त होकर व्यय कर देता है लक्ष्मी उस राजसिंहको कभी नहीं त्यागती ।

(रात्रिभ्रमण अकर्तव्य)

न रात्रिचारणं कुर्यात् ॥ ४६४ ॥

रात्रिमें भ्रमण न करे ।

विवरण— रात्रिमें निशाचर दुश्चरित्र मनुष्य तथा हिंस्र पशु निःशंक होकर विचरण करते हैं इसलिए रात्रि भ्रमणसे प्राणसंकट होसकता है । रात्रिमें समागत विपत्तिको दिखानेवाला प्रकाश तथा सहायकोंका सान्निध्य न होनेसे उस समय विपत्ति मनुष्यको सहसा पकड लेती है और रात्रि-कालीन असावधानतासे अप्रतिकार्य हो जाती है । रात्रिमें विपद्धारक सहायकोंका मिलना भी प्रायः कठिन होता है। रात्रिभ्रमणसे शरीरमें वायुकोप, अग्निमान्द्य, रूक्षता और स्वास्थ्यहानि होती है ।

(रात्रि जागरण अकर्तव्य)

न चार्धरात्रं स्वपेयात् ॥ ४६५ ॥

आधी रात बिताकर न सोये।

विवरण— रात्रिके प्रथम याम बीतनेपर सो जाना चाहिये तथा एक याम रात्रि रहते जाग उठना चाहिये केवल मध्यके यामोंमें सोना चाहिये। ब्राह्म मुहूर्तमें उठना अत्यावश्यक होनेसे मनुष्य पहले प्रथम यामसे अधिक न जागे। 'ब्राह्मे मुहूर्ते या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी' ब्राह्म मुहूर्तकी नींद पुण्यक्षय करनेवाली है। आधी रात तक जागते रहनेसे दिनमें सोना अनिवार्य होजाता है जो स्वास्थ्यके लिये हितकर नहीं है। दिनमें सोना आयुर्वेदमें प्रायः समस्त रोगोंका कारण बताया गया है। दिवा-निद्रासे बचनेके लिये प्रथम यामसे अधिक नहीं जागना चाहिये।

पाठान्तर— न चार्धरात्रं स्वप्यात्।

स्वप्यात् पाठ व्याकरणसंगत है।

(जीवनाचार कुलवृद्धोंसे सीखो)

तद्विद्वद्भिः परीक्षेत ॥ ४६६ ॥

कब सोना, कब जागना, कब खाना तथा कब चलना युक्त है, ये बातें अनुभवी कुलवृद्धों, संभ्रान्त विद्वानोंसे सीखे।

विवरण— अविचारशील लोग अपनी दैनिक चर्यामें यथेच्छ व्यवहार करके निरन्तर रोगी रहते और क्लेश पाते हैं।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ (भगवद्गीता)

परिमित आहार विहार करनेवाले युक्त कर्म, युक्त जागरण तथा युक्त शयन करनेवालेके पास दुःखनाशकी कला आ बसती है।

पाठान्तर— न तद्विपरीक्षेत।

दिनचर्यासंबन्धी कर्तव्याकर्तव्यकी परीक्षामें हानिकर विरुद्ध निर्णय न कर बैठे। यह पाठ अपपाठ है।

(परगृहप्रवेश अकर्तव्य)

परगृहमकारणतो न प्रविशेत् ॥ ४६७ ॥

विना उचित कारण तथा विना वैध अधिकारके दूसरेके घरमें प्रवेश न करे।

विवरण— मनुष्य गृहस्वामीकी प्रवेशाज्ञा, प्रगाढ परिचय या सुपुष्ट विश्वास होनेपर ही पर-गृह-प्रवेश करे। इन परिस्थितियोंके विना पर-गृह-प्रवेश संकटपूर्ण तथा अपमानकारी होता है।

घर तो उपलक्षण है। दूसरेके स्थान, द्रव्य, शस्य-क्षेत्र, उद्यान आदिमें भी प्रवेशानुमति पाये विना जाना अनुचित है। इनमें प्रवेशका अर्थ इन-मेंसे कुछ लेना है। अननुमत, अदत्त, अवैध, स्वत्वहीन वस्तुको लेना चोरी है। धर्मशास्त्रकार तो परद्रव्य चुरानेकी भावनाको भी चोरीमें गिनते हैं। पाप भावनामें ही होता है कर्ममें नहीं।

(असंयमने समाजको भ्रष्टाचारी बना दिया है)

ज्ञात्वापि दोषमेव करोति लोकः ॥ ४६८ ॥

लोग अपनी सत्य स्वाभाविक बुद्धिसे अपने कामको बुरा समझते हुए भी परद्रव्य-हरणादि रूप अपराध कर बैठते हैं।

विवरण— यहांतक कि राज्यसंस्थाको हथिया बैठनेवाले देशके गिने-चुने चोटीके लोग भी राज्याधिकारका आस्वाद चखते ही अपनी मर्यादा भूल जाते हैं और राष्ट्रकी धरोहरके चोर, डाकू, लुटेरे, लम्पट, ठग बननेमें राजशक्तिका जानबूझकर दुरुपयोग करके विधानका भंग करते, संविधानकी प्रतिज्ञाको पददलित करते, 'पयोमुख विषकुम्भ' बनकर जनताको झूठे आश्वासन दे देकर मिथ्याचार करते हैं।

ये लोग जनताके अविश्वासभाजन बननेका कोई डर नहीं मानते। ये जनताके अपने दुराचारोंसे परिचित होजानेपर भी निर्लज्ज होकर धुआँधार व्याख्यान दे-देकर अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनते फिरा करते हैं। ये लोग

अपने हाथोंमें आ फंसी हुई आसुरी शक्तिके घमंडमें आकर लोकनिंदाका डर नहीं मानते। ये लोग जनमत व्यवसायी चाटुकार पत्रकारोंके स्तुति-लेखोंको ही अपने राज्याधिकारका समर्थक तथा जनमतको दबाकर रखनेवाली अव्यर्थ शक्ति मानकर निर्भर होकर यथेच्छ अत्याचार करके प्रजाको जर्जरित कर डालते हैं। मनुष्य पहले तो दुष्ट स्वभाव बना लेता है और फिर उस स्वभावके अधीन होकर उसीका दीनदास बनकर रहने लगता है। यह मानवजीवनका कैसा निकृष्ट पहलू है कि वह जानता हुआ भी दुराभ्यासवश पापमें हाथ डालनेसे अपनेको रोकता नहीं है।

मानव कैसा निःसार, कितना पामर, कितना तुच्छ और कितना घृण्य बन चुका है कि अपने आपको भूल करनेसे रोकनेका सत्साहस तक खोबैठा है। भले बुरेकी पहचान तो सब ही मनुष्योंको है। फिर भी संसारमें भला करने तथा बुरा छोडनेकी सुबुद्धिका प्रायः अभाव पाया जाता है। लोग जानते और भली प्रकार जानते हैं कि दूसरेके घर, उद्यान, क्षेत्र आदिमें विना उचित अधिकारके नहीं जाना चाहिये फिर भी जाते हैं। लोग जानते हैं कि राजशक्तिको हाथमें लेकर राज्याधिकारका दुरुपयोग करके उससे व्यक्तिगत स्वार्थोंका साधन नहीं करना चाहिये, फिर भी लोग कार्यार्थियोंपर राजशक्तिका दबाव देकर अन्यायपूर्वक उपार्जन करना नहीं छोडते। मानवकी यह प्रवृत्ति मानवजातिके भयंकर अधःपतनका दुष्ट उदाहरण है। इसका अर्थ हुआ कि साधारण मानव अपने ऊपरसे संयम खोबैठा है।

फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।
फलं पुण्यस्य चेच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः॥

लोग पापके फलोंसे तो घृणा करते परन्तु पाप बडे यत्नसे करते हैं। लोग पुण्योंका फल तो चाहते हैं परन्तु पुण्य करना नहीं चाहते। सोचिये तो सही कि मानवका कितना अधःपतन होचुका है।

(लोकाचारका आधार)

शास्त्रप्रधाना लोकवृत्तिः ॥ ४६९ ॥

लोकाचार शास्त्रके आधारपर ही प्रचलित हुए हैं ।

विवरण— लोगोंको चाहिये कि वे स्वेच्छाचार-मूलक प्रवृत्तियोंको हानिकारक समझकर उनसे बचकर रहें । शास्त्रविधिके अनुसार कार्याकार्य-विवेक करके कार्योंमें प्रवृत्त हों । शास्त्र तीन प्रकारका है—

पहला शास्त्र— ऋगादिशास्त्र । सन्तोंके नश्वर देहका अन्त होजानेपर भी उनके अनुभवोंसे लाभ उठाते रहनेके लिये शास्त्रोंकी सृष्टि हुई है । भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा इन तीन दोषोंसे हीन होकर लिखी गई पुस्तकें शास्त्रश्रेणीमें आती हैं ।

दूसरा शास्त्र— 'तद्विद्वृद्धिः परीक्षेत' में वर्णित है । व्यवहारपारंगत ज्ञानवृद्धोंका जीवित अनुभव भी शास्त्र कहाता है ।

तीसरा शास्त्र— 'सकलं हि शास्त्रमिन्द्रियजयः' में वर्णित हुआ है । अपनी इन्द्रियोंकी भोगाभिलाषाओं या कण्डूतियोंका मनुष्यपर आधिपत्य न होकर उन सबपर मनुष्यके विवेकका ही पूरा पूरा आधिपत्य हो और उसकी इन्द्रियशक्तियोंका जीवन-यात्रामें केवल सदुपयोग ही सदुपयोग हो, यह भी एक महान् जीवित शास्त्र है । मानवकी प्रवृत्ति इन तीनों प्रकारके शास्त्रोंके पूर्ण नियन्त्रणमें हो इसीमें उसका कल्याण है । बोधायनके शब्दोंमे शिष्ट वे हैं जो वेदज्ञ रागद्वेषादि-परित्यागी, ईर्ष्या, अहंकार, कपट, लोभ, तृष्णा, शंका, क्रोधसे हीन हैं । जो दस दिन मात्र अन्नसे सन्तुष्ट है, ईश्वर-भक्ति, पितृमातृ-भक्ति करते हैं । शान्त प्रकृति हैं । स्वतंत्रता- प्रिय हैं । असूया कटुपनसे अतीत स्पष्टभाषी, कृतज्ञ, धार्मिक तथा स्थिर हैं वे शिष्ट कहाते हैं । शिष्ट वही है जिसके मानसिक, वाचिक तथा कायिक आचरण आठों पहर व्यर्थताके कलंकसे मुक्त रहते हैं । जिसका एक भी आचरण व्यर्थताके लपेटमें आ जाता है वह कदापि शिष्ट नहीं है ।

पाठान्तर— शास्त्रप्रधाना लोकप्रवृत्तिः ।

लोककी प्रवृत्ति शास्त्रप्रधान होनी चाहिये ।

(शास्त्राभावमें शिष्टाचार ही शास्त्र)

शास्त्राभावे शिष्टाचारमनुगच्छेत् ॥ ४७० ॥

जिसे शास्त्रका ज्ञान न हो या जिसका विवेच्य विषय शास्त्रमें अवर्णित हो वह शिष्टाचारको माने ।

विवरण— सूत्र कहना चाहता है कि श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र न जाननेवाले लोग धर्मिष्ठ विद्वानोंके आचरणोंको ही शास्त्रोपदेशके समान प्रमाण मानकर तदनुसार आचरण करें। मनुष्य जाने कि धार्मिक लोगोंके आचरण ही तो शास्त्रोंमें लिखे हुए हैं। इसीलिये धर्मशास्त्रोंमें वर्णित शिष्टाचार, कुलाचार, देशाचार, स्थाचार आदि धर्ममें प्रमाण माने हैं।

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः ।
न च वाग्भंगचपलो इति शिष्टस्य लक्षणम् ॥

शिष्ट वे हैं जिनके हाथ, पैर, नेत्र, वाणी आदि चपल न होकर मानव-जीवनके लक्ष्यमें पूर्ण संयत हैं। शिष्ट वे हैं जो न अनधिकृत काममें हाथ लगाते, न अनधिकृत स्थानपर पैर रखते, न पापदृष्टिसे किसीको देखते और न किसीसे असंयत भाषण करते हैं। शिष्टोंका समाजको धर्मभावना सिखानेका जो महान् उत्तरदायित्व है उसे ध्यानमें रखकर वे लोग अति सावधान जीवन बिताते हैं।

(शिष्टाचार शास्त्रसे अधिक मान्य)

नाचरिताच्छास्त्रं गरीयः ॥ ४७१ ॥

शास्त्रका महत्व शिष्टाचारसे अधिक नहीं है ।

विवरण— शास्त्रका व्यावहारिक रूप ही तो शिष्टाचार है। यही कारण है कि शास्त्र और शिष्टाचारके विरोधमें शिष्टाचार ही प्रामाणिक और अनु-सरणीय माना जाता है। शास्त्र लोगोंको इतना नहीं सिखाता जितना शिष्टा-चार सिखाता है। शास्त्रानभिज्ञ लोग भी शिष्टाचार-परम्पराके अनुसार धार्मिक जीवन बिताते चले जाते हैं। शिष्टाचार शास्त्र-ज्ञान प्राप्त न कर

सकनेवालोंका मार्गदर्शक होता है। शिष्टाचार जीवित शास्त्र है। यह समाजरूपी जीवित ग्रन्थके आचरणरूपी पृष्ठोंपर लिपिबद्ध होकर अमिट शास्त्र बना रहता है।

(राजाकी दूरदर्शिताका साधन)

दूरस्थमपि चारचक्षुः पश्यति राजा ॥ ४७२ ॥

राजा अपने दूतोंकी आंखोंसे दूर दूर देश-विदेशकी बातें समीपस्थके समान जान लेता है।

विवरण— गौवें गन्धसे, मनुष्य आंखसे, विद्वान् बुद्धिसे और राजा दूतोंसे देखा करते हैं।

> गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणः।
> चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥

गौवें गन्धसे खाद्याखाद्य पहचानतीं, ब्राह्मण वेदसे कर्तव्य पहचानते, राजा चारों (गुप्तचरों, दूतों) से राष्ट्र परराष्ट्रकी वस्तुस्थितिको समझते तथा साधारण लोग आंखोंसे अपना गन्तव्य मार्ग पहचानते हैं।

(संसार भेषमनोवृत्ति है)

गतानुगतिको लोकः ॥ ४७३ ॥

साधारण लोक (विचारशील न होकर) गतानुगतिक (भेडा चाल) होता है।

विवरण— बुद्धिमान् लोग प्रकृत विषयपर पूर्ण विचार कर, अहितकर, मार्ग त्यागकर हितकरको अपनाते हैं। मूढ लोग प्रकृत विषयपर स्वयं कोई विचार न करके, दूसरेके चाहे या कहे अनुसार आचरण करते हैं। उनके पास वस्तु-विवेक करनेवाली बुद्धि नहीं होती। वे सब कुछ संसारकी देखादेखी करते हैं। वे घुडदौडके घोडोंके समान लोकप्रवाहमें दौडा करते हैं।

कालक्रमेण जगतः परिवर्तनीया।
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति लोकपंक्तिः॥ (भारवि)

आगे पीछे पंक्ति (डार) बनाकर उडनेवाले सारस पक्षियोंके समान लोग प्रवाहके पीछे दौडा करते हैं, वे सब कुछ लोक दृष्टान्तोंको ही आधार बनाकर करते हैं। लोक ही उनका शास्त्र होता है।

संसारमें दैवी और आसुरी दो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ सदासे चली आ रही हैं। शुभप्रवाहमें प्रवाहित होनेवाले लोग शुभकर्मी और अशुभप्रवाहमें प्रवाहित होनेवाली प्रजा अशुभकर्मी हो जाती है। सर्वसाधारणके लिये विचारपूर्वक काम करना शक्य नहीं होता। साधारण प्राणी सोचकर काम नहीं करता। वह तो करके सोचता है। करके सोचनेका परिणाम पश्चात्ताप और दुःख होता है। परन्तु साधारण जनताके पास इस दुःखदायी मार्गसे बचनेकी बुद्धि नहीं होती और वह दुःख-परम्परामें ही उलझी पडी रहती है। जो व्यक्ति स्वयं हिताहितविचारसे शून्य है उसके गतानुगतिकतासे शुभकर्मी दीखनेपर भी उसके शुभ चारित्रका, ज्ञानपूर्वक न बनाकर अकस्मात् कोई आकृति बना डालनेवाले घुन (कीट) के निर्मित आकारके समान तबतक कोई मूल्य नहीं है जबतब वह स्वयं विचारवान् बनकर शुभाशुभमेंसे अशु-भको जानबूझकर त्यागकर शुभको जानबूझकर नहीं अपनाता।

समाजके विवेकी लोग ही गतानुगतिक समाजको सन्मार्ग दिखानेके उत्तरदायी होते हैं। जब कहीं गतानुगतिक लोगोंको कुमार्गगामी होता पाओ वहीं समझ जाओ कि इस देशका विवेकी समाज अपने आपको समाजके सामने लानेमें असमर्थ हो रहा है और उसे सन्मार्ग दिखानेके धोकेसे कर्तव्यभ्रष्ट करनेवाले कपट महात्मा लोग गुरु बनकर नैष्कर्म्यका मिथ्या सन्तोष भोग रहे हैं। समाजके विवेकी लोग समाजकी सम्पत्ति होते हैं। विवेकिताका दम भरनेवाले लोगोंको सामाजिक चारित्रिक हानि करनेका कोई अधिकार नहीं है। सच्चे विवेकिओंकी विवेकिताको समाज-सेवामें उपयुक्त कराना समाजका वैध अधिकार है। इसीको विवेकीके

कन्धोंपर चढा हुआ ऋषि-ऋण कहा जाता है। समाजमें विवेककी परंपरा प्रवाहित किये बिना विवेकी लोग इस ऋणसे उऋण नहीं हो सकते।

जब लब्ध-प्रतिष्ठ गतानुगतिकोंको सन्मार्ग-प्रदर्शनका कर्तव्य करनेवाले विवेकी लोग विलुप्त हो जाते हैं, तब केवल साधारण जनता ही नहीं राज-शक्ति भी कुमार्गगामी होकर लोकचरित्रको कलुषित करने लगती है। ऐसे प्रामादिक अवसरोंपर विवेकी लोगोंकी सामर्थ्याधीन कर्तव्य-शीलता ही समाजकी ध्रुव-ज्योति होती है। ऐसे समय राष्ट्रके विवेकी लोगोंका कर्तव्य होता है कि वे अपनी संगठित शक्तिसे राजशक्तिको सुधारनेके लिये सुदृढ अव्यर्थ उपायोंको काममें लायें। यदि समाजके विवेकी कहलानेवाले लोग भी राजशक्तिको सुधारनेके लिये आगे न बढें तो उन्हें भी आसुरिकताके समर्थक कर्तव्यमूढ अविवेकियोंकी असुर-श्रेणीमें सम्मिलित होनेका अपराधी समझना चाहिये।

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥

ओ राजहंस! यदि नीरक्षीर विवेकमें तू ही आलस्य करने लगेगा तो बता संसारमें और कौन कुलव्रत पा लेगा?

(मेषमनोवृत्ति संसारमें बुद्धिमानका कर्तव्य)

(अधिक सूत्र) **जीविभिस्तस्मिन्नाजीवेत्।**

अपने मानवजन्मकी सफलता चाहनेवाले मनुष्य मानवजीवियों अर्थात् भोजन-भोग-परायण, उदरम्भरि लोगोंकी श्रेणीके साथ मिलकर अपने जीवनको गतानुगतिकतामें प्रवाहित न हो जाने दें। अपने जीवनको सफल करनेका इच्छुक मनुष्य अपने प्रत्येक कर्मके शुभाशुभ परिणामोंपर पूर्ण सतर्क दृष्टि रखकर कर्मसे आत्म-कल्याणकी संभावनाके सुनिश्चित होनेपर ही किसी कर्मको अपनाये।

विवरण— मनुष्यकी प्रकृति उसे सदा ही कर्म करनेकी प्रेरणा देती रहती है। मनुष्य चाहे या न चाहे कर्म तो उसे विवश होकर करना ही पडता है। उसे तो केवल कर्मकी नीति-निर्धारण करनेकी स्वतंत्रता है। विचारशील मनुष्यको अपनी कर्म करनेकी प्रवृत्तिपर अपने मानव-जीवनके लक्ष्यका पूर्ण नियंत्रण रखकर ही अपनी कर्मप्रवृत्तिको व्यावहारिक रूप लेने देना चाहिये, नहीं तो अपनी उस लक्ष्य-विरोधी कर्म करनेकी प्रवृत्तिको लक्ष्यानुकूल मार्गमें परिवर्तित कर डालना चाहिये और लक्ष्यारूढ रहना चाहिये।

(स्वामिनिन्दा अकर्तव्य)

यमनुजीवेत्तं नापवदेत् ॥ ४७४ ॥

मनुष्य अपने उपजीव्य (जिसके सहारे जीविकार्जन करता हो उस) की निन्दा न करे।

विवरण— ऐसा करनेसे जीविकाका व्याघात होता है। यह समस्त संसार धन, पुण्य, धर्म, जीविका आदिके प्रसंगोंमें उपकार्य-उपकारक तथा ऊंचनीच भावसे परस्पर बँधा रहकर ही निर्विघ्न चल सकता है। उपजीव्यकी निन्दासे उपजीवि तथा उपजीव्यका यह संबंध टूटकर जीवनयात्राका विघ्न बन जाता है। ऐसे अनिष्टकारी प्रसंगोंसे बचनेका एकमात्र उपाय वाक्संयम है। क्या बोलना, क्या नहीं बोलना ? यह परिणाम तक सोचे बिना एक भी वाक्य न बोलनेसे इस प्रकारके संकटोंकी उत्पत्ति स्वयमेव रुक जाती है। वाणीपर विजय पानेसे मनुष्य विश्व-विजय पा लेता है।

> यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
> परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥

यदि तुम एक ही कामसे विश्व-वशीकार करना चाहो तो अपनी वाणी-रूपी गौको परनिन्दारूपी दूषित सस्य मत खाने दो।

(इन्द्रियनिग्रह जीवनकी परमविशेषता)

तपःसार इन्द्रियनिग्रहः ॥ ४७५ ॥

जितेन्द्रियता ही तपस्याकी सार (सर्वस्व निचोड, जान या प्राण) है।

विवरण- मनुष्योंकी, लोगोंकी तथा राजकर्मचारियोंकी ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय उनके कर्तव्य-पालनमें विघ्न डालनेवाली भोग-लालसाओंकी पूर्ण उपेक्षा करने लगी हों, वे अपनी लालसाओंको कर्तव्य-पालनका विघ्न न बनने देती हों, वे उन्हें कर्तव्य-पालनसे रोकनेमें असफल होने लगी हों, यही उन (राज्याधिकारियों) की (जप, तप, योग, ध्यान, भजन, कीर्तन-रूपी) समस्त तपस्याओंका निचोड है। यदि मनुष्यों राजकर्मचारियों या लोगोंके जीवनमें कर्तव्य हार या दब गया हो और भोगलालसा या इन्द्रिय-लोलुपता प्रबल हो गई हो तो उनकी सारी तपस्या फूटी कौडीके भी मूल्यकी नहीं रहती।

> वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां।
> गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः॥
> अनुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते।
> निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥

अनिन्द्रियविजयी विषयानुरागी लोग वनोंके एकान्तोंमें भी दोषोंकी क्रीडास्थली बन जाते हैं। यदि मनुष्य घरमें रहकर या जीवनरक्षार्थ उद्योग करता हुआ इन्द्रियोंपर वशीकार पाकर रहे और उन्हें अपने सिद्धान्तका वध न करने दे तो वह तप कर रहा है। जो मनुष्य अनिन्दित आचरण कर रहा है और व्यवहारको ही परमार्थ बनानेमें लगा हुआ है उस निवृत्त-राग पुरुषका तो पारिवारिकोंसे भरपूर घर ही एकान्त तपोभूमि बन जाता है।

तपोवन किसीको तपस्वी नहीं बना देता। तपोवनमें जा बसनेसे कोई तपस्वी नहीं बन जाता। किन्तु तपस्वी लोग समाज-कल्याणकारी कर्तव्यके आह्वानसे जब जहां जाते और रहते हैं तब वहीं उनका तपोवन बन जाता

है। जो तपोवन समाज-कल्याणरूपी कर्तव्यसे हीन होते हैं वे तपोवन कहानेवाले स्थान भी स्वेच्छाचारी पतित जीवनकी लीलाभूमि होते हैं।

चाणक्यके स्त्री-सम्बन्धी अग्रिमसूत्र अपराधी, आक्रान्त, पीडित, अनाथ, स्थानच्युत स्त्रियोंसे प्रसंग पडनेवाले राजकर्मचारियोंकी भोग-लोलुपताके संबन्धमें सावधान वाणीके रूपमें लिखे जा रहे हैं। अन्तगामी विचार न कर सकनेवाला मनुष्य-समुदाय स्त्री-सुखसे आबद्ध रहता है। राज्य-शक्ति हाथमें आजानेपर इस सुखेच्छाके उच्छृंखल, उच्छास्त्र, उन्मर्याद हो जानेकी पूरी संभावना रहती है। इसीलिये ऊपरवाले सूत्रोंमें इन्द्रिय-निग्रहकी महिमा गाई जा चुकी है। उसीके पश्चात् इन्द्रियाधीन होनेके प्रसंगोंसे रोकनेके लिये अगले सूत्रोंको आना पड रहा है। सांसारिक सुख इच्छामात्रसे प्राप्त नहीं होते। वे इच्छा होनेपर भी दुर्लभ तथा संकटपूर्ण होते हैं। मनुष्यका सच्चा इन्द्रिय-सुख इन्द्रिय-संयममें ही छिपा रहता है, असंयममें नहीं। मनुष्य इन्द्रियसुखको भी इन्द्रिय-निग्रहसे ही प्राप्त कर सकता है, भोग-लोलुपतासे नहीं। अज्ञान-विजय ही ज्ञानानंद है। लोलुप लोग संयत ऐहिक सुखोंसे वंचित होजाते हैं।

पाठान्तर— **तत्सार इन्द्रियनिग्रहः।**

जीविका चलाने या जीवन धारण करनेका सार अर्थात् महत्व इन्द्रिय-निग्रह ही है।

> **यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।**
> **एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥**

यौवन, ऐश्वर्य, प्रभुत्व और अविवेक इन चारोंमेंसे एक भी किसीके पास हो तो वही महा अनर्थ कर डालता है। जिसके पास संयोगसे चारों इकट्ठे हो जाएँ तो उसके विनाश और असफल हो जानेमें कोई सन्देह नहीं है। अविवेक सर्वावस्थामें अनर्थकारी है। अविवेकीका यौवन, धन या प्रभुता उसकी दुष्प्रवृत्तियोंको ही साधन बनती है। इन सब दृष्टियोंको ध्यानमें रखकर इन अग्रिम सूत्रोंका अभिप्राय समझना चाहिये। इन्हें स्त्री-निन्दाके रूपमें लेना अभिप्राय विरुद्ध होगा।

(असाधारण मनोबलका काम)

दुर्लभः स्त्रीबन्धनान्मोक्षः ॥ ४७६ ॥

स्त्रीसंबन्धी भोगका बन्धन सम्मुख आनेपर उससे अपनेको बचा सकना असाधारण मनोबल और तपस्याका काम है।

वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च।
तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद्भर्गो नराकृतिः॥

वेधाने कान्ता और कनक दो स्थानोंमें भ्रमका आधान किया है। उनमें कान्ता और कांचनमें अनासक्त मानव मानव नहीं नराकृति महादेव है। यदि राज्यशक्ति-सम्पन्न लोग अपनेको इस बन्धनसे बचाकर नहीं रक्खें तो उनके मानवत्वके सम्मानका नष्ट होना तथा उनका राज्यसे भ्रष्ट हो जाना अनिवार्य है। राजकाजी लोग अपने जीवनमें भोगपक्षको उपेक्षापक्षमें रखकर ही सफल शासक बन सकते हैं।

(स्त्रीबन्धन समस्त पापों तथा उत्पातोंका मूल)

स्त्रीनाम सर्वाशुभानां क्षेत्रम् ॥ ४७७ ॥

स्त्री सर्वाशुभोंका क्षेत्र है। स्त्रीसंपर्क समस्त प्रकारकी विपत्तियों, शत्रुताओं तथा पातित्योंका कारण बन जाता है।

विवरण— रामायणकी घटना, महाभारतका गृह-कलह, पृथ्विराज-जयचन्द्रोंका विनाश तथा यवनोंके स्त्रीलोभसे अनेक वार विध्वस्त हुआ राजस्थान इसका साक्षी है। इसलिये यह सूत्र राज्यसंस्थामें काम करनेवालोंसे कहना चाहता है कि राज्यसंस्था तथा राज्यसंस्थाका निर्माता राष्ट्र स्त्रीकारणोंसे आनेवाली विपत्तियोंसे बचे रहनेके लिये स्त्रीजातिके संबंधमें अपने कर्तव्यके विषयमें पूर्ण सचेत रहे। यदि मनुष्यसमाज स्त्रीजातिको अज्ञानान्धकारमें रखकर उन्हें भोगसाधनमात्र बनाये रहकर उन्हें अपने हाथकी कठपुतली बनाये रक्खेगा, तो इससे जहाँ देश पथभ्रष्ट होगा वहाँ

पुरुषसमाज स्वयं भी पथभ्रष्ट होकर भ्रष्टा स्त्रियोंके हाथोंकी कठपुतली बने बिना नहीं रहेगा।

मनुष्यसमाजका प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहास या तो स्त्रीलोभ या स्त्रीप्रेरणाके कारण उत्पन्न हुई राष्ट्रीय, सामाजिक, पारिवारिक तथा व्यक्तिगत विनाशों या कलहों घटनाओंसे भरा पड़ा है। इसका एकमात्र प्रतिकार यही है कि मनुष्यसमाजमें ज्ञानका प्रचार किया जाय और उसे व्यक्तिगत कल्याणको सामाजिक कल्याणमें विलीन करना सिखा दिया जाय। व्यक्तिगत कल्याणको सामाजिक कल्याणमें विलीन कर देना ही मनुष्यताका संरक्षक आदर्श है।

न च स्त्रीणां पुरुषपरीक्षा ॥ ४७८ ॥

स्त्रीणां मनः क्षणिकम् ॥ ४७९ ॥

पाठान्तर— स्त्रीणां हि मनः क्षणिकमेकस्मिन्न तिष्ठति।

(विचारधर्मा लोगोंका स्त्रियोंसे कर्तव्यमात्रका संबन्ध)

अशुभद्वेषिणः स्त्रीषु न प्रसक्ताः (प्रसक्तिः) ॥ ४८० ॥

अशुभद्वेषी अर्थात् समाजहितमें अपना हित समझनेवाले लोग स्त्रैण न बनें।

विवरण— वे स्त्रियोंमें आसक्त न होकर उनके साथ केवल कर्तव्यका संबन्ध रक्खें। स्त्री-प्रसक्तिसे बचे रहनेसे मनुष्यता, यश तथा सुप्रजा प्राप्त होती है और बुद्धि प्रखर हो जाती है। अत्यासक्तिसे स्त्रीपुरुष दोनों पतित होजाते हैं।

पाठान्तर— अशुभवेशाः स्त्रीषु न प्रशस्ताः।

(आत्मवेत्ता ही वेदज्ञ हैं)

यज्ञफलज्ञास्त्रिवेदविदः ॥ ४८१ ॥

त्रिवेदविद अर्थात् वेदज्ञ वे लोग हैं जो समस्त यज्ञोंके फल (फलस्वरूप परमेश्वर, औपनिषद् पुरुष या आत्मस्वरूप) को ठीक-ठीक पहचान चुके हैं।

विवरण— जो लोग आत्मतत्वको नहीं समझते, वे किसी भी प्रकार वेदज्ञ नहीं हैं। धन्य हैं वे लोग जिनके जीवनसत्र (यज्ञ) का रूप धारण करके वेदोंकी टीका या भाष्यरूप होकर संसारके लोगोंके सामने पाठ्य ज्ञान-ग्रन्थोंका रूप लेकर रहने लगे हैं। ऐसे लोगोंके जीवन संसारान्धकारमें भटकनेवाले लोगोंके लिये ज्ञानदीपका काम करते हैं। इस सूत्रमें अथर्ववेदको ऋग्यजुः साममें अन्तर्भाव करके चारों वेदोंको त्रिवेद कहा है।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
तं विदन्ति तु वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

वेदका वेदत्व इसी बातमें है कि मानव–जीवनको सफल करनेवाला जो उपाय प्रत्यक्ष या अनुमानसे न जाना जासके वह उससे जान लिया जाय। व्यवहारमें शुद्धि स्वरूप-बोध (कि मैं कौन हूँ, दूसरे कौन हैं, संसार क्या है ? इनसे मेरे क्या संबन्ध हैं यह बात ठीक समझ लेने) से ही मानव-जीवन सफल होता है। ईश्वरबोधसे ही जीवनमें पवित्रता आती है। ईश्वर मानवजीवनकी अनिवार्य आवश्यकता है। यही कारण है कि संसारभरमें ईश्वरकी कल्पना पाई जाती है। मानवजीवनको मनुष्यतामें ढालनेका जो साँचा है वही तो ईश्वर है। जिस समाजकी जैसी ईश्वरकल्पना होती है उस समाजका वैसा ही चरित्र होता है। मनुष्यकी ईश्वरकल्पनामें जहां दोष रह जाता है वहीं उस समाजका चरित्र दूषित होजाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि संसारकी जो जाति आज चरित्रहीन हैं उनकी ईश्वरकल्पनामें ही दूषण है।

(सुखोंकी अस्थायिता)

स्वर्गस्थानं न शाश्वतम् (यावत्पुण्यफलम्)॥४८२॥

कर्मोपार्जित दैहिक सुखभोग सदा नहीं रहा करते।

विवरण— वे उस दिन नष्ट होजाते हैं जिस दिन उसे देनेवाले पुण्य भोगानुकूल कर्मोंका प्रभाव क्षीण होजाता है। मानव सुख-भोग समाप्त

होनेपर अपनेको दुःखमग्न निराश्रय अवस्थामें पाता है। भौतिक सुख-नाशके पश्चात् निराशाकी घोर अंधेरी रातें अविचारशील मनुष्यके सामने आ खडी होती हैं। ऐसे समय यदि मनुष्यके निराशासे टूकटूक होनेवाले भग्नहृदयको बचानेवाली कोई शाश्वत वस्तु इस संसारमें है तो वह भारतीय ऋषियोंका ढूँढा हुआ आत्मस्वरूपका परिज्ञान ही है। इसे पा लेनेपर फिर मनुष्यको हताश, निराश, दुःखी और साहसहीन होना नहीं पडता। आत्म-स्वरूपको जान लेना ही आत्माको पा लेना है। ज्ञानार्जित अम्रियमाण सुख ही शाश्वत पद है। इसीके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

स्वरूपज्ञान ऐसा ज्ञान है जो प्रारंभ तो होता है परन्तु फिर नष्ट होना नहीं जानता। स्वरूपावबोधके इस मार्गमें पाप,ताप आदि नामोंवाले दुःख नहीं रहते। इस धर्मका थोडासा भी आचरण मनुष्यको अज्ञानरूपी महा-भयंकर संसार-भयसे बचा लेता है।

पाठान्तर— **स्वर्गस्थानं न शाश्वतम्।**

(भोगानुकूल कर्मके प्रभावका काल)

(अधिक सूत्र) **यावत्पुण्यफलं तावदेव स्वर्गफलम्।**

जबतक पुण्यफल भोगानुकूल कर्मका प्रभाव रहता है तबतक ही स्वर्गफल (भोग सुख) रहता है।

विवरण— जैसे तीरमें जितनी शक्ति भरकर फेंका जाता है वह उतनी शक्तिके समाप्त होनेपर गिर जाता है, इसी प्रकार पुण्य (भोगानुकूल) कर्मकी जितनी मात्रा होती है उसी परिमाणसे सुखकी मात्रा बनती है। भौतिक फलाशासे किये हुए कर्मका अनुकूल फल उसे (सुखको) देनेवाले नाशवान पदार्थके बने रहने तक रहता है। किन्तु फलाकांक्षारहित कर्मकी प्रेरिका जो शुद्ध भावनारूपी अनासक्ति होती है वह चिरस्थायी होती है। वह नष्ट नहीं होती। उसका माधुर्य तो कभी भी समाप्त नहीं होता।

(सबसे बडा दुःख)

न च स्वर्गपतनात् परं दुःखम् ॥ ४८३ ॥

साधारण मानवके लिये भौतिक सुख-नाशसे बढकर कोई दुःख नहीं होता।

सुखाच्च यो याति नरो दरिद्रतां,
धृतः शरीरेण मृतः स जीवति।

प्राप्त भौतिक सुखोंका विनाश, पहले कभी सुख न मिलनेसे अधिक दुःखदायी होता है। आँख पाकर उन्हें खो बैठनेवालेको जन्मान्धकी अपेक्षा अधिक कष्ट होता है। सदासे नगहीन अँगूठी उतनी बुरी नहीं लगती जितनी नग निकाली हुई लगती है। सुखका नियम है कि वह दुःखोंको भोग लेनेके पश्चात् ही मीठा लगता है।

' सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते। '

जो मनुष्य दुःखोंको जानबूझकर स्वेच्छासे भोगता है अर्थात् आपात दृष्टिसे कष्टप्रद समझे तपस्वी जीवनको अपना स्वभाव बना लेता है उसके पास जीवनभर दुःख नहीं फटकता। उसे सुखकी आवश्यकता ही नहीं रहती। इसे सुखकी आवश्यकता न रहना ही उसका सुखी होना होजाता है। सुखाभिलाषी लोग अनिवार्यरूपसे दुःखद्वेषी होते हैं। सुख सुखाभिलाषियोंके पाससे सदा ही (नियमसे) अनुपस्थित रहते हैं। अभिलाषाका यह नियम है कि वह जिसके साथ लग जाती है उसे ही अनुपस्थित बना डालती है। सुखके साथ अभिलाषाका सम्बन्ध होते ही सुख मानव-जीवनमेंसे अनुपस्थित होजाता है। इसी प्रकार दुःखद्वेषीके पाससे दुःख कभी नहीं हटते।

मूढ अश्वको डरानेवाली उसीकी छायाके समान दुःख मनुष्यकी एक काल्पनिक बिभीषिका है। जो दुःखसे डरता है, दुःख (अपनेसे डरनेवालोंको ही चिपटनेवाले भूतोंके समान) उसीको जा चिपटता है। दुःखको

दुःख न मानकर उसे संसारकी नियमावलीका एक अकाट्य अंग मानकर कर्तव्यबुद्धिसे सामर्थ्याधीन प्रतिकार या सहन करनेसे ही दुःखकी दुःख दायिता मिटाई जा सकती है। दुःख संसारसे हट नहीं सकता। मनुष्यको बुद्धि हो तो वह दुःखोंके विषयमें अपना दृष्टिकोण परिवर्तित करके उन्हें दुःख-कोटिमेंसे निकाल बाहर करके कर्तव्यका अवसर मानकर सच्चे सुखी हो सकते हैं। इस प्रकारका बुद्धि-परिवर्तन किये बिना अपनी संसारयात्राको दुःखसे रीता नहीं बनाया जा सकता। कुछ लोग इस प्रकारके होते हैं जिन्हें न सुखकी इच्छा होती है और न कभी दुःखोंसे डरते हैं। ये लोग सुखोंके साथ 'आगते स्वागतं कुर्याद् गच्छन्तं न निवारयेत्' वाली नीति अपनाकर मनकी ओरसे निर्विकार रहकर अपने इस शतवार्षिक जीवनयज्ञमें अपनी कर्तव्य-पालनकी आहुति डालते चले जाते हैं और अपने जीवनको अमर सनातन विश्वव्यापी जीवनमें विलीन देखनेकी कलाकी पुनः पुनः आवृत्तियाँ करते रहते हैं।

ये लोग प्राकृतिक प्रबन्धानुसार अपने पास आनेवाले भौतिक दुःखोंको कर्तव्यबुद्धिसे व्यर्थ करते हुए भी उनके हटने न हटनेके प्रति निरपेक्ष बने रहते हैं। ये लोग अपनेको जानबूझ कर तपस्वी, संयमी, सहिष्णु, कठोर जीवनमें आबद्ध रखकर दुःखद समझी हुई अवस्थाओंको अपना मधुभक्षण जैसा रुचिकर स्वभाव बना लेते हैं और जीवनभर सुखदुःखातीत नित्य सुखी रहनेकी कलाका आनन्द लेते रहते हैं। ऐसे लोगोंका न तो कभी स्वर्गसे पतन होता है और न कभी दुःखरूपी नरक इनके पास तक आनेका साहस करते हैं।

अपने देशमें इस प्रकारके सुखदुःखातीत विश्वविजयी मनुष्य उत्पन्न करना देशके शिक्षा-शास्त्रियोंका उत्तरदायित्व है। साधारण मानवकी स्वर्ग-कल्पनाकी भयानक मूर्तिके संबन्धमें भर्तृहरिने कहा है— 'विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः।' "मैं जब पुण्योंके विपाकपर विमर्श करने बैठता हूँ, तो मुझे बड़ा भय प्रतीत होता है। पुण्यसे सुख, सुखसे प्रमाद, प्रमादसे पाप, पापसे दुःख, उससे पुण्यवासना, उससे पुण्य

और फिर सुख प्रमादादि। यों यह पुण्यपापोंके परिपाकोंका चक्र कभी समाप्त नहीं होता। मुझे इस चक्रपर आरूढ होकर चक्रवाके झूलेपर झूलते रहनेवाले बालकोंके समान घूमते रहना मूढ अवस्था प्रतीत होने लगी है। मैं तो सुखदुःख दोनोंका बन्धन तोड डालना चाहता हूँ।" वास्तविकता यह है कि भौतिक सुख पाना नामकी कोई भी अवस्था मानवके लिये स्पृहणीय नहीं होनी चाहिये। कर्तव्यपालना ही एकमात्र वह अवस्था है जिसकी मानवको स्पृहा होनी चाहिये। भौतिक सुखोंका तबतक कोई मूल्य नहीं है जबतक मनुष्यका मनुष्योचित मनोविकास या उसे ज्ञानलाभ न हुआ हो। मनुष्य यह जाने कि जबतक वह संसारकी सच्ची परिस्थिति, आवश्यकता और लक्ष्यको नहीं समझ लेगा तबतक उसका सुख-नाश तथा दुःख-प्राप्तिका रोना कभी समाप्त नहीं होगा।

पाठान्तर— न च स्वर्गफलं दुःखम्।

स्वर्ग वह स्थिति है जिसमें दुःख नहीं होता। अथवा- दुःख स्वर्ग अर्थात् सुकृतका फल नहीं है।

(मानव केवल वर्तमानमें सुख चाहता है)

देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदं न वांछति ॥४८४॥

देहीको देहमें इतनी आसक्ति होती है कि वह वर्तमान देह छोडकर ऐन्द्रपद तक लेना नहीं चाहता।

विवरण— इससे पाठक मानवका यह स्वभाव समझनेका प्रयत्न करें कि मानव (देहधारी) मरकर सुखी होना नहीं चाहता। मरकर सुख चाहनेकी उसकी इच्छा उधारी और काल्पनिक है। भौतिक सुखके लिये मृत्यु वरण अस्वाभाविक स्थिति है।

पाठान्तर— देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदं वांछति।

जैसे भारवाही ग्रीष्मयात्री विश्रामके लिये शीतल छायावाले वृक्षमूलमें जाना चाहता है इसी प्रकार संसारी दुःखोंसे पराभूत अज्ञानी मानव

जीवनभर अपनी वर्तमान स्थितिसे ऊँचे सुखवाली स्थितिकी ढूंढमें मारा-मारा फिरा करता है।

पर्वतयात्रीको निरंतर दीखती चली जानेवाली अगली अगली पर्वतमालाओंके समान सुखान्वेषी मानवको एकसे एक अच्छे सुखोंके आकर्षण दीखते चले जाते हैं और उसके मनमें दाव-दाह प्रज्वलित करते चले जाते हैं। सांसारिक सुखभोगोंकी अन्तिम स्थिति या उनसे पूर्ण तृप्ति नामकी कोई अवस्था संसारमें नहीं है। सुखभोगोंकी कोई सीमा को इयत्ता या मर्यादा नहीं है। यही देखकर भोगी प्राणीने समस्त भौतिक सुखोंके-प्रतीकके रूपमें ऐन्द्रपद या मरनेके पश्चात् मिलनेवाले स्वर्गकी कल्पनाके रूपमें मानवके संसार-तापतप्त हृदयको मिथ्यासान्त्वना देनेका एक निष्फल प्रयत्न किया है। मनुष्य सुखका यथार्थ रूप न समझकर सुखविषयक अंधी भावनाके पीछे मारा-मारा फिरता है। उसकी इस वृथा भटकका कारण उसका सुखविषयक अज्ञान ही है।

पाठान्तर— देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदं न वाञ्छन्ति।

संसारी लोग संसारी सुख त्यागकर देवराजका पद तक नहीं चाहते।

(मनकी बन्धनहीन स्थिति दुःखोंकी एकमात्र चिकित्सा)

दुःखानामौषधं निर्वाणम् ॥ ४८५ ॥

मोक्षलाभ करते हुए जीवन बिताना ही दुःखोंका एकमात्र प्रतिकार है।

विवरण— निर्वाण (अर्थात् प्रयत्न या तत्वज्ञानसे दुःखोंका अंत कर डालना) ही दुःखोंकी औषध है। सुखदुःखसे अप्रभावित स्थिति लेकर उदार, वीर, व्यवहारकुशल, प्रशस्त-जीवन बिताना ही दुःखोंकी यथार्थ चिकित्सा है। बन्धनसे मुक्त होजाना या अबद्ध रहना ही निर्वाण या मुक्ति है। बन्धन और मुक्ति दोनों सापेक्ष शब्द हैं। बन्धन या मुक्ति परस्पर-विरोधी मानासिक स्थितियोंके दो नाम हैं। बन्धन और मुक्तिका परस्पर वध्यघातक सम्बन्ध और वध्यघातक सम्बन्धमूलक सहभाव है। सुखदुःखके

विषयमें जो मनुष्यका अज्ञान है वही तो उसकी बंधनकी स्थिति है। सुखदुःखके विषयमें मनुष्यका अभ्रान्त ज्ञान ही उसकी मुक्तिकी स्थिति है।

जीवित देह इन्द्रियभोग्य साधनोंकी अनुकूलतापर निर्भर है। देह-रक्षाका जो असाधारण अभिप्राय है वह भोग भोगना नहीं किन्तु अक्षय-सुख या मोक्ष पा लेना है। मानवका देह भोगसाधन न होकर मोक्षका ही साधन है। भोग और अशान्ति या भोग और अतृप्ति अथवा भोग और मानसिक असन्तोषका नित्य साथ है। बन्धन मानव-जीवनका लक्ष्य नहीं है। मानवका मन बन्धनका स्वाभाविक विरोधी तथा मुक्तिका स्वाभाविक पक्षपाती है। बन्धनमें रहना मानवदेहके लक्ष्यसे विरोध करनेवाली स्थिति है। भोगप्राप्तिके लिये देह-रक्षा करना मनुष्यका कर्तव्य नहीं है। किन्तु अक्षय, अमर, सनातन, नित्य, अद्वैत सुखका अधिकारी बननेके लिये देह-रक्षा करना मनुष्यका कर्तव्य है।

मनुष्यको देह-रक्षाके लिये जीवनोपकरणोंका संग्रह करना पड़ता है। परन्तु उसे इस संग्रहमें सुख-दुःख दोनोंमेंसे किसी एकका वरण अनिवार्य रूपसे करना पड़ता है। मनुष्यका साधन-संग्रहरूपी कर्म सुखदुःखोंमेंसे किसी एकको उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। निर्वाण, मोक्ष या दुःखनिवृत्ति (किसी भी नामसे कह लीजिये) इसी बातमें है कि देह-धारणमात्रके लिये किये जानेवाले कर्मोंको दुःखोत्पादक न बनने देकर सुखोत्पादक बनाकर रक्खा जाय। इस कामके लिये यह बात सदा ही स्मृत्यारूढ रहनी चाहिये कि देह-रक्षाका उद्देश्य क्षुद्र सुख न होकर अक्षय सुख है। जब मनुष्य देह-रक्षाके उद्देश्य मोक्षनामक अक्षयसुखको तो अपनी दृष्टिसे बाहर खड़ा कर देता है और देहको ही भोक्ता बनानेकी भ्रान्ति कर लेता है, उस समय मनुष्यका सुखसाधन संग्राहक कर्म लक्ष्यच्युत होकर सुख-साधन-संग्राहक न रहकर भोग-संग्राहक होजाता है।

यह तो सब जानते हैं कि भोगाकांक्षाका कोई अन्त नहीं है। भोग्य-संग्रह जिस मात्रासे किया जाता है वह उसी मात्रामें भोगाकांक्षारूपी

आगकी आहुति बनकर भोगाग्निका ही प्रज्वालक बनता चला जाता है। भोगाग्निको भोगेन्धनोंसे तृप्त या निर्वापित नहीं किया जा सकता। इसे तो भोगाकांक्षाके परित्यागसे ही बुझाया जा सकता है। स्पष्ट बात यह है कि मनुष्यका मन भोगाकांक्षाको ही दुःख तथा उसके त्यागको ही सुखके रूपमें जान ले तब ही सुखदुःखातीत मोक्षधर्मपर आरूढ हो सकता है। वह उस समय देह-रक्षाके लिये जो भी पुरुषार्थ करता है, वह क्योंकि विवेकके नेतृत्वमें होता है इस कारण वही सच्चा पुरुषार्थ होता है। इसके विपरीत जो पुरुषार्थ विवेकहीन होता है वह भोगाकांक्षी मानवके लिये भ्रान्त सुखान्वेषणके रूपमें उसे बाँध डालनेवाला अनन्त दुःख-जाल बन जाता है।

भौतिक अभावोंको अपने अदम्य भौतिक प्रयत्नोंसे दूर करनेका सामर्थ्याधीन संतोष कमाकर मानसिक दुःखोंका अपने विवेकसे अन्त कर डालना ही दुःखोंकी पूर्ण चिकित्सा है। पुरुषार्थ तथा विवेक दोनों ही मानवके लिये समान रूपसे अपेक्षित हैं। विवेकके विना केवल पुरुषार्थसे मनुष्यको शान्ति मिलनी संभव नहीं है। विवेक पुरुषार्थकी मर्यादा बना देता है। निर्ममयि पुरुषार्थ करनेवाला मनुष्य अपनी विषयाभिलाषाको बढाता चला जाता और जीवनभर दुराशाकी दावाग्निमें झुलसता रहकर अन्तमें नष्ट होजाता है। पुरुषार्थपर विवेकका शासन रहनेसे मनुष्यको असीम, अनुचित या शक्तिबाह्य पुरुषार्थ करनेकी भ्रान्त इच्छा ही नहीं होती। व्यवहार-भूमिसे दूर खडे हुए पुरुषार्थहीन कोरे विवेकके पास कर्मक्षेत्र न होनेसे वह मनुष्यको यथार्थ सुख उत्पन्न करके नहीं दे सकता। यही बात ईशोपनिषद्में इस प्रकार कही है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽ उ विद्यायां रताः॥ (ईशावास्य)

जो केवल पुरुषार्थमें रत हैं, वे घोर अन्धेरेमें धक्के खाते हैं। उनसे भी अधिक धक्के वे खाते हैं जो (कोरे अव्यावहारिक) ज्ञानमें मस्त पडे रहते हैं। ज्ञानके साथ तो व्यवहार-भूमि चाहिये और व्यवहार-भूमिके

साथ नियामक ज्ञान चाहिये । इसका यह अर्थ हुआ कि संयम रखने तथा प्रतिकार करते रहनेसे मनुष्यके भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकारके दुःख हटाये जा सकते हैं । एक ही प्रकारके दुःखोंके पीछे न पड़कर दोनों ही प्रकारके दुःखोंको हटानेका समन्वित उद्योग करना मानवका कर्तव्य है ।

अथवा— निर्वाण (अर्थात् सुखदुःखसे अप्रभावित स्थिति लेकर उदार वीर व्यवहार-कुशल प्रशस्त जीवन बिताना) ही दुःखोंकी यथार्थ चिकित्सा है ।

बात यह है कि भौतिक दुःख इस संसारकी अटल घटना है । वे लाख हटानेपर भी मनुष्यके देहेन्द्रियोंके पाससे नहीं हटते । उन्हें केवल मनमेंसे हटाया जा सकता है । उन्हें मनमेंसे हटानेका एकमात्र उपाय निर्वाण या मुक्तिकी स्थितिको अपनाये रहकर जीवन बिताना है । अपना कर्तव्यपालन तो करना, परन्तु उस कर्तव्यसे किसी कामनाके बन्धनमें न रहना ही मुक्ति है । निष्काम स्थिति ही दुःखातीत स्थिति है । मनुष्यका जो दुःखरूपी भवरोग है वह सांसारिक सुख पानेसे नहीं मिटता । यह रोग तो तत्वज्ञान या साक्षात्काररूपी महौषधसे ही मिटता है । जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें जीवन बिताने लगना ही संसारी तापोंकी निवृत्तिका एकमात्र उपाय है । संसारी ताप मानव-जीवनमेंसे टल ही नहीं सकते । मनुष्य इन तापमयी घटनाओंको दुःखश्रेणीसे निकाल बाहर करे, इन्हें दुःखोंका नाम ही न देकर इन्हें प्राकृतिक घटनामात्र मानकर सुखदुःखातीत होकर उच्च मानसिक स्थितिमें कालयापन करे यही दुःखोंकी एकमात्र रामबाण औषध है । तत्वसाक्षात्कार रूप औषधके विना दुःखरोग कभी भी नष्ट होनेवाला नहीं है ।

(अनार्यसंबंध अकर्तव्य)

अनार्यसंबन्धाद्वरमार्यशत्रुता ॥ ४८६ ॥

अनार्योंसे सौहार्द बढानेसे आर्योंकी शत्रुता अच्छी है ।

विवरण— इसका अर्थ यह है कि मायावी, कपटी, धूर्त मित्रसे कर्तव्याकर्तव्य-विवेकी शत्रु अच्छा होता है । मूर्ख ही मनुष्यसमाजका शत्रु है

और ज्ञानी ही उसका परम मित्र है। ज्ञानीकी ओरसे कभी किसी अनिष्टकी शंका नहीं है। मूर्खकी ओरसे कभी किसी भलाई या हितकी आशा दुराशा है। दस्यु, तस्कर, पामर लोगोंसे कुछ भौतिक लाभ उठानेसे तो यह अच्छा है कि मनुष्य भौतिक लाभसे वंचित रहे। इस प्रकारके हीनलाभ आते ही आते अच्छे लगते हैं परन्तु ये हानि किये विना नहीं मानते। सत्पुरुषोंके संगसे भौतिक लाभ न होनेपर भी शान्ति तो निश्चित होती है। असाधु-समागम दुग्ध तथा अम्लके संबन्धके समान हानिकारक होता है। इस विषम संबन्धसे दुग्धका दुग्धत्व ही नष्ट होजाता है। साधु-समागम दुग्ध तथा मिष्टके समागम जैसा समसंबन्ध होता है और सुखद होता है। इस संगमसे दुग्धमें माधुर्यकी वृद्धि होजाती है।

आर्य तथा अनार्य विवेकी और अविवेकीके पर्यायवाची शब्द हैं। अविवेकीके पास हिताहितबुद्धि नहीं होती। विवेकी वह है जिसमें हिताहितबुद्धि होती है। अविवेकी मित्र सब समय हिताहितबुद्धिसे शून्य होकर अनिष्ट ही किया करता है। कोई भी बुद्धिमान् अविवेकी मित्रपर विश्वास करके निश्चिंत नहीं रह सकता। इसलिये विवेकी मनुष्य किसीको मित्ररूपमें स्वीकार करके भी जब उसकी विवेकिताके संबन्धमें पूर्ण सन्तोष पा लेता है तब ही उसका मित्र जैसा विश्वास करता है। यदि उसे उसके अविवेकी होनेका प्रमाण मिल जाता है तो वह उसे अपने मित्रत्वसे वंचित कर देता है।

इस सूत्रकी भाषासे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कभी कोई विवेकी किसी विवेकीसे शत्रुता कर सकता है? इसका समाधान यही है कि कोई भी विवेकी जानबूझकर अपने जैसे विवेकीसे शत्रुता कर ही नहीं सकता। यदि कोई विवेकी दैववश लोक-चरित्रकी अनभिज्ञताके कारण किसी विवेकीके अपापविद्ध शुद्ध हृदयका परिचय न पाकर, उसके बाह्य व्यवहारमें संदिहान होकर, उसे शत्रु समझ बैठे और उससे शत्रु जैसा बर्ताव भी कर डाले तो भी वह शत्रु समझा हुआ विवेकी व्यक्ति उसके साथ जो कोई बर्ताव करेगा वह आक्रामक बर्ताव न होकर आत्मरक्षात्मक होगा।

इस सूत्रका अभिप्राय अपने पाठकोंके केवल मूर्ख मित्रसे बचाने तक सीमित है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि शत्रुता करनी हो तो विवेकीके साथ करनी चाहिये। मूर्खसे मित्रता जोडने तथा मूढताको दृढताके साथ निन्दित ठहरानेके लिये ही विवेकी शत्रुकी उत्तमताको उपमाके रूपमें उपस्थित किया गया है।

(निन्दित कुलोत्पन्नका चिन्ह)

निहन्ति दुर्वचनं कुलम् ॥ ४८७ ॥

दुर्वचनसे कुलके गौरवका नाश होजाता है।

विवरण— दुर्वचन वक्ताके कुलको कलंकित कर देता है। वचनकी निर्दोषता ही मनुष्यके उच्च कुलका प्रमाणपत्र है। दुर्वचनी लोग अपने कुलको निश्चितरूपसे कलंकित घोषित कर देते हैं। मुखसे वचन निकलते ही सबसे पहले वक्ताके कुलका परिचय मिलता है कि यह कैसे कुलमें पला है ? मनुष्यका व्यक्तिगत परिचय तो पीछेसे होता है। सूत्र कहना चाहता है कि वक्ता लोग वचन बोलते समय अपने कुलके गौरवका ध्यान रखकर बोलें।

पाठान्तर— **नाति दुर्वचनं कुलम्।**

यह पाठ अर्थहीन है।

(संसारका महत्वपूर्ण सुख)

न पुत्रसंस्पर्शात् परं सुखम् ॥ ४८८ ॥

पुत्र-लाभ सांसारिक सुखोंमें सर्वोत्तम सुख माना जाता है।

विवरण— इस सृष्टिके विधाताने अपनी सृष्टि-परम्पराको चलाने तथा मातापितासे पुत्रोंको पलवानेके लिये उन्हें पुत्रमोह नामकी सुदृढ रज्जुओंसे बाँधा हुआ है। इसी प्रबन्धसे यह सृष्टि-परम्परा चल रही है। यदि संसारमें पुत्र सुख नामकी वस्तु न होती तो सृष्टि-परम्पराका चलना ही असंभव होजाता। पिताको दुःखमयी या पापमयी स्थितिसे उबारनेवाला ही पुत्र नाम पानेका अधिकारी है।

(अन्धा विरोध अकर्तव्य)

विवादे धर्ममनुस्मरेत् ॥ ४८९ ॥

विवाद (कलह) के समय धर्मको भूल मत जाओ। धर्मको कलहके समय भी अपनाये रहो।

विवरण— मनुष्य विवादके समय धर्मको अपनाये रहे तो किसीपर अन्याय और अत्याचार करनेसे बचा रह सकता है। विवादोंका शान्तिपूर्वक निर्णय तब ही होता है जब निर्णायक धार्मिक हो।

विवादके समय अन्धा होकर किसीका विरोध न करना चाहिये। एक आँखसे लडना चाहिये और दूसरीसे अपना कर्तव्य-शास्त्र देखते रहना चाहिये। अन्धा विरोध मनुष्यका आत्मघात है। धर्म स्मरणसे ही विवादकी मर्यादाका ज्ञान होता है। मनुष्य धर्ममर्यादाके विस्मरणसे ही अन्याय और अत्याचार करता है।

पाठान्तर— विवादे कार्यमनुस्मरेत्।

विवादके समय अपना मुख्य लक्ष्य ध्यानमें रक्खे। उसपर आंच आनेवाली बात न होने दे।

(दैनिक कर्तव्योंपर चिन्ताका काल)

निशान्ते कार्यं चिन्तयेत् ॥ ४९० ॥

मनुष्य रात्रिका विश्राम समाप्त हो जानेपर (ब्राह्ममुहूर्तमें) अपने दिनभर करनेके समस्त कामोंका (आदिसे अन्ततक सांगोपांग) विचार किया करे।

विवरण— प्रभातकाल या ब्राह्ममुहूर्तके समय मनुष्यकी बुद्धिवृत्ति सतेज उद्भावनशील तथा नवीन होती है। उस समय शरीर, इन्द्रिय तथा मन तीनों स्वभावसे स्थिर, स्वस्थ और शान्त होते हैं। कार्य-चिन्ता या दैनिक कार्यक्रम बनानेका काम अत्यन्त गंभीर है। यह काम कार्यकी आधिकतासे मनके व्यग्र या चंचल हो जानेपर दिनके समय उतना अच्छा होना संभव नहीं है। निशान्तचिन्ताके विषयमें मनुने कहा है—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

कल्याणार्थी मानव सूरज निकलनेसे लगभग एक घंटा पहले नींद त्याग कर जाग उठा करें और उस समय स्वस्थ मनसे सबसे पहले अपने मानसिक उत्थानके लिये किये जानेवाले आजके सामाजिक कर्तव्योंका स्वरूप निर्धारित किया करे तथा उनकी उपायादि चिन्ता करे। फिर अपनी व्यक्तिगत जीवन-यात्राके संबन्धमें दिनमें करणीय कर्तव्यपर दृष्टि डाले। उसके पश्चात् शरीरको रोग-मुक्त स्वस्थ रखने तथा रोगजनक कारणोंके संबन्धमें सोचे। इतना कर लेनेके पश्चात् कुछ कालतक वैदिक ज्ञानके सर्वस्व आत्माके स्वरूपपर प्रतिदिन गंभीर विचार करे कि मैं कौन हूँ ? दूसरे कौन हैं ? उनसे क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि।

अथवा— निशान्त शब्द एकान्त शान्त स्थान तथा रात्रिके अन्तकका भी वाचक है। तथा सूत्रार्थ यह है कि राजा लोग एकान्तमें शान्त स्थानपर जहाँ कोई अनधिकारी मन्त्रणाको सुन न सके; मन्त्रणा करें। अथवा वे भी रात्रिके अन्तमें ही मनके स्वाभाविक रूपसे स्थिर होनेपर अपने विचारणीय विषयपर गंभीरतासे सोचें। कामकी अधिकतासे मनके चंचल होजानेपर दूसरे किसी समय कार्य-नीति-निर्धारण या मन्त्रणाके कामका उतना अच्छा होना संभव नहीं।

प्रदोषे न संयोगः कर्तव्यः ॥ ४९१ ॥

(विनाशोन्मुखका चिन्ह)

उपस्थितविनाशो दुर्नयं मन्यते ॥ ४९२ ॥

जिसका विनाश उपस्थित होता है (जिसके बुरे दिन आते हैं) वही अनीतिको अपनाता है।

विवरण— विनाशोन्मुखकी बुद्धि नष्ट होजाती है। अनीति या दुष्ट नीति स्वयं ही विनाश है। मनुष्य समुपस्थित साधनोंकी नीतिपूर्ण रक्षा

करे। लब्धव्योंका वैध (उचित) यत्नसे अर्जन करे तथा प्राप्तोंका विवेकसे उपयोग करे। यदि मनुष्य अपनी नीति-हीनतासे अपने संचित साधनोंकी रक्षा, जीवनार्थ आवश्यक पदार्थोंका अर्जन और अर्जितोंका सदुपयोग नहीं करेगा तो क्लेश, दीनता तथा बुद्धिमान्द्य उसे आ चिपटेंगे।

(वृथा कर्म त्याज्य)

क्षीरार्थिनः किं करिण्या ॥ ४९३ ॥

जिसे दूधकी आवश्यकता है वह हथिनीको लेकर क्या करे?

विवरण— उसे तो गोपालन करना चाहिये। अपने प्रयोजनके उपयोगी द्रव्योंका ही संचय करना चाहिये, अप्रयोजनीयका नहीं। मनुष्य कोई भी वृथा काम करे। वृथा कामोंसे बडे अनर्थ आ खडे होते हैं।

(सर्वोत्तम वशीकार)

न दानसमं वश्यम् ॥ ४९४ ॥

दान जैसा लोकवशीकार दूसरा नहीं है।

विवरण— धनी लोग दानरूपमें धनके सदुपयोगसे समाजका हित और कीर्तिका उपार्जन तथा उपकृतोंपर वशीकार पा लेते हैं।

(पराधीन बातोंमें उत्कण्ठा वर्जित)

परायत्तेषूत्कण्ठां न कुर्यात् ॥ ४९५ ॥

तुम्हारे जो पदार्थ दूसरोंके हाथमें फँस गये हों, उन्हें पानेके लिए उतावले मत बनो। उन्हें पानेके उपाय करने चाहिये। इस संबन्धमें उत्कंठासे अपनी शक्तिपर श्रद्धाहीन नहीं होना चाहिये। दूसरेकी शक्तिपर निर्भर मत रहो। परहस्तगत अधिकारके पुनरुद्धारके लिए दुश्चिन्ता या निराशा छोडकर धैर्यके साथ दृढ प्रयत्न करो। उतावलापन शक्तिहीनता है।

विवरण— जब अपनी अधिकृत वस्तु अपने प्रमाद या असामर्थ्यसे दूसरेके अधिकारमें चली जाय और उसके पुनरुद्धारका कोई उपाय अपने पास शेष न रहे, तब मनुष्य यह जानकर उस संबन्धी विचारके प्रवाहको रोक दे कि अब मेरा इस संबन्धमें कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा। बात यह है कि कर्तव्य बहिर्भूत चिन्ता दुश्चिन्ता होती है। दुश्चिन्ता ही अशान्ति है। अपने मनको शान्त रखना ही संभव और सफल प्रयत्नका मार्गदर्शन अपने सामर्थ्याधीन कर्तव्य है। उस समय उस अपहृत वस्तुके संबन्धमें मनमें किसी प्रकारकी उत्कण्ठाको स्थान देकर कर्तव्यहीन चंचल नहीं होजाना चाहिये। चांचल्य कर्तव्यका विघ्न है।

अथवा— दूसरेके हाथकी बातके संबन्धमें उत्कण्ठा या त्वरासे काम मत लो। दूसरा अपनी परिस्थितिसे विवश होकर कभी कभी उसमें देर भी कर सकता है। ऐसे समय उसे अपनी अधीरता दिखाकर चंचल तथा रुष्ट मत करो। प्रत्येकके काम करनेके निराले ढंग तथा सुभीते होते हैं उनका ध्यान रखकर इस संबन्धमें धीरतासे काम लो और शान्तिसे प्रतीक्षा करो।

(पापीके धनका दुरुपयोग)

असत्समृद्धिरसद्भिरेव भुज्यते ॥ ४९६ ॥

बुरोंकी सम्पत्ति (या बुरी सम्पत्ति) बुरोंहीकी भोग्य बना करती है।

विवरण— गर्हित उपायोंसे उपार्जित धनका कुमार्ग और कुकर्ममें व्यय होना अनिवार्य होता है। पर-पीड़ा, चोरी, उत्कोच, अनुचित लाभ, वंचन, अपहरण आदि उपाय धनागमनके गर्हित उपाय हैं। गर्हित उपायोंसे प्राप्त धनका निन्दित कार्योंमें व्यय होना अनिवार्य है। उचित उपायोंसे आया धन ही उचित कार्योंमें व्यय होता है। सिद्धान्तपूर्वक उपार्जित धनका सिद्धान्तपूर्वक व्यय होना अनिवार्य है। वृद्ध चाणक्यने कहा है—

संचितं क्रतुषु नोपयुज्यते प्रार्थितं गुणवते न दीयते ।
तत्कदर्थं परिगतं धनं चोरपार्थिवगृहेषु भुज्यते ॥

अनुचित उपायोंसे उपार्जित कृपणका धन न तो किसी शुभकर्ममें व्यय होता है और न किसी गुणीके अभाव अभियोग पूरा करनेमें काम आता है । वह या तो चोरके या राजाके घर खाया जाता है ।

निम्बफलं काकैर्भुज्यते ॥ ४९७ ॥

जैसे नीमका निन्दित कटु फल कौवोंके ही काम आता है इसी प्रकार अशिष्ट उपायोंसे उपार्जित धन चरित्रहीन लोगोंके ही निन्दित भोगोंमें काम आया करता है । इसलिये मनुष्य उचित उपायोंसे धनोपार्जन करे जिससे जीवन-यात्रा भी हो और मनका उत्कर्ष भी हो ।

यात्रा-मात्र-प्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ (मनु)

मनुष्य केवल जीवन-यात्रा चलाने योग्य, सो भी अपने अनिन्दित शुभ कर्मोंसे, शरीरको संकटमें डाले विना धनसंचय करे ।

(पापी धन सज्जनके काम नहीं आता)

नाम्भोधिस्तृष्णामपोहति ॥ ४९८ ॥

जैसे समुद्रका खारा पानी किसी भी प्यासेकी प्यास बुझानेके काम नहीं आता, इसीप्रकार अशिष्ट उपायोंसे उपार्जित धन किसी भी अच्छे काममें अर्थात् किसी भी सच्चे अधिकारीकी कामना पूरी करनेके काम नहीं आ सकता ।

(बुरे अच्छे कामोंमें धनव्यय नहीं कर सकते)

बालुका अपि स्वगुणमाश्रयन्ते ॥ ४९९ ॥

जैसे बालुका अपने रूक्ष कर्कश स्वभावको ही पकडे रहती है, इसी प्रकार कोई भी असत् मनुष्य अपना स्वभाव नहीं छोडत

और अपने गर्हित उपायोंसे उपार्जित धनको सत्यार्थ सदुपयोग करनेको उद्यत नहीं होता ।

विवरण— किसीसे स्वभाव विरुद्ध आशा नहीं की जा सकती । अभद्र पुरुष अपने धनका सदुपयोग कर दे ऐसी आशा करना बालुकासे तेल पाने जैसी वन्ध्या इच्छा है ।

(भले बुरोंसे हिलमिलकर नहीं रहते)

सन्तोऽसत्सु न रमन्ते ॥ ५०० ॥

भद्र पुरुष अभद्र पुरुषोंके साथ हिलमिलकर नहीं रहा करते।

विवरण— भद्र पुरुष भद्र लोगोंके ही साथ संग करते हैं । मनुष्य समाजजीवी प्राणी है । सत् और असत् दो प्रकारका मनुष्य-समाज होता है । जिसके जैसे साथी होते हैं उसका स्वभाव वैसा ही होता है । जिसका जैसा स्वभाव होता है उसके साथी भी वैसे ही होते हैं । विपरीत स्वभाव-वाले परस्पर मिलकर नहीं बैठा करते ।

पाठान्तर— **न सतां मूर्खेषु रतिः ।**

न हंसाः प्रेतवने रमन्ते ॥ ५०१ ॥

जैसे हंस श्मशानमें नहीं रमते, इसी प्रकार गुणी लोग अयोग्योंके संगमें रहना स्वीकार नहीं करते।

विवरण— गुणी लोग एकान्तमें अज्ञात जीवन बिता देना तो स्वीकार कर लेते हैं परन्तु बुरी संगतमें रहना कभी स्वीकार नहीं करते ।

कुसुमस्तवकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्येत वनेऽथवा ॥

मनस्वी लोग वनमें खिले कुसुम-स्तवकके समान या तो लोगोंके शिरोधार्य होकर रहते हैं या वनमें पड़े-पड़े सूख जाते हैं ।

शान्तिप्रिय मनुष्यका स्वभाव अनुद्वेगकारी, शान्त, अनुकूल स्थानमें रहना स्वीकार करता है, उद्वेगकारी अशान्त प्रतिकूलमें नहीं। भलोंको बुरे वातावरणमें रहनेसे उद्वेग होता है। बुरोंको अच्छा शान्तिपूर्ण वातावरण सहन नहीं होता।

न विना परवादेन रमते दुर्जनो जनः।
काकः सर्वरसान् भुक्त्वा विनाऽमेध्यं न तृप्यति॥

दुर्जनोंकी चौपालें परनिन्दासे मुखरित रहती हैं। उन्हें परनिन्दाके विना रोटी नहीं पचती। काक षड्रस खाकर भी जबतक विष्ठा नहीं खा लेता तबतक उसका मन नहीं छकता।

(संसार भोजन और भोगमें जीवन नष्ट कर रहा है)

अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः॥ ५०२॥

सारा संसार अर्थके लिये कर्ममें प्रवृत्त होता है।

विवरण— सबको जानना चाहिये कि अर्थ जीवनका साधनमात्र ही है परन्तु लक्ष्य नहीं है। क्योंकि लोग जीवनका लक्ष्य निश्चित करनेमें भ्रांति कर लेते हैं इसीलिये वे असदुपायोंसे धनार्जन करने लग जाते हैं। जब मनुष्य भ्रान्तिवश इन्द्रियसुखको ही जीवनका लक्ष्य बना लेते हैं, तब उनके मनका इन्द्रिय-दास बन जाना स्वाभाविक होजाता है। कामना तथा दुःख ये दोनों इन्द्रियोंकी दासताके ही नाम हैं। जो मनुष्य इन्द्रिय-सुखको जीवनका लक्ष्य बनाकर धनोपार्जन करते हैं, उनका धन सुख-साधन न रहकर दुःखसाधन रह जाता है। वह अपने ही उपार्जित धनसे दुःख मोल लेता चला जाता है। उसका धन असदुपायोंसे अर्जित होनेके कारण असत्य-सेवारूपी दुःखवरणमें ही दुरुपयुक्त होता है। इसके विपरीत जिसके जीवनका लक्ष्य इन्द्रियोंपर मनकी प्रभुता सुप्रतिष्ठित रखना होता है, वह अनिवार्य रूपसे सदुपायोंसे ही धनार्जन करता है। उसके जीवनका लक्ष्य जिस किसी प्रकार धनार्जन कर लेना न होकर सदुपायोंसे ही धनार्जन

करना होता है। मनपर सत्यकी प्रभुताको सुप्रतिष्ठित रखना ही उसका लक्ष्य होता है। वह सत्यस्वरूप प्रभुकी सेवाको द्वार बनाकर धनोपार्जन भी करता और उसे सत्यकी सेवामें लगाकर अखण्ड सुखमयी चिरशान्तिका उपार्जन भी कर लेता है।

याग, दान, औषध, जीवनयात्रा आदि समस्त कामोंके अर्थाश्रित होनेसे संसारकी धनार्थी प्रवृत्ति स्वाभाविक है। परन्तु स्वाभाविक होनेपर भी— 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार मनुष्यकी इस प्रवृत्तिमें अतिके आते ही उसके समस्त मानवीय गुणोंका सर्वनाश होजाता है। अर्थपरायण मनुष्य भूल जाता है कि "धन तो एक साधन है। धनके सदुपयोगसे साध्य, शान्ति या सुख ही मानवजीवनका लक्ष्य है। इस लक्ष्यको खो देनेपर धनका कोई भी मूल्य नहीं है। जो धन मानवजीवनके लक्ष्य, शान्ति या उसके मानवोचित गुणोंका विरोध करके आता है वह उसकी मनुष्यताके गलेपर छुरी चलाता है। ऐसा धन प्राणोंका जंजाल बन जाता है और ग्राह्य न होकर त्याज्य होजाता है।"

सब मानते हैं कि धन जीवनकी अत्यावश्यक वस्तु है। परन्तु धन ही तो सब कुछ नहीं है। मानवजीवनमें मानवोचित गुणोंका ही तो धनसे ऊँचा महत्वपूर्ण स्थान है। धनको मानवोचित गुणसे अधिक महत्व देना तो मनुष्यकी पाशविक प्रवृत्ति है। इसीलिये यदि अपने समाजको मानव-समाज बनाना हो तो मनुष्यकी आँख मींचकर अर्थार्थी बन जानेकी प्रवृत्तिपर रोकथाम रखकर अपने समाजको सामाजिक गुणोंका उपजाऊ क्षेत्र बनानेका सुदृढ प्रबन्ध करना ही होगा।

मनुष्य अर्थार्थी रहता रहता स्वार्थान्ध होकर अपनी ही माताको नोंच-नोंचकर खानेवाले बिच्छूके बच्चोंके समान अपने ही उपजीव्य समाजकी आंखोंमें धूल झोंकझोंककर उसे ठगकर उसके उचित अधिकारका अपहरण करके धनी और सुखी बनना चाहता है। देशमेंसे मनुष्यताको निर्वासित कर डालता है और अपने संसारमें अधर्म तथा स्वार्थका साम्राज्य

प्रतिष्ठित कर देता है यहांतक कि मातापिता, भ्राता, संतान सबको ठगने लगता है। जो समाजके सत्पुरुषोंको ठग रहा है वह अपने पारिवारिक स्वजनोंको भी ठग रहा है। उसे कहीं भी स्वजन नहीं दीखता, धन ही उसका ध्येय है। इस प्रकार सामाजिक गुणोंकी अभिवृद्धिकी दृष्टिसे मनुष्यकी अर्थार्थी प्रवृत्तिपर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये। यह ध्यान रक्खा जाना चाहिये कि देशमें सामाजिक गुण ही पूज्य माने जायँ और धनको मनुष्यतासे उच्च प्रतिष्ठाका पद न मिल सके। इसका एकमात्र सरल उपाय मनुष्यता-प्रेमी सुसाहित्य-प्रचारसे समाजकी आध्यात्मिक दृष्टिको भ्रान्तिरहित करके नैतिक राज्यसंस्थाके द्वारा सुशिक्षाका प्रचार करना है।

आशया बध्यते लोकः ॥ ५०३ ॥

अविचारशील संसार कर्तव्यके बन्धनमें आवद्ध न होकर आशाके बन्धनमें बँधकर काम करता और अपना धैर्य खोता रहता है।

विवरण— 'यह मुझे मिल जाय' इस प्रकारकी आकांक्षा ही आशा है। आशामें रहना, शुभ भावीकी प्रतीक्षामें वर्तमानका शुभ उपयोग न कर सकना हानिकारक मनोदशा है। मनुष्य आशाकी दासतामें अधीर होकर अकर्तव्यमें हाथ डालकर दुःखी होता है। समाजके उत्थानमें आशाके दास मनुष्योंका कोई स्थान नहीं है। समाजके अभ्युत्थानोंके कर्तव्यमें अपनेको झोंक देनेवाले तथा फल मिलने न मिलनेके प्रति उदास रहनेवाले कर्तव्यनिष्ठ लोगोंका ही समाजमें महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। समाजकी उन्नति कर्तव्यपरायण कर्तव्यैक-सर्वस्व लोगोंके अदम्य उत्साहोंपर ही निर्भर करती है।

आशापाश-शतैर्बद्धाः काम-क्रोध-परायणाः।
ईहन्ते काम-भोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥

आशाकी सैकड़ों रस्सियोंसे बँधे हुए, काम-क्रोधमें ही अपना जीवन-नामक महत्त्वपूर्ण सुअवसर मिटा डालनेवाले लोग कामभोगके लिये अन्यायसे धनोपार्जनकी चेष्टा करते हैं। बताइये जिस देशमें इस प्रकारकी प्रवृत्तिके लोग अधिक हो जायँगे वह देश रसातलको न जायगा या अशान्तियों, कलहों और दुःखोंका घर न बन जायगा तो क्या होगा? सुखी तो वे देश होंगे जहांके लोगोंका कर्तव्यसे ही महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध होता है और फल उपेक्षापक्षमें पड़ा रहता है। मनुष्य जाने कि 'नैराश्यं परमं सुखम्' निराशा ही (सुखेच्छारूपी दुःखका संसारका सर्वोत्तम रहना ही) सुख है। कर्तव्य करनेका ही मानवको अधिकार है, कर्तव्यबहिर्भूत वंध्या फलाशाका नहीं।

आशानाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला।
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी॥
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुंगचिंतातटी।
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

आशा संसारके यात्री मनुष्यको डुबानेवाली नदी है, मनोरथ उसके जल हैं, तृष्णा उसकी तरंग है, राग उसमें रहनेवाला मगरमच्छ है, वितर्क नामके पंछी इसके किनारोंपर बैठे रहते हैं। यह आशा नदी धैर्यरूपी द्रुमको जड़से उखाड़ फेंकती है। मोहात्मक भँवरोंसे दुस्तरणीय लम्बी चौड़ी चिन्तायें इस नदीकी द्वितट भूमि है। इस नदीको पार करना विचारशील मनवाले कर्मयोगियोंका काम है। यदि मनुष्य सुखी जीवन व्यतीत करना चाहे तो उसे आशाके बन्धनमें न रहकर कर्तव्यके कठोर निष्काम बन्धनमें रहना ही होगा।

पाठान्तर— इतःपरमधीतः परं कुशलो भविष्यतीत्याशया लोको जीवति।

इसके पश्चात् विद्वान् बनकर सुखी जीवन बितायेंगे इस आशासे संसार जीता है।

(आशाके दास सदा श्रीहीन)

न चाशापरैः श्रीः सह तिष्ठति ॥ ५०४ ॥

आशापरायण व्यक्ति सदा श्री-हीन रहा करते हैं।

विवरण— आशा अर्थात् विषय-स्पृहाके पीछे-पीछे मारे फिरनेवालों (और यदि वह पूरी न हो तो अपने आपको अकृतार्थ, असफल और विनष्ट मानकर हतोत्साह हो बैठनेवालों) के पास सम्पत्तियें निवास नहीं करती।

सम्पत्तियां तो भयंकरसे भयंकर विपत्तिके दिनोंमें भी साहसको कभी न त्यागनेवालों, निराशा दीखनेपर भी कभी उद्यम तथा कर्मका त्याग न करनेवालोंके ही साथ रहती हैं। यदि मनुष्य आशापर निर्भर न रहकर कर्तव्यपालनपर निर्भर रहे तो श्री (सफलता) को झख मारकर उसके पास रहना पड़े। आशाके दासोंके पास चाहे जितनी श्री (भौतिक ऐश्वर्य) आ जानेपर भी उनकी श्रीहीनता कभी नहीं मिटती। अतृप्त कामना ही आशा है। कामनादग्ध हृदय कभी तृप्त होना नहीं जानता। आशा-परायण व्यक्तिका धन-भंडार उसकी दृष्टिमें सदा ही अधूरा रहता है। समस्त विश्वको अपना भोग्य बनानेकी कल्पना सदा ही उसके मनको दुखाती रहती है। इसलिये आशापरायण लोग सब समय जिस किसी प्रकार धनोपार्जन करनेमें सब प्रकारके गर्हित उपायोंका सहारा लेकर (धनोपार्जन) करते हुए भी आशानुरूप धन पानेसे वंचित रहते हैं। कर्तव्य शीलतासे संपन्न बनकर सन्तोष धनका धनी बनना उनके भाग्यमें कभी नहीं होता। उनके हृदयमें कामनारूपी दरिद्रताका अटल निवास बन जाता है।

दुराशां परिहृत्यैव सदाशां वर्धयेत् सदा।

मनुष्य दुराशा (या बन्धनरूप आशा) को त्यागकर अबन्धनकारिणी सदाशा (सत्य निर्भरता) पर (जिसे ईश्वरेच्छा भी कहते हैं) स्थिर रहे।

' अनिर्वेदः श्रियो मूलम्। '

उत्साह न छोड़ना, खिन्न न होना, कातर न होना ही श्री-प्राप्तिका मूल है।

' दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण पौरुषं न कृतम् । '

जबतक मनुष्य पुरुषार्थ नहीं करता तबतक श्रेष्ठपद, महत्व या परिस्थिति पर विजय नहीं पाता।

(आशाके दास सदा अधीर)

आशापरे न धैर्यम् ॥ ५०५॥

आशापरायण व्यक्तिके पास स्थिरबुद्धितारूपी धैर्य नहीं होता।

विवरण— आशाका दास धीरज खोये बिना नहीं मानता। व्यावहारिक जगतमें आशाका स्थान होनेपर भी उसकी मर्यादायें भी तो हैं। दुःखरहित होकर सुसंपादित कर्तव्यके उचित भौतिक परिणामतक आशाको सीमित रखना चाहिए। निर्मर्याद आशा तो मनुष्यकी मनुष्यताका भयंकर शत्रु है। निर्मर्याद आशावाला अमार्ग कुमार्गसे उपार्जनमें प्रवृत्त होकर संसारमें आग लगा डालता है। वह धीरज नहीं रख सकता। कर्तव्यनिष्ठ, दुराशासे अनभिभूत लोग ही धीरज रख सकते हैं। धीरजके बिना सुख-शान्ति दोनों असंभव हैं। आशा पूरी न हो तो जीवनको निःसार मान बैठनेवालेपर धीरज अर्थात् सत्यार्थ जीवन-धारण करनेवाला विवेक नहीं होता। आशापर निर्भर रहनेवाला मानव रस्सीसे बँधे पशुके समान आशा-रूपी रश्मियोंसे बँधा रहकर कर्तव्यसे बचता और अकर्तव्य किया करता है।

कर्तव्यका स्वभाव है कि वह कुछ न कुछ भौतिक हानि किये विना पूरा नहीं होता। आशाका दास अकर्तव्यसे भौतिक लाभोंकी संभावना देखकर उसी ओर झुक जाता है। कर्तव्यसे बँधनेवाले लोग दुराशासे कभी नहीं बँधते। उन्हें उनके कर्तव्यपालनका फल मिले या न मिले वे तो कर्तव्य-पालनका संतोषरूपी फल हाथमें लेकर कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म करते चले जाते हैं। उनकी दृष्टिमें अपना कर्तव्य पूरा कर लेना ही उनकी कृतार्थता होती है। मनुष्य जबतक इस दृष्टिसे कर्तव्य करना नहीं सीखेगा और कर्तव्यके

मार्गके कांटे इस आशाको धक्का देकर अपने मार्गसे दूर नहीं हटा देगा, तबतक वह ओजस्वी, तेजस्वी, अधृष्य, अप्रकाम्य, उदात्त, सम्मानित जीवन नहीं बिता सकेगा । आशाके दासके पास सम्मान, स्थिरता, धीरज, तेज, ओज और विजयी जीवन नामकी कोई वस्तु नहीं होती ।

आशायाः खलु ये दासाः दासास्ते सर्वलोकस्य ।
येषामाशा दासी तेषां दासायते लोकः ॥

आशाके दास सारे ही संसारके दास होते हैं । जो लोग आशाको अपनी दासी बना कर रखनेकी कला जान जाते हैं, यह संसार उनका दास होजाता है । आशाके दासकी आशा कभी पूरी नहीं होती । आशाके दासका संपूर्ण जीवन नैराश्यमय होकर दुःखभरे दीर्घ निःश्वासोंसे भरपूर रहता है ।

' अश्नुते विक्षिपति जनमिति आशा । '

जो मनुष्यको व्याप्त करके विक्षिप्त बना डाले उसे आशा कहते हैं ।

पाठान्तर— नास्त्याशापरे धैर्यम् ।

(अनुत्साह मृतावस्था)

दैन्यान्मरणमुत्तमम् ॥ ५०६ ॥

दीन बननेसे तो मर जाना उत्तम है ।

विवरण— अपनेको दीन, निकृष्ट, निकम्मा, असहाय, कृश, अपरिच्छद समझकर अनुत्साहित हो बैठना मर जानेसे भी निकृष्ट अवस्था है । दैन्य न रहना ही जीवनकी सार्थकता या जीवित हृदयवाली स्थिति है ।

जीवनके उद्देश्यको उपेक्षित करके जीवनमृत रहनेकी स्थितिको निन्दित तथा जीवनको सार्थक करनेके लिये उत्साहित करना ही इस सूत्रका अभिप्राय है, मृत्युका आह्वान करना नहीं । मृत्युको अच्छा माननेकी मनोदशा किसी भी अवस्थामें प्रशंसनीय नहीं है । जीवन ही जीवित मनुष्यके लिये वरणीय स्थिति है । जीवनका अन्त कर डालनेकी भावना मानव-देह-धारणके उद्देश्यके विरुद्ध है । अपनेको दीन, निकृष्ट, निकम्मा समझकर अनुत्साहित हो बैठना मृत्युसे भी निकृष्ट अवस्था है ।

मानव-जीवनका उद्देश्य निकृष्ट बनना नहीं है। उत्कृष्टता ही मानव-जीवनका लक्ष्य है। दीनता दुराशाका ही विकार है। मृत्यु मनुष्यको केवल एकबार मारती है जब कि दीनता उसकी मनुष्यताका प्रत्येक क्षण दम घोटती रहती है।

(आशाके दास निर्लज्ज)

आशा लज्जां व्यपोहति ॥ ५०७ ॥

आशा (अर्थात् विषय-लोलुपता जिसे दुराशा भी कहना चाहिये) मनुष्यकी लज्जा अर्थात् शिष्टताको नष्ट करती और लोभाग्निको प्रज्वलित करती है।

विवरण— आशा मनुष्यको गर्हित, अविचारित, अनुचित काममें लगा डालती है। आशाधीन मनुष्य लज्जा त्यागकर शिष्टताको तिलांजलि देकर असाधु आचरण करनेपर उतर आता है। वह किसीके भी पास अपना लोभ पूरा होनेके सपने देखकर उसके आगे हाथ पसार देता है और अपमानित होता है।

पाठान्तर— आशापरो निर्लज्जो भवति।

आशाका दास मानव लज्जा त्यागकर असाधु आचरण करता है।

न मात्रा सह वासः कर्तव्यः ॥ ५०८ ॥

(आत्मप्रशंसा अकर्तव्य)

आत्मा न स्तोतव्यः ॥ ५०९ ॥

अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये।

विवरण—प्रशंसनीय आचरण करनेकी ही आवश्यकता है, आत्मप्रशंसा करनेकी नहीं। आत्मप्रशंसासे श्रोतृसमाजके धैर्य पर आक्रमण होता है तथा वक्ता स्वयं निंदित होजाता है। प्रशंसनीय आचरण स्वयं ही मूर्तिमान् प्रशंसा बन जाता है।

'न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते'।

कस्तुरीके आमोदके लिये शपथकी आवश्यकता नहीं पडती।

आचरणकी न्यूनता ही आत्मश्लाघीके मनमें अपने न्यूनभागको वाणीसे पूरा करनेकी प्रवृत्तिको उत्पन्न करती है। प्रशंसिताचरणी मानव आत्म-तृप्तिकी अवस्थामें समुद्रके भीतर-बाहर जलपूर्ण घडेके समान पूर्णावस्थामें रहता है। जैसे क्षुद्र व्यापारी लोग विक्रेय पदार्थोंके निकम्मेपनको उसके मिथ्यागुणकीर्तनसे ढक देना चाहा करते हैं, इसी प्रकार समाजको ठगनेके इच्छुक धूर्त लोग अपने श्रोताओंको आत्मप्रशंसासे प्रतारित करनेका प्रयत्न करते हैं। आत्मश्लाघा बुद्धिमान् श्रोताओंको कटु भी लगती और वक्ताकी निष्कपटताके विषयमें संदेह भी उत्पन्न कर डालती है। सत्यकी ही महिमा गाना वाणीकी कुशलता है। अपने व्यक्तित्वका गुणगान तो वक्ताकी वाणीकी अपवित्रता है। अपने व्यक्तित्वका प्रचार करनेकी भावना प्रचारककी असत्य-निष्ठा या मिथ्यायशोभिलाषाका परिचायक होता है।

मूढसमाजमें 'आत्मकथा' के नामसे आत्मप्रशंसाकी प्रवृत्तिको बडा प्रोत्साहन मिल जाता है। आत्मकीर्तित पाप भी प्रशंसनीय महात्मापन बन जाने लगा है। मूढलोग अपने कानोंको रद्दीकी टोकरी बनाकर जो कोई कुछ सुनाने या पढाने लगे उसे ही सुनने और पढनेको प्रस्तुत होजाते हैं। हमारी श्रवणशक्ति हमपर हमारे विधीताकी पवित्र धरोहर है। इसलिये किसीकी आत्मप्रशंसा सुनने और आत्मकथा पढनेमें अपनी श्रवणशक्ति व्यय कर डालना बडी ही निकृष्ट मनोदशा है। लोगोंकी इस मौढ्यमयी स्थितिसे अनुचित लाभ उठाना चाहनेवाले प्रभुतालोभी असुर प्रवृत्तिके लोगोंने राज्यसंस्थाको हथियानेके लिये आत्मप्रशंसाको राजनैतिक क्षेत्रमें अनुचित महत्व दे डाला है और राजनीतिको विक्रेता व्यापारियोंकी विक्रेय वस्तु बना डाला है। क्योंकि अपना ढिंढोरा पीटकर, राजनीतिज्ञ बनकर, देशकी आंखोंमें धूल झोंककर, राज्यसंस्थाको हथिया लेनेकी परिपाटी कानूनके द्वारा स्वीकृत होगई है इस कारण समाजने आत्मप्रशंसाकी निन्दनीयताको

केवल भुला ही नहीं डाला प्रत्युत इसे राज्यसंस्थामें प्रवेशका द्वार भी बना लिया है ।

अपने गलेमें आत्मप्रशंसाका ढोल डालकर राजनीतिज्ञ बनकर, देशको धोखा देकर राज्य हथियानेकी प्रवृत्ति कानूनसे निन्दनीय होना चाहिये। परन्तु जब कानून बनानेका अधिकार ही अपरिणत तथा अनुभवहीन, श्रमिष्ठ, प्रमादी, विप्रलिप्सु, आत्मम्भरि, प्रतारक अयोग्य लोगोंके हाथोंमें पहुँच जाय तब देशकी डूबती नौकाको इन आत्मश्लाघी धूर्तोंके हाथोंसे कौन बचाये? जिस आत्मश्लाघाका समाजमें अत्यन्त निन्दित स्थान हो, उसीको राज्य-संस्थाके निर्माणमें स्थान दे देना देशके साथ कितना बड़ा विश्वासघात है? यह देखकर समाजको इन आत्मश्लाघी धोकेबाज राजनीतिज्ञोंके लिये उचित दण्डव्यवस्था करके इनके आत्मप्रचारको कानूनसे रोकना चाहिये। कोई भी व्यक्ति अपनी आत्मप्रशंसाके पुल बांधकर राज्यव्यवस्थामें नहीं जा सकना चाहिये। उसमें जो कोई जाय केवल समाजकी सदिच्छा और आवश्यकतासे जाना चाहिये। जिसे समाज प्रशंसनीय पाये उसके पास अपनी ओरसे जाकर राज्यसंस्थामें जानेके लिये प्रार्थना करके उसे वहां भेजे, तो राज्य-व्यवस्थामें पवित्रताका बोलबाला हो।

ऊपर स्वयं स्वगुणकीर्तनका निषेध किया है। यदि कहीं किसी अपरिचित कर्मक्षेत्रमें सत्यार्थ स्वगुण–कीर्तन करना आवश्यक तथा अनिवार्य हो तो अपने व्यक्तित्वको महत्व न देकर सत्यको ही महत्व देना चाहिए। मनुष्य आत्मश्लाघासे दाम्भिक तथा अभिमानी माना जाने लगता है। मनुष्योंको आत्मश्लाघीसे घृणा होजाती है। मनुष्यकी प्रशंसा पुष्पगन्ध-प्रसारक वायुके समान बुद्धिमान् प्रतिष्ठित लोगोंके द्वारा समाजमें फैले तब ही यह समाजमें प्रीतिकर और स्वीकृत होती है।

> अद्यापि दुर्निवारं स्तुतिकन्या वहति कौमारम्।
> सद्भ्यो न रोचते साऽसन्तस्तस्यै न रोचन्ते॥

स्तुतिकन्या सृष्टिके प्रारंभसे आजतक कुँआरी चली आ रही है और उसके

कौमीरके मिटनेके कोई लक्षण नहीं है। उसका पहला कारण तो यह है कि भले लोगोंको यह रुचती नहीं। दूसरा कारण यह है कि निकृष्ट लोग इसे नहीं रुचते। संत लोक स्तुति नहीं चाहते। असत लोक स्तुतिके अयोग्य होते हैं। आत्मप्रचारककी आत्मप्रशंसा उन्हें निंदित ही सिद्ध करती है।

पाठान्तर— नात्मा क्वापि स्तोतव्यः।

कहीं भी किसी भी रूपमें आत्मप्रशंसा न करनी चाहिये।

(दिवाशयन अकर्तव्य)

न दिवा स्वप्नं कुर्यात् ॥ ५१० ॥

दिनमें नहीं सोना चाहिये।

विवरण— दिनमें सोनेसे निश्चितरूपमें कार्यहानि, देहमें वायुकी वृद्धि, अग्निमान्द्य शिरोरोग तथा आयुका ह्रास होता है। दिनमें सोना आयुर्वेदमें प्रायः प्रत्येक रोगका कारण लिखा है। छोटे बालक रोगी तथा रातमें जागे हुए लोग दिनमें सो सकते हैं।

' आयुः क्षयी दिवा निद्रा। '

दिवानिद्रा आयुनाशक होती है। भारतमें कहा है—

' दिवाशया न मे पुत्रा न रात्रौ दधिभोजिनः। '

मेरे पुत्र न तो दिनमें सोते हैं और न रातको दधि खाते हैं। आयुर्वेदमें दोनोंकी हानियां वर्णित हैं।

(ऐश्वर्यान्ध निर्विवेक)

न चासन्नमपि पश्यत्यैश्वर्यान्धः न शृणोतीष्टं वाक्यम् ॥५११॥

धनान्ध व्यक्ति व्यावहारिक संपर्कमें आनेवाले हितोपदेष्टा आसन्न व्यक्तियोंके व्यक्तित्वकी उपेक्षा किया करता है तथा उनके हितकारी वचनोंपर भी कान नहीं दिया करता।

विवरण— राज्यैश्वर्य पाकर अंधा बना हुआ राजा या राज्याधिकारी अपने संपर्कमें आनेवालोंकी उपेक्षा करता तथा राष्ट्रके गुणी लोगोंके हितोपदेशपर कान नहीं देता। जब कि मनोविकार धनगर्वित साधारण व्यक्तिमें भी अनिवार्य रूपसे आ जाते हैं तब हाथमें राज्यैश्वर्य जैसी महाशक्ति पा जानेवाले व्यक्तिमें मनोविकारोंका आना स्वाभाविक है। जब राज्यैश्वर्य पा जानेवाले लोग अपने आपको राष्ट्रके सेवक न समझकर राष्ट्रके प्रभु या शासक जातिके स्वेच्छाचारके विशेषाधिकारी नररत्न मान बैठते हैं तब इन लोगोंकी उद्दण्डताकी कोई सीमा नहीं रहती। कर्तव्यके अनुरोधसे देशके गण्य, मान्य, बुद्धिमान् स्वाभिमानी लोगोंके इन उद्दण्ड लोगोंके पास जानेके अवसर आते ही रहते हैं।

अपने अनैतिक प्रयत्नोंसे शासकपदोंपर चढ बैठे हुए ये असुर लोग अपने उद्दण्ड स्वभावसे विवश होकर लोगोंके साथ शिष्टाचार बरतना अपने शासकीय मिथ्या गौरवके विरुद्ध समझ लेते और नाक-भौं चढाकर अपने द्वारपर आनेवाले भद्र पुरुषोंका अपमान या उपेक्षा किये विना नहीं मानते। ये लोग ऐसे धृष्ट होजाते हैं कि राष्ट्रका लोकमत राष्ट्रकल्याणकी दृष्टिसे इनके आसुरीपनके विरुद्ध चाहे जितनी रौल मचाता रहे या इनके अधिकारोष्ण मस्तिष्कको शीतल करनेके लिये कर्तव्यपरायणता तथा राष्ट्रसेवाके चाहे जितने हितोपदेश सुनाया करे, वे इनके बहरे कानोंमें प्रवेश नहीं कर पाते। इन लोगोंके उत्तेजक स्वभाव राष्ट्रमें अशान्ति उत्पन्न करके विद्रोहाग्नि भडकाकर अन्तमें इन लोगोंको लंकाभ्रष्ट रावणके समान राज्यभ्रष्ट किये विना नहीं मानते।

धनांधोंकी राष्ट्रके योग्य लोगोंको न पहचानने तथा उनका हितोपदेश न सुननेकी यह प्रवृत्ति उन्हींके विनाशकी पूर्व सूचना है। विपत्ति आनेके समय मनुष्यकी बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ विकल होजाती हैं। 'प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिनीभवन्ति' जैसे ऐन्द्रियक विषयोंके अति सेवनसे शरीरमें रक्तका ह्रास होकर आँखोंमें तैमिरिक

रोग होजाता है, इसी प्रकार धनवृद्धिसे अविवेक हो जानेपर धनगर्वित मानवको हितकारी विद्यावयोवृद्ध लोग भी क्षुद्र तथा उपेक्ष्य दीखने लगते हैं, अन्याय, न्याय प्रतीत होने लगता है और अधर्म धर्म भासने लगता है। सम्पत्ति एक प्रकारका अनायुर्वैदिक रोग है। यह मनुष्यके कानोंको बहरा, वाणीको गूँगा, आँखोंको अंधा तथा गात्रयष्टिको विकृत (ऐंठीला) बना डालता है।

> बधिरयति कर्णविवरं, वाचं मूकयति, नयनमन्धयति।
> विकृतयति गात्रयष्टिं, सम्पद्रोगोऽयमद्भुतो राजन्॥

'श्रियाप्त्यभीक्ष्णं संवासो दर्पयेन्मोहयेदपि' सम्पत्तिके साथ निरन्तर अविवेकपूर्ण सहवास मनुष्यमें दर्प और मोह उत्पन्न कर ही डालता है। धन एक साधनमात्र है। साधन सदा अंधा होता है। वह कार्यके ही समान अकार्य करनेका भी साधन होता है। धनका सदुपयोग करनेवाला विवेक ही धनकी आँख है। वही उसे चक्षुष्मान बनाता है। धन अपने सुयोग्य संचालकके नेतृत्वमें ही शक्ति बनता है। साधन सुयोग्य नेतृत्वके अभावमें शक्ति न बनकर अशक्ति तथा हानिकारक बन जाता है। इसलिये विचारशील लोग धनपर अपना सैद्धान्तिक नियंत्रण रखते हैं। वे सिद्धान्त विरुद्ध उपार्जन करना या अवैध धनका अपने पास आना स्वीकार नहीं करते।

यह सच है कि धन जीवनयात्राका एक साधन है। परन्तु यह भी सच है कि धनान्धता मनुष्यकी मनुष्यताका शत्रु है। धनान्धता दरिद्रतासे भी भयंकर स्थिति है। सिद्धान्तहीनताके साथ आया हुआ धन जिस घरमें आ घुसता है, उसमें समस्त दुर्गुणोंको आ घुसनेका निर्बाध अधिकार दे देता है। वह उस घरके समस्त मानवोचित गुणोंका बहिष्कार कर देता है। वह उस घरका नैतिक रूपसे सर्वनाश किये बिना उस घरसे नहीं टलता। इसलिये जिस प्रकार अग्निकी गृहदाहकताको बचाकर उसका सदुपयोग किया जाता है, इसी प्रकार मनुष्य धनजन्य हानियोंको बचाता हुआ ही धनका उपयोग करे।

पाठान्तर— **न चासन्नमपि पश्यत्यैश्वर्यतिमिरचक्षुः न शृणोतीष्टं वाक्यम् ।**

ऐश्वर्यरूपी तिमिर रोगका रोगी राज्याधिकारी शेष अर्थ समान है।

(नारीका सर्वश्रेष्ठ देव)

स्त्रीणां न भर्तुः परं दैवतम् ॥ ५१२ ॥

आर्यनारियोंका पतिसे अधिक पूजनीय और सेव्य कोई नहीं है।

विवरण— सत्य ही मनुष्यमात्रका पति या प्रभु है। पतिव्रता नारीके लिए अपने सत्यनिष्ठ सुयोग्य पतिकी सेवा सत्यकी ही सेवा है। मूर्तिमान् सत्यस्वरूप पतिकी अवज्ञा करनेवाली बनना और उसकी सेवामें त्रुटि करना नारीकी कलुषित मनोवृत्तिका परिचायक है। सत्यस्वरूप पतिके सेवा-धर्मसे च्युत होनेवाली नारी परिवार तथा समाजकी सेवाको भी त्याग देती है। सत्यस्वरूप पति-सेवा स्त्रीके समस्त सामाजिक कर्तव्योंकी प्रतीक है। सत्यस्वरूप पतिकी सेवा त्यागनेवाली स्त्री अधर्मके प्रभावमें आकर अपना, परिवारका तथा समाजका, सबका ही अहित करने लगती है।

पतिव्रता नारी भाई-बहन, चाचा-ताऊ, श्वशुर आदि तथा घरके सेवकों तककी श्रद्धासे सेवा करती और किसीको आक्षेपका अवसर नहीं देती। स्नेह, प्रेम, आत्मत्याग, सेवा और लावण्य स्त्रियोंका विशेष स्वभाव होता है। स्त्रियोंको अपने इन सब गुणोंकी रक्षाके लिये जिस समाजके सहयोगकी आवश्यकता होती है, उस समाजने उनके इन गुणोंकी रक्षाके लिये दाम्पत्य नामक समाजबन्धनमें रहने तथा इस बन्धनको दृढतासे स्थिर रखनेमें ही उनका कल्याण नियत किया है और इसे 'समाज-व्यवस्था' का नाम दिया है। यदि वे इस समाज-बन्धनकी उपेक्षा करें तो उनका अस्तित्व निराश्रित होकर अरक्षित हो जाय। दाम्पत्यनामक धर्म-बन्धनके उपेक्षित होनेपर स्त्रियोंकी समाजमें सुख-शान्तिसे जीवन-यापनकी संभावनायें नष्ट होजाती

हैं। पाठक यह न भूलें कि नारीका पातिव्रत्य धर्म सत्य-सेवासे अभिन्न होनेके कारण यह सूत्र पतिपर भी सत्य-सेवक होनेका बंधन लगा रहा है।

तदनुवर्तनमुभयसौख्यम् ॥ ५१३ ॥

पत्नी पतिके समस्त धार्मिक कृत्योंमें सहयोगिनी बनी रहे इसमें पतिका ही नहीं दोनों हीका जीवनभर सुख और हित है।

विवरण— इन दोनोंका परस्पर विरोध होनेपर गृहस्थसंबन्धी कर्तव्योंकी हानि तथा दोनोंको निरन्तर क्लेश रहने लगता है। स्त्रीका कर्तव्य है कि वह घरेलू, सामाजिक या पारमार्थिक सब कामोंमें सत्यनिष्ठ भर्ताका अनुसरण करे, उसकी अनुज्ञा पाकर ही कोई काम करे और अपने संबंधमें उसकी सुमति बनाये रहे। इसी प्रकार पतिके भी पत्नीके संबंधमें गंभीर कर्तव्य हैं। जहाँ दाम्पत्य धर्म उभयपक्षसे पालित नहीं होता वहाँके गार्हस्थ्य जीवनका दुःखदायी होना अनिवार्य होजाता है।

पाठान्तर— अपत्यं स्त्रीणामुभयत्र सौख्यं वहति।

अपत्य स्त्रियोंको वर्तमान तथा भावी दोनोंमें सुख देता है।

(अतिथि-पूजा)

अतिथिमभ्यागतम् पूजयेद्यथाविधि ॥ ५१४ ॥

अतिथि (समय निश्चित न करके अकस्मात् घर उपस्थित होनेवाले तथा उपस्थित होकर गृहस्थसे सेवा पानेके परिचित या अपरिचित अधिकारी) तथा अभ्यागत (समय निश्चय करके आनेवाले सेवा पानेके परिचित अधिकारी) दोनोंका यथाविधि सत्कार करे।

विवरण— अतिथि तथा अभ्यागतकी सेवा करनेका प्रसंग आनेपर मनुष्यके सामने यह मुख्य विचारणीय समस्या आ खडी होती है कि इन्हें हमसे सेवा पानेका अधिकार है या नहीं? आगन्तुकके अपरिचित होनेपर उसका परिचय, आनेका उद्देश्य तथा गृहस्थकी सेवा करनेकी

शक्ति इन तीन बातोंपर ध्यान रखकर सोचना चाहिये कि आगन्तुककी सेवाके दुरुपयुक्त होनेकी सम्भावना तो नहीं है ? और इसकी सेवा करना समाज-कल्याणकी दृष्टिसे अत्याज्य आवश्यक कर्तव्य भी है या नहीं ? इन दोनों प्रश्नोंका संतोषजनक समाधान होजानेपर आगन्तुक लोग अतिथि रूपमें स्वीकृत होनेके अधिकारी बन जाते हैं।

अतिथि-सेवाका प्रसंग आनेपर गृहस्थमें उसकी सेवा करनेकी शक्ति होने न होनेका विचार भी अत्यावश्यक होता है। यदि गृहस्थ रोग, शोक, कर्तव्यान्तरकी व्यग्रता, स्थानाभाव आदि अनिवार्य कारणोंसे अशक्त हो तो उसकी अशक्तता ही सेवाधर्मकी अस्वीकृतिका उचित कारण बन जाती है। उस समय नम्रताके साथ अतिथिसे अपनी असमर्थता प्रकट कर देना गृहस्थका कर्तव्य होता है। गृहस्थके पास किसी प्रकारकी विवशता न होनेपर अपने भोजनाच्छादन तथा आश्रय स्थानसे हार्दिकताके साथ आगन्तुककी सेवा करना कर्तव्य होता है। यदि गृहस्थोंको आगन्तुकके उद्देश्य और परिचयसे संतोष न हो तो शक्ति होते हुए भी उसकी सेवा न करना भी गार्हस्थ्य धर्मके ही अन्तर्गत है। अज्ञात कुलशील व्यक्तिको क्षणभरके लिये भी परिवारमें सम्मिलित करना अनिष्टकी सम्भावनासे रीता न होनेके कारण उसे स्वीकार करना न केवल निर्बुद्धिता है प्रत्युत समाजकल्याणकी दृष्टिसे अधर्म भी है।

न ह्यविज्ञातशीलस्य प्रदातव्यः प्रतिश्रयः।

(दान दैनिक कर्तव्य)

(अधिकसूत्र) नित्यं संविभागी स्यात्।

अपने उपार्जित धनपर उचित अधिकार रखनेवालोंको उनका भाग सदा ही देता रहे।

विवरण— धनोपार्जन जिस समाजकी सहानुभूति तथा जिन स्वजन बान्धवोंके सहयोगसे हो पाता है, उन सबको उन सबका अधिकार समाज-

बन्धनकी रीतिनीतिके अनुसार राजकरके रूपमें देते रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त सामर्थ्यानुसार देश, काल, पात्रका ध्यान रखकर दान भी करना चाहिये। अपने उपार्जनका भोगाधिकार अपनेमें ही संकुचित न रखा जाकर जिस समाजके साथ अपना मन सम्मिलित हो, जिसके प्रति अपनी सहानुभूति हो, उसके कल्याणके अनुकूल अपने जीवन-साधनोंको विभाजित करते रहना भी गृहस्थका धर्म है। गृहस्थ धर्ममें दीक्षित लोग समस्त राष्ट्र-कल्याणके उत्तरदायी हैं।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथा गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः॥ (मनु)

उनका कर्तव्य है कि वे अपनी जीवनयात्राके साधनोंको समाज-कल्याणके कामोंमें बाँटकर जब अपने भोग्यद्रव्योंको समाजसेवारूपी यज्ञका शेष बना लें तब ही उनका उपयोग करें।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

मनुष्य जितना उपार्जन करे उसमेंसे प्रतिदिन अतिथि, देवता, पितर, दीन आदि उन समस्तको जो समाजपर निर्भर रहते हैं, दान दे तथा समाज-कल्याणके काममें नियमितरूपसे उत्साहपूर्वक अर्पण करे। अपना समस्त उपार्जन स्वयं ही खा पीकर बराबर न कर दे। मनुष्य जिस समाजके सहयोगसे उपार्जन कर रहा है उस (समाज) को तो उस उपार्जनमेंसे उपार्जककी दानभावनाके द्वारा योग्य भाग पानेका पूर्ण अधिकार है और योग्य भाग देनेमें कृतज्ञ मानवका आत्मकल्याण है।

प्रत्येक मनुष्य अपने समाजको सुखी तथा सद्गुणी बनानेमें अपने दैनिक उपार्जनमेंसे एक सुनिश्चित भाग देता रहे तब ही कोई समाज सुखी रह सकता है और अपने व्यक्तियोंको सुखी तथा सद्गुणी रख सकता है। मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनका सुखी होना उसके समाजके सुखी, सद्गुणी तथा दानी होनेपर ही निर्भर है। मनुष्यका व्यक्तिगत जीवन उसकी सामाजिक स्थितिके अनुसार ही सुखी-दुःखी या भला-बुरा होता है। इसलिये मनुष्य

अपने सामाजिक उत्तरदायित्व तथा कर्तव्योंको पहचानकर अपने दैनिक उपार्जनमेंसे समाजका भाग समाजको अनिवार्य रूपसे दानके रूपमें दिया करें ।

केवल पेट पालना कोई महत्त्व नहीं रखता । मनुष्यका महत्त्व तो उस बातमें है जिसे मनुष्येतर प्राणी नहीं कर सकते । दूसरे प्राणीमें सामाजिक हिताहित बुद्धि नहीं है । वे अपने समाज-कल्याणमें कोई महत्वपूर्ण योग देनेके योग्य ही नहीं होते । मनुष्यका सेव्य समाज ही है । वह अपने समाजके कल्याणमें आत्मकल्याण बुद्धिसे महत्वपूर्ण सहयोग दे सकता है । वह अपने समाजके व्यक्तियोंको सद्‌गुणी, सम्पन्न और सुखी बनानेमें अपना सहयोग देनेके पश्चात् शेष रहे धनरूपी यज्ञशेषसे अपनी यात्रा करे इसीमें उसकी महत्ता है, इसीमें उसका आत्मकल्याण है और इसीमें उसके देशका उद्धार है ।

(दान अव्यर्थ साथी)

नास्ति हव्यस्य व्याघातः ॥ ५१५ ॥

योग्य पात्रमें दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं जाता ।

विवरण — योग्य पात्रमें दिया दान ही हव्य या यज्ञ-सामग्री है । समाजके योग्य सदस्योंकी सहायता करना समाजकी ही सेवा है । समाज-कल्याणमें ही अपना कल्याण है । इस दृष्टिसे मानवका जीवन ही एक विशाल यज्ञका रूप ले लेता है । इस दृष्टिसे योग्य पात्रमें दान करनेवाला दाता ग्रहीतापर कोई उपकार न करके आत्मकल्याण ही करता है ।

अथवा— हव्य (अर्थात् देवपूजा या समाज-सेवा आदि कर्मोंके लिये श्रद्धापूर्वक प्रदत्त द्रव्य) को नष्ट हुआ नहीं माना जाता ।

दान कभी भी व्यर्थ या निष्फल नहीं जाता । सच्चा दान अपना कोई बाह्य परिणाम ला सके । या न ला सके उससे दाताका आत्मा निश्चितरूपसे उन्नत हो जाता (क्षुद्रता त्यागकर महत्ता प्राप्त कर लेता) है दान आत्म-

दर्शनकी स्थिति है। दान किसीपर कृपा नहीं है, दान तो अपना ही कल्याण या अपना ही सात्विक स्वार्थ है। दान अक्षय निधि है। सत्यके हाथों आत्म-दान दानका सच्चा रूप है।

(शत्रुको पछाड़नेका उपाय)

(अधिकसूत्र) शत्रुरपि प्रमादी लोभात् ।

लोभमें आ जानेपर शत्रु भी अपने शत्रुतारूपी लक्ष्यमें प्रमाद कर लेता या अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट होजाता है।

विवरण— हमारा शत्रु हमें मिटाना चाहता है। वह हमारा अनिष्ट करनेपर तुला होता है। उसे इस लक्ष्यसे भ्रष्ट करनेके भी कुछ उपाय होते हैं। ऐसे समय उसे ऐसा भारी लोभ देना चाहिये जिस लोभपर विजय पाना उसके वशमें न हो। लोभ मनुष्यका निर्बल स्थान (मर्मस्थल) है। निर्बल स्थानपर अव्यर्थ आघात करनेसे शत्रुको विनष्ट करना सुखकर होता है। लोभ आया तो मनुष्यकी संग्राम-प्रवृत्ति-को मर गया समझो।

(अजितेन्द्रियतासे पराजय निश्चित)

शत्रुर्मित्रवत् प्रतिभाति ॥ ५१६ ॥

बुद्धिभ्रंश होजानेपर शत्रु भी मित्र दिखाई देने लगता है।

विवरण— लोभ आ जानेपर मनुष्यको शत्रु भी विश्वासपात्र हितकारी मित्र प्रतीत होने लगता है। लोभवश होजाना ही बुद्धिभ्रंशता है। लोभ ही प्रलोभन उपस्थित करता है। शत्रु भी प्रलोभनोंके द्वारा मित्रका वेश बनाकर ठगनेका प्रयत्न करता है। लोभके वशमें न आना जितेन्द्रिय लोगोंका काम है। जितेन्द्रिय होकर ही संग्रामविजयी बनना सम्भव है। इन्द्रियोंके दासके लिये वीरता नामकी कोई स्थिति नहीं होती। जितेन्द्रिय लोग ही रणक्षेत्रमें वीरताका सम्मान पाने तथा सुनिश्चित विजय लाभ करनेके अधिकारी होते हैं।

अथवा— शत्रु अपनी चतुराईसे मित्रसा दीखने लगता है। अपने मनमें शठता और कपट रखनेवाला शत्रु अपने दुर्भावको मीठी वाणी तथा दिखावटी सौजन्यसे छिपाकर सामनीतिसे मित्रका भेष भर लेता है। भोला मानव लोभाक्रान्त होकर विश्वास न करने योग्यका विश्वास कर लेता और दुःख भोगता है। इसलिये मनुष्य दिखावटी मित्रोंके धोकेमें फँसनेसे बचे रहनेके लिये पूर्ण सतर्क रहे।

(अजितेन्द्रियतासे ठगईमें आना निश्चित)

मृगतृष्णा जलवद् भाति ॥ ५१७ ॥

जैसे मृगतृष्णा जल सी दीखने पर भी जल नहीं होती, इसी प्रकार वंचक लोग लुभावनी बातोंके ऐसे हरे-भरे उद्यान लगाकर प्रस्तुत कर देते हैं कि अजितेन्द्रिय योद्धा उन्हें सच मानकर उनके वाग्जालमें फँस जाते, ठगईमें आ जाते और अपने संग्राम करनेके लक्ष्यसे भ्रष्ट होजाते हैं। ऐसे अवसरोंपर अजितेन्द्रियोंका पराजय निश्चित होता है।

विवरण— धोखेके स्थानोंमें छिपा तो कुछ और होता है और दीखता कुछ और है। बुद्धिका उपयोग धोखेसे बचकर रहनेमें ही है। जैसे व्याध मृगोंको बीनसे मोहित करके उनका आखेट करते हैं इसी प्रकार शत्रु लोग प्रलोभनोंके पाशोंसे बाँधकर मनुष्यका सर्वनाश करते हैं। वंचकोंकी ठगईमें न आना बुद्धिमानोंका कर्तव्य है। '**मृगाणां तृष्णा मृगतृष्णा**' मूढ मृग तीव्र धूपके समय मरुभूमिकी तप्त बालुकाओंकी दीप्तिको जलकी तरंग समझकर पानी पानेकी मिथ्या अभिलाषासे उस ओर दौडते हैं और वह दीप्ति उनसे आगे ही आगे सरकती और उन्हें प्यासा मारती चली जाती है। उनकी यह मूढ वन्ध्या अभिलाषा ही मृगतृष्णा है।

पाठान्तर— **जलार्थिनां जलवत् मृगतृष्णा प्रतिभाति।**

मृगतृष्णा जलार्थियोंको जलतुल्य प्रतीत हुआ करती है।

(दुर्विनीत उलहनेसे न मानकर दण्डसे मानता है)

(अधिक सूत्र) उपालम्भो नास्त्यप्रणयेषु ।

अविनीत अश्रद्धालुओंको उलाहना देना या उनकी शाब्दिक निन्दामात्र करना निरर्थक होता है (कोई अर्थ नहीं रखता)।

विवरण— विनय, श्रद्धा तथा प्रीतिसे हीन दुर्हृदय, अप्रणयी लोग अपने अपराधोंपर उपालम्भ, (उलाहना, निन्दावचन) रूपी सामान्य दण्डका कोई मूल्य नहीं लगाते। उन्हें तीव्र दण्ड देनेकी आवश्यकता होती है। लज्जाहीन अविनीत अश्रद्धालुओंपर उलहनेका कोई प्रभाव नहीं होता। उन्हें उलहना देकर उनका कुमार्ग नहीं छुडाया जा सकता। वे सामकी नीतिसे वशमें न आकर दण्डनीतिके योग्य होते हैं।

उपालम्भ दो प्रकारका होता है– एक तो गुणोंका स्मरण दिलाकर कि ऐसे प्रतिष्ठित कुलमें उत्पन्न हुए तुम्हारे लिये यह क्या उचित था? दूसरे– दोषोंकी निन्दा करके कि तुम जैसे अयोग्य व्यक्ति और कर ही क्या सकते थे?

(कुसाहित्य समाजको भ्रष्ट करता है)

दुर्मेधसामसच्छास्त्रं मोहयति ॥ ५१८ ॥

म्लेच्छोंके शास्त्र अर्थात् अनात्मज्ञ लोगोंके लिखे हुए ग्रंथ अल्पबुद्धि लोगोंको ठगते हैं। अथवा– मिथ्याशास्त्र या ग्रन्थोंकी कुसृष्टि दुर्मेधा लोगोंको विपथगामी किया करती है।

विवरण— विषयाभिनिवेश या अकर्तव्यमें प्रवृत्त करने तथा कर्तव्य छुडानेवाले शास्त्र असच्छास्त्र कहाते हैं। यह सारा संसार असद्ग्रन्थों या असच्छास्त्रोंका बहकाया हुआ ही तो विपथमें धक्के खाता फिर रहा है।

किसीकी अनुभवसंपत्ति उसीके मनरूपी खेतकी उपज होती है। उस अनुभवसम्पत्तिका गणित या लेखाजोखा ही शास्त्रोंका रूप ले लेता है।

शास्त्र सच्छास्त्र असच्छास्त्र भेदसे दो प्रकारके होते हैं। ग्रन्थलेखक लोग अपने जीवनोंमें बुरी भली घटनाओंके रूपमें अमृत तथा विष दोनोंहीका अनुभव करते हैं। किसी भी विचारशील लेखकको अपने अनुभूत विषको ग्रन्थका रूप नहीं देना चाहिये। उसे तो अपने अनुभूत दुष्प्रसंगोंको संसारको उसके दुष्प्रभावसे बचाकर अपनेमें ही जीर्ण होने देनेके लिये गुप्त रखना चाहिये। उन्हें उसे अपने कटु अनुभवोंको संसारके सामने रखकर संसारमें पाप बढानेमें भूलकर भी सहायक नहीं बनना चाहिये। परन्तु संसारका आधुनिक लेखक-समाज इतना अंधा और गंदा होचुका है कि वह अपने मिथ्या विश्वासों, कुरुचियों, भ्रान्तियों, प्रमादों तथा अपने जीवनके असामाजिक अनुचित अधार्मिक कामोंको भी अपनी धार्मिकता या सत्यभाषिताके प्रख्यापनके लिये या दूसरोंसे महात्मापनका प्रमाणपत्र लेनेके लिये ग्रन्थका रूप देनेमें लज्जा और कर्तव्यहीनता अनुभव नहीं करता।

वह नहीं जानता कि मेरे यशस्वी समझे हुए लेखकके ये लेख मेरे देशके अल्पमति पाठकोंके लिये दुर्दृष्टान्त उपस्थित करनेवाले बनकर हालाहलका काम करेंगे और मेरे समाजमें पाप फैलानेवाले बनेंगे? जबसे मनुष्यने अपना विवेक खोया है, तबसे समाजके दुर्भाग्यसे कुग्रन्थोंको भी ग्रंथोंकी श्रेणीमें खडे होनेका कुअवसर प्राप्त हो गया है। विचारशील लेखक अपने जीवनव्यापी अमृतास्वादको ही ग्रन्थका रूप दिया करते हैं। उनके इस अमृतवर्णनसे आबालवृद्ध किसी भी पाठकके मोहग्रस्त होनेका डर नहीं होता। अच्छे लेखकोंमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा न होनेसे उनके ग्रन्थ मनुष्यको दिव्यदृष्टि देनेवाले होते हैं। उपन्यास नाटक, गल्प कहानी, अश्लील गाथा, कामोत्तेजक तुकबन्दी, आत्मचरित्र आदि सब असच्छास्त्रोंकी श्रेणीमें आते हैं।

पाठान्तर— **दुर्मेधसां महच्छास्त्रं बुद्धिं मोहयति।**

विशालकाय दुरूहशास्त्र दुर्बुद्धियोंकी बुद्धि कुंठित कर डालता है।

ज्ञानको शास्त्र कहलानेवाले ग्रन्थोंमेंसे उधारा नहीं लिया जा सकता। सत्यका शासन ही शास्त्र है। सत्य मानवका स्वरूप है। सत्य ज्ञान तथा

आनन्द तीनों ही मानवके स्वरूप हैं। मानवके स्वरूपमें वेदशास्त्रोंका वास है। सत्य मानवहृदयवासी जीवितशास्त्र है। मनुष्यने अपने प्रमादसे इस जीवित शास्त्रसे अपना संबन्ध तोड लिया है। इस जीवित शास्त्रके साथ आदान-प्रदानका संबन्ध जोडकर रखना मनुष्यका कर्तव्य है। यह संबन्ध होजानेपर अर्थात् अपने हृदयस्थ सत्यस्वरूपका प्रत्यक्ष कर लेनेपर ही मनुष्य शास्त्रज्ञ ज्ञानी बनता है। कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय करनेकी कुशलता पा जाना ही तो शास्त्रावलोकनका उद्देश्य है। ग्रन्थावलम्बी बन जाना शास्त्रावलोकनका उद्देश्य नहीं है। ग्रन्थावलम्बीको सदसद्विचार प्राप्त नहीं होता। सदसद्विचारकी योग्यता अपनी आन्तर स्वरूपभूत ज्ञानज्योतिके जगमगा उठनेसे ही प्राप्त होती है। मनुष्य ज्ञानी बन चुकनेके पश्चात् ही शास्त्रमें सत्यका दर्शन करनेमें समर्थ होता है। अज्ञानी रहते हुए शास्त्रोंके पन्नोंमेंसे अज्ञानका ही समर्थन प्राप्त होता है।

निरुक्तकार यास्कके शब्दोंमें 'नैतेषु ज्ञानमस्त्यनृषेरतपसो वा' वेदोंमें उस मनुष्यके लिये कोई तत्त्वज्ञान नहीं है जो स्वयं वेदोंके द्रष्टा, ऋषियों जैसा तत्वदर्शी और तपस्वी नहीं है। दूसरे शब्दोंमें शास्त्रोंमें सत्यका दर्शन सब किसीको न होकर केवल ज्ञानीको होता है। अज्ञानी अवस्थामें रहते हुए शास्त्रोंमें अपने अज्ञानका ही समर्थन ढूँढना स्वाभाविक होजाता है। अज्ञानी मनुष्य शास्त्र कहलानेवाले ग्रन्थको अपने अज्ञानका समर्थक बना लेता है। सूत्रमें इसीको अज्ञानीका शास्त्रसे मोहग्रस्त होजाना कहा है।

अपनेमें सत्यदर्शन कर चुका हुआ मोहातीत ज्ञानी ही श्रुति, स्मृति तथा शिष्टोंके आचरणोंको अपने हृदयस्थ सत्यके शासनकी कसौटीपर कसकर इन सबकी एकताके संबंधमें संदेह-रहित होकर अपने व्यावहारिक जीवनमें शास्त्रको मूर्तिमान् कर देता है।

(भूमिका स्वर्ग)

सत्संगः स्वर्गवासः ॥ ५१९ ॥

सत्संग ही स्वर्गनिवास है।

विवरण— इस दुःख भरे संसारमें सन्तसमागम ही एकमात्र सार है।

सन्त लोग इस झुलसती हुई मरुभूमिके ठण्डे जलस्रोत हैं। 'सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति' सन्तोंका सन्तोंसे समागम कभी कभी बड़े पुण्योंसे होता है। महाकवि तुलसीदासके शब्दोंमें—

सन्तसमागम हरिकथा तुलसी दुर्लभ दोय।

(आर्यका उदार बर्ताव)

आर्यः स्वमिव परं मन्यते ॥ ५२० ॥

कर्तव्याकर्तव्यके विचारसे सम्पन्न उदारमति सज्जन लोग दूसरोंसे जिस बर्तावकी आशा करते हैं वे स्वयं भी दूसरोंके साथ वही बर्ताव करते हैं।

विवरण-- सज्जन वे हैं जो दूसरोंके साथ अपनी मनुष्यताकी मर्यादामें रहकर बर्ताव करते हैं। 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' यह सम्पूर्ण वसुधा उदारचरित लोगोंकी दृष्टिमें उन्हींका विराट् परिवार है।

जो कामनाका दास है जिसने कर्तव्याकर्तव्य विचारको तिलांजलि दे रक्खी है वही 'अनार्य' है। अनार्य वह है जो कामनाधीन होकर दूसरोंके साथ वही बर्ताव करता है जिसे वह अपने लिये किसी भी रूपमें किसीसे भी नहीं चाहता।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ १ ॥
यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पुरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ २ ॥
न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ३ ॥ महाभारत

धर्मका यह सार सुनो और अपनाओ कि जो बात तुम्हारे साथ की जाने पर तुम्हें बुरी लगे उसे तुम दूसरोंके साथ मत करो ॥ १ ॥ मनुष्य जो

व्यवहार अपने प्रति दूसरोंसे किया जाना न चाहे वह दूसरोंके साथ भी न करे। मनुष्य कटु व्यवहारको सब हीके लिये कडवा समझकर दूसरोंके साथ भी न करे ॥ २ ॥ अपने प्रतिकूल लगनेवाला व्यवहार दूसरोंसे न करना ही सम्पूर्ण धर्मका सार है। मनुष्य कामनाके अधीन होकर ही दूसरोंके साथ धर्मविरोधी बर्ताव करता है।

(आकृतिसे गुणोंका प्राथमिक आभास)

रूपानुवर्ती गुणः ॥ ५२१ ॥

जैसा रूप वैसा ही गुण होता है।

विवरण— प्रायः मनुष्यके रूप (शारीरिक अभिव्यक्ति) के भीतर उसके शौर्य, धैर्य, शान्ति, संयम आदि गुण व्यक्त होजाते हैं। गुणियोंके गुण उनके अवयवों तकमें झलका करते हैं। इन गुणोंको जनानेवाली एक सांकेतिक लिपि गुणियोंकी मुखाकृतिपर लिखी रहती है। पुरुष परीक्षाके पारंगत लोग मनुष्यको देखते ही उसके गुणोंको भाँप लेते हैं। '**यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति**' मनुष्यके गुण उसके आकारमें भी आ बसते हैं।

अथवा— साधारण मनुष्यकी आकृतिसे उसके गुणोंका परिचय मिल जाता है।

यह तो सच है कि गुण मनुष्यके हृदयमें रहता है इस कारण प्रथमदर्शनसे गुणका परिचय मिलना संभव नहीं होता। परन्तु मनुष्यके मनुष्यसे मिलनेका प्रथम सोपान प्राथमिक मिलन ही होता है। लोगोंका स्वभाव है कि वे अपने देहको अपनी रुचिके अनुसार वेषभूषासे अलंकृत करते हैं। देहके इस अलंकरण और प्रसाधनमें ही मनुष्यके चरित्रका पूरा इतिहास सांकेतिक भाषामें लगभग अंकित होजाता है। मनुष्यकी रुचि उसकी शिक्षा-दीक्षासे बनती है। गुणपारखी लोग रूपके प्राथमिक दर्शनमें ही अपरिचित व्यक्तिके गुणोंका प्रत्यक्ष करके तदनुरूप व्यवहार-विनिमय करते हैं।

साधारणतः प्रथमदर्शन ही अपरिचितके गुणोंका अभ्रान्त परिचायक बन जाता है। यही कारण है कि जबतक किसीका साक्षात् दर्शन करके उससे व्यवहार-विनिमय नहीं मिलता, तबतक गुणका परिचय मिलना संभव नहीं होता। गुणका परिचय रूपसे परिचित होजानेके पश्चात् ही होना सम्भव होता है। मनुष्यको विना देखे उसका अभ्रान्त परिचय होना असंभव है। मनुष्यका रूप चक्षु इन्द्रियका विषय है तथा उसके गुण विचारनेत्रके विषय हैं। मनुष्यको साक्षात् विचार-विनिमय न हो चुकनेवाले मनुष्यके गुण-दोषके सम्बन्धमें उधारी सम्मति नहीं बनानी चाहिये। कहनेका तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्रकृति अपनी ओरसे किसीके रूपमें गुणको प्रकट नहीं करती, परन्तु मनुष्य अपनी रुचि तथा शिक्षा-दीक्षाके अनुसार अपने देहको वस्त्राभूषणोंसे सज्जित करता है। उसीसे उसके गुण उसकी आकृतिपर झलकने लगते हैं। स्वच्छता, अनाडम्बर, सौम्यता आदि दैहिक लक्षणोंको देखकर गुणीके गुणोंका प्राथमिक आभास मिल जाता है।

पाठान्तर— प्रायेण रूपानुवर्तिनोगुणाः।

साधारणतया आकृतिके अनुसार गुण होते हैं।

(वस्तव्य स्थानकी परिभाषा)

यत्र सुखेन वर्तते तदेव स्थानम् ॥ ५२२ ॥

सुखकर स्थान ही निवासयोग्य स्थान कहाता है।

विवरण— सुख मानसिक स्थिति है। मनकी अनुकूलता ही सुखकी परिभाषा है। मन या तो इन्द्रियोंका दास या उनका प्रभु बननेमें स्वतंत्र है। इन्द्रियोंकी दासता मनका अज्ञान भी है और यह उसके लिये परतंत्रताकी दुःखदायी स्थिति भी है। इन्द्रियोंके ऊपर मनकी प्रभुता मनकी स्वरूपस्थिति भी है और यह उसकी स्वतंत्रता (या स्वतंत्रताकी सुखद स्थिति) भी है। स्वतंत्रता ही सुख है और इन्द्रिय परतंत्रता ही दुःख है। स्वतंत्र मन किसी बाह्य अत्याचारी शक्तिकी अधीनता स्वीकार करनेको

कभी भी सहमत नहीं होता। इसलिये मनकी स्वतंत्रावस्था ही उसका वास्तविक निवासस्थान है। स्वतंत्र मनका देह उस स्वतंत्र स्थितिको सुरक्षित रखकर कर्तव्यवश जब, जहां, जिस परिस्थितिमें रहता है, वहीं वह अपनी स्वतंत्रताको सुरक्षित रखकर सत्यकी अधीनता स्वीकार कर तथा असत्यको पददलित करके अपने मानस सुखको अटल बनाये रहता है।

अपने बाहु (पुरुषार्थ) के प्रतापसे अर्जित स्थान ही मनुष्यके लिये सुखकर होता है। जो लोग अपने पुरुषार्थसे अपने भाग्यके स्वयं ही विधाता होते हैं उन्हें ही सुखद स्थान प्राप्त होते हैं। वे जहां जाते हैं वहीं उन्हें सुखद स्थान प्राप्त होजाते हैं।

को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशस्तथा
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद्दंष्ट्रानखलांगलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते।
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्यात्मनः॥

वीर पुरुषके लिये देशविदेशका कोई प्रश्न नहीं होता। वह जहां पहुंचता है उसे ही अपने बाहु-प्रतापसे अनुकूल स्वदेश बना लेता है। क्या संसारमें देखते नहीं है कि सिंह जिस वनमें घुसता है वहां स्वयं मारे हाथियोंके रक्तसे अपनी प्यास बुझाता है।

(विश्वासघातीकी दुर्गति)

विश्वासघातिनो न निष्कृतिः॥ ५२३॥

विश्वासघातीका उद्धार नहीं है।

विवरण— विश्वासघातीका पापमोक्ष, निस्तारा, बचाव, सुधार या प्रायश्चित नहीं है। संसारके समस्त व्यवहार विश्वासमूलक होते हैं। विश्वासघाती प्रत्येक दुराचार कर सकता है। मित्रताका सम्बन्ध ही विश्वासका संबन्ध है। सत्य ही मनुष्यमात्रका अनन्य मित्र है। हितकारी होना ही मित्रकी परिभाषा है। इस संसारमें केवल सत्य ही वह वस्तु है जो मनु-

ध्यका हितकारी माता, पिता, प्रभु आदि नामोंसे सम्मानित होकर मानवके हृदय सिंहासनका सम्राट् बननेका अधिकारी है। सत्यसे विश्वासघात अर्थात् असत्यकी दासता करना ही विश्वासघात नामका अपराध है। असत्यकी दासता करना जन्मसे ही मानवके साथ सम्बद्ध शुभसंकल्पकका विघात कर देना है।

जिसने एकबार मित्रताका हनन किया है उसे कभी भी यह भ्रान्ति करके कि वह सुधर गया है, विश्वास मत करना। राष्ट्रसे विश्वासघात करके राज्य हथियानेवाले देशद्रोहियोंकी पहचान होजानेके अनन्तर उन जैसे प्रतारक, ढोंगी नेताओंसे सदा सावधान रहना चाहिए।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

(भगवद्गीता)

प्रजाओंके स्वामीने प्रजाओंको यज्ञ अर्थात् उच्च भावना या उच्च बुभूषाके साथ उत्पन्न किया है और उनसे कह दिया है कि तुम जो कुछ अर्जन, उत्पादन या भक्षण करो इसीसे करो। तुम अपने किसी भी कामसे अपनी ऊर्ध्वगामिताको पददलित मत होने दो। तुम अपनी कामनाओंको यज्ञभावनासे पूरा करो। जीवनको यज्ञका रूप देकर रक्खो। तुम्हारी यज्ञभावना ही तुम्हें इष्ट भोग देनेवाली बने। तुम अयज्ञिय अशुभ भावनासे अपनी कामपूर्ति मत चाहो।

सत्पुरुष ही सत्पुरुषका विश्वासपात्र होता है। चोर सत्यके साथ विश्वासघात करके ही चोर बनता है। मनुष्य अपने हृदयेश्वर सत्यके साथ विश्वासघात किये विना चोर नहीं बन सकता। सत्पुरुष सत्पुरुषके साथ कभी विश्वासघात नहीं करता। जो कोई सत्पुरुषोंसे विश्वासघात करता पाया जाता है वह चोर ही होता है। वह धोखा देकर कपट सन्त बनकर विश्वासका हनन किया करता है। इस दृष्टिसे मनुष्यका सत्पुरुष न होना ही समाजके साथ विश्वासघात है। सत्य ही विश्वास है। विश्वासका सम्बन्ध सत्यका ही सम्बन्ध है। सत्यको त्याग देना विश्वासघात ही है। सत्यद्रोही अज्ञानी

अपने मनको सदा अज्ञानरूप नरकमें फँसा रखता है। उसकी मुक्तिका प्रश्न ही कहां है ?

पाठान्तर— विश्वासघातिनो निष्कृतिर्न विद्यते।

(दुर्घटनाओंसे मत घबराओ)

दैवायत्तं न शोचेत् ॥ ५२४ ॥

मनुष्य दैवाधीन दुर्घटनापर व्यर्थ चिन्ताग्रस्त न हुआ करे।

विवरण— मनुष्य अपना सम्पूर्ण बल लगाकर भी जब यह देखे कि यह काम मेरे वशका नहीं है तब उसे दैव या ईश्वरेच्छा मानकर, दुश्चिन्ता छोड कर या दैवाधीन बातको अधिकसे अधिक शक्ति प्रकट करनेकी दैवी प्रेरणा मानकर उसका कोई प्रबलतम उचित उपाय कर सके तो करे।

भूकम्प, जलाप्लावन, आंधी, महामारी, दुर्भिक्ष, राष्ट्रविप्लव आदि शक्तिबाह्य परिस्थितियोंमें चिन्ताग्रस्त न होकर अपने सामर्थ्य तथा कौशलके अनुसार विधान करते चले जाना मनुष्यका कर्तव्य है। जीवनेच्छा रहने तक मनुष्यका यह कर्तव्य किसी भी प्रकार समाप्त नहीं होता। कभी कभी प्रयत्नोंके प्रतापसे भयंकर निराशाके पश्चात् भी आशाकी किरणें दीख पडती हैं। कभी कभी ऐसे भी विकट समय आते हैं जब मर जाना ही रामकी इच्छा होती है। उस समय हाय हाय करके मरनेकी अपेक्षा शान्तिपूर्वक रामकी अचिन्त्य इच्छा या भवितव्यता माताकी सर्वसंहारी प्यारी गोदमें प्रसन्नताके साथ विलीन होकर (मुख छिपाकर) रामके प्रलयनाटकका अभिन्नसाथी बन जानेमें ही मानवका कल्याण होता है। मनुष्य जाने कि वह इस संसारमें सदा रहनेके लिये नहीं आया। मरना अनिवार्य हो तो तडप-तडप कर मरना इस ईश्वरदत्त मरणावसरका महादुरुपयोग है। यदि मनुष्य इस भयंकर समझी हुई अवस्थाका सबसे अच्छा उपयोग कर सकता है तो वह मौतका सहर्ष स्वागत करके ही कर सकता है। अवश्यंभावी मौतको अपनी मानस शक्तिसे पराभूत करके विजयी बनकर मरनेमें ही मानवका कल्याण है। बताइये इस सम्बन्धमें मनुष्य इससे अच्छा और कर ही क्या सकता है ?

फलभोगमें दैवायत्तता है। कर्म करनेमें दैवायत्तता नहीं है। सफलता ही पुरुषार्थ है और असफलता ही दैव है। दैव निर्बल है और पुरुषार्थ प्रबल है। मनुष्य यह जाने कि कर्म या पुरुषार्थ करनेसे दैवायत्तता नहीं है। जहाँ मनुष्य पुरुषार्थका काम न करे और कुंठित होकर हाथपर हाथ धरकर खडा होगया हो, वहाँ दैव या रामकी इच्छा ही मानवकी एकमात्र शरण सखा, सुहृद तथा माता-पिता होती है। ऐसे समय मनुष्यका कल्याण इसीमें होता है कि वह प्रलयलीलाकारी भगवान्‌में आत्मसमर्पण कर दे और मृत्युसे अभिन्न होकर या उसे अभिन्नहृदय मित्रके रूपमें आलिंगन करके इस संहार-लीलाको तटस्थ भावसे देखें। और अपने भौतिक अस्तित्वके विनाशमें अपनी स्वीकृतिकी मुद्रा लगाकर जीवन्मुक्तोंकी मौत मरे।

पाठान्तर— दैवायत्तं न शोचयेत्।

(साधुका आश्रितोंसे सद्वर्ताव)

आश्रितदुःखमात्मन इव मन्यते साधुः ॥ ५२५ ॥

उदारचेता साधु पुरुष आश्रितोंके दुःखोंको अपने ही ऊपर आया हुआ दुःख मानकर उसे दूर करनेके लिये अपने व्यक्तिगत दुःखोंको हटाने जितना ही सुदृढ प्रयत्न करता है।

विवरण— साधु पुरुष आश्रितके दुःखको उसका व्यक्तिगत दुःख माननेके स्थानमें उसे अपना ही दुःख मानकर उसका प्रतिकार करता है। सत्पुरुषके दुःखको स्वदुःख मानना ही तो साधुकी साधुता है और यही उसकी महत्ता भी है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधवः।

साधु स्वयं सत्याश्रित होता है। वह सत्यमें आत्मसमर्पण करके स्वयं सत्यस्वरूप होचुका होता है। सत्यमें आत्मसमर्पण कर देनेवाले उस जैसे सब लोग उसके आश्रितोंमें गिने जाकर उसकी सेवा पानेके अधिकारी हो जाते हैं। आश्रित और आश्रयदाता दोनोंकी एकता ही सेव्यसेवकके पार-

स्परिक अटूट प्रेमबंधनका आधार होती है। साधु पुरुषोंकी आत्मानुभूति उनके पांच भौतिक देहोंमें सीमित न रहकर विश्वके समस्त ज्ञानियोंमें व्याप्त रहती है। साधु की आत्मानुभूति उसके दैहिक कारागारसे सीमित नहीं होती। साधुके पास सबके ही संबंधमें कर्तव्य रहते हैं और वह उन कर्तव्योंको अपनी अनन्त श्रद्धासे इसलिये पालता है कि उसे विश्वभरके ज्ञानियोंमें आत्मदर्शन और आत्मसम्भोग करके अपना जीवन धन्य करना है।

(अनार्यका कपटी व्यवहार)

हृद्गतमाच्छाद्यान्यद्वदत्यनार्यः ॥ ५२६ ॥

दुष्ट लोग मनकी दुष्टताको तो छिपाये रखते हैं और केवल जिह्वासे अच्छी बातें किया करते हैं।

विवरण— दुष्ट लोग मनसे तो परवंचन, परस्वापहरण, परपीडन आदिके उपाय सोचते हैं और वाणीसे परोपकार, देशसेवा, साधुता आदिका बखान करते हैं।

> न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
> स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥

"धर्मशास्त्रोंके वचन सुनाना, गंभीर सिद्धान्त बघारना, ऊंचे नारे लगाना और वेदाध्ययन करना दुरात्माको विश्वासयोग्य नहीं बना पाता। इसमें तो स्वभाव ही प्रबल रहता है।" आर्य वही है जिसका आचरण समाजके लिये वेदके समान प्रमाणभूत है। आर्य वही है जो अपने आचरणको यशोभिलाषासे कभी आत्मप्रचारका विषय नहीं बनाता। आर्यका आचरण ही देशसेवाका प्रत्यक्ष प्रमाण या मूर्तरूप होता है। आर्यका खानपान, रहन-सहन, वाग्विनिमय आदि सब कुछ अपने समाजकी सेवाका रूप लेकर रहता है। उसका आचरण उसके मनके पूर्ण आत्मप्रसादका कारण होता है। उसके मनमें अपने आत्मप्रसादको यशोलिप्सासे आत्मप्रचारके द्वारा कलंकित करनेकी मलिन भावना कभी स्थान नहीं पाती।

धूर्त लोग मनकी बात छिपाकर दूसरोंको ठगनेके लिये ऊपरके मनसे बनावटी बातें बनाया करते हैं।

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येक कर्मण्येकं महात्मनाम्॥ (विष्णुशर्मा)

दुर्जनके मनमें कुछ, वाणीमें कुछ तथा कर्ममें कुछ और ही होता है। महात्माके तो मन, वाणी, कर्म तीनोंमें एक ही बात होती है। अनार्यके वाणीमें कपट शीतलता होती है परन्तु उसके हृदयमें वज्रसे भी कर्कश दुर्बुद्धि छिपी रहती है।

(सद्बुद्धिहीनता ही पैशाचिकता)

बुद्धिहीनः पिशाचादनन्यः ॥ ५२७ ॥

सुबुद्धि (या सद्बुद्धि) हीन व्यक्ति घृणाका पात्र होता है।

विवरण— बुद्धिहीनके आचरणमें सर्वत्र लघुता, क्षुद्रता, नीचता और पैशाचिकताका प्रदर्शन रहता है। बुद्धियुक्त मनुष्य तो बुद्धिसे हिताहितका विवेक करके हेयको त्यागकर, उपादेयको अपनाकर सब काम उचित रीतिसे कर लेता है। बुद्धिहीनसे यह सब नहीं हो पाता। वह अपने स्वेच्छाचारसे लोगोंकी घृणा तथा उपेक्षाका पात्र बन जाता है।

राजाका कर्तव्य है कि वह अपने राज्यमेंसे बुद्धिहीनताका बहिष्कार करनेके लिये सुबुद्धिके प्रचार तथा प्रसारके सुदृढ उपाय करे। राज्यमें धार्मिक, सदाचारी, बुद्धिमान् लोग अधिकतासे उत्पन्न होते रहें, ऐसा प्रबन्ध करना राजाका राष्ट्रीय कर्तव्य है। जो राजा योग्य लोगोंके उत्पादनकी ओरसे उदासीन है वह अपने राज्यमें श्रीवृद्धिके लंबे चौडे कार्यक्रम चलाता हुआ भी पिशाचोंकी संख्या बढा रहा है।

बुद्धिहीन तथा पिशाचमें कोई अन्तर नहीं है। भोजन तथा भोगमात्र पहचाननेवाली बुद्धि वही है जिसे हिताहितका परिचय है। हिताहित

बुद्धिसे हीन मनुष्य सदा ही समाजका अहित करनेवाला कुकर्मा होता है। समाजकी शान्ति हरनेवाले कुकर्मा लोग ही असुर या पिशाच हैं।

पाठान्तर— **धीहीनः पिशाचादनन्यः।**

(आत्मरक्षाके साधनोंके साथ यात्रा करो)

असहायः पथि न गच्छेत्॥ ५२८॥

अपने साथ आत्मरक्षाके साधन शस्त्रास्त्र लिये विना मार्ग न चले।

विवरण— यहां पर जानना यह है कि मनुष्यका असहायपना आत्मरक्षाकी योग्यतासे ही मिटता है। शस्त्रहीन दो चार, दश पांच भी असहाय ही माने जाते हैं। मनुष्यका असहायपन संख्याधिक्यसे दूर नहीं होता। प्रजामें आत्मरक्षाकी व्यक्तिगत योग्यतासे ही देशका असहायपन मिटता है।

अंग्रेज जब भारत आया था तब उसने भारतके प्रत्येक ग्राममें विभक्त शासनशक्ति तथा न्यायशक्तिको छीन कर तो जिलोंमें न्यायालयोंकी स्थापना करके उन्हें न्यायकी दूकानोंका रूप दे दिया था और ग्रामोंका आत्मरक्षामें समर्थ बनाये रखनेवाली शस्त्रशक्तिको उनसे छीनकर अर्थात् ग्रामवासियोंको निःशस्त्र, नपुंसक विरोध करनेके अयोग्य बनाकर रखा था और सोचा था कि नपुंसक राष्ट्रपर शासन करना सुकर है। हमारी वर्तमान राष्ट्रीय कहलानेवाली सरकार भी नपुंसक राष्ट्रपर शासन करनेमें सुभीता देखकर विदेशियोंकी दुष्ट स्वार्थी बुद्धिकी निन्दनीय उपज शस्त्रकानूनको जानबूझकर नहीं तोड रही है। जिस कारणसे ब्रिटिशने यह कानून बनाया था उसीको हमारी अविचारशील बाहरी सरकार चालू रख रही है।

जनता स्वभावसे शान्तिप्रिय है। शान्ति-प्रियप्रजाका शान्ति-रक्षक राजशक्तिका विद्रोही होना असंभव कल्पना है। जो सरकार कानूनके दबावसे जनताको निरस्त्र, नपुंसक, असंगठित रखनेमें अपनी सुरक्षा समझ रही है वह जनताकी सदिच्छाका विद्रोह करके पशुबलसे राज्यशासन कर रही है।

इसने जनताके स्वतंत्र सामरिक संगठनको गैर कानूनी कर रखा है। इसके मूलमें यही दुर्बुद्धि छिपी हुई है कि जनतामें उसके राष्ट्रद्रोही कृत्योंका विरोध करनेकी शक्ति न रहे। यदि वह वास्तवमें राष्ट्रहितैषी सरकार होती तो उसके मनमें ऐसी भीति कभी भी न होती। क्योंकि जनताकी स्वतंत्र सामरिक शक्ति उसकी राष्ट्रहितैषिताका अनिवार्य साथी बनी रहती। शस्त्र-कानून उन्मूलित होते ही शांतिप्रिय जनता तत्क्षण संगठित होकर गांव-गांवमें शान्तिरक्षामें स्वयमेव समर्थ हो जाती।

पाठान्तर— असहायो न पथि गच्छेत्।

(पुत्रस्तुति अकर्तव्य)

पुत्रो न स्तोतव्यः ॥ ५२९ ॥

पुत्रकी स्तुति नहीं करनी चाहिये।

विवरण— गुणी पुत्रका गुणग्राही होना पिताका अपराध नहीं है। प्रत्युत यह तो पुत्रको उत्साहित करनेवाला पितृधर्म है। परन्तु यह पितृ-धर्म पितापुत्रमें ही सीमित रहना चाहिये। बाह्य जगत्में पुत्रकी स्तुति करना आत्म-प्रचारके समान ही श्रोताओंके कानोंको भी कष्ट पहुँचाने तथा उनके मनमें अविश्वास उत्पन्न करनेवाला अपराध होता है। पिताके मुखसे पुत्र-स्तुति उसे प्रभावहीन बना देती है। पुत्र-स्तुति पिताकी आत्म-स्तुति मानी जाती है। पुत्रके विशेष गुणोंकी स्तुति पिताके मुखको शोभा नहीं देती, प्रत्युत पुत्रके उन गुणोंमें भी संदेह पैदा कर डालती है।

पाठान्तर— न पुत्रः स्तोतव्यः।

(स्वामीका यशोगान भृत्यकर्तव्य)

स्वामी स्तोतव्योऽनुजीविभिः ॥ ५३० ॥

भृत्य लोग गुणी स्वामीको लोकप्रिय बनाये रखनेके लिये जनतामें उसके गुणोंकी प्रशंसा किया करें।

विवरण— स्वामीके गौरव, बुद्धि तथा उसका उपकार, भरण तथा रक्षाकी प्रवृत्तियोंको उत्तेजित करते रहनेके लिये उसकी स्तुति करना अनुजीवियोंके लिये लाभदायक होता है।

भृत्य लोग गुणी स्वामीके प्रति कृतज्ञता तथा प्रभु-भक्तिका प्रदर्शन करके प्रभु-भृत्य सम्बन्धको न टूटने दें और समाजमें प्रभुको लोकप्रिय बनानेके लिये उसका गुण-कीर्तन करके समाजकल्याणके काममें प्रभुके सहायक बनें।

पाठान्तर— स्वामी स्तोतव्यः सर्वानुजीविभिः।

पाठान्तर— न निन्दनीयः स्वामी स्तोतव्यः सर्वानुजीविभिः।

धर्मकृत्येष्वपि स्वामिन एव घोषयेत् ॥ ५३१ ॥

अनुजीवी लोग राजाज्ञासे किये हुये लोकोपकारी धर्मकृत्योंको अपने न बताकर स्वामी या अपनी राज्यसंस्थाके ही किये बताया करें।

विवरण— अनुजीवी लोग राष्ट्रभरमें स्वामी या अपनी राज्यसंस्थाकी धार्मिकताका प्रचार करके उसके लिये जनताका प्रेम और सहानुभूति प्राप्त करें। ऐसे करनेसे राजा या राज्यसंस्थाको राष्ट्रसेवा करनेमें अनुकूलता और सुकरता हो जाती है।

पाठान्तर— धर्मकृत्येष्वपि स्वामिनमेव घोषयेत्।

पाठान्तर— सर्वकृत्येष्वपि ,, ,, ।

सब कामोंमें स्वामीके ही कर्तापनकी घोषणा किया करे।

(राजाज्ञापालनमें विलम्ब अकर्तव्य)

राजाज्ञां नातिलंघयेत् ॥ ५३२ ॥

राजाज्ञाके पालनमें अनुचित देर न करें।

विवरण— राजाज्ञा टालनेसे राष्ट्रमें दुराचारियोंको दुराचार करनेका अधिक अवसर प्राप्त हो जाता है। राजाके आदेशके समयपर पालित होते

रहनेसे नगर, ग्राम, हाट, घाट, शिल्प, वाणिज्य आदि समस्त कार्योंमें सौकर्य व्यवस्था और शान्ति आ जाती है । राजाज्ञाके अपालित रह जानेपर प्रजामें मात्स्यन्याय चल पडता है । निर्बलपर बलवानोंका दबाव या जिसकी लाठी उसकी भैंस ही मात्स्यन्याय है । जैसे बडी मछली छोटीको खा जाती है इसी प्रकार बलवान् लोगोंके निर्बलों पर अत्याचारका निष्प्रतिबन्ध चलते रहना ही मात्स्यन्यायका अभिप्राय है ।

(भृत्यका धर्म)

(अधिक सूत्र) **स्वाम्यनुग्रहो धर्मकृत्यं भृत्यानाम् ।**

अपने कर्तव्य-पालनसे प्रभुका अनुग्रह प्राप्त कर लेना ही भृत्योंका धर्माचरण है ।

विवरण— राष्ट्रपालन ही राजकर्मचारियोंका एकमात्र धर्म है । राष्ट्र-पालन द्वारा स्वामीकी कृपा पा लेने पर ही भृत्योंकी उन्नति निर्भर है । स्वामीकी कृपा न होनेपर शुभकर्म होना असंभव हो जाता है तथा कुपित होनेपर तो जीवन विघ्नोंसे घिर जाता है ।

यथाऽऽज्ञप्तं तथा कुर्यात् ॥ ५३२ ॥

लोकहितकारी कार्योंके सम्बन्धमें राजाकी ओरसे जब जैसी आज्ञा मिले तब उसे कर लेनेमें सर्वात्मना लगकर उसे अवश्य पूरा करे ।

विवरण— राजकर्मचारी राजाज्ञाके विना कोई काम न करें जैसे प्रभु और भृत्यका सम्बन्ध आज्ञा देने और पालनेका ही है । जो लोग राजा-ज्ञाके प्रति आत्मदान कर देते हैं वे ही अपनी और राष्ट्रकी दोनोंकी उन्नति करते हैं । राज्यमें ऐसे ही लोग भृति स्वीकार करें ।

पाठान्तर— **यथैव यत् स्वामिना आज्ञापितं तथैव वा कुर्यात् ।**

(अधिक सूत्र) **सविशेषं वा कुर्यात् ।**

तात्कालिक विशेष कर्तव्य विना पूछे तुरन्त कर लिया करें।

विवरण— राजभृत्यलोग राष्ट्रहितकारी वे तात्कालिक विशेष काम, जो कालविलम्ब न सह सकते हों, जिनके सम्बन्धमें राजाज्ञा प्राप्त करनेमें अवसर निकल जानेकी अधिक संभावना हो, राजाज्ञा न मिलने पर अपनी सूझसे राजाका अनुमोदन मिल सकनेके पूर्ण विश्वासके साथ कर लिया करें और राजासे कर्तव्यनिष्ठ, स्वामिभक्त होनेकी प्रशंसा प्राप्त करें।

(अधिक सूत्र) **स्वामिनो भीरुः कोपयुज्यते ।**

राजसेवामें भीरु अकर्मण्य लोगोंका कोई उपयोग नहीं है।

(अनार्यकी निर्दयता)

(अधिक सूत्र) **नास्त्यनार्यस्य कृपा ।**

अनार्य (अर्थात् नीच मनुष्य) अपनी क्रूरता तथा अनुदारताके कारण दूसरोंके साथ सदय वर्ताव करना नहीं जानता।

विवरण— अनार्योंकी कर्तव्या-कर्तव्यकी कसौटी आर्योंसे सर्वथा विपरीत होती है। अनार्य लोक कर्तव्योंको त्यागते तथा अकर्तव्य करते हैं। अनार्य लोग अपनी स्वार्थ बुद्धिसे मनुष्य-समाजका कल्याण करनेवाले कर्तव्योंको त्याग देते हैं और मनुष्य-समाजके कल्याणपर आक्रमण किया करते हैं। अनार्य लोग अपनी संकीर्ण दृष्टिसे लोभान्ध, कामान्ध होकर अशान्तिकारिणी पैशाचिक लीला किया करते हैं। दया, कृपा आदि उदारगुण आर्योंमें ही पाये जाते हैं। जिसमें ये गुण पाये जाते हैं वे अनार्य कहानेवाली जातियोंमें उत्पन्न होनेपर भी आर्य हैं। जो दया, कृपा आदि करना नहीं जानते वे आर्यपरिवारमें जन्म लेकर भी अनार्य या म्लेच्छ कहाते हैं।

सार्वभौम धर्मोंका पालन करनेवाले लोग ही आर्य कहे जा सकते हैं। आर्यताका किसी सम्प्रदाय, जाति या भूमण्डलसे सम्बन्ध नहीं है। आर्यता

तो क्रियात्मक या सदाचारात्मक धर्म है। आर्य लोग समस्त विश्वको अपनी मानवताके संरक्षक क्षेत्र विराट् परिवारके रूपमें देखते और उसकी सेवाको अपना आदर्श या धर्म स्वीकार करके उसे पालते रहते हैं। अनार्य लोग अपने कुविश्वासोंको ही धर्मान्धताके रूपमें अपनाये रहकर अपने क्षुद्र, आसुर, पारिवारिक या साम्प्रदायिक स्वार्थ-साधनको ही जीवनका ध्येय बनाकर अपने सम्प्रदायसे असम्बद्ध मनुष्यसमाजकी मनुष्यताकी निर्मम हत्या करनेको स्वधर्मप्रचार या सम्प्रदाय विस्तार समझते हैं। ईश्वरके पवित्र नामपर ईश्वरकी रची विधर्मी प्रजापर अत्याचार करना अनार्योंका स्वभाव है।

(शत्रुके प्रति बुद्धिमानका दृष्टिकोण)

नास्ति बुद्धिमतां शत्रुः ॥ ५३४ ॥

बुद्धिमानोंके शत्रु नहीं होते।

विवरण— बुद्धिमान् लोग किसी भी बाह्य शत्रुको स्वीकार नहीं करते। वे तो मनुष्यकी निर्बुद्धिता, अचातुर्य और अज्ञानको ही उसका शत्रु मानते हैं। वे निर्बुद्धिता या अज्ञानको पराभूत करके ज्ञानी बने रहते हैं। किसी बाह्य शत्रुको शत्रु मानना ही अज्ञान या निर्बुद्धिता है। बुद्धिमान वे हैं जो अपनी बुद्धिके सफल प्रयोगोंसे बाह्य शत्रुओंके आक्रमणको स्थिरचित्तसे तथा दृढतासे व्यर्थ करके अपने मनकी शांतिको सुरक्षित रखते हैं। बुद्धिमानोंकी बुद्धिमत्ता शत्रुओंके शत्रुताचरणको अपने विजयी मनोबलसे व्यर्थ करनेमें ही है।

संकल्पपूर्वक हानि पहुँचानेवाले लोग शत्रु कहाते हैं। क्योंकि अज्ञान मनुष्यकी सबसे बडी हानि करता है इसलिये अज्ञानसे बडा मनुष्यका कोई शत्रु नहीं है। मनुष्य-समाजको अपने इस शत्रुसे अपनी संगठित शक्तिसे लडना चाहिये और इसे संसार भरमेंसे निष्कासित करके छोडना चाहिये। परन्तु मनुष्यकी कैसी मति मारी गई है कि वह इस वास्तविक शत्रुको ज्योंका त्यों शक्तिमान रहने देकर केवल बाह्य शत्रुओंसे लडकर हारनेमें ही मानव-जीवन नामक इस लघु सुअवसरको कूडेके ढेरके

समान उपेक्षित करता चला आ रहा है। मानव-समाजको सचेत हो जाना चाहिये, अज्ञानके विरोधमें सुदृढ व्यूह (मोरचा) लगाना चाहिये और इसके विरोधमें महान् आयोजन करने चाहिये। बुद्धिमान् लोग इस अज्ञान रूपी शत्रुको नष्ट करके संसारके सबसे बड़े सबसे भयानक शत्रुपर विजयी बने रहते हैं। यह तो असंभव है कि बाह्य शत्रु ज्ञानीपर आक्रमण न करें। बाह्य शत्रु तो अपने स्वभावानुसार ज्ञानी अज्ञानी सबहीपर आक्रमण करते हैं। परन्तु ज्ञानी लोग उस शत्रुको अपनी हानिका कारण नहीं मानते। वे उसके आक्रमणका भी सदुपयोग कर लेनेकी दिव्य कला जान चुके होते हैं। जैसे कठोर छिलकेवाला नारियलका फल काक-चंचुओंको व्यर्थ करता रहता है इसी प्रकार ज्ञानी लोग शत्रुओंके आक्रमणको व्यर्थ बनाते रहते हैं।

चाणक्यका चरित्र देशद्रोही शत्रुओंको नष्ट करनेका जीवित उदाहरण उपस्थित कर गया है। बाहरके शत्रु या तो ज्ञानीके देहपर या उसकी देहरक्षाके भौतिक साधनोंपर आक्रमण करके ज्ञानीको उसके ज्ञानका क्रियात्मक आस्वाद लेनेका सुअवसर दे देते हैं। ज्ञानीके ज्ञानपर कोई चोट पहुँचा सकना बाह्य अज्ञानी शत्रुके शक्तिके बाहर होता है। कर्मको जो कुशलता है वही तो ज्ञान है। ज्ञानी बाह्य शत्रुके आक्रमणको शत्रु-विजयका शुभ अवसर मानकर उससे अप्रभावित होकर उसका प्रतिकार करता चला जाता है। वह बाह्य शत्रुके आक्रमणको नाशवान् भौतिक जगत्की परिवर्तन-शीलतामें सम्मिलित कर लेता है और अपनी संपूर्ण शक्तिसे प्रतिकार करनेमें लगा रहता है। वह इस अज्ञानीके आक्रमणका विरोध करते समय अपने सत्यस्वरूप प्रभुके नेतृत्व या कर्तापनमें रहकर अपने पांच भौतिक देहको असत्य विरोधके साधनके रूपसे उपयोगमें लाकर सत्य-सेवाका अमृत चखता रहता है। वह उस बाह्य शत्रुको हानि पहुँचानेवालेके रूपमें स्वीकार ही नहीं करता। वह तो हानिसे अतीत रहना सीखकर उस आक्रामक घटनाको सत्यास्वादनका सुअवसर मानकर उसका मित्रकी भाँति स्वागत करता है। बात यह है कि आभ्यन्तर शत्रुके ऊपर

पहलेसे ही विजय पा चुकनेवाले ज्ञानीका समस्त बाह्य व्यवहार सत्यरूपी मित्र-मिलनका विजयोत्सव बन जाता है।

पाठान्तर— **न सद्बुद्धिमतां शत्रुः।**

(सभामें शत्रुसे व्यवहारकी नीति)

(अधिक सूत्र) **शत्रुं न निन्देत् सभायाम्।**

सभामें शत्रुको निन्दा न करे।

विवरण— सभामें शत्रुकी निन्दा करना अपनी ही धैर्यच्युति तथा शत्रुकी स्थितिमें उतारकर झगडा बढानेवाली निन्दनीय स्थिति है। सभामें दोनों पक्षोंकी पारस्परिक व्यक्तिगत उच्छृंखल भर्त्सना-प्रतिभर्त्सनाका अपराध प्रथम निन्दकके सिर आ पडता है। सभामें शत्रुकी व्यक्तिगत निन्दा न करके उसके मनुष्योचित व्यवहार पानेके अधिकारको सुरक्षित रखते हुए केवल उसके निन्दनीय व्यवहार सुसभ्य संयत भाषामें अपने स्थिति-परिचय, कौशल-जाल तथा सुगंभीर वाक्पटुतासे खण्डन करके उसे अप्रतिभ, हतप्रभ और निरुत्तर बनाना चाहिये। शत्रुसे निःसार वाग्युद्ध छोडकर शत्रुकी निंदनीय स्थितिमें उतर जाना अपनी ही पराजय है। उसकी बातोंका सयुक्तिक निराकरण करके उसके मायाजालको छिन्न-भिन्न करना और उसे उत्तर देने योग्य न रहने देना ही 'सभा-पाण्डित्य' कहाता है।

(शत्रुको अपना निर्बल रूप मत दिखाओ)

आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत् ॥ ५३५ ॥

आत्मामें किसी प्रकारका छिद्र अर्थात् निर्बलता प्रकट होना चाहती हो तो उसे प्रकाशित न करे अर्थात् अस्तित्वमें न आने दे।

पाठान्तर— **नात्मच्छिद्रं प्रकाशयेत्।**

पाठान्तर— **न स्वल्पमात्रमप्यात्मच्छिद्रं प्रकाशयेत्।**

मनुष्य अपनी तुच्छातितुच्छ निर्बलताको भी प्रकट न होने दे अर्थात् उसे व्यवहारभूमि प्राप्त न होने दे।

मनुष्य अपने मनमें उत्पन्न होनेवाली लघुसे लघु निर्बलताको भी व्यावहारिक रूप न लेने दे। स्पष्ट शब्दोंमें मनुष्य अपने मनको इतना संयमी और दृढ बनाकर रक्खे कि उसमें चित्त-चांचल्यजनित दुर्बलताको किसी भी प्रकार स्थान न मिलने पाये। आर्यचाणक्यका सूत्र यह लघुताभरी निर्बल बात नहीं कहना चाहता कि मनुष्य दुर्बलताको शत्रुकी दृष्टिसे छिपाकर दुर्बल बना रहे। प्रत्युत यह कहना चाहता है कि मनुष्य किसी भी प्रकारकी दुर्बलताको जीवनमें कार्यकारी तथा समाजमें संक्रामित न होने दे। दृढचित्तता ही वीरका स्वभाव होना चाहिये। पहले तो दुर्बल भीरु बनकर रहना और फिर उस दुर्बलता या भीरुताको छिपाये रखना कोई अर्थ नहीं रखता। यह सूत्र अनिवार्य भौतिक निर्बलताओंके सम्बन्धमें कहना चाहता है कि वीरका कर्तव्य है कि वह अपनी भौतिक न्यूनताको असमर्थता न माने और शत्रुके तथा जगत्के सामने धीरज न छोड बैठे। विजिगीषु मनुष्य इस सत्य सिद्धान्तको कभी नहीं भूलता कि वीरकी दृष्टिमें भौतिक सामर्थ्यकी न्यूनता असमर्थता नहीं होती। मनुष्यको जानना चाहिये कि लोग भौतिक सामर्थ्यसे विश्वविजयी नहीं बना करते। भौतिक सामर्थ्यका न्यूनाधिक होना अवश्यंभावी होता है। वीरके पास यदृच्छासे जो या जितना भौतिक सामर्थ्य होता है वह उतना ही वीरकी वीरताके महान् नेतृत्वमें आकर शत्रुविजयका ब्रह्मास्त्र बन जाता है और उसकी अनिवार्य मृत्यु आ खडी होनेपर भी उसे विश्वविजेता बना देता है।

(सहनशीलताकी प्रशंसा)

(अधिक सूत्र) **शक्तौ क्षमा श्लाघनीया।**

निग्रह अनुग्रहका सामर्थ्य रहनेपर भी सहनशीलता प्रशंसा योग्य प्रवृत्ति है।

विवरण— यहाँपर क्षमाका अर्थ अप्रतिकार नहीं है। अप्रतिकारको

क्षमा समझना बड़ी भूल है। शक्ति होनेपर भी उत्तेजित न होकर विवेक-पूर्वक कर्तव्य करते जाना ही प्रशंसनीय स्थिति है। क्रोधवेगपर वशीकार रखना ही क्षमा है। अशक्तकी सहनशीलता तो उसकी दुर्बलता है। अशक्तकी सहनशीलता तो अगतिककी गति है। बुरीसे बुरी स्थितिमें भी उत्तेजित न होने तथा प्रतिकार न छोड बैठनेकी क्षमावाली नीतिका स्पष्टीकरण भारवि कविके पाण्डवाग्रज युधिष्ठिरके मुखसे कहाये निम्न श्लोकोंमें देखा जा सकता है। क्षमा धर्मका पालन करते हुए शत्रुका नाश करना ही इन पद्योंमें क्षमा शब्दका अभिप्रेत अर्थ है।

शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतीम्।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः॥

विजीगीषु लोग अपने क्रोधावेशपर अपना पूरा नियंत्रण रखकर महत्व-युक्त तथा सुन्दर भविष्यवाली फलसिद्धिको अपना लक्ष्य बना लेते हैं और अपने पुरुषार्थको फलसाधक उपायोंसे मिला देनेके लिये शान्त रहते हैं। वे फलसिद्धिमें विघ्न डालनेवाले क्रोधावेशमें नहीं आते।

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः।
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम्॥

स्थिर फल देनेवाला होनेसे भविष्यको अत्यन्त सुधारनेवाला, विपुल कर्म-फल देनेवाला, स्वयं नष्ट न होकर शत्रुओंको नष्ट कर डालनेवाला, तितिक्षा (अर्थात् दुष्ट क्रोधके वशमें न आकर अपने कर्तव्य-पथपर दृष्टि रखे रहने) से दूसरा कोई साधन नहीं है। पाठक देखें यहाँ तितिक्षा शब्द अप्रतिकारका वाचक नहीं है। तितिक्षा शब्द क्रोधके कारण उत्पन्न होनेवाले कार्यके असामर्थ्यके अवरोधक गुणका वाचक है। तितिक्षा तथा क्षमा एकार्थक हैं।

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते॥

उन्नतिकामी लोग सबसे पहले अपनी विवेक बुद्धिसे रोष, आवेश या अक्षमासे होनेवाले अज्ञानान्धकारको हटायें। संसारमें देखा जाता है कि

सूर्य भी पहले अपने प्रकाशसे रातके किये अँधेरेको छिन्न-भिन्न किये बिना उदित नहीं होता।

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसंपदः॥

बलवान् भी जो कोपजन्य मोहके आक्रमणको व्यर्थ नहीं बना लेता, वह क्षयपक्षमें घटती चली जानेवाली चन्द्रकलाओंके समान अपनी समस्त शक्तियोंको अपने आप नष्ट कर डालता है। क्रोधान्धका लोकोत्तर सामर्थ्य भी व्यर्थ हो जाता है।

(क्षमासे प्रतिकारका सामर्थ्य)

क्षमावानेव सर्वं साधयति ॥ ५३६ ॥

क्षमावान् (दुःख, अपमान, कटुवचन, धन-जन-हानि आदिको स्थिर बुद्धितासे सह कर अपना कर्तव्य करते चले जानेवाला) ही सब कार्योंमें सिद्धि पाता है।

विवरण— अनिष्ट देखकर आपेसे बाहर न होकर अनिष्टकारीके साथ धीरज तथा कौशलके साथ यथोचित बर्ताव करना ही क्षमाका पूरा अर्थ है। क्षमा और विजय एक ही अर्थको प्रकट करते हैं। क्षमाका अर्थ विपरीत घटनाका प्रतिकार छोड़ देना कदापि नहीं है किन्तु विपरीत घटनाके दर्शनसे निर्बल न होकर स्वीकृत कर्तव्य करते चले जाना हैं। दुष्टोंकी दुष्टताका प्रतिकार न करना या दुष्टताको सह लेना क्षमा नहीं है। दुष्टापराध-सहन किसी भी रूपमें क्षमा नहीं है। प्रत्युत क्षमाशील ही दुष्टोंकी दुष्टताका उचित प्रतिकार कर सकता है। अक्षमाशील लोग उत्तेजित होकर अन्याय, अत्याचार या आक्रमणका यथोचित प्रतिकार करनेके अयोग्य हो जाते हैं।

पाठान्तर— क्षमावानेव जयति लोकान्।

पाठान्तर— क्षमायुक्ताः सर्वं साधयन्ति

(आपत्कालीन कोश आवश्यक)

आपदर्थं धनं रक्षेत् ॥ ५३७ ॥

मनुष्य आकस्मिक विपत्तियोंके प्रतिकारके लिये कुछ धन संचित रक्खे ।

विवरण— वह जीवनयात्रामें अपव्यय न करके जितना बचाया जा सके उतना धन अपनी या अपने राष्ट्रकी विपत्तिके दिनोंके लिये सुरक्षित रक्खें । जैसे वृद्ध मातापिताको पुत्रसे असमर्थ दिनोंमें पालन-पोषण पानेका अधिकार है वैसे ही समाज या देशको अपने प्रत्येक व्यक्तिसे अपनी श्री-वृद्धिमें सहयोग पानेका पूर्णाधिकार है । इसका कारण यह है कि समाजके कल्याणमें ही मनुष्यका कल्याण है । समाजके कल्याणमें सहयोग देना मनुष्यका अपना ही कल्याण है । प्रत्येक मनुष्यके पास अपने या राष्ट्रके बुरे दिनोंके लिये कुछ सुरक्षित कोष अवश्य रहना चाहिये । सत्यपर असत्यके आक्रमणका काल ' आपत्काल ' कहाता है । उस समय असत्यका विरोध करके सत्यकी रक्षा करना मनुष्यका कर्तव्य होता है । महामारी, विषूचिका, आततायीके आक्रमण आदि कर्तव्यके अवसरपर उदासीन रहना असत्या-वस्था है ।

सत्यरक्षाका कर्तव्य मनुष्यके सामने अनेक रूप लेकर आया करता है । क्योंकि मनुष्यका देह सत्यकी सेवाका साधन है इसलिये उसका देह-धारण भी तो सत्य रक्षारूपी कर्तव्यमें ही सम्मिलित है । इस दृष्टिसे देहधारणसे संबन्ध रखनेवाले कर्तव्योंकी अवहेलना करना असत्यकी दासता है। परन्तु यह ध्यान रहे कि देह-रक्षा वहांतक सत्यसेवा है जहाँतक वह सत्यानु-मोदित उपायोंसे हो रही हो । असत् उपायोंसे देह-धारण करना तो असत्यकी ही सेवा है । इस दृष्टिसे सत्यकी सेवा करते हुए देहको बलिदान करनेकी आवश्यकता आ खडी होनेपर उसके लिये सहर्ष प्रस्तुत हो जाना भी सत्यकी सेवामें ही सम्मिलित है ।

मनुष्यको अपने संचित धनको सत्यकी सेवामें सदुपयुक्त करनेका ही अधिकार है । धनका असत्यकी दासता करनेमें दुरुपयोग करना मनुष्यका

अधिकार नहीं है इसीलिये अकर्तव्य है। इस दृष्टिसे अपने राष्ट्रके आपत्ति कालका प्रत्येक कर्तव्य धनके सदुपयोगका अवसर बन जाता है। यह अवसर अपनी व्यक्तिगत दैहिक, पारिवारिक या सामाजिक आवश्यकताओंको पूरा करने या अभावोंको दूर करनेके रूपमें उपस्थित होता है। समाजके विपद्-ग्रस्त सत्यनिष्ठ व्यक्तियोंकी भौतिक आवश्यकतायें भी सामाजिक आवश्य-कतायें होती हैं। ऐसे अवसर उपस्थित होनेपर अपने धनको अपनी व्यक्ति-गत संपत्ति न मानकर उसपर सत्यका अधिकार स्वीकार करके उसके तात्का-लिक सदुपयोगके द्वारा सत्यकी सेवा करनेका आत्मसन्तोष प्राप्त करना मनुष्यकी लक्ष्यारूढता कहाती है। इसके विपरीत व्यवहार करना लक्ष्य-हीनता या लक्ष्यभ्रष्टता है।

जिस देशमें प्रजाकी साधारण आर्थिक स्थिति आवश्यक संचय न कर सकने योग्य हो गई हो वहाँ समझना पडता है कि प्रजाके उपार्जनपर शासन-व्यवस्थाकी कुदृष्टि है और उसकी शोषणनीति प्रजाकी रक्षक न रहकर भक्षक बनी हुई है। प्रजाकी निकृष्ट तथा उत्कृष्ट आर्थिक स्थिति राजशक्तिकी योग्यता-अयोग्यता, प्रबन्ध-पटुता, प्रबन्ध-हीनता, लोभ, निर्लोभ आदिपर निर्भर करती है। कौटलीय अर्थशास्त्रमें कहा है—

तस्मात् प्रकृतीनां क्षयविरागकारणानि नोत्पादयेत्।

राजा अपनी ओरसे प्रजाके धन क्षय, तथा रोषके कारण उत्पन्न न करे। राजा अकरणीय करके तथा करणीयको त्यागकर, दातव्य न देकर, तथा अग्राह्य लेकर, अपराधीको दण्डित न करके निरपराधको दण्ड देकर प्रजाको चोर डाकुओंसे न बचाकर लोगोंकी निरापदताको सुरक्षित रखनेमें प्रमाद करके प्रजाको असन्तुष्ट, दरिद्री तथा लोभी बना देता है। राष्ट्र-कल्याणकी दृष्टिसे राजाका कर्तव्य है कि वह प्रजाके धन-भंडारका शोषक न होकर उसे भरपूर रखनेके भरसक प्रयत्न करे। प्रजाकी दरिद्रता राजा या राज्य-व्यवस्थाका ही अपराध है। यही कारण है कि राजशक्तिको प्रजाके अक-स्मात्, अपहृत और दरिद्र हो जानेपर उसे अपहृत और दरिद्र हो जाने

देनेके अपराधके प्रायश्चित्तके रूपमें उसकी आकस्मिक दरिद्रताको अपने कोषसे दूर करना पड़ता है। परन्तु राजशक्ति इस उत्तरदायित्वको तब ही पूरा कर सकती है जब वह प्रजाके धनका लूटमारके धनकी भाँति अपव्यय न करती हो।

राजशक्तिका कर्तव्य है कि प्रजासे प्राप्त राजकीय धन-भंडारको अनुचित अतिरिक्त वेतन या भत्ते आदि अपव्ययोंसे महाकृपणके तुल्य बचाकर पूर्ण बनाये रहे कि विपत्तिके दिनोंमें प्रजाके काम आ सके। जैसे विपत्तिके दिनोंके लिये धन बचाकर रखना व्यक्तिका पारिवारिक कर्तव्य है इसी प्रकार राष्ट्रकी विपत्तिके दिनोंके लिये राष्ट्रकोशमें धन बचाकर रखना राज्यसंस्थाका राष्ट्रीय कर्तव्य है। राष्ट्र भी तो एक विराट् परिवार है। मितव्ययिता ही परिवारकी श्रेष्ठ अर्थनीति है। परिवारके लिये हितकर-नीति ही राष्ट्रके लिये भी हितकर हो सकती है। जैसे परिवार पति लोग धनका अपव्यय न करके बद्धमुष्टि रहते हैं इसी प्रकार राज्यसंचालक लोग प्रजाके धनको अपने भोगविलासमें अपव्यय न करके बद्धमुष्टि रहें।

पाठान्तर— आपत्प्रतीकारार्थं धनमिष्यते।
आपत्तियोंके प्रतिकारके लिये धनसंग्रह अभीष्ट है।
पाठान्तर— अत्रापदर्थं धनं रक्षेत्।
संसारमें विपत्ति टालनेके लिये धनसंचय करे।

(असत्यविरोधी वीरोंकी सहायता स्वहितकारी कर्तव्य)

साहसवतां प्रियं कर्तव्यम् ॥ ५३८ ॥

असत्यका विरोध करनेका सत्साहस करनेवालोंके असत्य विरोधमें सहयोगी बनो।

विवरण— असत्यविरोधियोंके साहसमें सहयोग देनेका साहस प्रदर्शन करो। सत्य या सम्मान-रक्षाके नामपर विपत्तिकी बाढको रोकनेमें छाती अड़ा देनेवाले सत्साहसी लोग समाजके प्राण होते हैं। समाजमें धर्मकी

रक्षा ऐसे ही लोगोंके द्वारा होती है। ऐसे लोगोंकी साहस प्रवृत्तिको दानमानादिसे सम्मानित करना समाज तथा राज्यका स्वहितकारी कर्तव्य है। जो लोग सत्यके बलसे बलवान् होकर भौतिक शक्तिका घमंड करनेवाले आततायियों या शत्रुओंका विरोध करनेको आगे आ खडे होते हैं और दुःसाहसी शत्रुओंके दुःसाहसोंके विघ्न बन जाते हैं ऐसे साहसियोंको सुख-सुविधा पहुँचाना, वे इस सेवायज्ञमें नष्ट हो जायँ तो उनके निराश्रित पारिवारिकोंका पालन-पोषण करना समाज या राज्यके विचारशील लोगोंका स्वोपकारक कर्तव्य है। साहसी लोगोंकी पूजा करना ही समाज-धर्म है।

अपनेको सत्यकी शक्तिसे अनन्त शक्तिमान मानकर असत्यका डटकर विरोध करना ही इस सूत्रके साहस शब्दका अर्थ है। सत्यकी सेवा करनेमें सम्पूर्ण संसारके विरोधी हो जानेपर भी उसका विरोध करके सत्यपर अकेले भी डटे रहना 'साहस' है। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो असत्यकी दासतामें अपना जीवन संकटमें डाल देते हैं। उनका असत्यकी दासता करते हुए जीवनको संकटमें डालना साहस नहीं है। किन्तु दुःसाहस या उन्मत्तता है।

(कर्तव्य अभी करो)

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत ॥ ५३९ ॥

मनुष्य कलका काम अभी करे।

विवरण— मनुष्य कर्तव्य करनेमें क्षणभरकी भी देर न करे। वह आये कामको फिरके लिये न टाल कर उसे तत्काल करे। कर्तव्यको उसके उपयुक्त समयपर करें, क्योंकि वह उसी समयका कर्तव्य है। समयपर कर्तव्य न करना कर्तव्यभ्रष्टता है। इसलिये कर्तव्यको तत्काल कर देनेमें ही मनुष्यका कल्याण है।

> आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः।
> क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्॥

लेना, देना तथा करना सूझते ही न कर लिया जाय तो काल इन तीनों कामोंका रस चूस लेता है और फिर ये काम होनेसे सदाके लिये रह जाते हैं।

अपराह्निकं पूर्वाह्न एव कर्तव्यम् ॥ ५४० ॥

मध्याह्नोत्तरका काम दिनके प्रथम भागमें ही कर लेना चाहिये।

विवरण— कर्तव्यको अगले क्षणके लिये न टालकर उसी क्षण करना चाहिये। यदि मनुष्य अवश्य कर्तव्य कार्यमें आलस्य करेगा और उसे फिर कभीके लिये टालेगा तो दूसरे समयके लिये दूसरे काम आ उपस्थित होंगे। तब इस टाले हुए कामके लिये कभी भी उचित समय न मिल सकनेसे यह काम हो ही न सकेगा।

(धर्म व्यावहारिक हो)

व्यवहारानुलोमो धर्मः ॥ ५४१ ॥

धर्मको व्यवहारमें आने योग्य या व्यवहारमें आनेवाला होना चाहिये।

विवरण— धर्मको व्यवहारकी रुकावट न बनकर उसका संशोधक, सुधारक, सहायक तथा मार्गदर्शक बनकर रहना चाहिये। धर्मका व्यावहारिक जीवनके साथ अभिन्न संबन्ध होना चाहिये।

स्वधर्म ही मनुष्यके व्यवहारमें प्रकट होता है। स्वधर्मका सत्यनिष्ठ मनुष्यके व्यवहारमें प्रकट होना अनिवार्य है। सत्यनिष्ठा ही मनुष्यका स्वधर्म है। अपने व्यवहारमें सत्यको प्रकट करना ही मनुष्यका स्वधर्म है।

धर्म लोकेच्छाका बनाया नहीं होता। लोकेच्छा सदा ही अंधी (अविवेकवती) होती है। धर्मका काम तो लोकेच्छापर नियंत्रण रखकर लोकेच्छाको सत्याभिमुख प्रवाहित करना है। इसलिये मनुष्य लोकेच्छाके अनुसार न चले। वह वे आचरण करे जिनसे मन कुमार्गसे रुके और समाजमें शान्ति तथा सुव्यवस्था रहे। जिस धर्मको व्यवहारमें लाना मनुष्य-शक्तिके बाहर हो वह धर्म अव्यवहार्य धर्मके रूपमें माननीय नहीं हो सकता। व्यवहारको सन्मार्गपर रखना ही तो धर्म है। सत्यनिष्ठा ही सन्मार्ग है।

सत्यनिष्ठा कभी भी मनुष्यकी शक्तिसे बाहर नहीं होती। मनुष्य सच्चे अर्थोंमें सत्यनिष्ठ होना चाहे और न होसके ऐसा कभी संभव नहीं है। मनुष्य अपनी प्रत्येक अवस्थामें सत्यपर आरूढ होनेमें अनन्त शक्तिमान है। सर्वोपायोंसे असत्यका विरोध करना ही सत्यका व्यावहारिक रूप है। असत्यके प्रति अत्यन्त असहिष्णुता ही सत्यका कठोर स्वभाव है। सत्यनिष्ठ लोग समाजकी शत्रु असत्यकी दास आसुरी शक्तिका विरोध करनेमें परिस्थितिके अनुसार जब जो उलटा-सीधा व्यवहार करते हैं वही सत्यनिष्ठा या धर्म होता है।

महाभारतमें धर्मके संशोधित रूप पर इस प्रकार विचार किया है—

धारणाद्धर्म इत्याहुर्न लोकचरितं चरेत्।

सामाजिक जीवनको सुव्यवस्थित रूप देकर धारण करनेवाला ही धर्म है। मनुष्य गतानुगतिक होकर (स्वार्थी जीवन अपनाकर) अधर्म न करे। मनुष्य स्वार्थी लोक-चरित्रका अंधा अनुकरण न करे। स्वार्थ समाजघाती व्याधि होनेसे अधर्म है। मनुष्यको समाजमें शान्ति तथा सुव्यवस्था रखनेवाले तथा मनको कुमार्गसे रोक रखनेवाले आचरण करने चाहिये।

(पुरुषपरीक्षा ही सर्वज्ञता)

सर्वज्ञता लोकज्ञता ॥ ५४२ ॥

अपनी सुतीक्ष्ण बुद्धिसे लोक-चरित्रको समझ जाना ही ज्ञान या सर्वज्ञता है।

विवरण— लोक-चरित्रके विषयमें किसी भ्रान्तिमें न रहना सर्वज्ञता है। किसीसे धोका न खाना, किसी अविश्वास्यको विश्वास्य न मानना यही मनुष्य-बुद्धिकी जीवनसे सम्बध रखनेवाली सर्वज्ञता है। लोगोंके व्यवहारको सत्यकी कसौटीपर परखने लगना, दुष्टोंके दुष्प्रभावसे बच जाना तथा श्रेष्ठोंके सुप्रभावसे लाभ उठालेना ही लोक-चरित्रके विषयमें ज्ञान पानेकी कुशलता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति स्वयं ही एक कसौटी होता है। वह स्वयं ही लोक-

चरित्रकी सत्यासत्य-परीक्षा करनेकी कसौटी बनकर रहता है। वह स्वयं सत्यको अपना स्वरूप जानकर सर्वज्ञ बन जाता और संसारको परखा करता है। ज्ञान ही अज्ञानसे मुक्त रहने या रखनेवाली सर्वज्ञता है।

(मानवको न पहचाननेवाला मूढ)

शास्त्रज्ञोऽप्यलोकज्ञो मूर्खतुल्यः ॥ ५४३ ॥

लोक-चरित्रको न समझनेवाला शास्त्रका उधारा ज्ञान रखनेवाला मानव मूर्ख ही रहता है।

विवरण— ज्ञान शास्त्रोंके पन्नोंसे उधारा लेनेकी वस्तु नहीं है। व्यावहारिक ज्ञान तो सत्यनिष्ठ बनकर अपने ही अनुभवके आधारपर प्राप्त होता है। लोकज्ञ बन जाना ही ज्ञानी बन जाना है। लोकज्ञताको प्रयोजनीय तथा प्रधान बताना ही सूत्रका उद्देश्य है। व्यवहारमें लोकज्ञताका महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोगोंको शास्त्राध्ययनसे रोकना इस सूत्रका उद्देश्य नहीं है।

पाठान्तर— **शास्त्रज्ञोऽप्यलोकज्ञो मूर्खश्चनन्यः।**

अनन्य शब्द तुल्यार्थक है। अर्थ समान है।

(शास्त्रकी उपयोगिता)

शास्त्रप्रयोजनं तत्त्वदर्शनम् ॥ ५४४ ॥

तत्त्वदर्शन अर्थात् लौकिक अलौकिक पदार्थोंके याथार्थ्य या रहस्यका पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाना या करा देना ही शास्त्रकी उपयोगिता है।

विवरण— तत्त्वदर्शन न होनेपर शास्त्रपाठ तीन कौडीका रह जाता है। कर्तव्याकर्तव्य-निर्णयकी कुशलता ही तत्त्वज्ञान है। अपने जीवनको सुखमय बनाना ही तत्त्व या मानव-जीवनका लक्ष्य है। ज्ञानके द्वारा दुःखातीत स्थितिको अपनाये रहना ही शास्त्र-पाठका उद्देश्य है और अपने जीवनपर सत्यका शासन बनाये रखना ही शास्त्रज्ञता है। शास्त्रनामक

ग्रन्थोंको रट लेना या उनका अंधानुगामी होना शास्त्रज्ञता नहीं है किन्तु अपनी इन्द्रियोंके पैरोंमें शमकी भारी श्रृंखला डाल देना ही सच्ची शास्त्रज्ञता है ।

'देवो भूत्वा देवं यजेत्' जैसे देव बने बिना देवपूजन अशक्य है, इसी प्रकार जबतक शास्त्रपाठी लोग, अपनी तपस्या, संयम, विचारशीलता तथा इन्द्रिय-निग्रह आदि उदार स्वभावोंके द्वारा शास्त्रकारकी महत्वपूर्ण मानसिक स्थिति लेकर जीवन बिताना नहीं सीखेंगे या जीवन नहीं बितायेंगे तबतक उन्हें शास्त्रोंकी तोतारटनसे कुछ नहीं मिलना है । निरुक्तकारने इस प्रसंगमें बडी मार्मिक बात कही है—

'नैतेषु ज्ञानमस्त्यनृषेरतपसो वा ।'

वेदोंमें उन लोगोंके लिये कोई भी ज्ञान नहीं है जो स्वयं मंत्रद्रष्टा ऋषियों ही जैसे तपःपूत ऋषि और उन्हीं जैसे तपस्या परायण सन्त नहीं हैं । निरुक्तकार कहना चाहता है कि वेदोंमेंसे केवल तपस्वियोंको ही कुछ प्राप्त हो सकता है । शास्त्रका मर्मज्ञ बननेके लिये पवित्र वातावरणमें रहना तथा अपने वातावरणको पवित्र बनाकर रखना आवश्यक है ।

(तत्वज्ञानका अवश्यंभावी फल)

तत्त्वज्ञानं कार्यमेव प्रकाशयति ॥ ५४५ ॥

तत्त्वज्ञान अर्थात् कार्याकार्य-परिचय या सदसद्विचारकी शक्ति कार्य (कर्तव्यके स्वरूप) को ज्ञानज्योतिसे प्रकाशित कर देती है ।

विवरण— तत्वज्ञान (अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय करनेकी कुशलता) मनुष्यको व्यावहारिक जीवनका स्वरूप बतला देता है कि वह कैसा होना चाहिये । किस समय, किसको, कहां, क्या, क्यों करना चाहिये ये सब बात मनुष्यका तत्त्वज्ञान रूपी हृदयस्थ गुरु ही उसे समझाता है । विचारशील लोग जो कोई काम करते हैं उन्हें उसकी कर्तव्यताके सम्बन्धमें

कोई भी संदेह नहीं रहता। वे लोग अपने कर्तव्यके सम्बन्धमें संदिहानावस्थामें नहीं रहते। कर्तव्य-पालन ही कर्तव्यपालनकी सफलता है। कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति फलाकांक्षा-रहित होकर भौतिक शुभाशुभ परिणामके सम्बन्धमें निरपेक्ष होकर, अपने कर्तव्यको पालनेके सन्तोष रूपी फलको या यों कहें कि कर्तव्यकी प्रेरणा देनेवाले शुद्ध भावना रूपी फलको पहले ही से अपनी मुट्ठीमें बैठा हुआ पाकर निःसंकोच होकर जीवनसंग्रामके सिद्धहस्त विजयी वीर बन जाते हैं और कर्तव्य-पालनका व्रत लिये रहते हैं।

व्यवहारमें सत्यका तो विजयी रहना और असत्यका पराजित रहना ही कर्तव्याकर्तव्य-निर्णयकी कुशलताका परिचायक है। तत्त्वज्ञानका काम मनुष्यको अकार्यसे रोकते रहना तथा कर्ताको संदिहान न रहने देना है। व्यावहारिक जीवनमें भ्रान्ति बने रहना कर्तव्य-निर्णयकी अकुशलताका ही परिचायक होता है। असत्यकी पहचान सत्यको अपना चुकनेपर ही होती है। सत्यको अपना चुकनेसे पहले असत्य नहीं पहचाना जाता। असत्यको पहचान चुकनेपर मनुष्यको स्वभावसे ही उसे त्यागनेकी कुशलता प्राप्त हो जाती है। सत्यको अपना चुकना ही तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञके व्यवहारमें शान्ति, सौमनस्य, दयालुता, कृतज्ञता आदि गुणोंकी लंबी पंक्ति होती है। उसमें अशान्ति नहीं रहती। जिसके व्यवहारमें कर्तव्यभ्रष्टता, अशान्ति, गरमी, उत्तेजना, संदेह और कर्तव्य-मूढता नहीं है वही तत्त्वज्ञ है।

अथवा— तत्त्वज्ञान सफल कार्योंको ही कर्तव्य बताता है। वह निष्फल अकरणीय कर्मोंको कर्तव्य नहीं बताता।

(व्यवहारको सुखद बनानेका उपाय)

व्यवहारे पक्षपातो न कार्यः ॥ ५४६ ॥

व्यवहारमें पक्षपात नहीं करना चाहिये।

विवरण— व्यवहार सत्यानुकूल होनेसे ही सुखद होता है। सत्य मनकी निष्पक्ष स्थिति है। इन्द्रियोंकी अभिलाषाओं या भौतिक लाभोंसे

अप्रभावित रहना निष्पक्षता है । व्यवहारमें जितेन्द्रियता, निःस्वार्थता या सत्यसेवाको आधार बना लेना ही पक्षपात-रहित होना है । सत्यकी रक्षा पक्षपातरहित हो जानेसे ही होती है । निष्पक्ष व्यवहार न करनेसे अपना तथा अपने समाज दोनों ही का अनिष्ट होता तथा समाजमें दुर्नीतिकी वृद्धि होती है ।

पाठान्तर— अपक्षपातेन व्यवहारः कर्तव्यः ।

(व्यवहारकी धर्मसे मुख्यता अर्थात् व्यवहारअंगी धर्म उसका अंग)

धर्मादपि व्यवहारो गरीयान् ॥ ५४७ ॥

व्यवहार धर्मसे भी श्रेष्ठ या मुख्य है ।

विवरण— अव्यवहार्य धर्म धर्म ही नहीं है । धर्मको व्यवहारका रूप मिल जाना अर्थात् धर्माचरण तथा व्यवहारका एक बन जाना दूसरे शब्दोंमें व्यवहारका ही परमार्थ बन जाना या सकल प्रवृत्तियोंका धर्ममय बन जाना ही धर्मकी सार्थकता है । व्यवहार ही धर्मका कर्मक्षेत्र या आधारभूमि है । व्यवहार ही धर्मको प्रकट होनेका अवसर देता है । व्यवहारके लिए ही धर्म है । व्यवहारमें धर्मका उपयोग न होना धर्मकी व्यर्थता है । सत्यनिष्ठा ही मनुष्यका धर्म या स्वधर्म है । व्यवहारमें सत्यको प्रकट करना ही मनुष्यकी सत्यनिष्ठा है । यदि मनुष्यके व्यवहारमें सत्य प्रकट न हों, तो मान लो कि असत्य ही उसके जीवनमें प्रबलहो कर रह रहा है । जीवनमें असत्यके प्रबल होनेसे मनुष्यका अधार्मिक होना प्रमाणित होता है ।

वास्तवमें देखा जाय तो लेखकके आधार गणनापट्टके समान व्यवहार ही धर्मका संरक्षक क्षेत्र है । धर्मको व्यवहारमें ही आत्मलाभ होता है । जो धर्म व्यवहारमें उपेक्षित रहता है, जो धर्म व्यवहारभूमिमें उतरनेका साहस नहीं करता, वह धर्म न होकर अधर्मका ही आवरणमात्र होता है । वह अधर्मको ही खुलकर खेलनेकी आज्ञा देनेवाला असत्यका ही चाटुकार बनकर रहनेवाला नपुंसक, निर्वीर्य, अव्यावहारिक, आसुरी धर्म होता है । धर्मको

व्यवहार-बहिर्भूत रखनेवाली आसुरी आध्यात्मिकता ही मनुष्यता-घाती आसुरी राजकी जननी है। मनको अभ्रान्त, अव्यर्थ आत्मशक्तिसे जितेन्द्रिय बने रहनेकी व्यवहार-कुशलता हो तो आध्यात्मिकता है। इस सीधीसी सरल बातको मूढतासे दृष्टि बहिर्भूत रखकर प्रवंचनामूलक जप, तप, भजन, कीर्तन, ध्यानधारणा, योगयज्ञ, समाधि आदि शारीरिक जटिल भ्रान्त प्रयत्नोंसे व्यर्थता वरण करते हुए अज्ञात अलोक ईश्वरकृपाका नपुंसक भिखारी बनकर, मनुष्यताहीन असुर बनना ही आसुरी आध्यात्मिकताका ध्येय है।

(व्यवहारका साक्षी)

आत्मा हि व्यवहारस्य साक्षी ॥ ५४८ ॥

आत्मा ही व्यवहारका साक्षी है।

विवरण — सत्य ही मनुष्यका आत्मा या स्वरूप है। मनुष्य अपने इस सत्यस्वरूपकी कसौटीपर कसकर ही कर्तव्याकर्तव्यका विचार तथा निर्णय किया करता है। मनुष्यका अन्तरात्मा या उसके भीतर रहनेवाला सत्य, जिस बातको कर्तव्यके रूपमें स्वीकार कर लेता है, उसे व्यवहारमें लाना उसके लिये अनिवार्य हो जाता है। उसे प्राणोंके नाशकी शंका तक भी कर्तव्यसे च्युत नहीं कर सकती। सत्यके नामपर हुए ऐतिहासिक बलिदान इस बातके साक्षी हैं। यदि मनुष्य व्यवहारमें सत्यकी उपेक्षा कर देता है तो उसीका आत्मा उसे सहस्रधा निन्दित करने लगता है। मनुष्य स्वयं ही अपनी परायी व्यवहारशुद्धिकी कसौटी है। मनुष्यको व्यवहारकी श्रेष्ठताका स्वरूप किसी दूसरेसे नहीं सीखना है। जैसे मछलीके बच्चोंको तैरना नहीं सिखाया जाता, इसी प्रकार मनुष्यको व्यवहारकी सच्चाई सिखाई नहीं जाती। वह उसे स्वभावसे आती है। बाह्यशिक्षा उसीमें परिष्कार करनेवाली हो सकती है।

अथवा— आत्मा अर्थात् (आत्मा शब्दको [आत्मवान् राजा] के समान मनका वाचक मान लेनेपर) मनुष्यका मन ही उसके समस्त व्यवहारोंकी सच्चाई या झुठाईका साक्षी है।

मनुष्य सारे संसारको धोका दे सकता है परन्तु अपने मनको नहीं ठग सकता। मनुष्यका मन उसके कर्मोंके औचित्य अनौचित्यके निर्णयका ऐसा न्यायालय है जिस न्यायालयकी आँखोंमें धूल नहीं झोंकी जा सकती। मनुष्यका मन उसकी प्रत्येक चेष्टा और उस चेष्टाकी प्रेरक भावनाओंसे पूर्ण परिचित रहता है।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्तद्यत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

जिस कामको करते हुए मानवके अन्तरात्माको सात्विक, सन्तोष और निःस्वार्थ हर्ष हो उसे यत्नसे करे तथा संतोषहीन, सात्विक, हर्षरहित, चित्त चांचल्यकारक, भीतिजनक, लज्जावह काम न करे।

(संसारभरका साक्षी)

सर्वसाक्षीह्यात्मा ॥ ५४९ ॥

सत्यस्वरूप आत्मा इस सकल जगत्के या इस मानवके जीवन व्यापी समस्त चरित्रको या तो सत्य होनेका प्रमाणपत्र देकर साधुवाद देने या असत्य प्रमाणित करके धिक्कारनेके लिये मानव हृदयमें साक्षी अर्थात् तटस्थद्रष्टा बनकर बैठा है।

विवरण— बाहरवाला साक्षी चाहे सर्वत्र न मिल सके परन्तु यह आत्मारूपी विश्वव्यापी साक्षी तो सदा सर्वत्र उपस्थित रहता है।

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम्॥ १॥
मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीह नः।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ २॥
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृदये पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥ ३॥

अपना आत्मा ही अपना साक्षी तथा अपनी गति है। मनुष्यको इसके अतिरिक्त और किसीको भी नहीं पाना है। मनुष्य! तू मनुष्योंके सर्वोत्तम

साक्षी अपने आत्माका अपमान अवहेलना या उपेक्षा मत कर ॥ १ ॥ पापी लोग समझते हैं कि हमें कोई नहीं देखता। पापी लोग जाने कि उन्हें देवता और उन्हींका भीतरवाला पुरुष देख रहा है ॥ २ ॥ ओ भले मानस! तू जो अपने आपको अकेला समझकर पापमें कूद पड़ना चाहता है यह तेरी भयंकर भूल है। तू अकेला कभी भी नहीं है। तेरे भीतर पाप-पुण्य दोनोंका द्रष्टा एक मुनि बैठा है। वह तुझे दिन-रात आठ पहर देख रहा है ॥ ३ ॥

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गंगां मा कुरून् व्रज ॥ १ ॥
यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ २ ॥

ओ मानव! तेरे हृदयमें जो वैवस्वत यम तेरा हृदयेश बनकर तेरे कर्मोंकी साक्षी लेनेके लिये बैठा है उससे यदि तेरा उसका कोई विवाद नहीं है, यदि उसे तेरा कोई ऐसा पाप हाथ नहीं आता कि जिसपर वह तुझे टोक सके तो तू निष्पाप और धन्य है। अब तुझे पाप-नाशके लिये गंगा या कुरुक्षेत्र जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिस मनुष्यके कोई बात मुँहसे निकालनेपर उसकी गुप्ततम भावनाओं तकको भली प्रकार जाननेवाला अन्तरात्मा शंकित नहीं होता विद्वान् लोग इस संसारमें उससे श्रेष्ठ किसी पुरुषको नहीं जानते। विद्वान् लोग उसे पुरुषोत्तम कहते हैं। ऐसा मानव तो मानव रूपधारी परब्रह्म है। उसके देहमें साक्षात् नारायण मानव-लीला करते हैं।

पाठान्तर— सत्यसाक्षी ह्यात्मा।

आत्मा सबसे सच्चा साक्षी है।

(साक्षीका धर्म)

न स्यात् कूटसाक्षी ॥ ५५० ॥

मनुष्य मिथ्यापक्षका समर्थक साक्षी न बने।

विवरण— कूटसाक्षी बननेसे सत्यका आच्छादन, परवंचन, समाजगर्हा, तथा आत्मग्लानि होती है। जो मनुष्य सच्ची घटनाको जानता हुआ भी

साक्ष्य देनेसे बचता है वह भी कूटसाक्षी माना जाकर कूटसाक्षीके ही समान दण्डनीय होता है। यही बात याज्ञवल्क्यने कही है—

न ददाति हि यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः।
स कूटसाक्षिणां पापैः तुल्यो दण्डेन चैव हि ॥

महाभारतमें भी कहा है—

यश्च कार्यार्थतत्त्वज्ञो जानन्नपि न भाषते।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः ॥

जो सच्ची बात जानता हुआ भी नहीं बताता उसे भी वही पाप लग जाता है जो साक्षात् पापीको लगता है। वास्तविक बातको निरर्थक बना डालनेवाली वक्र रीतिसे कहनेवाला साक्षी भी कूटसाक्षी कहाता है। साक्षी लोग मिथ्या साक्षी, गूढ साक्षी आदि अनेक प्रकारके होते हैं। मनुके सातवें अध्याय तथा व्यवहार तत्त्वमें इसका सविस्तर वर्णन है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः। (ईशावास्य)

अपने आत्माका घात करने अर्थात् अपने मनकी सच्ची वाणीको जान-बूझकर रोकनेवाले लोग घोर अज्ञानान्धकारमें डूबे हुए लोग हैं।

सच्ची साक्षी देनेसे बचना तो आज समाजकी साधारण मनोदशा बन गई है। लोग सच्ची साक्षी देना अपना कर्तव्य ही नहीं समझते। यह मानवकी कैसी हीनता है कि लोग सत्यको विजय दिलानेमें उल्लास अनुभव नहीं करते। यह उससे भी बडे दुःखकी बात है कि समाजमें मिथ्या साक्षी देनेका एक व्यवसाय बन गया है। मिथ्या साक्षी देनेवाले लोग आगे बढकर साक्षी देते और इस व्यवसायसे अनुचित भौतिक लाभ भी उठाते हैं।

इस सूत्रमें मिथ्या साक्षी देनेकी प्रवृत्तिको निन्दित ठहराया गया है। परन्तु सच्ची साक्षी न देनेके कारणोंपर प्रकाश नहीं डाला गया। जो लोग सच्ची साक्षी देनेसे बचते हैं, आइये उनकी मनोदशाका विश्लेषण करके

देखें। वर्तमान न्यायालयों (प्रचलित अदालतों) में अनैतिकताका वातावरण है यह सर्वविश्रुत तथा सर्वसम्मत बात है। जो लोग वर्तमान न्यायालयों (या अदालतों) के संपर्कमें आते हैं, उन सबका अपने स्वाभिमान तथा अपनी स्वाभाविक सत्यनिष्ठा पर पग-पगपर चोट आनेका अत्यन्त कटु अनुभव है। यों तो सत्यनिष्ठके लिये सच्ची साक्षी देना सुखकर कर्तव्य है, परन्तु जिन न्यायालयों (अदालतों) में सत्यका अपमान करनेका ही सुदृढ प्रबन्ध हो, जहाँ स्वयं अदालत सत्यको अपमानित करके मिथ्याको महत्त्व देनेके लिए तुली हुई हो और न्यायके सिरपर अपने स्वेच्छाचारको बैठा रखा हो तथा न्यायार्थीके मानवीय उचित अधिकारको पददलित करके सब प्रकारका प्रमाद, आलस्य और दुराग्रह करनेके लिए स्वतंत्र हो जहां पुलिस नाना प्रकारके अनुचित उपायोंसे मिथ्या प्रमाण सजाकर अघटित अभियोग प्रस्तुत करनेमें लगी रहती हो, वहाँ पुलिसके तथा घमंडी अदालतके संपर्कमें आना सत्पुरुषोंके सिद्धांतके विरुद्ध हुए बिना नहीं रहता।

सत्य साक्षी देनेका आग्रह रखनेवाले सत्पुरुषोंको जबतक न्यायालयकी पवित्रता, पुलिसकी कर्तव्यनिष्ठा तथा न्यायालयकी कार्यवाहियोंमें अपनी सम्मान-रक्षाका पूर्ण सन्तोष न मिले, तबतक सत्य साक्षी देनेकी अभिलाषा रखनेवालोंको सत्य (सचाई) की विजयके सम्बन्धमें निश्चिन्तता कभी भी नहीं हो सकती। इसलिये मनुष्यको जानना चाहिये कि सत्यको निश्चित विजय दिलानेवाला न्यायालय ही सच्चा न्यायालय है। जो लोग ऐसे लब्धप्रतिष्ठ न्यायालयोंमें सत्य साक्षी देनेसे बचें उनका बचना मिथ्या पक्षका समर्थन रूपी दंडनीय अपराध है। सच्चे न्यायालयोंमें ही सत्य कहा जाय इसीमें सच्ची साक्षीकी सार्थकता है।

पाठान्तर— न च कूटसाक्षी स्यात्।

(कूटसाक्षीकी हानि)

कूटसाक्षिणो नरके पतन्ति ॥ ५५१ ॥

मिथ्याको सत्य बना डालनेवाली साक्षी देनेवाले अज्ञानी

मूढ लोग मिथ्याभाषणरूपी कलंकको ही सुख समझकर अनन्त दुःख-जाल-रूपी नरकमें फँसे पडे रहते हैं।

विवरण— कूटसाक्षी लोग मिथ्याचारको ही अपने जीवनका सिद्धान्त बना लेते हैं।

(प्रत्येक व्यवहारका अपने ऊपर प्रभाव)

(अधिक सूत्र) न कश्चिन्नाशयति समुद्धरति वा।

किसीके विरुद्ध या अनुकूल साक्षी देनेवाला कोई भी किसी दूसरेका नाश या उद्धार नहीं करता।

विवरण— मनुष्य सत्य या मिथ्याका आश्रय करके स्वयं ही अपना उद्धार या नाश कर लेता है। मनुष्य कूटसाक्षी देकर दूसरेका नाश या उद्धार नहीं करता, किन्तु अपना ही सर्वनाश कर लेता है। जिसके विरुद्ध या अनुकूल मिथ्या साक्षी दी जाती है उसका हानि-लाभ उसके अपने ही आचरणोंपर निर्भर होता है। मिथ्या साक्षीसे दूसरेका निग्रह-अनुग्रह करानेवाले वास्तवमें अपना ही निग्रह-अनुग्रह कर लेते हैं। मनुष्यके सामने दूसरेकी कोई समस्या ही नहीं है। उसे ये नहीं सोचना है कि दूसरेका क्या बनेगा ? उसे तो यही सोचना है कि इस कुकर्म या सुकर्मसे मेरा क्या बनना है ? उसे तो अपनी ही दृष्टिसे अपना कर्तव्य करना चाहिये। इसीसे उसका कल्याण होना है।

(पापीको देखनेवाली प्रकृतिसे साक्षी लो)

प्रच्छन्नपापानां साक्षिणो महाभूतानि ॥ ५५२ ॥

छिपाकर किये हुए पापोंकी साक्षिता भौतिक परिस्थितिमें संलग्न रहती है।

विवरण— पापी अवश्य ही समाजकी आंख बचा कर पाप करता है। समाजकी आंखोंसे चाहे पाप बचाया जा सके परन्तु प्रकृतिकी आंखोंको

बचाकर तो पाप नहीं किया जा सकता। पाप स्वयं ही प्रकृतिके शान्त वातावरणका विरोध करता है। प्रकृतिमें कहीं न कहीं पापकी छाप लग ही जाती है। यदि पापीको दण्ड देनेवाले लोग प्राकृतिक परिस्थितिका उचित ढंगसे गम्भीर निरीक्षण, परीक्षण और अध्ययन करें तो पापीके पापको प्रकाशमें ला सकते हैं और उसे अपराधी सिद्ध करके दण्ड भी दे सकते हैं। प्राकृतिक नियमोंका भंग करनेवाले पापी लोग प्रकृतिको अपना शत्रु बना लेते हैं। प्रकृति भी अपराधीपर रुष्ट हो जाती और उसका साथ देना बन्द कर देती है। प्रकृति स्वयं चाहने लगती है कि कोई सतर्क राज्य-व्यवस्था हो तो मैं इस अपराधीको पकड़वा दूं। प्रकृति दण्डदाताकी सहायक बन जाती है। वह दण्डदाताको केवल निमित्तमात्र बनाकर स्वयं ही पापीको दण्ड देनेके लिये उतावली हुई फिरने लगती है। प्रकृति स्वयं ही दण्डदात्री संस्था है।

प्रच्छन्न पापोंके कुछ न कुछ भौतिक साधन और कोई न कोई भौतिक परिस्थिति होती है। पापस्थलके आसपासके पंचभूतोंपर या कर्ताकी मुखाकृति, मुखभंगी तथा इन्द्रिय-चेष्टाओंपर पाप-कर्मके कोई न कोई चिह्न रह जाना अनिवार्य होता है। गुप्त पापोंके स्थलोंके सूक्ष्म पाप चिह्नोंकी एक सांकेतिक लिपि होती है। मननशील गुप्तचर विभागको इस सांकेतिक लिपिका पंडित होना चाहिये। वह यदि सतर्क हो तो उसकी सूक्ष्मेक्षिकासे प्रच्छन्न पाप भी सुनिश्चित रूपमें पहचाने जा सकते हैं और देशमें गुप्त पापोंको पूर्णतया रोका जा सकता है। परन्तु यह काम परिश्रम, अवधान तथा पूर्ण सतर्कता रखनेवाले आन्तरिक रक्षा-विभागका है। गुप्त पाप इस विभागकी कर्तव्यहीनतासे ही अज्ञात और अदंडित रहकर देशमें पापके वर्धक और प्रोत्साहक बन जाते हैं। यदि कोई राज्य-व्यवस्था पापका पता न चला सकनेवाले अधिकारियोंको किसी प्रकारका दण्ड मिलनेकी व्यवस्था कर दे और अत्याचारितकी क्षतिपूर्ति राजकोषसे करना नियम बना ले इस प्रकारके पाप निश्चित रूपमें देशमेंसे रोके जा सकते हैं।

जब कि संसारका कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जो मनुष्यके पुरुषार्थसे सिद्ध न हो सके और जब कि प्रकृति दण्ड दाताका पूरा-पूरा साथ देनेको प्रस्तुत है, तब पापीके अपराधको प्रकाशमें लाकर उसके सिरपर समाजका दण्ड रख देना पुरुषार्थसे बाहर कदापि नहीं हो सकता। पापीके प्रच्छन्न पापोंको भी दंडित कर सकना विशेष रूपसे उस अवस्थामें तो किसी भी प्रकार पुरुषार्थसे बाहर नहीं हो सकता जब कि पापी इकला-दुकला हो और सारे समाजका बल खुल्लम-खुल्ला दण्डदाताको पाप खोजनेकी पूरी सुविधा देकर उसका पूरा साथ देनेको प्रस्तुत हो।

यदि प्रच्छन्न पापोंका समाजकी दृष्टिमें आना असंभव मान लिया जाय तो पापियोंको दण्ड मिलना भी असंभव मान लेना पड़ेगा। जब कि प्रजा-पालनकी कला ही दण्डनीति है तब पापियोंको दण्ड न मिल सकना राज्य-व्यवस्थाका निकम्मापन मानना पड़ेगा। राज्य-संस्थाकी दण्डनीतिने ही तो समाजमें शान्तिकी स्थापना करनी है। आप सोचिये तो सही कि प्रजाका जो व्यक्ति प्रच्छन्न पापका आखेट बना है और उसपर अत्याचार करनेवाले पापीको दण्ड नहीं दिया जा सका है, तो शान्ति-स्थापनाके नामपर राष्ट्रसे बड़े-बड़े वेतन डकार जानेवाले राजनीतिके पंडित लोग बतायें कि राज्य-व्यवस्था उस अत्याचारितसे आजतक जो रक्षा तथा शान्ति स्थापनाके नाम पर कर लेती आ रही है और भविष्यमें लेती रहना चाहती है उस कर-ग्रहणका क्या औचित्य है? नहीं, नहीं, हमें कहने दीजिये कि राज्यव्यवस्था जिन अत्याचारितोंको न्यायोचित सान्त्वना और हानिका विनिमय न दे सके उसे अत्याचारितोंसे कर ग्रहण करनेका कोई औचित्य नहीं है। भारतीय राजनीति चाहती है कि राष्ट्रवासियोंसे जीवन बीमेकी किस्तोंके रूपमें ही कर लिया जाना चाहिये।

राष्ट्रकी दण्डनीति पूर्ण सशक्त होनी चाहिये। यदि दण्डनीति सशक्त हो तो पापियोंके पापोंको किसी भी रूपमें अदंडित नहीं रह जाना चाहिये। आजकी राज्यव्यवस्थाने शांतिरक्षक पुलिसको तथा उस विभागके कर्मचारि-योंको नागरिककी ओरसे की हुई अशांतिकी शिकायतपर हस्तक्षेप न करके

तटस्थ रहनेकी आज्ञा देकर दंडनीतिका भंग किया और समाजमें पापको प्रोत्साहन दे रही है। जब कि राष्ट्रमें दण्ड–व्यवस्थाके नामपर लोगोंसे भरपूर कर लिये जा रहे हों और रक्षाके नामपर पूरा व्यय किया जा रहा हो तब भी पापका अज्ञात तथा अदण्डित रह जाना राज्यसंस्थाकी हीनताका सूचक मानना पड़ता है। पापोंको पता न चला सकनेवाली और पापियोंको दण्डित न कर सकनेवाली राज्यव्यवस्थाको अपने हाथोंमें शासनसूत्र पकडे रहनेका कोई औचित्य नहीं है। राज्यसंस्था बनाई ही इस कामके लिये है कि दण्डनीतिके प्रयोगसे भौतिक परिस्थितिकी साक्षीसे प्रच्छन्न पापोंको प्रकाशमें लाये। मात्स्यन्यायको रोकनेके लिये ही तो राज्यसंस्था बनाई जाती है। नहीं तो राज्यसंस्था राष्ट्रके सिरपर व्यर्थका व्यय बन जाती है।

समाजकी पवित्रताकी रक्षा करना राज्यव्यवस्थाका मुख्य कर्तव्य है। यदि राज्यव्यवस्था प्रच्छन्न पापियोंका पता न लगा सके और उन्हें दण्डित न कर सके तो ऐसी राज्यसंस्था या ऐसे राज्य–कर्मचारीको तत्काल पदच्युतिका दण्ड देकर हटा दिया जाना चाहिये। प्रच्छन्न पापोंको अदण्डित न रहने देनेके लिये राष्ट्रमें त्रुटि रहित सुयोग्य और सतर्कतासे पूर्ण कठोर अनिवार्य व्यवस्था होनी चाहिये।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ (मनु)

दण्ड ही प्रजापर शासन करता है, दण्ड ही उनकी रक्षा करता है। दण्ड तब भी जागता है जब कि सारा संसार सोता है।

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।

संसार दण्डभयसे सुमार्गपर रहता है बिना दण्डभयके सुमार्गपर चलनेवाले लोग तो करोडोंमें कोई होते हैं।

(पाप पापीके ही मुखसे स्वीकार कराया जा सकता है)

आत्मनः पापमात्मैव प्रकाशयति ॥ ५५३ ॥

पापी अपने पापको स्वयं ही प्रकाशित कर देता है ।

विवरण— मनुष्य पाप करनेसे पहले अपने सत्यस्वरूप या सत्यनारायणको अस्वीकार कर चुकता है । वह अपने जीवनमें सत्यनारायणको अस्वीकार कर चुकनेके अनन्तर पापाचरण करनेपर उद्यत होता है । फिर वह पापको स्थूल जगत्की दृष्टिसे गुप्त रखकर समाज-व्यवस्थासे मिलनेवाले दण्डसे बचना चाहता और कभी-कभी बच भी जाता है । समाज-व्यवस्थाकी ओरसे मिलनेवाले पापके दण्डसे बच जानेपर भी उसके पापका प्रत्यक्षदर्शी साक्षी उसका जड भी पाँचभौतिक देह अपने भीतर पापके प्रमाणोंका संग्रह करके रखता है । उस देहकी अधिष्ठात्री देवी चेतनाने उस पापको प्रत्यक्ष देखा होता है । उस जीवित देहका देही ही उसके पापका दण्ड उसे पगपगपर देते रहनेके लिये उस देहमें चक्षुष्मान होकर रहता और उसे धिक्कारता रहता है । उस देहका देही उसके पापकी मलिनतासे उसके मनमें आत्मग्लानि उत्पन्न किये विना नहीं रहता । देही मानव-मनका रूप लेकर सत्-असत्, पुण्य-पाप, सुखदुःखको अपनानेमें स्वतंत्र होता है । अज्ञानके वश हो जाना, पुण्य त्याग देना, पापको अपनालेना, पवित्रताकी स्वाभाविक आकांक्षाको पददलित होता देखना देहीके स्वभावके विरुद्ध होता है । इस प्रकार पापीका अपना ही पापस्वभाव उसीके लिये अन्तःशल्य बन जाता है । पतित मनको अपवित्रता रूपी वह वृश्चिक दंशन सब समय भुगतना पडता है । पतित मनके पास इस वृश्चिक दंशनसे बचनेका कोई उपाय शेष नहीं रहता । मनुष्य पाप भी कर ले और अशान्त भी न हो यह कभी संभव नहीं है । कोई भी जीवित देह शांतिके अधिकारको भी त्याग दे और अशान्ति रूपी दुःखसे भी बचा रहे यह संभव नहीं है ।

आइये अब इसपर दूसरी दृष्टिसे विचार करें— सब जानते हैं कि पाप समाजकी दृष्टिको बचाकर किया जाता है । परन्तु वह जिस समाजकी दृष्टि बचाकर किया जाता है उसीको अपना आखेट भी बनाता है । जो पाप सशक्त समाजकी दृष्टिसे बचाकर किया जाता है वही पाप अशक्त समाजको अपना आखेट बनाता है । पापाचरणकी कोई व्यक्तिगत घटना चाहे कभी समाजके सामने न भी आ सके तो भी पापीका समाज-कल्याण-घाती पापी स्वभाव समाजसे छिपा नहीं रहता । समाज प्रच्छन्न पापियोंको पापी समझ ही जाता है । पापीकी पहुंचाई हुई हानि तथा उसके हानिकारक प्रभावको प्रत्यक्ष देखनेवाला समाज उसे दण्डित करनेका यथाशक्ति प्रयत्न भी करता है । कभी कभी दण्डसे बच जानेपर भी पापी अपने आचरणोंमें समाजकी घृणाका पात्र तो अनिवार्य रूपसे बन जाता है ।

समाजकी घृणाका पात्र हो जाना कुछ न्यून दण्ड नहीं है । पापीका पाप चाहे उसे दण्ड दिलवानेमें अपराध (चूक) कर जाये परन्तु उसका पापी स्वभाव उसे समाजसे यह अनिवार्य दण्ड दिलाये बिना नहीं रहता । पाप करनेवाला पापी चाहे अपने पापकी घटनाको समाजकी दृष्टिमें न आने देनेमें पूर्ण सफल हो जाय, परन्तु वह अपने चित्तकी पाप-प्रेरक मलिनताको अपने पापी स्वभावके रूपमें प्रकट होते रहनेसे नहीं रोक सकता । मनुष्य छिपकर पाप भी करता रहे और अपने स्वभावको पापमुक्त संतोंवाला भी रख सके यह किसी भी प्रकार संभव नहीं है । यह निश्चित है कि मलिन स्वभाववालेका हृदय पहलेसे ही मलिन हो चुका होता है । मलिन हृदयवालेके आचरणोंका मलिन होना अनिवार्य होता है ।

पापी मनुष्य अपने भीतर बाहर कहीं भी अनिंदित नहीं रह सकता । पापीको बाह्यमें अनिंदित रहनेकी कोई स्थिति नहीं है । मनुष्यकी पाप वासना भस्माच्छन्न अग्निके समान पापीके हृदयमें सुलगती रहती और अपनी पापमग्नावस्थाको अपनी आंखोंके सामने लाती ही रहती है । मनुष्य सारे संसारकी आंखोंमें धूल झोंकनेका दुःसाहस तो कर सकता है परन्तु

वह अपने पापको अपने भीतर बैठे हुए पुण्य-पापेक्षिता आत्ममुनिसे छिपा नहीं सकता। पापको जब तक समूल उखाड नहीं फेंका जाता तब तक वह पापीका तोदन करना नहीं छोडता। पापीका आचरण ही उसे अपने हृदय तथा समाजमें निन्दित घृणित स्थान दे देता है। अपनी तथा समाजकी दृष्टिमें घृणित हो जाना भी पापीका दण्ड पा जाना होता है। यदि कभी समाजसे छिपाकर एक दो गर्हित पाप करना संभव हो भी जाय तो भी पाप स्वभाव बना लेनेवाले मनुष्यका उन पापोंसे बचे रहना असंभव है जो स्वभाववश उसके जीवनमें प्रकट हुए बिना नहीं रह सकते।

पापीका देह पापके बोझको ढोता रहता है। यह देह पापके बोझको अपने ऊपर ढोकर अपने देहीकी ओरसे निन्दित और लाञ्छित होता रहता है। जगत्‌से चाहे पाप छिप जांय परन्तु मनुष्य जिस देहसे पाप करता है उससे तो नहीं छिपाया जा सकता। जैसे छुरेसे की हुई गुप्त हत्याका पाप छुरेसे नहीं छिपाया जा सकता और वही रक्त-रंजित छुरा संयोगवश दण्डदाताके हाथोंमें पहुँचकर हत्यारेकी हत्याके साधनके रूपमें प्रमाणित होकर उसे अपराधी सिद्ध करके दण्डित करा देता है, इसी प्रकार पापीके पापका साधन देह देहीरूपी अटल (अव्यर्थ) दण्डदाताके सम्मुख प्रतिक्षण अपराधोंकी साक्षी देता रहकर पापी मनको आत्मग्लानि नामक दंडसे दंडित करता रहता है। जो मनुष्य पापको अपनी जीवन-यात्राके साधनके रूपमें अपनालेता है पाप उसका शीतांगारके कृष्णवर्णके समान अत्याज्य स्वभाव बन जाता है। जिस मूढको पवित्रताकी पहचान नहीं है, जो अविवेककी अपवित्रतामें ही सुख मान रहा है, सोचिये तो सही कि वह क्यों अपने पापसे मिलनेवाले सुखको त्यागेगा ? और क्यों पुण्य करनेका दुःख मोल लेगा ?

पापाचरण मनुष्यका आध्यात्मिक आत्मघात है। पापीका पाप उसका अनन्त मानसिक दुःख और अन्तःशल्य बन जाता है। पापजनित दुःख बन्धनमें उलझकर कराहते तथा आह भरते रहना ही पापीका अपने पाप रूपको अपने सामने प्रकट रखना है।

अथवा— पापीके पापाचरणसे आहत समाज उस पापीपर कठोर दण्ड या प्रलोभनका दबाव देकर उसीके मुखसे पाप स्वीकार करा ले और उसके पापके सम्बन्धमें उचित प्रमाण संग्रह करके उसे दण्ड देनेको उद्यत हो जाय तो वह पापी अपने पापको अपने आप प्रकाशित कर देता है।

इस सूत्रका अभिप्राय यही है कि पापी हृदय कभी भी दृढ नहीं होता। पापी मनुष्य स्वभावसे चंचलचित्त होता है। छिपाकर पाप करनेपर भी उसकी स्वाभाविक चंचलचित्तता स्वयं ही उसके पापकर्मको प्रकाशमें लानेका साधन बनायी जा सकती है। पापीपर आवश्यक कठोरता करके तथा प्रलोभन आदि उपायोंको काममें लाकर उसीके मुखसे अपराध स्वीकार कराया जा सकता और उसीके मुखसे अपराधसाधक प्रमाणोंकी सूची लेकर उनका संग्रह करके उसे दण्ड दिया जा सकता है।

यदि कोई राज्य-व्यवस्था चंचलचित्त पापीको, दण्डित न कर सके तो यह उस राज्य-व्यवस्थाका अक्षम्य अपराध है। इसका अर्थ यह होगा कि समाजभरके अनुमोदनसे बनी हुई राजशक्ति चंचलचित्त एक-दो पापियोंसे भी न्यून शक्ति रखती है। जो राजशक्ति इतनी कर्तव्यहीनतारूपी न्यूनता दिखानेमें न लजाती हो उसे तत्काल पदच्युत कर देनेमें ही समाजका कल्याण है।

क्योंकि समाज अपने साधु-असाधु व्यक्तियोंसे स्वयं परिचित रहता है, इसलिये किसी भी अपराधीका चालचलन समाजको अज्ञात नहीं रहता। पापी अपने पापको अपने स्वभाव तथा आचरणके द्वारा ही प्रकाशित किया करता है। ऐसे पापीको दण्डित न कर पाना समाजका और उसकी राज-शक्तिका अपमान है।

पापीका अपराधी हृदय अपना पाप छिपानेका जो अनुचित आग्रह रखता है उसके कारण वह अस्वाभाविक आचरण करने लगता है। उसके वे अस्वाभाविक आचरण दण्डाधिकारियोंके सामने उसके पापका भंडाफोड़ कर देते हैं। पापीका अपराधी हृदय अपने पाप छिपानेका आग्रह किया

करता है। वह जानता है कि मैंने समाज-कल्याणकारी नियमोंका भंग किया है इसलिये मैं समाजका अपराधी हूँ। वह इसी दृष्टिके कारण अपने पापको छिपाकर रखना चाहता है। वह अपना पाप छिपानेकी चाहके वशीभूत होकर कुछ इस प्रकारके अस्वाभाविक आचरण करने लगता है जो दण्डाधिकारियोंके सम्मुख उसका भंडाफोड कर देते हैं। दण्डाधिकारी लोग ऐसे अवसरोंपर उसपर उचित दबाव डालकर उसके अपराधको उसीके मुखसे प्रकट करानेमें समर्थ हो सकते हैं। पापीका चालचलन, रंगढंग, रहनसहन, वाक्यपरिपाटी, चंचलचित्तता, गात्रोंकी गति आदि सब कुछ सब समय संदेहजनक बना रहता है। उससे अस्वाभाविक कर्म करानेवाली उसकी अस्वाभाविक मानसिक स्थिति उसे पुरुष-परीक्षकोंकी दृष्टिमें संदेहका पात्र बना देती है।

पाठान्तर— प्रच्छन्नं यत्कृतं तदपि न प्रच्छन्नमात्मनः।

दूसरोंकी दृष्टि बचाकर किये पाप भी अपने आत्मासे प्रच्छन्न नहीं रहती।

(आकृतिपर चरित्रकी छाप आ जाती है)

व्यवहारेऽन्तर्गतमाकारः सूचयति ॥ ५५४ ॥

मनुष्यकी आकृति उसके मनके व्यवहार-प्रेरक गुप्त भावोंको व्यवहार-भूमिमें दूसरोंपर प्रकट कर देती है।

विवरण— व्यवहार करानेवाली मानसिक स्थिति व्यवहारमें मनुष्यकी आकृति पर झूलने लगती है। मनुष्य जिस भावनासे जो व्यवहार करता है, वह भावना उसके आकारमें प्रतिबिम्बित होकर रहती है। मनुष्यकी आकृतिपर उसके मनकी पवित्रता या अपवित्रताका प्रतिबिम्ब अनिवार्य रूपसे पड़ता है। लोकचरित्रको समझनेवाले पुरुष-परीक्षाके विशेषज्ञ लोगोंकी सूक्ष्म दृष्टिमें मानवोंकी आकृतियाँ ही उनकी मानसिक स्थितिको प्रकट कर देनेवाली पाठ्यसामग्री होती है।

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ (विष्णुशर्मा)

आकार, संकेत, गति, चेष्टा, भाषण तथा नेत्रवक्त्र विकारोंसे भीतर छिपा मन कंचपात्रमें रक्खे पदार्थके समान स्पष्ट दीख जाता है।

(आकारसंगोपन असंभव)

आकारसंवरणं देवानामशक्यम् ॥ ५५५ ॥

अपनी मुखाकृतिपर अपने मनोभावोंको प्रकट न होने देना किसीके लिये भी शक्य नहीं है।

विवरण— आकृतिकी लिपिके विशेषज्ञोंकी सूक्ष्मेक्षिकासे अपना आकार छिपा लेना शक्तिशालियोंके भी सामर्थ्यसे बाहरकी बात है। दृष्टि-संचालन, असंगत वचन, भावावेश आदिके द्वारा मनोभाव पहचाने जा सकते हैं।

भिन्नस्वरमुखवर्णः शंकितदृष्टिः समुत्पतिततेजाः।
भवति हि पापं कृत्वा स्वकर्मसन्त्रासितः पुरुषः ॥
आयाति स्खलितैः पादैर्मुखवैवर्ण्यसंयुतः।
ललाटस्वेदभाग्भूरि गद्गदं भाषते वचः ॥
अधो दृष्टिर्वदेत् कृत्वा पापं सभां नरः।
तस्माद्यत्नात्परिज्ञेयश्चिह्नैरेतैर्विचक्षणैः ॥ (पंचतंत्रसे)

पाप कर्म करनेके पश्चात् अपने कर्मसे संत्रासित मानवका स्वर बदल जाता, मुखका रंग फीका पड जाता, नेत्र भयभीत और तेज नष्ट हो जाता है। वह न्यायाधीशके सामने लाया जानेपर लडखडाते पैरोंसे आता है, मुखका रंग उडा हुआ होता है, मस्तकपर पसीना बार बार टपकता है और अस्पष्ट अधूरी बातें कहता है। आकृतिसे घबडाहट टपकती है, दृष्टि नीची रखता है। कुशल लोग इन लक्षणोंसे अपराधीको यत्नपूर्वक पहचानें।

प्रसन्नवदनो हृष्टः स्पष्टवाक्यः सरोषदृक्।
सभायां वक्ति सामर्षं सावष्टम्भो नरः शुचिः ॥

अपने चरित्रके साथ सत्यका सहारा रखनेवाला निष्पाप मनुष्य न्याया-लयके सामने प्रसन्नवदन हर्षित होकर स्पष्ट बातें कहता है, उसके नेत्रोंमें

उसे पकड़कर लानेवालोंके लिये रोष और स्थिरता होती है वह धैर्य तथा अमर्षसे उत्तर देता है । निष्पाप मनुष्य इन लक्षणोंसे पहचाना जाता है ।

पाठान्तर— आकारसंवरणं अकरणावाचो राजपुरुषेभ्यो नित्यं रक्षेत् ।

असंगत पाठ है ।

(प्रजा तथा राष्ट्रके धनको चोरों तथा राजकर्मचारियोंसे बचाओ)

चोरराजपुरुषेभ्यो वित्तं रक्षेत् ॥ ५५६ ॥

राजा लोग चोरों तथा राज्यपुरुषों (राजकर्मचारियों) से जनताका धन बचाते रहें ।

विवरण— चोर तथा राजकर्मचारी दोनों ही अर्थलोभी होते हैं । चोर जो काम चोरीसे करते हैं राजकर्मचारी वही काम अपने आखेटपर राजशक्तिका अनुचित अवैध प्रभाव डाल कर करते हैं । मनोवृत्ति दोनोंकी एक सी है । दोनों अधिकारहीन अनुचित ढंगसे दूसरोंके जीवन-साधन छीन लेना चाहते हैं ।

(प्रजासे न मिलनेवाले राजा प्रजाके विनाशक)

दुर्दर्शना हि राजानः प्रजा नाशयन्ति ॥ ५५७ ॥

अपनी नीति-हीनतासे दुर्दर्शन अर्थात् प्रजाको कभी दर्शन न देने अर्थात् अपने कानोंसे प्रजाके सुखदुःख न सुननेवाले राजा लोग प्रजाका प्रेम पाने, उसका हित सोचने या शासनको लोकप्रिय बनानेमें असमर्थ होकर प्रजाका विनाश करनेवाले बन जाते हैं ।

विवरण— राजकर्मचारियोंपर निर्भरशील होकर प्रजासे साक्षात् न मिलनेवाले राजा लोग स्वयं अवैध रूपसे राजभोग करनेके कारण प्रजाकी कष्टगाथा न सुननेवाले अवैध रूपसे धनोपार्जन करनेवाले राज्यकर्मचारि-

योंके अधीन होकर प्रजाको राजकर्मचारियोंकी भांति-भांतिकी लूटका आखेट बना देते हैं। ऐसे राजा लोग प्रजामें दुःख और क्षोभ पैदा करनेवाले बनकर अपने समस्त राष्ट्रका नाश कर बैठते हैं।

पाठान्तर— ... ... विनाशयन्ति।

(प्रजारंजनका उपाय)

सुदर्शना हि राजानः प्रजा रंजयन्ति ॥ ५५८ ॥

लोकप्रिय या प्रजाको सुकरतासे दर्शन देते रहनेवाले राजा लोग अपनी प्रजाको सुखी और प्रसन्न रखनेमें प्रयत्नशील रहते हैं।

विवरण— गुण, गौरव, शौर्य, प्रज्ञा, तथा दयासे भूषित सौम्यमूर्ति राजा लोग कर देकर राज्यसंस्थाको पालनेवाली प्रजाको सुखसमृद्धिसे संपन्न बनाकर रखनी अपना कर्तव्य मानते और न्यायार्थी प्रजाको सुकरतासे दर्शन मिलनेकी व्यवस्था रखते हैं। जब राजा लोक प्रजाको स्नेह, दया, अभयदान तथा दर्शनोंसे अनुगृहीत करते रहते हैं तब ही प्रजा उनके प्रति अनुरक्त और सुखी रहती है।

(न्यायी राजाके प्रति प्रजाकी भावना)

न्याययुक्तं राजानं मातरं मन्यन्ते प्रजाः ॥ ५५९ ॥

प्रजा न्यायी राजाको मातृतुल्य माना करती है।

विवरण— कर देकर राजकोषको सम्पन्न बनानेवाली प्रजा, नीतिपूर्ण, न्यायपरायण राजाको माताके समान हितैषी मानने लगती और उसे सम्पन्न रखना अपने मातृपालन जैसा पवित्र कर्तव्य माना करती है। प्रजाको ऐसे नीतिपरायण राजाको कर देते समय हर्ष होता है। ऐसे राजाकी प्रजा आत्मकल्याणकी भावनासे उत्साहित होकर उसके राज्यकोषको भरनेमें कर्तव्य-पालनका संतोष तथा गौरव अनुभव किया करती है। मातापिता

तो मनुष्यको केवल जन्म ही देते हैं परन्तु कर्तव्यपरायण राजा लोग तो अपनी प्रजाको शिक्षा, रक्षा, भरण-पोषणोंसे अपने औरस पुत्रोंके समान पालकर प्रजाके सच्चे मातापिता बन जाते हैं। जबतक राजाप्रजामें परस्पर सन्तान तथा मातापिताकासा मधुर संबन्ध स्थापित नहीं होता तबतक प्रजाका सुखी होना और राज्यका सुरक्षित रहना दोनों ही असंभव है। यदि राजाने प्रजाका माताकासा प्रेम प्राप्त नहीं किया, यदि वह माताकासा विश्वासभाजन नहीं बन सका तो उसके राज्यको एक प्रकारका लूटका ठेका ही जानना चाहिये।

पाठान्तर— न्यायवर्तिनं राजानं मातरमिव मन्यन्ते प्रजाः।

(न्यायी राजाका लाभ)

तादृशः स राजा इह सुखं ततः स्वर्गमाप्नोति ॥ ५८० ॥

न्याययुक्त, स्वधर्मरत, प्रजा-पालन-तत्पर, लोकप्रिय राजा वर्तमान तथा भविष्यत् दोनों कालोंमें सुख पाता तथा प्रजाके शुभाशीर्वादोंका पात्र बना रह कर आत्मप्रसाद रूपी स्वर्ग पाता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

मनुष्य अपने अपने कर्तव्यपालनमें दीक्षित रहकर ही सिद्धि पाते हैं।

पाठान्तर— स्वधर्मानुष्ठानादेव सुखमवाप्यते स्वर्गमवाप्नोति।
राजाको राजधर्म पालनसे सुख और स्वर्ग प्राप्त हो जाता है।

(राजाका कर्तव्य)

(अधिक सूत्र) चोरांश्च कण्टकांश्च सततं विनाशयेत्।

राजा चोरों तथा राष्ट्रकण्टकोंको सदा नष्ट करता रहे।

विवरण— राजा, चोरों तथा दूसरोंका अनिष्ट करनेवाले उन सब लोगोंको जो प्रजाको गुप्त उपायोंसे लूटलूटकर कानूनकी पकडमें न आकर

कष्ट पहुँचाते रहते हैं, उन्हें अपने कौशल और बलसे सदा नष्ट करता रहे। राजा गुप्त रूपसे लोगोंके दस्यु-कष्टों तथा राज्यकीय लोगोंके राजशक्तिके दबावसे किये हुए गुप्त उत्पीडनोंको जाने और उनका प्रतिकार करें।

चाणक्य कहना चाहते हैं कि राष्ट्रमें प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दो प्रकारके चोर होते हैं। जिसका जो अधिकार नहीं उसका उसे लेते रहना या लेनेका उद्योग करना चोरी है। अनधिकार भोग तथा अनधिकार भोगकी इच्छा ही चोरी है। कानूनकी पकडमें आ जानेवाले चोर 'प्रत्यक्ष चोर' कहाते हैं। कानूनकी पकडमें न आनेवाले चोर 'अप्रत्यक्ष चोर' होते हैं। चोर गठकटे, जेबकटे, राहगीर, डाकू, उचक्के, जुआरी, उत्कोचजीवी, राजकर्मचारी आदि प्रत्यक्ष चोरोंकी श्रेणीमें आते हैं।

अनुचित लाभ लेनेवाले व्यापारी, रोगीका अर्थशोषण करनेवाले वैद्य, डाक्टर, हकीम, वक्कलोंके शोषक तथा अन्यायी अदालतोंके समर्थक वकील, मंत्री आदि राज्यके संचालक, राष्ट्रको निर्धन बनाकर अपरिमित वेतन-भत्ते आदि डकार जानेवाले शासक, सच्चा धर्मप्रचार न करनेवाले धर्मोपदेशक, देशके युवकोंको सच्ची शिक्षा न देनेवाली, प्रत्युत उनका नैतिक पतन करनेवाली शिक्षासंस्थायें, अध्यापक, आचार्य, प्रोफेसर, प्रिन्सिपल, राजनीतिसे अलग रहकर भीरु, निर्वीर्य, वन्ध्या, निस्तेज धर्मकी दुहाइ देते फिरनेवाले धर्मध्वजी सन्त, महात्मा, महर्षि राजर्षि, कथावाचक, व्याख्याता तथा ग्रन्थलेखक कुशासनका विरोध करनेसे डरने, कतराने और इसीलिये दूषित राज्यसंस्थासे अविरोधकी नीति अपनानेवाले पत्रकार, नेता, व्यवस्थापिका, सभाओंके सदस्य, धार्मिक, साहित्यिक, आध्यात्मिक संस्थायें विद्वत्सभायें तथा प्रजाको न्याय न देकर न्याय बेचनेवाले न्यायालय ये सबके सब कानूनकी पकडमें न आनेवाले राष्ट्रके अप्रत्यक्ष चोर हैं। ये लोग प्रत्यक्ष चोरोंसे अधिक हानिकारक हैं। ये लोग कानूनकी पहुँचसे बाहरवाले दुर्गोंमें सुरक्षित बैठकर प्रजाका धन अपहरण करते हैं। इनके अतिरिक्त समाजके पतनसे जीविका चलानेवाले लॉटरी, पहेली घुडदोड आदि अनेक रूपोंमें

अपनी चोरी छिपाये फिरनेवाले लोग भी अप्रत्यक्ष चोरोंकी श्रेणीमें आते हैं।

प्रत्यक्ष चोर तो देखता है कि मैं दण्डविधानके अधीन हूँ इसलिये वह तो दण्डसे बचकर चोरी करता है। परन्तु किसीकी प्रत्यक्ष चोरी न करनेवाले अप्रत्यक्ष चोर व्यवहार-विनिमयके नामसे व्यापार-लेन-देन आदि सम्पर्कोंमें आकर लोगोंसे अनुचित अर्थशोषणका अवसर पा जाते या लोगोंकी सेवाके नामसे उनसे अवैध अर्थ-संग्रह करते रहते हैं। ये सब लोग राष्ट्रके भयंकर चोर हैं। शत्रुराष्ट्रको देशका भेद देनेवाले स्वराष्ट्रद्रोही तथा पर राष्ट्रप्रेमी लोग राष्ट्रकण्टक कहाते हैं।

इन किसीको भी देशकी हानि न करने देना राज्यसंस्थाका गंभीर उत्तरदायित्व है।

'स्वधर्मानुष्ठानादेव सुखमवाप्यते स्वर्गमाप्नोति।'

राजा लोग राष्ट्र-रक्षा नामक स्वधर्मको पा लें तो वर्तमान तथा भविष्यत् दोनों कालोंमें सुख पा सकते हैं।

(धर्मका लक्षण)

अहिंसालक्षणो धर्मः ॥ ५६१ ॥

धर्मका लक्षण अहिंसा है।

विवरण— अहिंसा शारीरिक व्यापार नहीं है। अहिंसा तो मानस व्यापार है। अपने मनको काम, क्रोध आदि मानसिक दोषों, निर्बलताओं या हिंसाओंके आक्रमणसे सुरक्षित रखनारूपी अहिंसा ही मनुष्यका स्वधर्म है और यही उसकी सत्यनिष्ठा भी है। परपीडन ही अहिंसाकी परिभाषा है। जो दूसरेका पीडन करके आत्मसुख चाहता है वह सुखको ही नहीं समझता। वह मूढ अपने सुखको समाजके सुखका विरोधी बना लेता है। समाजकी सुख-शान्तिकी आधारशिला तो मनुष्यताका सुरक्षित रहना ही है। जो समाजको दुःखी करके सुख चाहता है वह अपनी मनुष्यताका हनन

किये बिना अपना अभीष्ट सुख कभी नहीं पा सकता। यह सोचनेकी बात है कि मनुष्यताके हनन और सुखका परस्पर क्या सम्बन्ध है? अपनी मनुष्यताका हनन करना ही हिंसा है। अपनी मनुष्यताको अनाहत रखना ही अहिंसा है। मनुष्यता ही मनुष्यका स्वधर्म है। परपीडनसे बचना इस बातका प्रमाण है कि यह मनुष्य अपनी मनुष्यताको सुरक्षित रखकर स्वधर्मनिष्ठ जीवन व्यतीत कर रहा है।

राष्ट्रमें मनुष्यतानामक धर्मको सुप्रतिष्ठित रखना राज्यसंस्थाका मुख्य उत्तरदायित्व है। यदि राज्यसंस्था अपनी नीतिमें मनुष्यताका संरक्षण कर रही हो तो राष्ट्र उसकी देखादेखी मनुष्यताका संरक्षण करनेवाली राज्यसंस्था बनानेवाला बन जाता है और अहिंसारूपी धर्मको पालने लगता है। इससे राष्ट्रमें राष्ट्रनिर्माणकी परम्परा सुरक्षित हो जाती है। यदि राज्यसंस्था अपनी नीतिमें मनुष्यताका संरक्षण नहीं करती तो राष्ट्र उसकी देखादेखी मनुष्यताघाती राज्यसंस्थाको जन्माने तथा पालनेवाला बनकर हिंसक बन जाता है। हिंसासे राष्ट्रमें राष्ट्रद्रोहकी परम्परा बह निकलती है। हिंसाका अर्थ अपनी हिंसा और अहिंसाका अर्थ अपनी अहिंसा है। हिंसा अहिंसा दोनों परधर्म न होकर दोनों आत्मधर्म हैं।

(सत्पुरुषका लक्षण)

स्वशरीरमपि परशरीरं मन्यते साधुः ॥ ५६२ ॥

सत्पुरुष अपने शरीरको भी दूसरोंका शरीर मानता है।

विवरण— वह दूसरोंको भी यह अधिकार दिये रहता है कि वे उसके शरीरसे उचित सेवा लेते रहें।

(अधिक सूत्र) **स्वशरीर (मपि) मिव परशरीरं मन्यते साधुः।**

साधु दूसरेके शरीरको अपने शरीर जैसा ही मनुष्यताका प्रतिनिधि मानता है।

विवरण— उसे जैसे अपनी मनुष्यतापर आक्रमण होना नहीं रुचता, इसी प्रकार उसे दूसरेकी मनुष्यतापर आक्रमण होना भी सह्य नहीं होता। साधु मनुष्य दूसरेसे अपने लिये जिस व्यवहारकी आशा करता है दूसरोंको भी अपनेसे वैसा व्यवहार पानेकी आशा करने देता है। इसीको 'न्याय-बुद्धि' कहते हैं। न्यायबुद्धि ही मनुष्यकी मनुष्यता है। मानवदेह धारण करके मनुष्यताका प्रेमी होना ही 'साधुत्व' है। मनुष्य अपनी मनुष्यताको तिलांजलि देकर समाजकी शान्ति हरण करनेवाला मनुष्यता द्वेषी असुर बन जाता है। मनुष्यसमाजमें अपने कर्तव्यक्षेत्रमें जहाँ कहीं आसुरिकता दीखे, उसका विरोध करके उसमें मनुष्यतारूपी शान्तिको सुरक्षित रखना ही 'साधुता' है।

जिस समाजमें गुणी लोगोंका निरादर तथा गुणोंके शत्रुओंका सम्मान होता है उस पतित समाजकी राजशक्ति पतितोंके हाथोंमें जा चुकी होती है। समाजकी पतितावस्था इस बातका पूर्ण प्रमाण है कि राजशक्ति असुरोंके हाथोंमें है और वह समाजका नैतिक उत्थान रोक रही है, गुणियोंके अस्तित्वको न सहकर उन्हें मिटा रही है और समाजके नैतिक उत्थानकी शत्रु बनकर प्रजाको अनैतिक बना रही है। ऐसे समाजमें गुणी, ज्ञानी, समाजहितैषी लोगोंका संगठन न होना राजशक्तिके समाजद्रोही षड्यन्त्रोंका परिचायक है। ऐसे राष्ट्रीय संकटके समयोंमें सच्चे गुणी समाजसेवकोंको दृढताके साथ संगठित होनेका प्रयत्न करना अत्यावश्यक है।

समाजकी पतितावस्थामें ही सेवकोंकी आवश्यकता होती है। सच्चे गुणियोंका इस कर्तव्यबुद्धिसे रहित होना समाजका दुर्भाग्य है। इस दुर्भाग्यका एकमात्र कारण समाजके विज्ञ लोगोंका आत्मशक्तिमें अविश्वास तथा कपट आध्यात्मिकतासे मिलनेवाली काल्पनिक शान्तिका मोह है। ये लोग नैष्कर्म्य नामकी अलीक स्थितिको अपनाकर कर्तव्यभ्रष्ट होकर कल्पनाके स्वर्गमें आत्मप्रवंचना करते रहते हैं। वास्तविकताको समझनेवाले अत्यल्पसंख्यक सच्चे गुणियोंकी कर्तव्यनिष्ठापर ही उस समयके समाजके उत्थानका

उत्तरदायित्व समर्पित रहता है। वे लोग अपने अक्लांत परिश्रमसे समाजको आसुरिक प्रभावसे मुक्त करनेवाले होते हैं। असुर विनाशिका सच्ची शक्तिको जाग्रत करनेवाली लोकशिक्षाका प्रबन्ध इन्हीं लोगोंकी ओरसे चालू रहकर भावी सन्तानको ज्ञानालोक देकर नवीन राष्ट्रका निर्माण किया करता है।

मूढ लोग सम्मानार्ह लोगोंका सर्वत्र निरादर करते हैं। मूढोंकी मूढताका यही स्वरूप है कि वे आसपासमें अपने जैसे मूढोंको ही देखना चाहते हैं। वे अपने आसपासमें अपने जैसे मूढोंको देखकर यह आत्मसंतोष कमा लेना चाहते हैं कि यह संसार मूढोंका ही स्थान है। जैसे उलूकको प्रकाशस्वरूप सूर्यका देखना सहन नहीं होता, इसी प्रकार मूढोंको अपनेसे अधिक योग्य व्यक्ति सहन नहीं होता। वे अपनी इस मनोवृत्तिसे समाजके बुद्धिमान सदस्योंको अपमानित करके अपनेको ही समाजके श्रेष्ठासनका अधिकारी प्रमाणित करनेकी धृष्टता करके झूठा आत्मसंतोष पा लेना चाहते हैं। वे नहीं समझते कि समाजके योग्य लोगोंका सम्मान करना तो अपने ही को योग्य प्रमाणित करना होता है। गुणी लोग ही गुणग्राही होते हैं। निर्गुण, अधम लोग गुणोंका निरादर करके ही तो अपनी अधमताको प्रकट करते हैं।

साधुपुरुष अपने शरीरको अपने समाजकी सेवाके काममें आनेके लिये मिला हुआ सेवोपकरण मानते हैं। साधु लोग अपने देहको भी अपना न मानकर उसे सत्यको सेवाका साधन मानते हैं। और समाजके अन्य व्यक्तियोंकी मनुष्यताको अपनी मनुष्यता जैसा ही सेव्य मानते हैं। मनुष्यसमाजके प्रत्येक व्यक्तिकी कल्याणकामना करनेवाला सत्यनिष्ठ साधुपुरुष सत्यकी सेवामें आत्मसमर्पण करके रहता है और अपने देहको सम्पूर्ण मनुष्यसमाजके अधिकारमें सौंप देता है। वह अपने देहको अपने समाजकी पुनीत धरोहरके रूपमें देखता है।

सर्वभूतात्मदर्शी सबके साथ ईश्वरबुद्धिसे व्यवहार तथा सर्वत्र ईश्वरबुद्धिसे विहरण करनेवाला ज्ञानसम्पन्न मनुष्य अपने समाजके साथ अपने

पराये दैहिक भेदोंको तो उठाकर आलेपर रख देता है और समाजके अहित को अपना ही अहित तथा दूसरोंपर हुए अन्यायोंको अपने ही ऊपर हुआ अन्याय मानकर उनका प्रतिकार करनेमें दत्तचित्त हो जाता है। उसका समस्त जीवन उसके व्यावहारिक अध्यात्मकी प्रयोगशाला बन जाता है। सच्चे साधुओंका अव्यावहारिक अध्यात्मसे कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(राजनैतिक ठगोंका माननीयोंको नीचा दिखाना)

(अधिक सूत्र) **सर्वत्र मान्यं भ्रंशयति बालिशः।**

मूढ लोग सर्वत्र (सब स्थानों तथा सब कामोंमें) सम्मानार्ह लोगोंका महत्व छीनना चाहा करते हैं।

विवरण— मूढ लोग नहीं समझते कि हमारी किस बातसे किसका क्या अपमान हो जाता है? वे तो जैसे स्वयं नीच होते हैं, वैसे ही सम्मानार्ह व्यक्तिको भी अपने जैसा नीच सिद्ध करना चाहते हैं। वे जैसे अपनी मनुष्यताकी अवज्ञा करते हैं वैसे ही सत्पुरुषोंकी मनुष्यताकी भी करते हैं। वे किसीकी अवज्ञाको भी अपराध नहीं समझते। नीतिके अनुसार तो सच्चे मनुष्यका कर्तव्य है कि वह चोरोंको दण्ड दे, शठोंको शठतासे व्यर्थ करे, श्रेष्ठोंका मान करे तथा दीनोंको दान दे।

(निन्दित आहार)

मांसभक्षणमयुक्तं सर्वेषाम् ॥ ५६३ ॥

मांस मनुष्यका आहार बनने योग्य पदार्थ नहीं है।

विवरण— मनुष्यकी साधारण बुद्धि खाद्य अखाद्यका विचार करते समय वानस्पतिक या प्राणिज दो भिन्न भिन्न प्रकारके पदार्थोंमें श्रेष्ठ या ग्राह्य-अग्राह्यका विचार करती है। प्रकृतिने अन्न, शाक, फल, कंद, मूल आदि वानस्पतिक आहारको ही मनुष्यके स्वाभाविक आहारके रूपमें निर्दिष्ट किया है। इसलिये वही उसके स्वाभाविक खाद्यके रूपमें ग्रहण करने योग्य है।

वानस्पतिक खाद्यसंग्रह करनेमें हत्या जैसे अस्वाभाविक क्रूर घिनौने घृण्य (घिनौने) उपायोंका अवलम्बन करनेकी आवश्यकता नहीं पडती। इसके विपरीत प्राणिज आहार प्राप्त करनेमें अपने भोज्य प्राणीका प्राणहरण करना पडता है। प्राणहरणके लिये हृदयविदारक अस्वाभाविक उपायोंका अवलम्बन करना पडता है। इस कारण प्राणिज आहार प्राप्त करना मानव-स्वभावके विपरीत स्थिति है। प्राणिज आहार मानवके दयालु स्वभावकी हत्या किये बिना प्राप्त ही नहीं हो सकता।

जीवितं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत् तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥

जो मनुष्य स्वयं जीना चाहे वह किसी दूसरेको कैसे मारे ? वह अपनी अनुभूतिको सबमें फैलाकर क्यों न देखे ? मनुष्य जो अपने लिये चाहे वह दूसरेके लिये भी सोचे।

स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत्॥

मनुष्यका जो क्षुद्र पेट वनमें स्वच्छन्द उपजे साग-पातसे भी भर जाता है, उसके लिये कौन बुद्धिमान् दूसरे प्राणियोंके प्राणहरणका पाप मोल ले ?

वानस्पतिक भोजनकी स्वास्थ्यप्रदता स्पष्ट देखी जा सकती है। प्राणीके शरीरोंके रोग आँखोंसे देखनेसे नहीं जाने जा सकते। ऐसी अवस्थामें प्राणिक आहार करनेसे रोगी प्राणीके रोगोंको भी अपने उदरमें जाने देना और पाकस्थलीको रोगग्रस्त बना डालना बुद्धिमत्ता नहीं है। इस प्रकार स्वास्थ्य तथा रुचि दोनों ही दृष्टियोंसे जरायुज तथा अण्डज भोजन वानस्पतिक भोजनोंसे निकृष्ट है। यदि मनुष्य प्राणिज भोजन त्याग देगा तो वह क्षतिग्रस्त न होकर लाभवान् रहेगा। आमिष भोजन रोगकारक आयुनाशक तथा उपद्रवकारी है। निरामिष भोजन नैरोग्यकारी आयुवर्धक तथा निरुपद्रव भोजन है।

सृष्टिव्यवस्थाने जिन प्राणियोंको स्वभावसे मांसभोजी बनाया है, वे घूँट भरकर पानी नहीं पी सकते किन्तु जीभसे चाटचाटकर पीते हैं। पसीना मांसभोजियोंके समस्त शरीरपर न आकर जिह्वाके अग्रभागसे लारके रूपमें टपका करता है, मुखमें खाद्य चाबनेवाली दाढ़ें न होकर मांस काटनेके तीक्ष्ण कीलें होते हैं। इत्यादि अनेक चिह्न स्वभावसे सामिष भोजियोंमें ही पाये जाते हैं। इससे प्रकट है कि प्रकृतिमाता मानवको मांसभोजी देखना नहीं चाहती।

मोक्ष (चतुर्थ पुरुषार्थ) का प्रतिपादन

[ग्रंथकार यहाँसे आगे अपने पाठकोंमें तत्वज्ञानमयी बुद्धि या मोक्षरूप चतुर्थ पुरुषार्थके समुन्मेषपर विशेष बल लगा रहे हैं।]

(ज्ञानीके लिये संसारमें दुःख नहीं है)

न संसारभयं ज्ञानवताम् ॥ ५६४ ॥

ज्ञानी व्यक्तियोंको संसारमें दुःख-भय नहीं रहता।

विवरण— ज्ञान स्वयं ही सुखरूप तथा भीतिहीन स्थिति है। अज्ञान ही दुःख तथा भयस्वरूप है। संसारमें ज्ञानीका दुःखी होना परस्परव्याहत अवस्था है। क्योंकि दुःखनिवृत्तिकी कला ही तो ज्ञान है। सुखदुःखके स्वरूपोंको न समझना ही तो अज्ञान है। अज्ञानी मानव दुःखको ही सुख मानकर दुःखवरण कर बैठता है। ज्ञानी सुखेच्छारूपी दुःखको ही दुःखके रूपमें पहचानकर उसे त्याग देता और निष्काम अनासक्त रहकर कर्तव्य-पालनके संतोषरूपी अखंड सुखका अधिकारी बनता है। भोगासक्त जीवन त्याग देनेवाले संसारके मूल कारण अपने स्वरूपके ज्ञाता ज्ञानी व्यक्तिको संसारबन्धनमें बँध जानेका भय नहीं रहता। इसलिये नहीं रहता कि उसे देहगेह आदिमें अहंभाव या ममभाव शेष नहीं रहता। अहंभाव और मम-भाव ही भयका कारण होता है। अहंममभाव शेष न रहनेसे ज्ञानीको किसी बातका भय नहीं रहता। "अधरोत्तरमस्तु जगत् का हानिर्वीतरागस्य" संसार चाहे उलटपुलट हो जाय वीतरागका क्या बिगडता है?

ज्ञानी नित्यमुक्त और सर्वमुक्त है। वह सर्वमुक्त रहकर ही जागतिक व्यवहार करता है। संसारके पदार्थोंमें न उलझना ही उसकी मुक्ति है और यही उसकी ज्ञानमयी स्थिति भी है। फलाकांक्षा ही उलझन या आसक्ति है। अपनी फलाकांक्षा पूरी होती न दीखे तो कर्तव्य त्याग देना अर्थात् अकर्तव्य करना रूपी आसक्ति है। ज्ञानी मानव फलाकांक्षासे रहित शुभ कर्मकी प्रेरिका शुभ भावनासे स्वयं कृतकृत्य रहकर ही कर्म किया करता है। वह अकृतकृत्य, अकृतार्थ, फललोभी, दीन, दुखिया होकर कभी कोई काम नहीं करता। वह अपनेको भौतिक फलकी आशारूपी रस्सीसे कभी नहीं बँधने देता। '**न बिभेति कुतश्चन।**'

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा यश्चरते मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥

जो सब भूतोंको अपनी ओरसे अभयदान दे देता है उसे किसीसे भी भय नहीं रहता।

अथवा— व्यवहारकुशल विचारशील लोग संसारी घटनाओंपर अपने विचार-बलसे आधिपत्य पा लेते हैं। इस कारण मूर्खोंको भयानक तथा दुरूह दीखनेवाला संसार-सागर उनके लिये भयानक या दुरूह न रहकर गोपद्के समान सुखसन्तरणीय पवित्र कर्तव्यक्षेत्र हो जाता है।

पाठान्तर— **न संसारभयं ज्ञानिनाम्।**

(ज्ञानदीपकसे संसारान्धकारका विनाश)

विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्तते ॥ ५६५ ॥

ज्ञानी पुरुष अपने मनको ब्रह्मानन्दरूपी दीपकसे आलोकित करके रखता और संसार-बन्धनमें फँसनेसे बच जाता है।

विवरण— विज्ञानानन्दकी स्थिति ज्ञानी हृदयको अपने ऊपर मोहित कर लेती और उसे अपनेसे अलग नहीं होने देती। मानसिक सुख शान्ति ज्ञानीके अधिकारमें रहती है। भौतिक सुख शान्तिके प्राकृतिक परिस्थितिके

अधीन होनेके कारण वे मनुष्यके अधिकारसे बाहर अध्रुव हैं, साधनोंके अधीन हैं और अनित्य हैं। कर्तव्यकी प्रेरक शुभभावना ही मनुष्यके अधिकारमें रहनेवाला ध्रुव सुख तथा शान्ति है।

(सारा ही संसार मृत्युका ग्रास)

सर्वमनित्यं भवति ॥ ५६६ ॥

सम्पूर्ण भौतिक सुख तथा उसके समस्त साधन अनित्य हैं।

विवरण— ज्ञानवान् मानवको अपने अदेहरूप या स्वानुभूत ब्रह्मानन्दके अतिरिक्त जगत्के समस्त भोग्य पदार्थ अनित्य और अध्रुव दीखने लगते तथा निस्तेज और अनाकर्षक बन जाते हैं। उसकी दृष्टिपर सत्यनारायणका एकाधिकार हो जाता है। फिर उसे सत्यनारायणके अतिरिक्त कुछ भी आकर्षक दीखना बन्द हो जाता है। वह अपने स्वरूपमें अवस्थानरूपी ध्रुवशान्तिको त्यागकर अध्रुव भौतिक सुखोंके पीछे धावन नहीं करता।

पाठान्तर— **सर्वमनित्यम्।**

पाठान्तर— **सर्वमनित्यमध्रुवम्।**

सम्पूर्ण भौतिक सुख अनित्य तथा अध्रुव हैं।

(अधिक सूत्र) **स्वदेह देहिना मतिर्महती।**

यह अर्थहीन पाठ है।

(देहासक्ति मानवका अज्ञान)

(अधिक सूत्र) स्वदेहे देहिनां मतिर्महती।

देहधारियोंको निजदेहमें बड़ी आसक्ति होती है।

विवरण— देहासक्त मनुष्य दैहिक सुखको ही जीवनका लक्ष्य बना लेता है। मनुष्य यह जाने कि दैहिक-सुख-साधन-संग्रह करना जीवनकेलिये उपयोगी होनेपर भी जीवनका लक्ष्य नहीं है। इसलिये नहीं हैं कि यदि दैहिक-सुख-साधन-संग्रह करनामात्र जीवनका लक्ष्य हो, तो बता-

हुये मनुष्य दूसरोंसे छीना-झपटी करके भोजन, वस्त्र तथा विलास-सामग्री क्यों न एकत्रित कर ले ? यदि दैहिक सुख-साधन-संग्रहको व्यक्तिगत या राष्ट्रीय जीवनका लक्ष्य बन जाने दिया जायगा, तो समाजमें छीना-झपटी आदि अवैध उपायोंसे भोजन, वस्त्र तथा विलास-सामग्री संग्रह करनेकी प्रवृत्ति उच्छृंखल होकर सामाजिक जीवनकी नींवतक हिला डालेगी। मनुष्यसमाजको मनुष्यतारूपी जीवनके आदर्शको न भूलने देना विचारशील समाजसेवकोंका मुख्य कर्तव्य है। परन्तु इस मूढताका क्या किया जाय कि मनुष्यसमाजके विचारशील गिने जानेवाले लोग भी व्यक्तित्वके अंधानुगामी बनकर साम्यवाद समाजवाद आदि पाश्चात्योच्छिष्ट नामोंसे जनतामें दैहिक-सुख-स्वच्छन्दताके सार्वजनिक समानाधिकार तथा भौतिक धनसंपत्के समान विभाजनकी कल्पनाका प्रचार करनेकी भ्रान्ति करते हैं। इन लोगोंके इन विचारहीन प्रचारोंने दैहिक सुखोंको ही मानव-जीवनका लक्ष्य मनवा डाला है। इन भद्र लोगोंके प्रचारका दुष्परिणाम यह हुआ है कि धनसंपतके उपार्जनमें सत्यानुमोदित सदुपायोंका जो महत्वपूर्ण स्थान चला आ रहा था, वह उससे छिन गया है और आजके मानवको जिस किसी प्रकार धनोपार्जन करनेकी छूट दे दी गई है।

समाजके विचारशील गिने जानेवाले इन उज्ज्वलवेषी भद्र लोगोंने इस बातपर विचार ही नहीं किया कि भौतिक-सुख-भोगोंमें सन्तोष नामकी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके लिये प्रत्येक मनुष्य मारा मारा फिरता है। मनुष्यको ऊपर ही ऊपरसे देखनेमें मीठी लगनेवाली वासनाग्निकी इस भयंकरताको पहचान जाना चाहिये कि उसमें समग्र जगत्के भोग्य पदार्थोंकी आहुति दे देनेपर भी मनुष्यकी भोगाग्नि नहीं बुझती या भोगाभिलाषाका पेट नहीं भरता। भोगाग्निके पीछे अपने राष्ट्रको भटकाना या भटकने देना भ्रान्त आदर्श है। लोगोंके सामने इस भ्रान्त आदर्शको रख देनेका परिणाम यही हुआ है कि देहरक्षाके लिये सत्यानुमोदित उपार्जन आवश्यक नहीं रह गया है जो रहना चाहिये था और जिससे समाजमें शान्तिका सुनिश्चित

वास होना था। पाठक सोचें कि देहरक्षाके लिये सत्यानुमोदित उपार्जन-को आवश्यक न रखनेके अमनुष्योचित आदर्शने मनुष्य सत्यस्वरूपी जीवनलक्ष्यको लोगोंकी कल्पनामेंसे ही निकाल बाहर किया है। मनुष्यको जानना चाहिये कि सत्य ही उसके हृदयकी संतोषरूपी वह सम्पत्ति है जिसपर प्रत्येक मानवका समानाधिकार है और जो उसके पास अपने कर्तव्य पालनके संतोषके रूपमें रहनी ही चाहिये। भौतिक धनसंपत्तपर मानवका समानाधिकार कभी भी संभव नहीं है।

मनुष्य देह नहीं है फिर भी वह अपनेको देह मानता है। वह अपनेको काला गोरा अमुकका पुत्रादि मानता है, जब कि वह अदेह विश्वव्यापी अमर सनातन सत्य अभिन्न है। उसकी देहात्मबुद्धि उसकी बडी हानि करती है। वह जो अपनेको देह समझ बैठा है, इसीके कारण उसका सारा कर्तव्यशास्त्र बिगड गया है। उसकी देहात्मबुद्धिके उसको सत्यरूपी सार्व-जनिक संपत्तिसे वंचित करडाला है और उसे दीन, दुखिया, कंगाल, भिखारी तथा भोगाकांक्षाका, क्रीतदास बनाकर उसे मनुष्यसमाजका आखेटक (शिकारी) बना डाला है। भोगवादी संसार नहीं जानता कि उसने संसारकी कितनी बडी हानि की है ? इस भोगवादी संसारने मनुष्यको समा-जके सत्यस्वरूप सार्वजनिक सुखके समानाधिकारसे वंचित कर डाला है और उसे अपने व्यक्तिगत सुखके लिये लोगोंके गले काटनेसे न बचनेवाला समाज–कल्याण–विद्वेषी नरकासुर बना डाला है। भोगवादी जड संसारने परस्परको लूट लूटकर खानेका जघन्य आदर्श अपना लिया है।

देहासक्त अविचारशील मूढ प्राणीके पास देह–रक्षा या पेट–पूजाकी ही एकमात्र बुद्धि रहती है। देहासक्तकी समस्त बुद्धि केवल पेट पालनके काम आती है। उसके पास पेट और भोगसे अलग कोई समस्या नहीं रहती। वह जिस समाजके मूक सहयोगसे जीवनसाधन पा रहा है, जिस समाजकी भाषामें सोच और बोल रहा है, जिसकी सहनशीलतासे सुखपूर्वक जीवन बिता रहा है, उसे भूलकर उसके उत्थानमें कोई योग न देकर, दिनरात

पेट-पालन और इन्द्रिय लालनकी चिंतामें लगा रहता है और समाज-विरोधी कार्य करनेमें घृणा नहीं करता। उसके समस्त गुण देह-रक्षामें ही व्यय होते रहते हैं। पाठक सोचें कि देह-रक्षा तो पशु, पक्षी, कीट, पतंग, कीड़े, मकोड़े तक सबकी हो ही रही है। उतना ही यदि मनुष्य भी कर रहा है तो उसमें इसकी अपशुसुलभ मानवीय प्रतिभाका क्या उपयोग हुआ? मानवीय प्रतिभाका उपयोग तो उस विश्वव्यापीका देहातीत सत्यमयी अवस्थाका दिव्य आनन्द प्राप्त कर लेनेमें है जिसका आनन्द मनुष्येतर कोई भी प्राणी कदापि नहीं ले सकता।

भोजनाच्छादने चिन्ता प्रबला प्राकृते जने।

साधारण मानव पेट पालनेकी ही चिन्ता रखता है। उसे मानसिक उदात्तता पानेकी कभी चिन्ता नहीं होती।

(शरीर मानव नहीं वह उसका एक साधन)

कृमिशकृन्मूत्रभाजनं शरीरं पुण्यपापजन्महेतुः॥५६७॥

कृमि, विष्ठा तथा मूत्रका पात्र यह शरीर पुण्य या पापके अर्जनका कारण बनता है।

विवरण— कृमि, विष्ठा तथा मूत्रका पात्र शरीर लोगोंको अपना मोही बनाकर उन्हें पुण्य पापका भागी बना देता है। मूढ मानव शरीरको 'आपा' माननेकी भूल करता है। कृमि, विष्ठा तथा मूत्रका भाजन यह शरीर मनुष्यका स्वरूप नहीं है। उसका यह पांचभौतिक देह निश्चय ही मनुष्य नहीं है। यह तो उसे जीवन-यात्राके साधन रथके रूपमें कुछ दिनोंके लिये तथा केवल इसका सदुपयोग करनेके लिये मिला है। यह तो उसका यात्रागृह है। मनुष्य अपने अज्ञानसे अपने इस यात्रागृहमें ममभावसे आसक्त हो गया है। उसकी यह देहासक्ति ही उसका पाप है। वह चाहे तो इस देहका सदुपयोग भी कर सकता है। देहमें मनुष्यकी अनासक्ति ही उसका पुण्य है। कृमि, विष्ठा तथा मूत्रका पात्र यह क्षणभंगुर देह

देहधारीको पुण्य पापमेंसे किसी एकके साधनके रूपमें मिला है। देहधारीको पुण्य पापके साधनरूप इस देहका अच्छेसे अच्छा उपयोग करनेकी कलासे पूर्ण परिचय होना चाहिये।

पाठान्तर— कृमिशकृन्मूत्रभाजनं शरीरम्।

शरीर कृमि, विष्ठा तथा मूत्रका पात्र है। हीनपाठ है।

पाठान्तर— पुण्यपापमेव जन्महेतुः।

पुण्य पाप ही जन्मके कारण हैं। महत्वहीन पाठ है।

(दुःखका स्वरूप)

जन्ममरणादिषु दुःखमेव ॥ ५६८ ॥

जन्म-मरण आदियोंमें दुःख ही दुःख है।

विवरण— जन्म-मरणके अधीन रहनेवाले इस नाशवान देहको अपना स्वरूप समझ बैठनेवाली देहात्मबुद्धि रूपी अज्ञान ही दुःख है। देही जन्म-मरण दोनोंसे अतीत है। जन्ममरणातीत देहीको अपना स्वरूप समझ जाना ही दुःखातीत अखंड सुखमयी, चिरशांतिदायिनी, ज्ञानमयी, पावनी स्थिति है। जन्म, मरण, रोग, शोक, ताप, बंधन तथा विपत्तियोंकी भ्रान्तिमें फँसे रहनेमें दुःख ही दुःख भरा है। इनकी भ्रांतिमें फँसे रहनेसे ही मनुष्यको दुःखी बनाया है। वास्तविकता यह है कि मनुष्यका देही न तो जन्मता है न मरता है और न यह अन्य किसी असुविधा या विपत्तिमें फँसता है। देह ही जन्मता, मरता तथा अन्य कष्ट भोगता है। देहीको तो जन्ममरणादिका धोका ही धोका है। देही मानवको अपना यह अजन्मा, अजर, अमर, सनातन, सकलभूत साधारण रूप पहचानना है। अपना स्वरूप जान लेना ही देहीका ज्ञान है। जन्मने, मरने तथा कष्ट भोगनेवाले देहमें भ्रान्तिभरी देहात्मबुद्धि रखना ही उसका अज्ञानरूपी दुःख है और यही उसका दुःखमें डूबे रहना भी है। देहीके स्वरूपको न समझना ही उसका दुःख बन गया है।

(दुःखसे निस्तारेका उपाय)

तपसा स्वर्गमाप्नोति ॥ ५६९ ॥

तपसे स्वर्गका लाभ होता है ।

विवरण— इन्द्रियोंके द्वारा संसारको जानना ज्ञान नहीं है किन्तु सद्‌सद्विचार-बुद्धिके द्वारा संसारके वास्तविक रूपको पहचान जाना ही 'वास्तविक ज्ञान' है । संसारको इंद्रियोंके द्वारा जानना, चाहना तो अपनेको न जानना है । आत्मविस्मृति ही तो इंद्रियजनित संसार-ज्ञान है । मनुष्यका यह मायिक जगत् क्षणिक आत्मविस्मृतिमात्र है । इस दृष्टिसे संसारको इन्द्रिय भोग्य रूपसे जानना अज्ञान है । अपने स्वरूप देहीको पहचान जाना ही ज्ञान है । ज्ञानीका संपूर्ण जीवन-व्यवहार सुखदुःखातीत स्थितिमें रहकर होता है । उसका जीवन-व्यवहार सुखदुःखातीत स्थितिमें रहनेके कारण सत्यकी सेवारूपी तपश्चर्या बन जाता है । इन्द्रियलौल्य या भोगासक्ति मानवके देहीका स्वभाव नहीं है । उसका स्वभाव तो जितेन्द्रियता और अनासक्ति है । यही कारण है कि ज्ञानी समाजमें जितेन्द्रिय लोग पूजते और अजितेन्द्रिय सम्मानहीन होकर जीवनके दिन निष्प्रभताके साथ काटते हैं । देह इन्द्रियोंका पुतला है । चक्षु, कर्ण, नासिका आदि इन्द्रिय देहकी जीवितावस्था है । जबतक इन्द्रिय काम करती है तब तक ही देह जीवित रहता है । ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही इन्द्रियोंसे काम लेते हैं ।

जितेन्द्रिय ज्ञानी इन्द्रियोंका उपयोग सत्यस्वरूप आत्माके दर्शन तथा देहकी रक्षाके लिये करता है । वह आत्मदर्शनके लिये ही अपने देहकी रक्षा भी करता है । इसीको इन्द्रियोंके ऊपर देहकी प्रभुता भी कहते हैं और इसीको विदेहावस्था भी कहा जाता है । इन्द्रियाधीन या अजितेन्द्रिय मन तो अज्ञानकी स्थिति है । जितेन्द्रिय मन ही मनुष्यका स्वरूप है । इन्द्रियाधीन मन देहात्मबुद्धिमें फँस गया होता है । देहात्मबुद्धिमें फँसा हुआ इन्द्रियाधीन मन आत्मविस्मृतिरूपी अज्ञानकी स्थिति है । स्वतंत्र मन ज्ञान

अज्ञानमेंसे किसी एकके निर्वाचनकी समस्याके उपस्थित हो जानेपर ज्ञानको ही अपने जीवनका मार्गदर्शक बना लेता है। वह सत्यार्थ कर्तव्यपालनको ही अपने जीवनका ध्येय बना लेता है। उसका शरीर सत्यकी सेवामें समर्पित होचुका होता है। उसका शरीर सत्यकी सेवामें समर्पित होकर जीवन व्यापी तपश्चर्याका साधन बन जाता है। भोग-निवृत्ति ही मनुष्यका तपोमय जीवन है।

जीवनभर कामक्रोधादि आभ्यंतर रिपुओंका दमन करते रहना ही सच्ची तपस्या है। मनपर इन्द्रियोंकी प्रभुता न होने देकर इन्द्रियोंके ऊपर विवेकी मनकी प्रभुताकी स्थापना ही मनुष्यकी जितेन्द्रियता है और यही उसकी इन्द्रियदमन नामकी तपस्या भी है। यही वह तपस्या है जिससे मनुष्यको स्वर्ग अर्थात् सच्चा सुख मिलता है।

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं, तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्॥

ज्ञान ही ब्राह्मणोंकी तपस्या है। अत्याचार पीडितोंकी रक्षा ही क्षत्रियकी तपस्या है। धर्मानुकूल व्यापारसे अपनी तथा राष्ट्रकी श्री-वृद्धि ही वैश्यकी तपस्या है। सबकी तपस्यामें सबको योग देना ही शूद्रोंकी तपस्या है।

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥

संसारमें जो कुछ दुस्तर, दुराप, दुर्ग और दुष्कर है वह सब तपसे संभव है। तप अनभिभवनीय, अनतिक्रमणीय, अनिषेध्य, अमोघ स्थिति है।

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमोऽघृणा।
एतत्तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम्॥

अहिंसा, सत्य, आनृशंस्य, दम, अघृणा आदि तपस्याके रूप हैं। शरीर-परिशोषण तपस्या नहीं है। गीतामें तपके तीन भेद—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

देव, द्विज, गुरु तथा बुद्धिमानोंका पूजन, शौच, ऋजुता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा शारीरिक तप है। अनुद्वेगकारी सत्यप्रिय, हितकारी वाणी तथा स्वाध्याय करानेवाले सद्ग्रन्थोंका अभ्यास वाणीका तप है। मनका नैर्मल्य, सौम्यत्व, मौन, आत्मविनिग्रह, भावशुद्धि यह मानस तप कहाता है।

पाठान्तर— तपसा स्वर्गमवाप्नोति ।

(तपोवृद्धिका साधन)

क्षमायुक्तस्य तपो विवर्धते ॥ ५७० ॥

क्षमाशीलकी तपोवृद्धि होती है ।

विवरण— क्षमाके अर्थके विषयमें संसारको पर्याप्त भ्रम है। अपराधीको दण्ड न देना ही प्रायः क्षमाका अर्थ बन बैठा है। यह अर्थ समाज-व्यवस्थाका प्रबल शत्रु है। इसलिये क्षमा शब्दका यह अर्थ किसी भी प्रकार संभव नहीं है। वास्तवमें यह शब्द ऐसे प्रसंगके लिये बना ही नहीं है। यदि क्षमा शब्दका अपराधीको दण्ड न देना रूपी प्रचलित अर्थ मान लिया जाय तो क्षमाशील बननेके नामपर अपराधियोंको दण्ड देनेके लिये बनाये हुए न्यायालय बन्द कर देने पड़ें। आइये इस दृष्टिसे क्षमा शब्दका अर्थ ढूँढें— हमें क्षमा शब्दका ऐसा अर्थ ढूँढना पड़ेगा कि हम समाजमें सुव्यवस्था रखनेके लिये अपराधीको अदण्डित भी न रहने दें और क्षमाशील भी बने रह सकें। शत्रुके प्रति क्रोधको कभी न भूलना तथा उसे उसके अपराधका बदला भी देकर छोड़ना धर्मरक्षक धार्मिक लोगोंका

अत्याज्य कर्तव्य है। अब हमें धार्मिकोंकी इस कर्तव्यनिष्ठामेंसे क्षमाका संभव अर्थ ढूंढना है।

बात यह है मनुष्य, शत्रु या अपराधीके आक्रमणका उचित प्रतिकार तब ही कर सकता है जब वह उस आक्रमणको देखकर उत्तेजित न हो गया हो। यह तो मानना ही पडेगा कि मनुष्य स्थिर और शान्त बुद्धि रहकर शत्रुके आक्रमणका जितना अच्छा प्रतिकार कर सकता है उतना अशान्त होकर नहीं कर सकता। उत्तेजना या भडकाहटके अवसरपर शत्रु-विजयरूपी लक्ष्यकी सेवामें शान्त हृदयसे लगे रहना ही क्षमा शब्दका माननीय अर्थ हो सकता है। इस दृष्टिसे अपराधीको दण्ड देने योग्य बने रहना, निरपराधको अदण्डित रखना अर्थात् उत्तेजनाधीन होकर निरपराध-पर हाथ न छोड बैठना ही क्षमा है। उत्तेजनाजन्य भ्रान्तिसे अपराधी तक दण्ड न पहुँचा सकना अक्षमा है। अक्षमा प्रतिकार मूढताका ही नामान्तर है। यदि अपराधीको दण्ड देनेमें प्रमाद हो जाता है तो वह समाजके शत्रु-ओंको प्रबल बनाना हो जाता है।

मनुष्यके वास्तविक शत्रु उसहीके भीतर रहनेवाले कामक्रोधादि रिपु हैं। कामक्रोधादि रिपुओंके वशमें आकर जिसके साथ जो कोई व्यवहार किया जाता है वह वास्तवमें अक्षमा, उत्तेजना, प्रमाद या मूढता ही होता है। अक्षमाका परिणाम यही होता है कि बाह्य शत्रु अदण्डित रहकर सब समय शत्रुताचरण करनेके लिये स्वतंत्र हो जाते हैं।

समाजके शत्रु तब उत्पन्न होते, पलते, प्रोत्साहित होते और वृद्धि पाते हैं जब समाज उन्हें दण्ड देनेमें प्रमाद करता है। समाजमें सच्ची क्षमाशीलता न रहनेसे निरपराध तो दण्ड पाने लगते और अपराधी अदण्डित रहने लगते हैं। अपराधियोंके अदण्डित रह जानेसे समाजके शत्रु बढ जाते हैं।

मनुष्यके आभ्यन्तरिक क्रोधलोभादि शत्रु मनुष्यके मनमें समाजद्रोह करनेकी भावना उत्पन्न कर देते हैं। समाजद्रोही मनुष्य अपने स्वार्थको समाजके सार्वजनिक कल्याणका घातक बना लेता है। इसका परिणाम यह

होता है कि स्वार्थियोंके समाजमें कानूनकी पकड़में न आनेवाले समाजको लूटनेवाले समाजद्रोही लोग तो अदण्डित रहकर फूलते फलते हैं और समाजके शान्तिप्रिय लोगोंपर अत्याचारके मेघ बरसने लगते हैं।

अपने व्यक्तिगत कल्याणको समाजके सार्वजनिक कल्याणमें विलीन कर डालनेवाली मानवीय न्याय बुद्धि ही क्षमाशीलताका मर्म है। क्षमासे समाजमें शान्ति सुरक्षित रहनी चाहिये, न कि वह नष्ट हो जानी चाहिये। शान्तिरक्षामें भ्रान्ति क्षमाका दुरुपयोग है। क्षमा शान्तिरक्षाका निषेध या विरोध करनेवाली नहीं होनी चाहिये। क्षमा शब्दका मर्म समझनेके लिये जानना चाहिये कि दूसरेको क्षमा करना यथार्थ क्षमा नहीं है। अपने दोषोंका मानमर्दन ही क्षमा है। कामक्रोधादि आभ्यंतरिक दोष, मनुष्यके सच्चे सुखके मार्गमें विघ्न डालनेवाले अर्थात् उसके मनपर आक्रमण करनेवाले सच्चे शत्रु हैं। वे मनुष्यके कर्तव्यका मार्ग भी बिगाड़ते हैं तथा सुखके मार्गको भी नष्ट कर डालते हैं। इन शत्रुओंपर विजय दिलानेवाली जितेन्द्रियता ही क्षमा है और यही एकमात्र वह सफल तपस्या है जिसे मनुष्यको अपने जीवनमें अपनाना है। जितेन्द्रिय तपस्वी नित्य सुखका अधिकारी बन जाता है।

(तपस्या सर्वकार्य साधक)

तस्मात् सर्वेषां कार्यसिद्धिर्भवति ॥ ५७१ ॥

उस (तप) से सबके काम सिद्ध होते हैं।

विवरण— जितेन्द्रिय मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थको समाजके कल्याणमें विलीन कर डालता है। वह अपने स्वार्थको समाज-कल्याणमें विलीन करके जो कुछ करता है सबका सब सत्यकी सेवा होता है। वह सबका सब समाज कल्याणरूपी तपस्या ही होता है।

जितेन्द्रियता राज्यश्रीको सुरक्षित रखने तथा उसकी आयुको बढाने-वाली तपस्या है। ग्रन्थके प्रारंभमें ही 'राज्यस्य मूलमिन्द्रियजयः'

इन्द्रिय विजयको राज्यका मूल कहा जा चुका है। राजाओंके समस्त शुभ कर्म जितेन्द्रियता रूपी तपस्यासे सिद्ध होते हैं। जितेन्द्रिय ज्ञानी राजा फलाकांक्षासे रहित होकर कर्तव्यबुद्धिसे राजकाज करता है इसीलिये उसे भौतिक सफलता मिले या किसी कारणसे न मिल पाये वह सदा ही सफलताका संतोष पाता रहता है। जितेन्द्रिय तपस्वी राजा असफल होना जानता ही नहीं। वह अपनी जितेन्द्रियताको ही संसारका सर्वश्रेष्ठ तप और तपस्याको ही संसारका सर्वश्रेष्ठ फल मानता है। वह बाह्य संसारी फलोंका दास नहीं बनता। इसी कारण सफलता उसकी चेली बनकर उसके सामने किंकरके समान हाथ बांधकर खड़ी रहती है। सफलतामें उसके पाससे टलनेकी शक्ति नहीं रहती।

मनुष्य यह जाने कि कर्तव्यपालनका सन्तोष ही कर्तव्य-पालनका फल है। परन्तु यह एक ऐसी सचाई है जिसे विषय-लोलुप अजितेन्द्रिय पामर प्राणी लाख बतानेपर भी नहीं जान सकता। इस सत्यको तो जितेन्द्रिय मनुष्य ही जान सकता है। इस संसारमें जितेन्द्रियतासे ऊँचा और कुछ भी नहीं है। जितेन्द्रियता ही मनुष्यमात्रका अधिकार तथा मनुष्यमात्रके जीवनका लक्ष्य है। संसारकी सर्वश्रेष्ठ साधनाकी जो अन्तिम स्थिति है वही तो जितेन्द्रियता है। जितेन्द्रियता ही मानवजीवनका अन्तिम साध्य है। जितेन्द्रियता स्वयं ही फल है। वह किसी फलका साधन नहीं है। जैसे फलका कोई फल नहीं होता इसी प्रकार जितेन्द्रियताका इससे भिन्न और कोई फल नहीं है। वह स्वयं ही अपना फल है।

इति चाणक्यसूत्राणि।

चाणक्य सूत्र समाप्त।

ॐ

परिशिष्ट

प्रसंगोचित आलोचना

चाणक्य सूत्रोंका ऐतिहासिक आधार तथा चाणक्यकी प्रतिभाको विकसित करनेवाली भारतीय तथा वैदेशिक परिस्थिति—

जब ईसासे पूर्व चौथी शताब्दिमें पहले तो यूनानके राजा सिकन्दरने तथा उसके पश्चात् सेल्यूकसने भारतके उस समयके देशद्रोहियोंकी सहायतासे भारतपर आक्रमण किया था तब पश्चिमोत्तर भारतके कुछ देशप्रेमी वीरोंने न केवल इन दोनों आक्रामकोंको बुरी तरह पीट कर भगाया था और देशद्रोहियोंको मिटाया था। प्रत्युत अगणित खंडोंमें बंटकर अपने अपने राज्योंको अपनी अपनी भोगेच्छामूलक संगठित लूटका क्षेत्र बनाकर रखनेवाले तथा परस्पर कलह करनेमें लगे हुए भारतीय गणराज्योंको आजसे दुगने विस्तृत ही नहीं किन्तु सुसंगठित साम्राज्यका रूप देकर उसे संसारभरकी दृष्टिमें एक ऐसा अजेय राष्ट्र बना डाला था कि भविष्यमें शताब्दियों तक भारतपर वैदेशिक आक्रमणोंकी सम्भावनायें जाती रही थीं। उस समय भारतीय स्वाभिमानकी रक्षा करनेवाले साम्राज्यकी आधारशिला पश्चिमोत्तर भारतीय आर्योंके ही हाथों रक्खी गई थी। उस समयके पश्चिमोत्तर भारतके देशप्रेमी वीरोंने संसारभरके लोगोंपर भारतकी वीरताकी ऐसी छाप लगा दी थी कि फिर किसी भी विदेशीको बहुत दिनोंतक भारतकी ओर लालचभरी दृष्टिसे देखनेका साहस नहीं हुआ था।

सिकन्दरका भारतपर आक्रमण दैवकी अचिन्त्य इच्छासे भारतमें जिस आर्य साम्राज्यका जन्मदाता बन गया था जो साम्राज्य तीसरी पीढीमें बौद्ध साम्राज्यके रूपमें परिणत होकर कुछ दिन पश्चात् छिन्न भिन्न हो गया था उस विशाल साम्राज्यके सुयोग्य सम्राट् तो चन्द्रगुप्त मौर्यके तथा उस साम्राज्य तथा सम्राट दोनोंके निर्माता स्वनामधन्य महामति महर्षि चाणक्य थे जो दोनों ही पश्चिमोत्तर भारतके निवासी थे। चाणक्य चन्द्रगुप्त दोनों पश्चिमोत्तर भारतके निवासी होनेसे देशपर विदेशी आक्रमणकी हानियां प्रत्यक्ष देखी और अनुभव की। अपनी देशसेवाके इन दोनोंने इस अनुभवके आधारपर आपसमें यह मन्तव्य स्थिर किया कि एक राष्ट्रके रूपमें सुसंगठित भारत ही सफलतासे विदेशी आक्रमण रोक सकता है। विदेशी आक्रमणका पंजाबके गणराज्योंपर जो प्रतिकारात्मक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पडा वही प्रभाव आगे चलकर चन्द्रगुप्तके संयुक्त भारतीय सिंहासनका सम्राट् बननेका आधार बना। पंजाबकी ब्राह्मण जातियोंमें जो यवनोंके विरुद्ध विद्रोह हुआ उसका पूरक नेता चाणक्य ही था। चाणक्य चन्द्रगुप्त दोनोंकी ब्राह्मण क्षात्र शक्तियोंने अभिन्न हृदयसे मिलकर केवल चौबीस वर्षमें अपना अखण्ड भारतीय साम्राज्यका स्वप्न पूरा करके छोडा।

ऋषि चाणक्य सम्राट् चन्द्रगुप्तके तक्षशिला विश्वविद्यालयसे गुरु थे। उस समयकी वैदेशिक विपत्तिने इन दोनों संवेदनशील देशप्रेमी वीरोंके मनोंमें राष्ट्ररक्षाका प्रश्न उत्पन्न किया था और इन्हें उस आक्रमणका प्रतिरोध करनेके लिये प्रस्तुत कर दिया था। आर्य चाणक्य समय समय पर साम्राज्य-निर्माणरत चन्द्रगुप्तको आदर्श राज-चरित्र-निर्माणके जो जो पाठ सिखाया करते थे उन्हें उन्होंने उसके तथा भारतके भावी राजाओंके स्वाध्यायके लिये कौटल्य (कौटिल्य नहीं) अर्थशास्त्रके नामसे छः सहस्र श्लोक परिमाण ग्रन्थमें लिपिबद्ध किया था। यह बात उन्होंने अपने ही श्री मुखसे अर्थशास्त्रके अन्तमें कही है—

सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः॥

(कौटलीय अर्थशास्त्र २।१०।२८)

कौटल्यने बार्हस्पत्य आदि समस्त अर्थशास्त्रोंको जानकर उनके व्यावहारिक प्रयोगोंको अपने तात्कालिक राजनैतिक व्यवहारोंमें प्रत्यक्ष प्रयोगके द्वारा सुनिश्चित सत्यके रूपमें पाकर चन्द्रगुप्त राजाके लिये शासन विधिका उपदेश किया। अर्थात् कौटल्यने इस अपने शास्त्रमें अपने राजनैतिक विचारोंकी पूर्णता और सौष्ठवको पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। इस अनुद्यमान तथा व्याख्यायमान ग्रन्थमें अनुदित तथा व्याख्यात ५७१ चाणक्य सूत्र प्रायः उसी कौटलीय अर्थशास्त्रके निचोड हैं। ग्रन्थकारने इन सूत्रोंमें धर्म और राजनीतिको अलग समझनेवाले आजके पाठकोंके सम्मुख राजनीतिको धर्मसे अलग न होने देनेवाला अपना दृष्टिकोण रक्खा है और राष्ट्रकल्याणकी दृष्टिसे धर्म तथा राजनीति संबन्धी विचारोंके परिमार्जनका सफल प्रयास किया है।

मनुष्यसमाजको आदर्श समाज-रचना तथा आदर्श चरित्र-निर्माणके पाठ देकर उसे सच्ची सुखशान्तिका मार्ग दिखाना ही ब्राह्मण चाणक्यके आर्य जीवनका एकमात्र उद्देश्य था। आर्य चाणक्यको अध्यात्मसे अनुप्राणित भारतीय राजनीति तथा आर्षप्रतिभाका समन्वित तथा पूर्ण विकसित रूप कहना अत्युक्त नहीं है। उनके संबन्धमें यह भी अतिशयोक्ति नहीं है कि इस प्रकारकी व्यावहारिक बुद्धि रखनेवाले उलझन भरे राजनैतिक व्यवहारोंमें भी धर्मको सुरक्षित रखनेवाले राज्यसंस्थाको लूटका ठेका मात्र न रहने देनेवाले प्रत्युत उसे तपोवनका जगत् पावन रूप देनेवाले प्रतिकूल परिस्थितियोंसे संग्राम करके उन सबपर अपने बुद्धिबलसे विजय पा लेनेवाले चाणक्य जैसे व्यक्ति संसार भरके इतिहासमें देखनेको नहीं मिलते।

आर्य चाणक्यने ढाई सहस्र वर्ष पूर्व अपने जिन विश्राट कर्मोंसे भारतीय इतिहासको सुशोभित किया है और भारतमें अपने जैसे लोकोत्तर कर्मकी पुनः पुनः आवृत्ति होते रहनेका शाश्वत साधन प्रस्तुत कर देनेवाली अपनी राजनैतिक प्रतिभाको कौटलीय अर्थशास्त्र तथा चाणक्य सूत्रोंका रूप

देकर केवल भारतकी भावी पीढियोंको ही नहीं संसारभरको कितना अनुगृहीत किया है यह जो देखना चाहें वे इस भाष्यमें विस्तारसे दिखाये उनके मनोभावोंसे भली प्रकार जान सकते हैं। ग्रन्थकारकी लेखनीमें जो ओज, तेज, दृढता, साहस, आत्मविश्वास तथा राष्ट्रसुधारकी गहरी लगन है उसे देखनेसे पता चलता है कि उनके पास व्यक्तिगत जीवन नामकी कोई स्थिति नहीं थी। उनका जीवन समाजसुधारके लिये सर्वात्मना समर्पित हो चुका था। असाधारण प्रतिभाशाली अभ्रान्त मनोवैज्ञानिक अक्लान्त कर्मवीर तेजस्वी, तपस्वी, सूक्ष्मदर्शी, ज्ञानावतार चाणक्य पण्डितका नाम भारतके घर-घरमें सुपरिचित है। यही कारण है कि जैसे भारतमें कुशल वैद्यको धन्वन्तरि कहा जाता है इसी प्रकार व्यवहारमें अतिकुशल व्यक्तिको चाणक्य उपनामसे विभूषित किया जाता है। भारत ही नहीं पाश्चात्य देशोंके ज्ञानपिपासु विद्वानोंने भी चाणक्य-प्रचारित ज्ञान-सागरमेंसे रत्न-भंडार लेकर अपने देशोंके राजनैतिक साहित्यको समृद्ध किया है और इस भारतीय प्रतिभाके प्रति कृतज्ञताके साथ श्रद्धांजलि अर्पण करनेमें कृपणता नहीं की है।

आदर्श समाजरचना तथा आदर्श चरित्रनिर्माण दोनों एक दूसरेपर निर्भर करते हैं। इनपर एक साथ समान भावसे ध्यान देना अत्यावश्यक है। आदर्श समाज होनेपर ही राष्ट्रमें आदर्श चरित्र बनता है और आदर्श चरित्र होनेपर ही आदर्श समाजकी रचना होती है। आदर्श समाज ही आदर्श राजशक्ति पैदा कर सकता है। जिस देशमें आदर्श समाज नहीं होता वहां आदर्श राजशक्ति पैदा हो ही नहीं सकती। आदर्श राजशक्तिके बिना समाज आदर्श समाज बना नहीं रह सकता।

अवैध भोगोंसे बचे रहना ही मानव-जीवनकी विशेषता है और यही मानव-जीवनका आदर्श भी है। आदर्श राजा ही आदर्श समाजका सेवक तथा संरक्षक हो सकता है। आदर्श समाज तथा आदर्श राजा दोनों अनिवार्य रूपमें एक दूसरेके पूरक अनन्य प्रेमी तथा श्रद्धालु होते हैं। कोई भी पतित राजा आदर्श समाजपर शासन नहीं कर सकता। जहां पतित

राजा शासन कर रहा है जान लो कि वहांका समाज निश्चित रूपसे आदर्श हीन है और पतित है। आदर्श राजा अपनी पूरी शक्ति लगाकर समाजमें अपवित्रताको उत्पन्न होने, घुसने तथा फूलने फलनेसे रोके रहता है।

आर्य चाणक्य भारतका आदर्श नागरिक तथा भारत माताका अत्यन्त यशस्वी सूपूत था। आर्य चाणक्य उन विशेष आदर्श सेवक पुरुषोंमेंसे था जो अपने टूटे-फूटे जैसे तैसे रद्दी राष्ट्रकी सेवाके नामसे दिन न काटकर राष्ट्रको यथार्थमें जैसा होना चाहिये वैसा बनानेके लिये अनर्थक परिश्रम करके गये हैं। आदर्श पुरुष आदर्श राष्ट्रकी दिव्य मूर्तिकी कल्पना करके सारे राष्ट्रको उसीके अनुसार ढालनेमें लग जाया करते हैं। वे देशको इतनी मुख्यता नहीं देते जितनी अपने आदर्शको देते हैं, वे अपने आदर्शको मुख्यता देकर सारे राष्ट्रको उसकी इच्छा अनिच्छासे निरपेक्ष रहकर अपने आदर्शके पीछे घसीटते ले जाते हैं। उनका आदर्श राष्ट्र संसारमें कभी मूर्त-रूप धारण कर सके या न कर सके वे तो अपनी संपूर्ण शक्ति उसीकी सेवामें लगाते रहते हैं। उनकी कल्पनाका आदर्श राष्ट्र उनकी संपूर्ण सेवाशक्तिको अपनी ओर आकृष्ट किये रहता और उन्हें सेवाका सन्तोष देता रहकर तृप्त रखता है। भारत माताके सूपूत चाणक्यके सम्मुख भारतके कलहाय-मान भोगमग्न समाज तथा राजा दोनोंको अपने आदर्शपर आरूढ कर देनेका गंभीर कर्तव्य उपस्थित हुआ जो पूर्णतया सफल हुआ था। उन दिनों भारतमाताके उस एक ही सूपूतके अक्लान्त परिश्रमसे भारत परा-भूत होनेसे बच गया था।

> एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम्।
> सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी॥

सिंहनी अपने अकेले पुत्रके बल और पुरुषार्थसे जंगलमें निर्भय रहती है जब कि गधीको अपने दसों पुत्रोंके साथ बोझ ढोना पड़ता है।

भारतकी उस समयकी निर्बल राजनैतिक परिस्थितिने चाणक्य जैसे विचारशीलकी ब्राह्मी प्रतिभाको तथा उसके शिष्य चन्द्रगुप्त जैसे वीरकी

क्षात्र प्रतिभाको राजनैतिक तथा सामाजिक दोनों कर्मक्षेत्रोंमें उतरनेके लिये विवश कर डाला था। उस समयकी देशकी आभ्यन्तर बाह्य दोनों परिस्थितियोंने चाणक्य जैसे विचारशीलकी सर्वतोमुखी प्रतिभाको देशके संकटमें काम आने तथा देशमें स्वार्थके स्थानपर मनुष्यताके नामपर काम करनेवाली शक्तियोंको झकझोर कर, जगा जगाकर व्यावहारिक क्षेत्रमें खड़ा करनेका ऐसा इतना तीव्र निमंत्रण दिया था जिसे चाणक्य जैसा संवेदन-शील व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सका। देशकी उस समयकी जिस परि-स्थितिने चाणक्यकी नीतिको व्यवहार भूमिमें आनेका अवसर दिया था उसका पूरा चित्रण करनेके लिये पश्चिमके प्रसिद्ध आततायी सिकन्दरके चरित्रकी आलोचना करना प्रासंगिक तथा अत्यावश्यक है।

पाश्चात्य ऐतिहासिकोंमेंसे कुछ तो सिकन्दरको महान् विश्वविजेता तथा कुछ उसे विश्वविख्यात आततायीके नामसे स्मरण करते हैं। लगभग सवा दो सहस्र वर्ष पूर्व यूनानमें सिकन्दरका अभ्युदय हुआ था। वह रणोन्मत्त था। उसे केवल बीस वर्षकी अवस्थामें अपने आततायी पिताका केवल राज-सिंहासन ही नहीं मिल गया था किन्तु उसे साथ ही अपने पिताकी पर-राज्य-लोलुप मनोवृत्ति उत्तराधिकारके रूपमें मिली थी। उस समय यूना-नमें सामरिक एकतन्त्र शासन (मिलिटरी मोनर्की) का प्रादुर्भाव हो चुका था। सैन्यबलसे बलवान् होकर जनतापर मनमाना अत्याचार करना, लोगोंको डरा-धमकाकर उनपर प्रभुत्व जमाये रखना तथा सैनिकोंको लूटके मालका लोभ देकर राज्य-विस्तार करना पश्चिमके अत्याचारी राजाओंकी राजनीति बन गई थी।

सिकन्दरका पिता फिलिप इसी पशुशक्तिके बलसे यूनानका अधिपति बना था। उसे देशके साथ विश्वासघात करनेके कारण एक गुप्त हत्यारेके हाथों देशद्रोहीकी मौत मर जाना पड़ा था। उस समय यूनानमें सशस्त्र राजकीय अत्याचारोंका बोलबाला हो रहा था। उस समयकी यूनानी राज्य-व्यवस्था लूटका ठेका (इजारा) मात्र रह गई थी। उस समय यूनानी

राजनैतिकोंने इस सशस्त्र राजकीय अत्याचारके विरोधमें जनताको जगाने तथा उससे स्वतंत्रताकी रक्षा करानेके पर्याप्त प्रयत्न किये थे। उस समयके इतिहास प्रसिद्ध वाग्मी डीमस्थनिसने स्पष्ट शब्दोंमें यूनानी जनताको यह सावधान वाणी सुनाई थी कि 'फिलिप सम्पूर्ण यूनानका शत्रु है। इसे राज्याधिकार मिल गया है। यदि इसे अपने उद्देश्यमें सफलता मिल गई तो यह यूनानको दास बनाकर छोडेगा। यदि यूनान अपनी स्वतंत्रताकी रक्षा करना चाहे तो वह अपने पारस्परिक कलहको तो छोड दे और अपने स्वतंत्रता नामवाले जन्मसिद्ध अधिकारकी रक्षाके लिये संयुक्त व्यूह (मोरचा) बनाकर अत्याचारी राजके विरुद्ध संग्राम घोषणा करे।' परन्तु यूनानके हितैषीकी यह सावधान वाणी यूनानने नहीं सुनी और फिलिपकी हत्याके पश्चात् उसका उत्तराधिकारी सिकन्दर सैन्य सामन्तोंकी शक्तिमें अपने पिता फिलिपसे भी बढ गया। उसने सैन्य सामन्तोंकी शक्तिसे शक्तिमान होकर सारे यूनानको दास बना लिया और दिग्विजयके लिये निकल पडा।

ग्रीक ऐतिहासिकोंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि हमारे जिस यूनानने प्रसिद्ध दार्शनिक विचारशील समाज-सेवक तथा प्रजावत्सल राजा उत्पन्न किये हैं उसीके निवासी हम लोगोंके लिये अपने यूनानको सिकन्दरके जन्मदाताके नामसे कलंकित होते देखना और इसके दुष्ट राजका कुछ न बिगाड सकना बडे ही परितापका विषय है और किसी भी रूपमें वाञ्छनीय नहीं है। सिकन्दर भूमण्डलके विख्यात आततायियोंमें गिना जाता है। प्रभुताप्रिय रणोन्मत सिकन्दरका जीवन नृशंस हत्याओं परतन्त्रताके विरुद्ध उठ खडे होनेवाले स्वतंत्रताप्रिय विजित व्यक्तियोंके अंगच्छेद आदि अमानुषिक अत्याचारों, विश्वासी मित्रों, राजनैतिक नेताओं तथा न्यायप्रिय नागरिकोंका अस्तित्व मिटा डालनेके लिये सब प्रकारके पाशविक उपायोंके अवलम्बनोंसे परिपूर्ण था। भू-माताको निर्दोष लोगोंके रक्तोंसे रँगना तथा उसे अत्याचारियोंके आँसुओंसे सींचना उसकी मनोरंजक क्रीडा थी। वह अपनेको

ईश्वरका अवतार कहने लग गया था। उसे योरोपका हिरणाकुश कहना चाहिये। वह अपना विरोध करनेवालोंकी हत्या कर देता था और अपने अवतारपनेको निष्कंटक करनेकी नीतिसे काम लेता था। जो उसके अवतारपनेका समर्थन नहीं करता था वही उसका वध्य बन जाता था। उसकी इन आततायी प्रवृत्तियोंके कारण संसार उससे ठनके लगा था।

संसारके संत्रासक सिकन्दरको भारतसे निकाल कर भारतको उसके दुष्ट भारसे मुक्ति दिलानेमें जिन भारतीय देशभक्तोंकी प्रतिभा तथा रणकौशलने पूरा सहयोग दिया था। आर्य चाणक्य भारतके इन सब देशसेवकोंके सुयोग्य नेता थे। कामन्दकीय नीतिशास्त्रमें चाणक्यके व्यक्तित्वके संबन्धमें निम्न प्रामाणिक विवरण विद्यमान हैं– इससे चाणक्य संबन्धी बहुतसी निराधार किंवदन्तियोंका अपने आप संशोधन हो जाता है।

> वंशे विशालवंश्यानां ऋषीणामिव भूयसां।
> अप्रतिग्राहकाणां यो बभूव भुवि विश्रुतः ॥ २ ॥
> जातवेदा इवार्चिष्मान् वेदान् वेदविदां वरः।
> योऽधीतवान् सुचतुरः चतुरोऽप्येक वेदवत् ॥ ३ ॥
> यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
> पपातामूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः ॥ ४ ॥
> एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः।
> आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥ ५ ॥
> नीतिशास्त्रामृतं धीमान् अर्थशास्त्रमहोदधेः।
> समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥ ६ ॥

"मैं वेधा अर्थात् समाज निर्माता जगद्वरेण्य उस विष्णुगुप्तको प्रणाम करता हूं जो उस प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवारमें उत्पन्न हुआ था जिसके सदस्य ऋषितुल्य थे, दान दक्षिणा नहीं लेते थे और समाजमें सम्मानका सर्वोच्च स्थान पाये हुए थे। विष्णुगुप्त होमाग्निके समान ज्योतिर्मय वेदान्तके आदर्शोंको अपनानेवालोंमें अग्रगण्य और प्रतिभासे चारों वेदोंपर एक जैसा

अधिकार पाये हुए थे। उन्होंने अपनी अलौकिक शक्तिके दीप्त वज्रसे पर्वत-तुल्य विशाल नन्दवंशको मिटा डाला था, उस अकेलेने अपनी बुद्धि, प्रतिभा तथा देव सेनापतियों जैसी वीरतासे चन्द्रगुप्तको लोकप्रिय राजा तथा पृथिवी पति बना दिया था। जिसने अर्थशास्त्र रूपी समुद्रका मन्थन करके लोगोंको राष्ट्रनिर्माणकी कलासे परिचित करानेके लिये राजनीति नामक अमृतका उद्धार किया था।" चाणक्य संबन्धी इस स्तुति वाक्यमें जिस नन्दवंशके ध्वंसका उल्लेख है, सिकन्दरके भारत-आक्रमणका उस नन्दवंशके साथ विशेष संबन्ध है।

सिकन्दरकी आसुरी-समर-यात्राका उद्देश्य ईरानके मार्गसे भारतपर आक्रमण करना और भारतका सम्राट् बनकर विश्वसम्राट् बनना था। दैवकी अचिन्त्य इच्छासे उस समय समस्त भारतके भाग्यका प्रतिनिधित्व करनेकी भावना निष्किञ्चन परन्तु बुद्धिके धनी विप्र चाणक्यके मनमें जाग उठी। विप्र चाणक्यकी अनागतविधात्री बुद्धिने अश्वक नामक क्षत्रिय जातिके अधिपति चन्द्रगुप्तको जो चाणक्यका आज्ञाकारी ही आत्मसमर्पणी राजनैतिक अन्तेवासी बन चुका था। सिकन्दरकी भारताभिमुख गतिको भारतमें घुसनेसे भी पहले रोक देनेके लिये ईरानकी सहायताके नामसे ईरान भेज दिया था। ईरान निर्बल तथा हतोत्साह और वहां मनुष्यत्व तथा स्वाभिमानके नामपर करनेवाली शक्तियोंका सर्वथा अभाव था। वह सिकन्दरके डण्डेके सामने सिर झुकानेको प्रस्तुत बैठा था। चन्द्रगुप्तने अपनी परम साहसी अश्वक सेनाओंके द्वारा सिकन्दरके मार्गमें पग-पगपर विघ्न उपस्थित किये परन्तु उसे रोका नहीं जा सका। उस समय अवसरवादी चाणक्यने, सिकन्दरको विश्वासमें लाकर उसके सहायकों तथा उसकी सेनाओंमें विद्रोह पैदा करके उसे पछाडनेकी दृष्टिसे चन्द्रगुप्तसे सिकन्दरके प्रति कपट आत्म-समर्पण करा दिया।

सिकन्दरकी यही नीति थी कि स्थानिक विरोधी राजाओंके आत्मसमर्पण कर देनेपर वह उन्हींको वहांका आधिपत्य सौंपकर उन्हें अपना लेता

था। यही उसका वैदेशिकोंसे सहायता पाने और सामरिक मार्गको सुरक्षित रखनेका एकमात्र उपाय था। उसने चन्द्रगुप्तके आत्मसमर्पणको अपनी नीतिकी सफलता मानकर विश्वास करके भारतके प्रवेशमार्ग पर बने हुए महत्वपूर्ण आरनस नामक दुर्गका अधिपति बना दिया। चन्द्रगुप्त पूर्वनिश्चित कार्यक्रमके अनुसार इस महत्वपूर्ण स्थानको पाकर अपने सिकन्दर विरोधी उद्देश्यकी पूर्तिमें लग गया। इस मध्यमें पश्चिमोत्तर प्रान्त सिकंदरके अत्याचारोंसे पूर्ण रूपमें क्षुब्ध हो चुका था और वह किसी सुयोग्य नेताके नेतृत्वमें सिकन्दरका अदम्य विरोध करनेके लिये उतावला हो रहा था। जब पश्चिमोत्तर भारतीय प्रदेशके आदि क्षत्रिय तथा ब्राह्मण लोग मिलकर सिकन्दरके पाशविक अत्याचारोंके प्रतिशोधके लिये उठ खड़े हुए। तब परिस्थितिने चन्द्रगुप्तको सिकन्दरके विद्रोहियोंका नेतृत्व करनेके लिये विवश कर डाला। जब सिकन्दरको चन्द्रगुप्तकी इस राजनैतिक गतिविधिका पता चला तब उसने उसका वध करनेकी आज्ञा दी। इस समाचारको पाकर चन्द्रगुप्त खुल्लमखुल्ला विद्रोहियोंका सहायक और नेता बन बैठा।

देशद्रोही तक्षशीला-नरेश अम्भीक अपने पड़ौसी शक्तिशाली शत्रु पंचनन्द नरेश पुरुराज (पर्वतक) को विनष्ट करनेके लिये सिकन्दरसे जा मिला। इन दोनोंने मिलकर आसपासके प्रदेश जीतने प्रारंभ कर डाले। सिकन्दर पश्चिमोत्तर भारतकी छोटी-छोटी सफलताओंसे बहककर अपने साम्राज्य विस्तारके कार्यक्रमके अन्तर्गत पर्वतेश्वर पुरुराजको विजय करनेका कार्यक्रम बना बैठा और उसे अभिसार नरेश आदि दूसरे राजाओंसे संगठित होकर बलशाली बननेका अवसर न पाने देनेके लिये शीघ्रतासे झेलम के तटपर उसके सम्मुख आ डटा। इन दोनोंकी शीघ्रतासे पर्वतेश्वर अकेला रह गया। परन्तु वह अकेला रह जानेपर भी शक्तिशाली राजा था। उसकी सेना सुव्यवस्थित थी। सिकन्दर आक्रमण तो कर बैठा परन्तु इस युद्धके प्रारंभिक दिनोंसे ही उसे लेनेके देने पड़नेकी समस्या उपस्थित दीखने लगी। यहांतक कि प्रथम तो उसे झेलम पार करना ही अत्यन्त कष्टसाध्य

हो गया। फिर उसे पर्वतेश्वरकी हाथियोंकी उन सेनाओंसे लोहा लेना पड़ा जिनका सिकन्दरकी सेनाओंको कोई अनुभव ही नहीं था और उसे जिनकी अजेयताकी कल्पना भी नहीं थी।

पुरुराजके उद्भट योद्धा हाथियोंकी सेनाने सिकन्दरकी सेनामें विध्वंस मचा डाला। उसके रणबाँकुरे हाथी रणक्षेत्रमें सूंडोंसे शत्रुसैनिकोंको पकड पकडकर अपने सशस्त्र महावतोंसे उनका सिर कटवा कर उन्हें कमल वनकी भाँति पैरोंसे कुचल डालते थे और यूनानी सेनाके सैनिकोंकी हड्डियों तथा कवचोंको पैरोंसे पीसकर चूर-चूर कर देते थे। जीवित सैनिकोंको सूंडसे पकडकर धरतीमें दे मारते थे। यों पर्वतेश्वरके हाथियोंने यूनानी सेनाको प्रायः नष्टभ्रष्ट कर डाला। सिकन्दरके अधिकांश घुडसवार इस युद्धमें मारे गये। यह देखकर उसकी सेनामें आतंक छा गया और वह सिकन्दरको त्यागकर शत्रुपक्षमें आत्मसमर्पण करनेको प्रस्तुत हो गयी। अब उसके पास पर्वतेश्वरसे तत्क्षण संधिप्रार्थना करनेके अतिरिक्त आत्मरक्षाका और कोई उपाय नहीं रहा।

संसारमें स्वार्थप्रेरित तथा कर्तव्यप्रेरित दो प्रकारके योद्धा होते हैं। कर्तव्यप्रेरित योद्धा अपने अन्तिम श्वासोंतक अपने लक्ष्यकी सेवा करते रहनेके लिये युद्धमग्न रहकर अपना यश अमर कर जाते हैं। स्वार्थप्रेरित योद्धा स्वार्थोंपर चोट आते ही श्वेत झण्डा दिखाकर आत्मसमर्पण कर देते हैं। यही दशा आततायी सिकन्दरकी सेनामें उपस्थित हो गई थी। निराश होकर सिकन्दरको युद्ध रोकनेकी आज्ञा देनी पड़ी और पर्वतेश्वरके सामने इस प्रकार विनती करनी पड़ी कि ओ भारतीय राजन्! पर्वतेश्वर! मुझे क्षमा कर। मैं तेरा शौर्य तथा बल पहचान गया। अब विपत्ति सहीं सही जाती। मेरा हृदय पूर्ण व्यथित है। मैं नहीं चाहता कि मेरे साथ आने-वाले समस्त लोग नष्ट हों इन्हें मौतके मुँहमें लानेवाला मैं हूं। अपने सैनिकोंको मृत्युमुखमें धकेलना मेरे लिये किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं है।

आततायीके इस प्रकार सर्वतोमुखी विनाशके समय सदा नहीं आया करते। राजनैतिक सूझ बूझ रखनेवाले व्यक्तिके लिये यह एक ऐसा शुभ

अवसर हाथ आया था कि इसे तुरन्त हथकडी पहनाकर नष्ट कर डालना चाहिये था। परन्तु सब यह तब होता जब पर्वतेश्वरको अपने देशकी कोई चिन्ता होती। उसे तो केवल अपनी चिन्ता थी। उसने आत्मसमर्पणके लिए विवश हो जानेवाले पर्वतकको शिकारीको हाथ लगे खूँखार कुत्तेके समान अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाका साधन बना लेना चाहा और उसके सहयोगसे भारतीय राजाओंको पराजित करके भारतका सबसे बडा प्रतापी राजा बननेका मनोरथ ठान लिया।

यदि वह देशप्रेमी होता तो ऐसा कभी न करता। इस प्रकारकी चिन्ता उसका राजनैतिक दिवालियापन था। यदि वह देशप्रेमी होता तो उसे सिकन्दरको उसी समय नष्ट कर डालना चाहिये था और उस आततायीका मुंड काटकर भारतमाताके चरणोंमें भेंट चढाना चाहिये था। कुछ लेखकोंका कहना है कि पर्वतेश्वरने शत्रुको क्षमा करनेकी क्षात्र परम्पराके अनुसार संधिप्रार्थीपर प्रहार नहीं किया। परन्तु यह बात नहीं थी। उसकी देशद्रोही राज्यलोलुप मनोवृत्तिने उसे अँधा बना डाला था और वह अपनी फूटी आँखोंसे सिकन्दरको मिटा डालनेके सर्वोत्तम अवसरको नहीं पहचान सका। उस समय वह देशकी ओरसे न सोचकर अपने व्यक्तित्वकी दृष्टिसे सोचकर भ्रान्त निर्णय कर बैठा।

सिकन्दरने तो संधिको आत्मरक्षाका साधनमात्र बनाया था। वह तो आततायी भेडियेकी भूख लेकर अपने देशसे समराभियानके लिये चला था। झेलमके तटपर अपने भाग्यका पासा पलटता देखकर संधिप्रार्थना तो उसकी आत्मरक्षाकी एक चाल थी। उसके मनमें तो विश्वसम्राट् बननेकी महत्वाकांक्षा पहलेसे ही विद्यमान थी जो अब भी नहीं मिटी थी। सिकन्दरने पर्वतकको अच्छा धोका दिया। उसने भारतको जीतकर अपनी विश्वसम्राट् बननेकी महत्वाकांक्षा पूरी करनेके लिये उस जैसे शक्तिशालीको अपना भारतीय साधन बना लेनेका निश्चय कर लिया। उसको भारतका सम्राट् बनानेका लालच देकर ठगा और संधि पक्की कर ली।

उस समय मगध भारतके गणराज्योंमें सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य था। पर्वतककी दृष्टि भारतका सम्राट् बननेके लिये सबसे प्रथम मगधकी ओर गई और उसने सोचा कि यदि मुझे मगधका सिंहासन मिल जाय तो भारतके भिन्न-भिन्न खण्ड राज्योंको अपने अधिकारमें कर लेना सुगम हो जायगा। पर्वतक देशके शत्रु सिकन्दरको नष्ट करनेका सुअवसर भूलकर विदेशी सहायतासे भारतका सम्राट् बननेके लोभमें उलझकर सिकन्दरकी मनोवांछित संधिके द्वारा युद्ध स्थगित करके इतने बड़े विश्वविख्यात आततायीको क्षमा कर बैठा। भारतमें सिकन्दरपर मार पड़नेके जो दिन इस युद्धके पश्चात् उपस्थित हो रहे थे इस संधिने उन्हें कुछ दिनके लिये और टाल दिया और सिकन्दर कुछ दिन पर्वतकका रक्षित दुष्ट अतिथि बनकर रहा। उसने उसके राज्यके आसपासके कुछ प्रदेश जीतकर पर्वतकके राज्यमें मिला दिये और पर्वतकका विश्वासपात्र बननेका अभिनय किया।

पर्वतककी विदेशियोंके कर्तृत्वसे भारतका सम्राट् बननेकी यह दुष्ट बुद्धि भारतके सर्वनाशका कारण बनने जा रही थी कि सौभाग्यसे महामति चाणक्यको उसकी इस देशद्रोही दुष्ट बुद्धिका पता चल गया। चाणक्य समझ गया कि सिकन्दर देशद्रोही पर्वतकको ठग लेना चाहता है। और पर्वतक लोभमें आकर इस शत्रुका नाश करनेमें प्रमाद कर गया है। उसने काँटेसे काँटा निकालनेकी नीतिसे काम लिया और देशद्रोही पर्वतकको केवल तात्कालिक रूपमें समझाकर इन दोनोंकी दुष्ट संधिको यह कहकर तुड़वाकर छोड़ा कि, "तुम सिकन्दरका विश्वास करके मगधका सिंहासन कभी नहीं पा सकते। इसलिये नहीं पा सकते कि यह सन्धि तुम्हें ठगनेके लिये ही की गई है। सिकन्दर तुम्हें अन्तमें तब ठगेगा जब तुम उसका कुछ न कर सकनेकी स्थितिमें होगे और उसके हाथमें शक्ति जा चुकी होगी।"

"जिस सिकन्दरने आजतक विश्वासघातके अतिरिक्त किसीसे कोई वर्ताव किया ही नहीं क्या वह तुमसे अपना काम निकाल लेनेके पश्चात् तुम्हें सम्राट्

बन जाने देनेके लिये जीवित छोडेगा। यदि तुमने उससे संधि बनाये रक्खी और उसकी सहायतासे मगधका सिंहासन लेना चाहा तो स्मरण रखना कि मगधका सिंहासन तो तुम्हें उल्लू बनाकर तुम्हारी शक्तिसे उसके अधिकारमें चला ही जायगा। साथ ही भारत सदाके लिये उसकी लूटका क्षेत्र बन जायगा। यदि तुम मेरे सुझावपर ध्यान नहीं दोगे तो भारत भी यूनान, ईरान तथा मिस्रकी भाँति यवनोंकी आसुरी लीलाका क्षेत्र बन जायगा। तुम स्वयं इतने बडे शक्तिशाली होकर इस नीच विदेशीकी सहायतापर क्यों निर्भर होते हो? मगधका सिंहासन तो हम ही तुम्हें अतिसुगमतासे दिलवा देंगे। हमारी प्रेरणासे तुम्हें उस चन्द्रगुप्तकी सहायता भी मिल जायगी जो पश्चिमोत्तर भारतीय प्रदेशोंमें सिकन्दर विरोधी विद्रोहोंका सफल नेतृत्व करनेके कारण सीमाप्रान्तकी एक शक्तिशाली सत्ता बन चुका है। यदि तुम हमारा कहा नहीं मानोगे और तुम सिकन्दरको लेकर मगधपर आक्रमण करोगे ही, तो हम पश्चिमोत्तर भारतकी समस्त शक्तियोंको साथ लेकर अपनी संपूर्ण शक्तिसे तुम्हारा विरोध करायेंगे। तब हमें और चन्द्रगुप्तको अपने भारतको विदेशी आक्रमणसे बचानेके नामपर तुम्हारे साथ लोहा लेना पडेगा।"

"जिस समय तुम अज्ञानवश देशके शत्रु सिकन्दरका साथ दे रहे होगे वह समय तुम्हारे लिये शुभ सिद्ध नहीं हो सकेगा। तुम इसी राजनैतिक उलझनोंमें उलझकर लुप्त हो जाओगे।" चाणक्यका मन्त्र काम कर गया। पंचनद नरेश पर्वतक उनके परामर्शको मान गया। वह अभागा मान तो गया परन्तु सीधे मार्गसे या सद्भावनासे नहीं माना। वह भारत-रक्षाके नामपर न मानकर मगधका सिंहासन पानेके लोभसे माना। यदि वह निष्कपट देशप्रेमी होता तो संभव था कि चाणक्यको उसको भारतका भावी सम्राट् बनानेके लिये विवश होना पड जाता। क्योंकि वह स्वभावसे भारतका शक्तिशाली राजा था। अब पर्वतकको चाणक्यका परामर्श माननेमें अपनी स्वार्थसिद्धिकी निश्चित संभावना दीखने लगी और इसलिये उसने सिकन्दरकी सहायताकी कल्पना त्यागकर संधि भंग कर डाली।

सिकन्दरकी सहायताकी कल्पना त्यागते ही उसने अब तक जिस सिकन्दरको अपनी रक्षा (शरण) में ले रक्खा था उसे हटा दिया और तब सिकन्दरको उसके देशसे बाहर निकल जाना पड़ा। इन राजनैतिक दाव-पेंचोंमें सिकन्दरको जिसने भारतमें अपने अनन्त शत्रु बना लिये थे फिर अनेक झल्लाये हुए घातक शत्रुओंके मध्यमें निराश्रित स्थितिमें चला जाना पड़ा। ज्योंही सिकन्दर उसके आश्रयसे विच्छिन्न हुआ त्योंही चाणक्यके पूर्वनिर्दिष्ट कार्यक्रमके अनुसार उसपर उसका विद्रोह करनेपर तुले हुए गणराज्योंकी ओरसे भयंकर मार पड़नी प्रारंभ हो गई। सिकन्दरको स्वयं व्यक्तिगत रूपमें भी मल्लोंसे युद्धके समय अच्छी मार खानी पड़ी और मरनेसे बाल बाल बच पाया। शरीर घावोंसे इतना छिद गया था कि जीवित रहना आश्चर्यकी बात मानी गई थी। अपनी हतोत्साह सेनाको उत्साहित करनेके लिये कई बार अपने जीवनको संकटमें डालना पड़ा।

घटनाचक्र इस प्रकार घूमा कि चन्द्रगुप्तने पूर्व षड्यन्त्रके अनुसार पहले तो सिकन्दरकी सेनामें फूट पैदा करके उसकी सेनामें मगधपर आक्रमणके सम्बन्धमें ही विद्रोह पैदा करा डाला था। उसके पश्चात् उसपर चारों ओरसे आक्रमण करवाने प्रारंभ कर दिये। उसने अपनी राजनैतिक प्रतिभासे सिकन्दरके लिये ऐसी विषम परिस्थिति पैदा कर डाली कि उसे विश्व सम्राट् बननेका सपना तो मध्यमें छोड़ ही देना पड़ा, साथ ही उसके सामने भारतसे अपनी जान चुराकर भाग निकलनेका प्रश्न मुख्यरूप लेकर उपस्थित हो गया। चन्द्रगुप्तने अपनी तथा अपने मित्रोंकी विद्रोही प्रबल सेनाओंकी नियुक्तिसे सिकन्दरका भारतसे लौटनेका वह मार्ग जिससे वह भारत विजय के लिये गर्वके साथ आया था, अगम्य बना दिया। उस मार्गके वे अधिवासी जिन्हें पहले सिकन्दरने अपने अत्याचारोंका आखेट बनाया था उसकी जानके गाहक बन गये थे और कठोर प्रतिहिंसाका अवसर ढूँढ रहे थे। पर्वतकके आश्रयसे विच्छिन्न होते ही सिकन्दरकी भारतमें वह गति हो गई थी जो पराये गाँवमें जा फँसे निरुपाय कुत्तेकी हो जाती है।

सिकन्दरने इसी विवशतासे स्वदेश लौटनेका सीधा मार्ग त्यागकर सिन्ध और मकरानके रेगिस्तान तथा समुद्रके मार्गसे भाग निकलना चाहा। पर्वतकको विजय न कर सकनेके समाचारने सिकन्दरके अत्याचारित पश्चिमोत्तर भारतमें, उसके विरुद्ध विद्रोहको और भी अधिक भडका डाला था। यह विद्रोह सुसंगठित तथा शक्तिशाली बन चुका था। इसे दबाया नहीं जा सका। सिकन्दरको इसी विराट् विद्रोहकी लपेटमें आकर सिंध तथा मकरानके ऊबड खाबड मरुस्थलोंके उस दुर्गम मार्गसे, जिसमें खाद्य तथा पेय सामग्री मिलनी कठिन हो गई थी और जिसमेंसे सेनाकी सामग्रीको ले चलना दुष्कर हो जानेके कारण पडावोंपर ही छोड देना पडता था, भागना पडा, तथा अपनी छोटी छोटी उन नौकाओंसे जो पंजाबकी नदियोंके भी योग्य नहीं थीं, समुद्रके उस पथसे वहांका ऋतु सावन भादोंकी वायुसे सर्वथा विपरीत हो चुका था, स्वदेश भागनेके लिये विवश हो जाना पडा। इन मार्गोंके कारण उसकी बची खुची सेनाका भी अधिकांश नष्ट हो गया।

उसकी सेनापर भारतमें जिस प्रकार मार और कष्ट पडे उसका कुछ आभास इस समाचारसे मिल सकता है कि उसके अवशिष्ट सेनापति तथा सैनिक आदि इतने विवर्ण हो चुके थे कि अपने देशमें लौटनेपर पहचाने तक नहीं जा सके। सिकन्दरसे उत्पीडित सिन्ध तथा बिलोचिस्तान आदिकी समस्त विद्रोही जातियोंका नेतृत्व चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों कर रहे थे। चाणक्य सिकन्दरको जानसे मरवा डालना चाहता था। इस कामके लिये वह सिन्धमें उन ब्राह्मण जातियोंपर पहुंचा जो 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' के अनुसार पहलेसे ही सिकन्दरके विरोधके लिये उसके साथी बन चुके थे। चाणक्यने उसे जीवित स्वदेश न लौटने देनेका भगीरथ प्रयत्न किया। उस समय भारतीय सेनाओंने सिकन्दरपर पग-पगपर घातक प्रहार किये। प्रतिहिंसात्मक आक्रमणोंसे ध्वस्त कर डाला और भारतपर आक्रमण करनेके अपराधके बदलेमें अत्यन्त कडवा घूंट पिलाकर छोडा।

संयोगवश सिकन्दर अपने शरीरपर घातक प्रहार लेकर भी जैसे तैसे भाग तो निकला परन्तु बेबिलन जाकर मर गया। इसी कारण पाश्चात्य

इतिहासकारोंने सिकन्दरके मुखसे यह अन्तिम पश्चात्ताप निकलवाया है कि " भारतवासियोंने मुझे पग-पगपर त्रास पहुँचाया, मेरी सेनायें नष्ट की, क्रुद्ध होकर असह्य यंत्रणायें दीं और मेरे शरीरपर घातक प्रहार किये। भारतपर आक्रमण मेरे जीवनकी भयंकर भूल थी। " सिकन्दरपर चन्द्रगुप्तकी इस असामान्य विजयने न केवल समस्त पश्चिमोत्तर भारतका किन्तु मध्य एशिया और पूर्वी परशिया तककी समस्त जातियोंका पराक्रमी नायक बना दिया था। पाठक देखें इस प्रकार चाणक्य चन्द्रगुप्तके संयुक्त राजनैतिक कौशलसे अन्तमें मगधमें जो विशाल साम्राज्य बनकर प्रस्तुत हुआ उसके निर्माणका प्रारंभ पश्चिमोत्तर भारतसे ही हुआ था। और वह उसकी सिकन्दर विरोधी प्रवृत्तियोंसे हुआ। वास्तवमें देखा जाय तो इस साम्राज्यका बीज तो चाणक्यका हृदय ही था। चन्द्रगुप्त चाणक्यकी मंत्रशक्तिसे सिकन्दरके आक्रमणके दिनोंमें ही पश्चिमोत्तर भारत, ईरान, अफगानिस्तान आदिका एक प्रमुख व्यक्ति बन चुका था। उसने भारतसे सिकन्दरको खदेड़ते ही अवशिष्ट यूनानी अधिकारियोंको भी नष्ट कर डाला। सिकन्दरके भारतके लौटते ही सारा पश्चिमोत्तर प्रदेश यदृच्छासे चन्द्रगुप्तके अधिकारमें आ गया था।

चाणक्यने सिकन्दरको तो मिटा डाला। परन्तु उसके सम्मुख भारतको संभावित विदेशी आक्रमणोंसे सुरक्षित रखनेकी समस्याका पूर्ण समाधान करना अब भी शेष था। क्योंकि उस समय समग्र भारतका आत्मा और भाग्य दोनों परहितनिरत चाणक्यमें आकर एकीभूत हो गये थे इसलिये वह दिन-रात भारतकी सुरक्षाकी चिन्तामें डूबा रहता था। भारतकी राजनैतिक परिस्थिति चाणक्यसे निरन्तर यह कह रही थी कि जबतक मगधके सिंहासनपर चन्द्रगुप्त जैसे चरित्रवान् वीर व्यक्तिको अभिषिक्त नहीं कर दिया जायगा तबतक भारतको एक शक्तिशाली साम्राज्य या एक विराट् राष्ट्र-परिवारका रूप देनेकी तुम्हारी कल्पना अधूरी ही पड़ी रह जायगी। जब चाणक्यने चन्द्रगुप्तको ईरानमें सिकन्दरकी भारताभिमुख गति रोकनेके लिये अश्वक सेनाओंके अधिपतिके रूपमें भेजा था उसी समय उसने स्वयं

पैदल मगध जाकर मगधेशके मंत्री सुबुद्धिशर्मासे जिसका उपनाम अमात्य राक्षस था, भारतके इस महान् संकटमें सहयोग माँगा था।

सुबुद्धिशर्मा शत्रु संहारमें भीषण पराक्रमी होनेके कारण अमात्य राक्षस उपनामसे प्रसिद्ध था, संस्कृत भाषाके माध्यमसे शिक्षा देनेवाले तक्षशिलाके विश्वविद्यालयका चाणक्यका समकालीन विद्यार्थी था। देशप्रेमी होनेके नाते दोनोंको विद्यार्थी जीवनमें ही बन्धुत्व हो गया था। चाणक्यने अमात्य राक्षसको इस भाँति समझाना चाहा था कि इस समय पश्चिमोत्तर भारतकी रक्षा मगधकी ही आत्मरक्षा है। यदि इस समय मगधका सिंहासन मगध के कल्याणको समग्र भारतके कल्याणसे अलग मानकर उदासीन रह गया तो यह उसका राजनैतिक प्रमाद और मरण होगा। इसलिये होगा कि सिकन्दर भारतके असंगठित गणराज्योंके पारस्परिक विरोधोंकी निर्बलतासे लाभ उठानेके लिये सबसे पहले मगधको ही अपनी लूटका क्षेत्र बनायेगा। अमात्य राक्षस! तुम समझ रखना, यदि तुमने मेरा सुझाव न माना तो तुम्हारा यह नन्दराज्य जिसकी रक्षाकी संकीर्ण दृष्टिसे आज तुम्हें भारत रक्षा नामवाली बृहत्तम दृष्टिसे वंचित कर रही है, स्वयं भी लुप्त हो जायगा और भारतके भी विध्वस्त होनेका कारण बन जायगा।

अमात्य राक्षस राजा नन्दका केवल मंत्री ही नहीं था उसका प्रगाढ स्नेही भी था। उसका स्नेह कर्तव्य पालनकी सीमा लाँघ कर मोहका रूप ले चुका था। इस कारण वह नन्दकी देशद्रोहीकी निष्क्रियताके विरुद्ध चाणक्यके प्रस्तावको न मान सका। इसलिये न मान सका कि राजा नन्द (मुद्राराक्षस ३-१८) चाणक्यके शब्दोंमें विलासी तथा अत्याचारी राजा था। इसी कारण वह प्रजाकी घृणाका पात्र बन चुका था। अमात्य राक्षस उसे उसके दुर्गुण त्यागनेके लिये विवश नहीं कर सका जो प्रधान-मंत्री होनेके नाते उसका अत्यावश्यक कर्तव्य था। जब वह उसके समझा-नेसे नहीं माना था तो उसे उससे असहयोग करनेका दबाव डालकर उसको सुधारना चाहिये था।

नन्दैर्विमुक्तमनपेक्षितराजवृत्तै—
रध्यासितं च वृषलेन वृषेण राज्ञाम् ।
सिंहासनं सदृशपार्थिवसत्कृतं च
प्रीतिं त्रयस्त्रिगुणयन्ति गुणा ममैते ॥ (मुद्राराक्षस ३-१८)

मगधका सिंहासन राजचरित्रसे पतित हो जानेवाले नन्दोंसे छुडा लिया गया, उनके स्थानमें राजर्षभ चन्द्रगुप्त मौर्य अभिषिक्त कर दिये गये। अर्थात् उस रिक्त राजसिंहासन पर धीरोदात्तत्व आदि महाराज गुणोंसे युक्त चन्द्रगुप्तको बैठा दिया गया। मेरे ये नन्दोद्धरण चन्द्रगुप्ता-भिषेचन तथा योग्य व्यक्तिको राजसिंहासन पर आरूढ कर देनेवाले तीन गुण मेरे हर्षको तिगुना बना रहे हैं। मैंने अपने मनमें भारतको एक साम्राज्यका रूप देने, चन्द्रगुप्तको भारत सम्राट् बनाने, तथा नन्दोंको उखाड फेंकनेका जो संकल्प किया था, वह मेरे बुद्धिकौशलसे आज पूरा हो गया। यही मेरे आनन्दातिशयका कारण है। तात्पर्य यह है कि अमात्य राक्षसने बुद्धिमान होते हुए भी अपने आपको कुछ ऐसी परिस्थितियोंमें फँसा रक्खा था कि उसे चाणक्यका महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव विवशताके साथ अस्वीकार कर देना पडा।

चाणक्यके पास तो अखिल भारतीय दृष्टि थी। वह तो भारतकी समस्त परिस्थितिको समझकर उसे एक शक्तिशाली साम्राज्य बना देनेमें विघ्न बननेवाले या सहायक बननेको प्रस्तुत न होनेवाले प्रत्येकको देशद्रोही मानता था और उसे मिटा डालने पर तुला बैठा था। भारतके प्रति उसकी राष्ट्रीय कर्तव्यबुद्धिने उसे ऐसा करनेके लिये विवश किया था। सिकन्दरके विनष्ट हो चुकनेके पश्चात् पंचनद नरेश पर्वतकने जिसे पुरुराज भी कहा जाता था, मगधका सिंहासन लेनेका संकल्प किया जिसके लिये उसे चाणक्यकी ओरसे आश्वासन मिल चुका था। यह स्थिति चाणक्यकी भारतीय साम्राज्य कल्पना तथा सम्राट् कल्पनामें बाधा डालनेवाली थी। समग्र भारतकी ओरसे सोचनेवाले चाणक्यके राष्ट्रचिन्तक न्यायालयमें पर्वतक देशद्रोहीके रूपमें

कलंकित था। इसलिये उसने चाणक्यको अपने ऊपर विनाशक प्रहार करनेके लिये विवश कर डाला। भारतका प्रत्येक देशद्रोही चाणक्यका विनाश्य शत्रु था। जब पर्वतकने सिकन्दरसे संधि कर ली थी या करनी चाही थी, तबसे ही पर्वतक चाणक्यके मनसे उतर चुका था। इसीसे उसने उसके शक्तिशाली होते हुए भी उसे अपनी किसी भी महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय योजनामें सम्मिलित नहीं किया था।

उसके मनमें उसके प्रति अविश्वास पैदा हो चुका था। वह भारतके भाग्यकी बागडोर किसी भी अवस्थामें उसके हाथोंमें जाने देनेमें भारतका कल्याण नहीं देख रहा था। साथ ही वह यह भी समझ रहा था कि पर्वतकके साथ चन्द्रगुप्तकी प्रतिद्वन्द्विताके प्रश्नको उठ जाने देना भयंकर राजनैतिक भूल होगी। इस भूलको कार्यान्वित होने देनेसे देशके भीतर संग्राम छिड जायगा। इसीलिये उसने सिकन्दरको परास्त तथा विध्वस्त करनेके प्रयत्नोंके साथ ही साथ पर्वतकको मगध सिंहासनका मिथ्या लोभ देकर उसे अपने अखिल भारतीय उद्देश्यकी सिद्धिका सहायक बननेके लिये ठगा।

परिस्थिति गूंगी नहीं होती। वह सूझ बूझ वालोंको स्वयं ही सब कुछ बताने लगती है। सिकन्दरको पराजित करनेमें चन्द्रगुप्तने जो महत्वपूर्ण भाग लिया था और पश्चिमोत्तर भारतके विद्रोही गणराज्योंका नेतृत्व करके सफलताको अपनी मुट्ठीमें बन्द कर लिया था, उसके कारण भारतीय राज-नैतिक गगनमें चन्द्रगुप्तका प्रभाव अपने आप दिन रात बढता जा रहा था। पर्वतक चन्द्रगुप्तके इस महत्वको देखकर अपने मगधाधिप बननेके उद्देश्यके प्रति मन ही मन शंकित होने लगा था। इधर तो चाणक्यको पर्वतकमें अविश्वास था और उधर पर्वतकके मनमें चन्द्रगुप्तके शौर्य-वीर्य-रणकौशल तथा सिकन्दरको मिटा डालनेके महान् यशके कारण उसे पश्चिमोत्तर भार-तीय गणराज्योंमें मिली प्रतिष्ठाके संबन्धमें भयंकर ईर्ष्या हो चुकी थी। चन्द्रगुप्त तथा पर्वतकके मनोंमें एक आभ्यन्तरिक संघर्ष जिसे आजकी भाषामें

शीत युद्ध कहा जाने लगा है चल रहा था। परन्तु चाणक्यकी असाधारण प्रभावशालिता तथा सूक्ष्म नीतिकुशलताके कारण इन दोनों विरोधियोंकी सम्मिलित शक्ति मगधके देशद्रोही राजा नन्दके विरुद्ध युद्धमें उपयुक्त होनेके लिये प्रस्तुत हो गई।

चन्द्रगुप्तको सुदूर पश्चिमोत्तर भारतसे आकर मगध विजय पानी थी। परन्तु पर्वतकका राज्य मगध तथा पश्चिमोत्तर भारतके मध्यमें पडता था। उस समय दो महत्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्न उपस्थित हुए या तो देशद्रोहीको मिथ्या आश्वासन देकर उससे सहायता लेनेके लिये उसे ठगा जाय या उसका दमन किया जाय। इसके बिना यह मध्यका मार्ग पार करना असंभव था। अन्तमें उसे मगधविजयमें सहायक बननेके लिये मगधसिंहासन देनेका मिथ्या आश्वासन देकर धोका देकर ठगना ही राष्ट्रीय कर्तव्यके अनुकूल स्वीकार करना पडा।

तदनुसार अब मगध-विजयके लिये सम्मिलित समरयात्रा प्रारंभ हुई। उस समर-यात्रामें सम्राट् बननेके पर्वतक तथा चाणक्यानुमोदित चन्द्रगुप्त दो परस्पर-विरोधी प्रतीक्षक सम्मिलित थे। इसलिये चाणक्यको मगधराजसे युद्ध ठननेसे भी पहले मगध विजय कर चुकने पर अनिवार्य रूपसे उपस्थित होनेवाली राज्याधिकारके लिये कलहायमान स्थितिकी चिन्ताने आ घेरा। यह स्थल चाणक्यकी राजनैतिक प्रतिभाकी परीक्षाका कठिन अवसर था।

चाणक्य देख रहा था कि मगधके युद्धमें विजय पाते ही पर्वतक तुरन्त मगधका वह सिंहासन लेना चाहेगा जिसको उसे देनेका आश्वासन दिया तो गया है, परन्तु वह देशद्रोही होनेके कारण किसी भी रूपमें उसका अधिकारी नहीं है। चाणक्यने निर्णय कर डाला कि यद्यपि हमने उससे मगध-सिंहासन देनेकी प्रतिज्ञा कर ली है परन्तु राष्ट्रीय कर्तव्यबुद्धिके अनुसार हमें वह उसे किसी भी स्थितिमें नहीं देना है। यह स्थिति ऐसी जटिल थी कि युद्ध समाप्त होते ही राजसिंहासनपर अधिकारके सम्बन्धमें

दूसरा युद्ध आ खड़ा होता। इस आसन्न युद्धको क्रियात्मक रूप लेने देनेमें भारतका निश्चित अकल्याण होता। तब भारतकी अखण्ड साम्राज्यकी कल्पना खटाईमें पड़ जाती। इन सब दृष्टियोंसे आर्य चाणक्यने अपनी कूटनीतिसे ऐसी सृष्टि रचकर प्रस्तुत की कि मगध सिंहासनके लिये युद्धयात्रा होनेपर भी युद्ध न होने पाये और मगध बिना ही युद्धके विजित हो जाय।

इस कामके लिये उसने इधर तो नन्द सेनामें नन्दके प्रति विद्रोह तथा चन्द्रगुप्तके प्रति अनुराग पैदा कराया, मगधका सिंहासन चन्द्रगुप्तके लिये निष्कंटक कर दिया और उधर नन्दकी गुप्त हत्या करा डाली। परिस्थितिने ऐसी अनुकूल करवट बदली कि मगधकी राजधानी पाटलीपुत्रमें चन्द्र-गुप्तके पहुंचने पर युद्धके स्थानमें चन्द्रगुप्तका शत्रुपक्षकी ओरसे पुष्प-मालाओंसे स्वागत हुआ। चाणक्यके कूटनैतिक प्रयोगोंने पुरुराजके मगध राज्याभिलाषी मनको राज्य मांगनेका साहस न करने देनेका स्वाभाविक वातावरण बनानेके लिये मगधकी सेना तथा राज्यके प्रधान पुरुषोंके हाथोंसे चन्द्रगुप्तका राजतिलक कराकर उसे सिंहासन समर्पण करनेका अभिनय करा दिया।

चन्द्रगुप्तको पाटलीपुत्रकी प्रजाकी सम्मतिसे सिंहासनारूढ होता देखकर पर्वतक मन ही मन भौंचक्का रह गया। वह चन्द्रगुप्तके भारतव्यापी प्रभाव तथा मगध सिंहासन लाभकी इस अकल्पित घटनाको देखकर उसका प्रत्यक्ष विरोध करनेका साहस नहीं कर सका। इस प्रकार चाणक्यकी कूटनीतिने राज्यलाभोत्तरकालीन विग्रहको टाल तो दिया परन्तु पर्वतककी ईर्ष्या उस समय कुछ न कर सकने पर भी प्रतिहिंसाका रूप धारण कर गई। इस लिये उसने सिकन्दरके भूतपूर्व सेनापति, इस समयके सीरियाके राजा सेल्यूकसके पास, जिसके मनकी भारतको लूटनेकी महत्वाकांक्षा निर्मूल नहीं हुई थी, दूतके द्वारा भारत पर आक्रमण करनेका निमंत्रण भेज दिया। पर्वतकका यह देशद्रोही काम चाणक्य जैसे सतर्क बुद्धिमानसे गुप्त नहीं रह

सका। चाणक्यने उसके इस देशद्रोही कामका तत्काल प्राणान्त दण्ड देना उचित माना। इसलिये माना कि चन्द्रगुप्तमें वीरता तथा संगठन-शक्ति अत्यधिक होनेपर भी पर्वतक उन दिनों उससे कहीं अधिक शक्तिशाली राजा माना जाता था। उसके रहने तक चन्द्रगुप्तका सम्राटपन सुरक्षित नहीं समझा गया। इसलिये उसने अपने सुचिन्तित राजनैतिक षड्यन्त्रको कार्य रूपमें परिणत करके नन्दके समान पर्वतककी भी गुप्त हत्या करा डाली। इस प्रकार चाणक्यने चन्द्रगुप्तको मगध सिंहासन पर निष्कंटक बनानेका प्रथम सोपान पूरा कर डाला।

ज्यों ही पर्वतकका दूत सेल्यूकसके पास पहुंचा त्यों ही वह भारत पर आक्रमणके लिये चल तो पड़ा, परन्तु भारतमें आते ही उसे पता चला कि उसे निमंत्रण देकर बुलानेवाले पर्वतककी सहायता सपना बन चुकी है। ' इस अवसरपर भी भारतका विख्यात देशद्रोही तक्षशिला नरेश आंभीक सेल्यूकसकी सहायताके लिये आगे बढ़ा। इस समाचारको पाते ही चन्द्रगुप्त विशाल सेना लेकर सिन्धके तटपर जा पहुँचा और सेल्यूकस तथा आंभिकको संयुक्त सेनापर ऐसे घातक आक्रमण किये कि आम्भीकका तो नाम और चिन्हतक शेष नहीं रहा तथा सेल्यूकसको प्राण बचानेके लिये चन्द्रगुप्तसे भारत पर फिर कभी आक्रमण न करनेकी प्रतिज्ञाके साथ अपने मध्य एशियाके विजित क्षेत्रोंको आक्रमण रूपी अपराधके दण्ड स्वरूप चन्द्रगुप्तको सौंपकर संधि मांगनी पड़ी और उल्टे पैरों स्वदेश लौट जाना पड़ा। यों चाणक्यके भारतको एक विशाल साम्राज्य बनानेवाले कार्यक्रमका दूसरा कांटा भी निकाल दिया गया।

चाणक्यका मंत्रित्व त्याग

अब चाणक्यके मनमें पाटलीपुत्रके सिंहासनपर चन्द्रगुप्त जैसे सुदूरवासीकी लोकप्रियताको सुदृढ़ करनेका केवल एक प्रश्न शेष रह गया। चाणक्य समझ रहे थे कि मगधके लोकप्रिय मंत्री अमात्य राक्षसके मनमें स्वाभाविक रूपसे नन्दवंशके उच्छेदका पश्चाताप काम कर रहा है। अमात्य राक्षसकी

संकीर्ण दृष्टिमें उसके इस पश्चात्तापका कारण चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त थे। चाणक्यको तो अमात्य राक्षसकी भारत साम्राज्यके महामंत्री बननेकी योग्यताके संबन्धमें पूरा संतोष था। परन्तु प्रान्तीयताकी संकीर्ण दृष्टि रखनेवाले अमात्य राक्षस तथा मगधकी कुछ प्रजाके मनमें उत्तरपश्चिम भारतसे आये चाणक्य तथा चन्द्रगुप्तका मगध सिंहासनपर हस्तक्षेप अप्रीतिकर होनेकी पूरी संभावना थी। अमात्यपक्षमें इतनी उदारता तथा समग्र भारतीय दृष्टिकोण नहीं था। उनके लिये प्रान्तीय भावना त्यागकर अखिल भारतीय भावनाको अपनाना एक अपरिचित नवीन समस्या थी। परन्तु चाणक्यकी उदार प्रतिभा तथा उसकी आत्मबलिदानी मनोवृत्तिने इस समस्याको भी निर्मूल करनेका एक उपाय सोच निकाला।

उसने मुद्राराक्षसके शब्दोंमें इसका एकमात्र सरल सुगम उपाय अमात्य राक्षसको ही चन्द्रगुप्तके महामंत्रित्वका भार सौंपना पाया। उसने अपने कूट प्रयोगोंसे अमात्य राक्षसके हृदय पर अपनी उदारताकी इतनी गहरी छाप लगाई और उसे चन्द्रगुप्तका मंत्रित्व भार सँभालनेके लिये इस ढंगसे विवश किया कि उसके पास चन्द्रगुप्तका मंत्रिपद सँभालनेके अतिरिक्त कोई भी मार्ग शेष नहीं रहा। चाणक्यके इस संबन्धी कूटप्रयोगोंका मुद्राराक्षसमें सुविस्तृत उल्लेख है। चाणक्यके प्रयत्नोंसे अन्तमें इन दोनों शत्रुपक्षोंका मित्रत्वमें मिलन हो गया। जो अमात्य राक्षस चन्द्रगुप्तका प्रबल वैरी था उसे उसके गुणोंपर मोहित होकर युवावस्थामें उसकी इतनी राजनैतिक उन्नति देखकर विवश होकर कहना पड़ा—

> बाल एव हि लोकेन संभावितमहोन्नतिः।
> क्रमेणारूढवान् राज्यं यूथैश्वर्यमिव द्विपः॥ (मुद्राराक्षस १३)

बालकपनमें ही राजलक्षणोंसे युक्त होनेके कारण जिस चन्द्रगुप्तके विषयमें महोन्नत होनेकी संभावना बन चुकी थी, वह अब क्रमसे उन्नत होता हुआ यथैश्वर्य पा जानेवाले गजराजके समान राज्य पा गया सो ठीक ही है।

अमात्य राक्षसने चाणक्यको चन्द्रगुप्त जैसे प्रतिभाशाली सम्राट् शिष्यका

पक्ष लेनेके कारण सराहना की— सर्वथा स्थाने यशस्वी चाणक्यः । कुतः ? चाणक्यको मिलना सर्वथा ठीक हुआ है । क्योंकि—

> द्रव्यं जिगीषुमधिगम्य जडात्मनोऽपि
> नेतुर्यशस्विनि पदे नियतं प्रतिष्ठा ।
> अद्रव्यमेत्य तु विविक्तनयोऽपि मंत्री
> शीर्णाश्रयः पतति कूलजवृक्षवृत्या ॥ (मुद्राराक्षस १४)

विजिगीषु कल्याण प्राप्तिके योग्य जयोद्योगी राजाको पाकर तो मन्द-बुद्धि मन्त्री भी अवश्य प्रतिष्ठा पा जाता है । उदार बुद्धि अमात्यके प्रतिष्ठा पा जानेकी तो बात ही क्या ? परन्तु अयोग्य प्रभुका आश्रय कर लिया जानेपर तो विशुद्ध नीतिवाला मंत्री भी नदीके पतनोद्यत किनारे खडे हुए वृक्षकी भांति (मेरे समान) निराश्रय होकर गिर पडता है ।

चन्द्रगुप्त तथा अमात्य राक्षसके मिलनका यह प्रभाव हुआ कि संकीर्ण प्रान्तीयता अखिल भारतीयताके रूपमें परिणत हो गई । इस मिलनके परिणामस्वरूप प्रान्तीय भावना समाप्त हो गई और देशमें अखिल भार-तीयताका बीज वपन हो गया । अमात्य राक्षसके मन्त्रित्वभार सँभालते ही सारा मगध प्रान्तीयताका पश्चात्ताप भूल कर चन्द्रगुप्तका अनुरक्त हो गया । मगधमें अमात्य राक्षसकी लोकप्रियता चन्द्रगुप्तका पक्का साथी बन गई । चाणक्यकी अन्तर्दृष्टिने भारतके स्वातन्त्र्य यज्ञमें अपने मंत्री बने रहनेके न्याय्य लोभकी आहुति देकर भारतसे प्रान्तीयता मिटा डाली और उसके स्थानमें अखिल भारतीयताको जन्म दे दिया । उसने अपने इस अन्तिम राजनैतिक कर्तव्यको भी हर्ष तथा उत्साहसे पूरा करके न केवल चन्द्र-गुप्तकी लोकप्रियतामें चार चाँद लगा दिये, किन्तु भारतको एक विशाल राष्ट्रके रूपमें परिणत करनेके अपने उद्देश्यकी ब्राह्मणोचित निष्कामताके संबंधमें अमात्य राक्षसको निःसन्दिग्ध भी कर डाला । इन दोनोंका मिलन चाणक्यके राजनैतिक जीवनका अन्तिम कृत्य था । अमात्य राक्षसने चाण-क्यके राजनैतिक निष्काम महान् उद्देश्यसे गद्गद् होकर चन्द्रगुप्तका मन्त्रित्व ग्रहण किया और भारतसे प्रान्तीयताका रोग मिटा डाला ।

पाठक देखें इतने बडे राष्ट्रकी कल्पना तथा निर्माण दोनोंके सर्वेसर्वा बने हुए आर्य चाणक्यने अपनी इस महती राष्ट्रसेवाके बदलेमें राष्ट्रसे एक कौडी तक नहीं चाही। किसी कोठी (बैंक) में कोई व्यक्तिगत धन संगृहीत नही किया। कोई प्रासाद (कोठी बंगला) नहीं बनवाया। पैन्शन नहीं बँधवाई और अन्तमें तो राष्ट्रके कलङ्क निर्माता तथा विधाता होनेके कारण अपने मंत्री बने रहनेके वैध अधिकारको भी अमात्य राक्षसको सौंपकर दैनिक राजकाजोंसे अपना संबन्ध तोड लिया।

तपोवनं यामि विहाय मौर्य त्वां चाधिकारेष्वधिकृत्य मुख्यम्।
त्वयि स्थिते वाकपतिवत्सुबुद्धौ भुनक्तु गामिन्द्र इवैष चन्द्रः॥
(मुद्राराक्षस)

अब मैं मौर्यको तो सम्राट् बनाकर तथा तुझे मुख्यमंत्रित्वका भार सौंपकर अपनी ब्राह्मी तपस्याके लिये तपोवन जा रहा हूँ। मेरा आशीर्वाद है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त बृहस्पतिके समान तुम जैसे कुशल मंत्रीके रहते हुए इन्द्रके समान पृथिवीका पालन करें।

इसके पश्चात् चाणक्यने अपने आकिंचन ब्राह्मण जीवनमें ही सौभाग्य मानकर जीवन भर राष्ट्रसेवाकी दृष्टिसे केवल चन्द्रगुप्त तथा उसके साम्राज्यका ही नहीं संसारभरके राजनीतिके भावी विद्यार्थियोंका भी पथप्रदर्शन करनेके लिये राजनीति पर ' न भूतो न भविष्यति ' जैसा शास्त्र बनानेमें अपनी वह प्रबल मानसिक शक्ति लगा डाली, जिससे सिकन्दरको पराभूत कराया, गणराज्योंको एक महा साम्राज्यका रूप देकर उसे एक आदर्श राष्ट्र बनाकर दिखाया और आदर्श राजचरित्रका निर्माण किया। चाणक्यका अर्थशास्त्र मगधविजयके शीघ्र ही पश्चात् लिखा गया और ये चाणक्य सूत्र भी उन्हीं दिनों लिखे गये।

आर्य चाणक्यका इतिवृत्त

चाणक्य तथा कौटल्य इन दो उपनामोंसे अत्यधिक विख्यात इस विद्वान्का जन्मनाम विष्णुगुप्त है। ये इन्द्रियविजयी मेधावी विद्वान् प्रभाव-

शाली अप्रतिग्राही ब्राह्मण थे। ये महानुभाव चन्द्रगुप्तको भारतका सम्राट् बनानेतक उसके प्रधान अमात्य रहे। उसके पश्चात् यह पद भूतपूर्व मगध देशके मंत्री अमात्य राक्षसको सौंप दिया और स्वयं सम्राज्यके शासनके निर्देशक बनकर रहते रहे। इन्होंने अर्थशास्त्रके अन्तमें अपना जन्मनाम विष्णुगुप्त उद्घोषित किया है।

दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च॥

जब एक ग्रन्थपर अनेक भाष्यकार भाष्य करते हैं तब कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। इस प्रकार ग्रन्थकारका मुख्य तात्पर्य भाष्यकारोंकी लेखिनीमें सुरक्षित नहीं रह पाता यह देखकर विष्णुगुप्तने अपने सूत्रोंको भाष्यकारोंकी कृपापर न छोडकर अपने आप ही उनका भाष्य भी किया।

कौटल्यश्चणकात्मजः—इस हेमचन्द्र कोशमें उन्हें चणकात्मज बताया है। उसके अनुसार ये चणकके पुत्र (वंशज) होनेसे 'चाणक्य' नामसे प्रसिद्ध हुए।

कौटल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः।

कौटल्यने सम्राट् चन्द्रगुप्तके लिये अर्थशास्त्रके रूपमें शासन विधान बनाया। उन्होंने इस स्वरचित ग्रन्थमें अपने कौटल्य नामका भी जहां तहां सगौरव उल्लेख किया है।

कूटो घटः तं धान्यपूर्णं लान्ति संगृह्णन्ति इति कुटलाः कुम्भीधान्याः त्यागपरा ब्राह्मणश्रेष्ठाः। तेषां गोत्रापत्यं कौटल्यो विष्णुगुप्तो नाम।

कूट घटका नाम है। जो लोग एक घटसे अधिक अन्नसंग्रह नहीं करते थे उन कुम्भीधान्य नामक अत्यन्त त्यागी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका गोत्रापत्य कौटल्य कहाता है। कौटल्यका मुख्य नाम विष्णुगुप्त है।

आर्य चाणक्य अपनेको कुलीनता तथा त्यागवृत्तिके सूचक चाणक्य तथा कौटल्य इन दोनों उपनामोंसे अभिहित करनेमें गौरव अनुभव करते थे।

ये अपने अनुवंशिक निःस्पृह ब्राह्मणत्व तथा अपनी सुतीक्ष्ण प्रतिभाका सात्विक अहंकार रखते थे। इन महानुभावको विगत सैकडों वर्षोंतक कौटिल्य इस भ्रममूलक अशुद्ध सदोष नामसे स्मरण किया जाता रहा है। इतिहास संशोधक लोगोंका कहना है कि यह अशुद्ध नामकरण ब्राह्मण धर्मके अश्रद्धालु बौद्ध तथा जैन लेखकोंकी कल्पना है। वे इसका कारण यह बताते हैं कि ये महाशय ब्राह्मणधर्मके प्रवर्तक वर्णाश्रमधर्मके प्रति निष्ठा रखनेवाले तथा वैदिकधर्मकी शाश्वतपरम्पराके अनुयायी और पोषक थे, इस लिये तो बौद्ध सेवकोंने चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त दोनोंके युगप्रवर्तक होनेपर भी इन्हें कोई महत्व नहीं दिया। तथा इनके पौत्रको बौद्धधर्ममें दीक्षित हो जानेसे ब्राह्मणधर्मी लेखकोंने भी इन्हें कोई महत्व नहीं दिया। जैन, बौद्ध लोगोंने ब्राह्मणधर्मके प्रवर्तक चाणक्यसे रुष्ट होकर इनके कौटल्य नामको बिगाडकर कुटिलता रूपी निन्दाको सूचक कौटिल्य नाम लिखा जो सैकडों वर्षों प्रचलित रहा। अबके इतिहास संशोधकोंकी कृपासे अब निन्दासूचक कौटिल्य नाम हटा दिया गया है और कौटल्य यह शुद्ध नाम स्थापित किया जा चुका है।

कुछका विचार है कि कौटिल्य नाम कौटल्य नामका प्रामादिक संशोधन या संस्करण है। ऐतिहासिकोंकी खोजके अनुसार ये महानुभाव पश्चिमोत्तर भारतमें तक्षशिलाके निवासी अप्रतिग्राही ब्राह्मण थे। हमारी दृष्टिमें तो ये कहींके भी निवासी रहे हों इनके जन्मस्थानका कोई महत्व नहीं है। इन्हें जो ख्याति मिली है वह न तो भारतके किसी विशेष भूभागके निवासी होनेसे मिली है और न किसी वंशके वंशज होनेसे मिली है। ये महानुभाव तो अनन्य साधारण प्रतिभासे जगद्विख्यात हुए हैं। क्योंकि चाणक्य अखिल भारतीयताके अनन्य उपासक थे इस दृष्टिसे भारत माताका शस्यश्यामल सुजल सुफल सम्पन्न वक्षःस्थल ही उनका जन्मस्थान था और समग्र भारतके निवासी उनके भ्राता भगिनी थे। वे जीवन भर भारतवासियोंकी चिन्तामें अपना जीवन उत्सर्ग करके गये हैं। न केवल

भारतको प्रत्युत समग्र संसारको राजनीतिका अनन्यसुलभ पाठ सिखानेवाले चाणक्यके चरित्रका संपूर्ण चित्रण करनेके लिये तो उन्हें यों कहना उपयुक्त होगा कि यह समग्र वसुन्धरा ही उनकी जन्मभूमि थी तथा मानवमात्र उनके सहोदर सहोदरा थे और मनुष्यता ही उनका आराध्य भगवान् था।

स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरः स्थिते।
नान्यामंगुलिमभ्येति संख्यायामुद्यतांगुलिः॥

सार्थक जन्म उसी मनुष्यका माना जाता है कि गुणियोंकी गणना प्रारंभ हो जाने पर गिननेवाली अंगुलि उसीके लिये उठकर रह जाय और उसके साथ दूसरा कोई गिना ही न जा सके।

वास्तवमें चाणक्य अपने जैसे अपने आप ही थे। संसारने उन जैसा दूसरा कोई व्यक्ति आजतक पैदा नहीं किया यह कहना अत्युक्ति नहीं है। उन्होंने अर्थशास्त्रके नामसे जो कुछ लिखा है वह कर चुकनेके पश्चात् लिखा है। उनके लेख अननुभूत तथा अव्यवहारिक नहीं हैं। यही उनकी लेखनीकी विशेषता या अनन्यसाधारणता है। उन जैसे कर्मठ लेखक संसारमें कितने हैं?

सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः॥

कौटल्यने बार्हस्पत्य आदि समस्त अर्थशास्त्रोंको समझकर तथा उनके व्यवहारिक प्रयोगोंको करके देखकर उन आचार्योंके मतोंमें अपना अनुभव मिलाकर शासनको सुदृढ बनाने तथा उसका विधिपूर्वक संचालन करानेके अभिप्रायसे चन्द्रगुप्तके लिये शास्त्रकी रचना की। जैसे गीता अर्जुनके लिये कही जानेपर भी परम्परासे सबसे कही गई है, इसी प्रकार अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्तके लिये रचा जानेपर भी संसारभरकी राज्यव्यवस्थाओंका मार्गदर्शक है।

जब यह सिद्ध किया जा चुका कि चन्द्रगुप्त मगधका निवासी तथा नन्दवंशका नहीं था तब चाणक्यको चन्द्रगुप्त तथा नन्दोंके कौटुम्बिक

विवादमें लिप्त बताना भी निराधार होजाता है। इस कल्पनाने चाणक्यकी भारतीय साम्राज्य बनाकर खडा कर देनेवाली राजनैतिक प्रतिभाका अपमान किया है और उसे एक प्रतिहिंसापरायण व्यक्तिका रूप दे डाला है जो चाणक्यके महान् व्यक्तित्वका भारी अपमान है। पाठक देखे 'नन्दैर्विमुक्तमनपेक्षितराजवृत्ते।' इस मुद्राराक्षसने भी नन्दोंके उन्मूलनका कारण उनका राजोचित कर्तव्योंसे विमुख होना बताया है।

श्राद्ध भोजनके समय नन्दवंशमें चाणक्यके अपमानको भी कहीं कहीं नन्दवंशोच्छेदका कारण बताया गया है। यह कल्पना भी कामन्दकके निम्न चाणक्यवृत्तके आधारसे खंडित रह जाती है—

> वंशे विशालवंश्यानामृषीणामिव भूयसां।
> अप्रतिग्राहकाणां यो बभूव भुवि विश्रुतः॥

जब कि चाणक्य दान लेते ही नहीं थे तब वे किसीके घर श्राद्ध खाने जायँ यह एक असंगत कल्पना है। जिसके मस्तिष्कमें इतने बडे साम्राज्यकी सारी सामग्री भरी हुई थी और इतना बडा कार्यभार जिसकी प्रत्येक समय प्रतीक्षा कर रहा था, वह लोगोंके घर श्राद्ध खाता फिरे यह कल्पना ही असंगत है।

जिन दिनों संसारमें कहीं भी मनुष्यताका उन्मेष नहीं हो पाया था। जिन दिनों पाश्चात्य जगत्में राक्षसी प्रवृत्ति उन्मेषोन्मुख होकर मनुष्यता पर पाशविकताके प्रहार कर रही थी और भारतीय मनुष्यता भी लक्ष्यभ्रष्ट होकर पाश्चात्य आसुरिकताका आह्वान कर रही थी, वह एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय संकट था। उस समयके भारतका यह कितना बडा सौभाग्य था कि उस महान् जगद्व्यापी संकटके समय उसे चाणक्यकी सेवायें प्राप्त हो गई थीं। चाणक्यने अपने ज्ञाननेत्रसे अपनी आराध्यदेवी सत्यस्वरूप मनुष्यताको या मनुष्यताके नामपर करनेवाली शक्तियोंको भारतमाताके वक्षःस्थलसे नष्ट न होने देनेवाले रामबाण उपायोंकी उद्भावना की थी। चाणक्य अपनी बुद्धिकी अभ्रान्तता, सार्थकता तथा उसकी विश्वविजयी

शक्तियोंपर इतना सुदृढ विश्वास रखते थे कि संसारभरके इतिहासमें किसी साधनहीन मनुष्यका इस प्रकारके आत्मविश्वासका उदाहरण मिलना दुर्लभ है।

बुद्धिरेव जयत्येका पुंसः सर्वार्थसाधनी।
यद्बलादेव किं किं न चक्रे चाणक्यभूसुरः॥
(कौटलीय अर्थशास्त्र)

वर्धिष्णु लोग जाने कि बुद्धि ही मनुष्यके सकल वांछितोंको पूर्ण करनेवाली सर्वोत्तम वस्तु है। जिसके बलसे चाणक्य भूदेवने क्या क्या नहीं कर दिखाया।

ये याताः किमपि प्रधार्य हृदये पूर्वं गता एव ते
ये तिष्ठन्ति, भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः।
एका केवलार्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम॥
(मुद्राराक्षस)

जो कुछ सोचकर पहले ही चले गये वे तो गये ही, जो यहां अब हैं वे भी चाहें तो जाने की ठानें। समस्त कार्योंको सिद्ध करनेवाली मेरी केवल वह बुद्धि जो समस्त कार्योंको सैकडों सेनाओंके समान सिद्ध कर सकती है नन्दोन्मूलनमें जिसकी महिमा देखी जा चुकी है वह मुझे त्यागकर न जाय।

'फलेन परिचीयते' कार्यकर्ताकी महत्ता उसके किये कार्योंके परिणामोंसे जानी जाती है। जैसे चन्द्रगुप्तका साम्राज्य चन्द्रगुप्तके अदम्य साहस, कर्तव्यतत्परता तथा उसकी योग्यताका प्रमाणपत्र है इसी प्रकार चन्द्रगुप्तका चरित्र उसके निर्माता गुरु महर्षि चाणक्यके व्यक्तित्वकी श्रेष्ठताका एक सुन्दर प्रमाणपत्र है।

क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति। (भारवि)
क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्। (कौटलीय अर्थशास्त्र)

पात्रमें किया हुआ परिश्रम ही सफल होता है। क्रिया पात्रको ही लाभ पहुंचाती है अपात्रको नहीं।

'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' के अनुसार इन दिनों ये दोनों ही महानुभाव राष्ट्रचिन्तासे व्याकुल थे। दोनोंकी व्याकुलताने दोनोंका स्वाभाविक रूपमें मिलन करा दिया था। फिर भी इन दोनोंमें प्रेरक चाणक्य ही थे। सौभाग्यसे उस समयके भारतमें अबके समान मनबलका अभाव नहीं हो गया था। न्यूनता यह थी कि भारतका तत्कालीन मनोबल प्रकाशमें आनेका अवसर न मिलनेसे अप्रकाशित रह रहा था। भारतके मनोबलको प्रकाशमें लाना अर्थात् भारतमें संकीर्ण प्रान्तीयता मिटाना और उसके स्थान पर अखिल भारतीयताको प्रवेशाधिकार देना चाणक्यकी ब्राह्मशक्ति तथा चन्द्रगुप्तकी क्षात्रशक्तिके सम्मिलित उद्यमका लक्ष्य बन गया था।

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः।
इदं ब्राह्ममिदं क्षात्रं शापादपि शरादपि॥

जैसे भार्गव (परशुराम) ब्राह्मण तथा क्षात्रशक्तिके मिश्रण थे वैसे ही इन दोनोंका मिलन ब्राह्मण क्षात्रशक्तियोंका सम्मिलन होगया था। एक सोचकर राजनैतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करता था दूसरा उसे व्यावहारिक रूप देनेमें अपनी आहुति दे देता था।

उन दिनों भारतकी धनसंपत्ति बाह्य शत्रुओंको प्रलोभित कर रही थी। देश इतना संपन्न था कि नन्दराज महापद्म अर्थात् महापद्म धनराशिका अधीश कहाता था। जिस देशके राजाओंपर इतना धन था उस देशकी साम्पत्तिक स्थितिका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। चाणक्यने देखा भारतकी भ्रान्त आध्यात्मिकता या भारतमें फैलनेवाले अव्यावहारिक धर्मोंने ही उसे अनाध्यात्मिक तथा अधार्मिक बना डाला है। भारतकी आध्यात्मिकता और उसके धर्मने समाजका मुख राष्ट्ररक्षा नामक कर्तव्यसे मोड लिया है और भारत व्यक्तिवादमें सीमित होकर अनाध्यात्मिक तथा अधार्मिक बन गया है। उसने देखा भारतकी भ्रान्त आध्यात्मिकताने भारतमें सर्वत्र अन्यायका विरोध करनेसे बचनेकी नीति फैला डाली है और यों भारतकी आध्यात्मिकता ही उसके तेजस्वी जीवनकी घातक शत्रु बन गई है।

भारतका शौर्य, वीर्य आदि सब भ्रान्त मार्ग अपना बैठा है। भारतमें अखिल भारतीयताके नाम पर देशका संकट टालनेवाली शक्तियाँ कहीं भी काम नहीं कर रही हैं। इससे देशकी राजशक्ति भी कुमार्ग पर पड गई है। भारतीय समाज देशकी राजशक्तिको कुमार्गसे हटाकर सुमार्गपर रखनेके कर्तव्यकी उपेक्षा कर रहा है। सम्पूर्ण समाज व्यक्तिगत स्वार्थसिद्ध करनेवाले प्रयत्नोंमें मग्न होकर राष्ट्रसुधारकी ओरसे उदास हो गया है। देशमें शासनसुधार नामक कर्तव्य करनेवाला कोई भी नहीं रह गया है। यदि देशकी यह निर्बल असावधान कर्तव्यहीन मानसिक स्थिति बनी रहने दी गई तो यह भारतीय सम्पदाको विदेशी आक्रमकोंके हाथोंमें जानेसे रोक नहीं सकेगी। इसका अखिल भारतीय परिणाम यह होगा कि सच्ची आध्यात्मिकता, नैतिकता, शूरता, वीरता आदि गुणोंकी जननी मनुष्यता भारतसे सदाके लिये लुप्त हो जायगी और देशमें आसुरिकता तथा म्लेच्छता निर्विरोध भावसे फैलकर रहेगी और देश म्लेच्छोंका देश हो जायगा।

भारतका वक्षःस्थल तो रुधिररंजित तथा अश्रुस्नात हो जायगा और भारतीय गगन अत्याचारितोंके आर्तनादोंसे गूँज उठेगा। चाणक्य देख रहे थे कि भारतमें आनेवाली इस आसन्न विपत्तिको व्यर्थ करनेके लिये भारतवासियोंके मनोराज्यमें आमूल सुमहती क्रान्ति करनेकी आवश्यकता है। वे भारतकी भ्रान्त आध्यात्मिकताके दुष्परिणामोंसे सुपरिचित थे। इसीसे उन्होंने अपने अर्थशास्त्रमें उत्तरदायित्वहीन होकर कपडे रँगकर नैष्कर्म्यावलम्बी संन्यास लेनेका अभिनय करके समाजमें कर्तव्यहीन श्रेणी बढानेवालोंके लिये दण्डकी व्यवस्था की है। वे समाजमें उत्तरदायित्वहीन लोगोंकी उत्पत्ति रोककर समाजके प्रत्येक मनुष्यका समाजकल्याणमें उपयोग कर लेना चाहते थे। वे देख रहे थे कि भारतके घर घरमें आध्यात्मिकता, शूरता, वीरताकी सच्ची विधिका प्रचार किये बिना भारतकी मनुष्यताकी रक्षा नहीं हो सकेगी। देश विदेशकी मानसिक स्थितिसे पूर्ण परिचित चाणक्य समझ रहे थे कि यदि भारत मनुष्यत्वसे हीन हो गया तो मनुष्यता संसार भरमेंसे मानवके अधिकारसे बाहर चली जायगी। चाणक्य

मनुके निम्न मन्तव्यसे सहमत थे और इसीलिये भारतमें मानवताकी रक्षाके लिये आगे बढे थे।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ (मनु)

संसारभरके लोग भारतवर्षके ब्राह्मणोंसे अपना अपना मानवोचित चरित्र सीखा करें। भारतीय ऋषियोंके समान इनका भी यह दृढ विश्वास था कि यह मानव सृष्टिआसुरिकताको क्रीडा करने देनेके लिये नहीं बनी किन्तु अपने स्रष्टाके आसुरिकताके अनधिकार और दुःसाहसको पग पगपर व्यर्थ करनेवाले अभिप्रायकी प्रेरणासे व्यक्त हुई है। मानवसृष्टिके विधाताकी यह हार्दिक कामना है कि आसुरिकताके विरुद्ध मनुष्यतारूपी दैवी संपत्तिकी समरयात्रा विजयश्रीसे मण्डित हो। चाणक्यके मानसमें प्रत्येक क्षण यही पवित्र ध्वनि गूंजती रहती थी कि मैंने विधाताके इसी अभिप्रायको सार्थक करनेका निमित्तमात्र बननेके लिये ही भारतमें देह धारण किया है। मेरे देह धारणका इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।

भारतके वैदिक युगसे लेकर चारों वेदों तथा वेदान्त आदि समस्त ज्ञान-भंडारोंमें जो ज्ञाननिधि संचित है वह सब मुझे प्रत्येक क्षण यही प्रेरणा दे रही है कि तुम्हें इस राष्ट्रीय कर्तव्यसे विमुख होकर एक भी श्वास लेनेका अधिकार नहीं है। तुम भारतवासियोंकी मनोभूमिको ही अपना कर्मक्षेत्र या कर्मभूमि मान लो। इसलिये मान लो कि तुम विवेकी हो। कर्तव्यका भार विवेकी हीके पास रहता है। विवेकी ही किसी भी सच्चे राष्ट्रकी शक्ति होते हैं। आजका भारतवासी विश्वसाम्राज्यके एकच्छत्र सम्राट् मनुष्यता नामवाले जीवित आराध्य भगवान्‌की उपेक्षा कर रहा है और अलीक अस्तित्व रखनेवाले कल्पित ईश्वरकी प्रवंचक कल्पनासे बहककर व्यक्तिगत जीवनमें मोह रखनेवाला कपट धार्मिक आसुरी शक्तिका समर्थक बनकर कर्तव्यभ्रष्ट बना हुआ है।

चाणक्यने देखा कि भारत आध्यात्मिकताकी जन्मभूमि है। भारतके एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्ततक, एक छोरसे दूसरे छोरतक, बसा हुआ समस्त मनुष्य-समाज आध्यात्मिक स्वतंत्रताका प्यासा है। भारतका प्रत्येक मनुष्य अपनी कल्पनामें आध्यात्मिक लक्ष्यतक पहुंचना चाहता है। भारतका पारिवारिक संगठन तक आध्यात्मिकताके बन्धन (शासन) को स्वीकार करके चलता है। भारतका वर्णाश्रम मनुष्यके जीवनमें आध्यात्मिकताकी विजयध्वजा फैराना चाहता है। यह सबकुछ होनेपर भी भारतकी आध्यात्मिकता भ्रान्तिकी ओर जा रही है। यह देखकर चाणक्यके मनमें यह कर्तव्य-बुद्धि जागी कि यह वास्तविक आध्यात्मिकता जो भारतकी विश्वविख्याताकी अनन्य साधारण (विशिष्ट) देन है भारतवासियोंके ध्यानसे बाहर चली गई है और कुछ शुष्क क्रियायें तथा अव्यावहारिक विचार आध्यात्मिकताके नाम से मिथ्या महत्त्व पा गये हैं। व्यवहार या कर्मकी दिशाको ठीक रखना ही आध्यात्मिकता या ज्ञान है। कर्मको उसकी उचित दिशा सुझानेवाला जो बुद्धियन्त्र है वही तो अध्यात्म ज्ञान है।

भारत आध्यात्मिकताकी जन्मभूमि होता हुआ भी व्यावहारिक ज्ञानसे दूर हटता जा रहा है जब कि आध्यात्मिकताका व्यावहारिक ज्ञानसे अलग कोई भी मूल्य नहीं है। भारतका वर्णाश्रम धर्म मानवके सामाजिक कर्तव्यों-पर आधारित न रहकर मानवको कर्तव्यहीनताकी ओर भगाये ले जा रहा है। भारतमें वर्णाश्रम धर्मके नामपर अकर्मण्यताका बोलबाला होता चला जा रहा है। समाज इतना अविचारशील हो गया है कि उसने समाजके प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व न माननेवाली नैष्कर्म्य नामकी स्थितिको श्रेष्ठता दे डाली है, एक काल्पनिक आध्यात्मिकता बना ली गई है और उसीको अपना ध्येय बना लिया है। कर्मसंन्यास नामकी स्थितिने भारतीय मनुष्योंको कर्तव्यहीन ठूंठोंके रूपमें परिवर्तित कर डाला है। जिस गार्हस्थ्य धर्मका लक्ष्य समाजका सामूहिक कल्याण करना था, भ्रान्त आध्यात्मिकताके प्रचारने उसका वह लक्ष्य न रहने देकर प्रत्येक गृहस्थको कर्म-संन्यासका प्रतीक्षक बना डाला है।

भारतका गार्हस्थ्यधर्म समाज कल्याणकी उपेक्षा करने लगा है। जिस गार्हस्थ्य धर्मको सामाजिक मोक्षका उपासक होना चाहिये था वह उसकी उपेक्षा करके व्यक्तिगत मोक्ष नामक अलीक लक्ष्यको अपनाकर वर्णाश्रम धर्मकी कल्पनाके मुख्य लक्ष्य सामाजिक शृंखलाका संरक्षक न रहकर उसका घातक बन गया है। भारतका प्रत्येक मनुष्य कर्तव्यहीन होकर नैष्कर्म्य-सिद्धि नामक मोक्षका प्रतीक्षक बनकर सामाजिक हितोंकी ओरसे मुख मोड बैठा है। व्यक्तियोंसे ही समाज बनता है। जैसे व्यक्ति होते हैं वैसा ही समाज होता है। एक तिल तेल दे सकता है तो समस्त तिल तेल दे सकते हैं। एक सिकता तेल नहीं दे सकती तो समस्त सिकताओंसे भी तेल प्राप्त नहीं हो सकता।

व्यक्ति अधःपतित हों तो समाज भी अधःपतित होता है। व्यक्तिका अधःपतन समग्र समाजका अधःपतन होता है। समाजका अधःपतन राज्य-व्यवस्थाको पतित बनाये बिना नहीं मानता। पतित राज्यव्यवस्था सम्पूर्ण राष्ट्रको निर्बल मनुष्यतासे हीन तथा राष्ट्रीय कर्तव्योंसे उदासीन बना डालती है। ऐसे उदासीन राष्ट्रका राजा राष्ट्रको पतितावस्थामें रखता और प्रजाकी सुखसुविधाका चोर तथा घातक बन जाता है। चाणक्यकालीन भारतमें भी राजा प्रजाका पितापुत्रवाला पवित्र संबन्ध विकृत हो चुका था। प्रजाको केवल धनोत्पादनका यन्त्र मात्र मान लिया गया था और राजा प्रजाके धनोंका संरक्षक न रहकर अपहारक बन गया था। ये सब तब भारतकी आभ्यन्तरिक निर्बलतायें थीं जो चाणक्यका मर्मच्छेद कर रही थीं।

भारतकी इसी आभ्यन्तरिक निर्बलताके अवसर पर सिकन्दर भारतपर आक्रमण कर बैठा। सिकन्दरका लक्ष्य पहले तो पर्वतकका और फिर मगधका सिंहासन लेकर भारतका सम्राट् बनना था। क्योंकि भारतमें ये ही दो मुख्य शक्तिशाली राजा थे। चाणक्यने सिकन्दरके पश्चिमोत्तर भारतपर किये जानेवाले आक्रमणको रोकनेके लिये मगधराजकी सेवामें स्वयं उपस्थित होकर यह सुझाव देनेका प्रयत्न किया था कि "पश्चिमोत्तर भारतकी

रक्षामें सहयोग देना मगधकी ही रक्षा है। पश्चिमोत्तर भारतके नागरिकोंपर होनेवाला अत्याचार मगधके नागरिकोंपर ही अत्याचार है। नागरिक चाहे पश्चिमोत्तर भारतका हो या दक्षिणका, देशके प्रत्येक सच्चे नागरिककी दृष्टिमें वह अत्याचार समस्त राष्ट्रपर अत्याचार है। देशके किसी भी प्रान्तके नागरिक पर होनेवाले अत्याचारका दमन समस्त समाजकी संगठित शक्तिसे किया जाना चाहिये।" परन्तु संकीर्ण दृष्टि मगधराज प्रान्तीयताके पंकमें सना हुआ था। उसपर इस सुझावका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यह देखते ही चाणक्यके कर्तव्यशस्त्रको एक नया मोड़ ले लेना पड़ा। तब चाणक्यके सामने इससे भी बड़ा राजनैतिक कर्तव्य आ उपस्थित हुआ। मगधराजकी ही नहीं देशभरके राजाओंकी यही संकीर्ण मानसिक स्थिति थी। देशके राजाओंकी इस मानसिक स्थितिको देखकर चाणक्यको निश्चय करना पड़ा कि देशभरकी संपूर्ण बुद्धिको सुमार्गपर लाये बिना भारतकी रक्षा असंभव है।

अबतक चाणक्यके राष्ट्ररक्षा संबन्धी प्रयत्नोंमें अंशतः शाखा सिंचनकी स्थिति अपनाई हुई थी। चाणक्यको भारत रक्षाके संबन्धमें मगधराजकी ओरसे निराश होते ही शाखा सिंचनकी नीति त्याग देनी पड़ी और उसके स्थानपर मूल सींचनकी नीति मुख्य रूपसे अपना लेनी पड़ी। दूसरे शब्दोंमें उन्हें भारतको एक राष्ट्रका रूप देनेका निश्चय करना पड़ा। क्योंकि ऐसा किये बिना भारतके उद्धारका अन्य कोई मार्ग शेष नहीं रह गया था। उन्हें दीखा कि देशमें कहीं भी राष्ट्रीय उत्तरदायित्व काम नहीं कर रहा है। जबतक देशके घर घरमें जाकर देशके लोगोंको राष्ट्रीय उत्तरदायित्वका जीवित पाठ नहीं पढाया जायगा तबतक राष्ट्र संगठन असंभव है। जबतक देशके छोटे राजाओंका अपना अपना अलग अलग राग अलापना बन्द नहीं किया जायगा और जबतक राष्ट्रको एक महाकार्यके रूपमें संगठित नहीं कर लिया जायगा तबतक राज्यव्यवस्थाको समाजका संरक्षक नहीं बनाया जा सकता।

*

अब देशवासियोंको राष्ट्रीयता सिखाना ही एकमात्र कर्तव्य अपनी अनिवार्यता लेकर चाणक्यके सामने आ उपस्थित हुआ। उस समयके देशके सौभाग्यसे भारतवासियोंको राष्ट्रीयताका जीवित पाठ देनेके लिये चन्द्रगुप्तकी क्षात्रशक्ति चाणक्यकी राष्ट्रसुधारक कल्पनाकी सेवाके लिये हाथ जोडकर नम्रताके साथ उपस्थित रहने लगी थी। चाणक्यकी राष्ट्ररक्षा संबंधी प्रत्येक योजनामें श्रद्धाके साथ आत्मदान करके रहना चन्द्रगुप्तका व्रत बन गया था। चाणक्य और चन्द्रगुप्तमें ब्राह्म तथा क्षात्रशक्तियोंका अभूतपूर्व सम्मिलन हुआ था। इसका यह प्रमाण है कि चन्द्रगुप्तने चाणक्यके निर्देशानुसार सिकन्दरके ईरानपर आक्रमणको ही भारतपर आक्रमण मानकर ईरानकी सहायताके लिये अपनी अश्वक सेनाओंको जा भिडाया था।

चन्द्रगुप्तकी चाणक्यके प्रति आत्मसमर्पणकी जो भावना थी वह उसका एक निष्काम कर्तव्यपालन था। वह आत्मसमर्पण किसी भावी भौतिक लाभके लिये नहीं किया गया था। परन्तु ईश्वरीय व्यवस्थाकी अचिन्त्य इच्छासे इस आत्मसमर्पणने अन्तमें चन्द्रगुप्तको भारतका सम्राट् ही नहीं बना दिया किन्तु संसार भरके सम्राटोंसे भी अधिक यशस्वी बना डाला। ईरानमें सिकन्दरसे अपनी अश्वक सेनाओंको जा लडानेके पश्चातसे चन्द्रगुप्तका प्रत्येक संग्राम भारतमें मनुष्यता तथा राष्ट्रीयताको जगानेकी ही दृष्टिसे किया जाने लगा था। चन्द्रगुप्तने अपने जीवनमें जितने संग्राम किये सबमें संपूर्ण भारतकी जाग्रत मनुष्यताका पूरा सहयोग मिलने लगा था। चन्द्रगुप्तने अपने राजनैतिक प्रयत्नोंमें धार्मिकताको प्रमुख स्थान दिया था इसीके कारण इस धर्मप्राण देशमें उसके लिये अनुकूल वातावरण प्रस्तुत हो चुका था। यही कारण था कि देशमें उसकी प्रत्येक समरयात्राको विजय मिलना सुनिश्चित होगया था।

अनथक कर्मवीर चाणक्यने भारतके घर घरमें यह आदर्श फैला दिया था कि " कर्म-संन्यासका आदर्श राष्ट्रघाती होनेके कारण आध्यात्मिकता नहीं है। धर्मको जंगलोंकी गुफाओंमें आत्मप्रकाश न करके उसे राष्ट्रमें ही आत्म-

प्रकाश करके रहना चाहिये। कर्मसंन्यास या पारलौकिक चर्चा मनुष्यता घाती कर्मविमुखता है। मनुष्यको कर्म त्यागना नहीं है उसे तोड़ के सुधारना है। उसे भविष्य नहीं सुधारना उसे तो केवल अपना वर्तमान सुधारना है। मनुष्यका कर्मक्षेत्र भविष्य नहीं है किन्तु वर्तमान ही मनुष्यकी कर्तव्यभूमि है। मनुष्य व्यक्तिगत मोक्षकी अलीक कल्पनाको त्याग दे और राष्ट्र-कल्याणमें ही आत्म-कल्याण समझकर अपने आपको राष्ट्रसेवामें लगा दे यही मानव-धर्म है। चाणक्यको दीख रहा था कि आजके भारतके द्वारपर पश्चिमकी म्लेच्छशक्तियां भारतको आदर्शच्युत करके भारतीय मनुष्यताको पददलित करनेके लिये उपस्थित हैं। चाणक्य भारतके लोगोंको समझा रहा था कि पश्चिमोत्तर भारतके मनुष्य समाजपर होनेवाला यह आक्रमण भारतकी मनुष्यता और राष्ट्रीयता पर आक्रमण है।

प्रत्येक भारतवासी इस आक्रमणको अपनी ही मनुष्यता तथा राष्ट्रीयता पर आक्रमण मानकर इससे लोहा लेनेके लिये धर्मतः बाध्य है। जो भारतवासी अपनी मनुष्यता तथा राष्ट्रीयताकी रक्षाके नामपर आततायीसे लोहा लेनेके लिये धार्मिक दृष्टिसे विवश है वही सच्चा आध्यात्मिक है, वह सच्चा नीतिमान है और वही सच्चा शूरवीर है। मनुष्यता ही राष्ट्रीयता है। मनुष्यता ही मानवका आराध्य सत्यस्वरूप ईश्वर है। नैतिकता ही मनुष्यताका संरक्षण करनेवाली है। क्योंकि मनुष्य समाजमें कहीं कहीं भी किसीपर होनेवाला आसुरी आक्रमण संपूर्ण राष्ट्रभरकी मनुष्यतापर आक्रमण होता है, इसलिये संपूर्ण राष्ट्रका प्रत्येक मानव उस आसुरी आक्रमणका दमन करनेके लिये जिस धार्मिक दृष्टिसे बँधा हुआ है वह धार्मिक बन्धन ही सच्ची आध्यात्मिकता, सच्ची नैतिकता और सच्ची शूर वीरता है।"

चाणक्यके ये उपदेश उस समयके भारतीय समाजमें ऊपरवपरन न होकर श्रद्धाके साथ सुन लिये गये। चन्द्रगुप्तने चाणक्यके निर्देशानुसार भारतको केवल शस्त्रबलसे ही संगठित नहीं किया किन्तु भारतके मनुष्य समाजपर शस्त्रबलसे भी कहीं अधिक शक्ति रखनेवाले अनन्त शक्तिसम्पन्न

घटघटवासी सत्यस्वरूप विवेक भगवान्‌के द्वारा संगठित किया, देशकी कपट आध्यात्मिकता नामवाली कर्तव्यविमुख आसुरी प्रवृत्तियोंको पराजित किया और देशमें फैली हुई अपनी राजसंस्थाको सुदृढ बनाने और उसे सुधारकर रखनेकी ओरसे उत्पन्न हुई दीर्घकालीन उदासीनताको मूलसे मिटा डाला। उस उदासीनताको मूलसहित मिटाकर देशमें राष्ट्रीय पुरुषार्थको जगाया और जगाते जगाते समग्र भारतके मानव-समाजको अपने साथ कर लिया। चाणक्यने जो भारतपर विजय पाई उसे केवल राजनैतिक विजय नहीं कहा जा सकता। वह विजय जितनी राजनैतिक है उससे कहीं अधिक आध्यात्मिक विजय कहा जा सकता है।

इतिहासमें चाणक्यकी आध्यात्मिक विजयके प्रमाण विद्यमान हैं। चाणक्यका शिष्य चन्द्रगुप्त मगधके सिंहासन पर आरूढ होनेसे भी पहले समुद्रसे हिमालय पर्वन्तवासी मानव-समाजके हृदयका सम्राट् बन चुका था। चन्द्रगुप्त भारतमें श्रद्धा, प्रेम तथा स्नेहका आसन पा चुका था। यही चाणक्यकी आध्यात्मिक विजय थी। यही कारण था कि लोग चन्द्रगुप्तके नामसे संत्रस्त न होकर प्रेम तथा कृतज्ञतासे उसके शासनको शिरोधार्य करने लगे थे। क्योंकि चाणक्यका आदर्श भारतवासियोंके हृदयमें स्थान पा चुका था इसलिये भारतमें चन्द्रगुप्तकी विजयके परिणामस्वरूप सुसंगठित राष्ट्रीयताका जन्म हो गया था। क्योंकि सुसंगठित राष्ट्र-निर्माणका आदर्श मनुष्यताका संरक्षक होता है इस कारण वह आदर्श जगत् भरके लिये वरेण्य आदर्श है। इस दृष्टिसे चाणक्यने भारतके ही नहीं संसार भरके मनुष्य समाजको निर्भ्रान्त राजनैतिक दृष्टिकोण देनेवाले मार्ग-दर्शकके रूपमें जो प्रतिष्ठा पाई है चाणक्य उसके सर्वथा उपयुक्त थे।

आर्य चाणक्यकी नीति

आदर्श राष्ट्र, आदर्श राजचरित्र, तथा सुसंगठित अखंड भारतीय साम्राज्य इन तीन बातोंकी स्थापना करना चाणक्यकी कल्पनामें था। यह महापुरुष अपनी इन तीनों कल्पनाओंको मूर्तरूप देनेमें उन दिनों जब कि आजके

वैज्ञानिक आविष्कारोंकी सुविधाएं नहीं थीं केवल चौबीस वर्षमें पूर्ण रूपसे सफल हुआ था। उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्यमें आदर्श राजचरित्रका निर्माण करके दिखाया और उसीके मार्गदर्शनके लिये कौटलीय अर्थशास्त्रकी रचना की। उन्होंने आदर्श राष्ट्र निर्माणकी दृष्टिसे भारतके अपने अपने क्षुद्र स्वार्थोंके लिये आपसमें लडते, झगडते छोटे-छोटे राज्योंको एक विशाल शक्तिशाली राष्ट्रके रूपमें बदला और उसकी शासन-व्यवस्थाको सुचारुरूपसे चलानेके लिये अर्थशास्त्रके रूपमें एक निर्दोष विधान बनाकर प्रस्तुत किया। भारतके प्राचीन संस्कृत साहित्यमें कौटलीय अर्थशास्त्रका महत्वपूर्ण स्थान है। उस समय उनका यह महान् ग्रन्थ भारतके प्रत्येक प्रान्तकी पाठ-विधियोंमें स्वीकृत हो चुका था।

इस ग्रन्थके सम्बन्धमें जर्मन विद्वान् ब्रेकोरेनने लिखा है- 'अर्थशास्त्र एक ऐसे प्रतिभावान् मस्तिष्ककी उपज है जो न कभी लक्ष्यभ्रष्ट हो सकता है और न विशृंखल ही और यह ग्रन्थ राजनैतिक विचारधाराकी पराकाष्ठाको पहुंचा दिया गया है।' इस ग्रन्थमें राष्ट्रके स्वदेशी तथा विदेशी नागरिक सामरिक, व्यावसायिक, व्यावहारिक, अर्थनैतिक, राजस्विक तथा न्याय आदि राष्ट्र-निर्माण तथा समाज संगठनसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त आवश्यक विषयोंका पूर्ण मार्गदर्शन कराया गया है। इसमें इन सब विषयोंपर सुपरिष्कृत ढंगसे विचार किया गया है।

चाणक्यने इस ग्रन्थमें स्थान स्थानपर जिस प्रकार मनु, बृहस्पति, औशनश, भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि, बाहुदन्तीपुत्र आदि आचार्योंके मतोंकी अनेक स्थानोंपर तुलना की है। उनकी तुलनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतमें समाज तथा राष्ट्रसंबंधी विषयोंपर भले प्रकार विचार भी होता था और इन विषयोंके अध्ययनकी एक जीवित परम्परा भी थी। उन्होंने पूर्वाचार्योंके मतोंका उल्लेख करते हुए 'नेति कौटल्यः' 'नेति चाणक्यः' आदि शब्दोंमें जिस प्रौढतासे अपने मतकी स्थापना की है उससे इनका आत्मविश्वास पूर्ण निःसंदिग्धता

प्रकट होती है। इन्होंने जहां अर्थशास्त्रका उद्धार किया वहां विघटित होनेसे निर्बल पड गये हिंदु राज्यतंत्रको एक शासनके नीचे लाकर सबल हिन्दू राज्यका रूप देकर हिन्दू राजनीतिमें नवीन जान डाल दी थी। उस समय में छोटे-छोटे हिन्दू राजा कलहों तथा व्यसनोंमें फँसे रहते थे। देशमें एकताकी स्थापना करनेवाला कोई शासन नहीं था।

चाणक्यने मनुष्य समाजको सब प्रकारकी सामाजिक व्याधियोंसे मुक्त कर दिया था और देशको कल्याण तथा अखण्डशान्तिका अव्यर्थ राजमार्ग दिखाया था। चाणक्यकी कल्पनामें देशद्रोह मनुष्यसमाजका कलंक है। इस कलंकको धोना प्रत्येक राष्ट्रप्रेमीका पवित्र कर्तव्य है। चाणक्यने देखा कि प्रभुताके लोभमें ही देशद्रोहका बीज विद्यमान है। सच्चा राजा बन-नेके लिये यह अनिवार्य रूपसे आवश्यक है कि वह प्रभुताका लोभी न होकर सच्चा समाजसेवक हो। चाणक्यने अपने समस्त राजनैतिक प्रयत्नोंके द्वारा इसी सत्यको समाजके सामने रक्खा था और रखकर राजाओंको तो आदर्शराज्य तथा राष्ट्रको आदर्श समाज बनानेकी कला सिखाई थी।

राजानमुत्तिष्ठमानमनुत्तिष्ठन्ते भृत्याः।
प्रमाद्यन्तमनुप्रमाद्यन्ति।
कर्माणि चास्य भक्षयन्ति।
द्विषद्भिश्चातिसंधीयते।
तस्मादुत्थानमात्मनः कुर्वीत।
राज्ञां हि व्रतमुत्थानं यज्ञं कार्यानुशासनम्।
दक्षिणा वृत्तिसाम्यं च दीक्षितस्याभिषेचनम्।
प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।
तस्मान्नित्योत्थितो राजा कुर्यादर्थानुशासनम्।
अर्थस्य मूलमुत्थानमनर्थस्य विपर्ययः।
अनुत्थाने ध्रुवो नाशः प्राप्तस्यानागतस्य च।
प्राप्यते फलमुत्थानाल्लभते चार्थसम्पदम्॥ अर्थशास्त्र १-१९

यदि राजा अपने काममें तत्पर (मुस्तैद) हो तो अमात्य आदि सब भृत्य अपना अपना काम ठीक ठीक करते हैं। यदि राजा आलस्य करे और अपना राजधर्म न पाले तो अमात्य आदि भृत्य भी अपना अपना कर्तव्य करनेमें प्रमाद करने लगते हैं और राजाका राष्ट्रसेवाकार्य नष्ट कर डालते हैं। तब शत्रुओंको राजाको अभिभूत करनेका अवसर मिल जाता है। इसलिये राजा राजधर्मपालनके सम्बन्धमें सदा ही सजग और कटिबद्ध रहे। राजा सजग तथा कटिबद्ध रहनेके लिये अपने दिनरातको दिनचर्याके शासनसम्बन्धी कठोर अटल बंधनमें बांधकर रक्खे। उद्योगतत्परता कटिबद्धता ही राजाका व्रत है। व्यवहारनिर्णय ही राजाका यज्ञ है। शासनव्यवस्थाके सम्बन्धमें शत्रु मित्र सबपर समदृष्टि ही राजाका दान है। प्रजाके सुखमें ही राजाका सुख है। प्रजाके हितमें ही राजाका हित है। राजाका अपना कोई व्यक्तिगत हित नहीं है। प्रजाओंका प्रिय ही राजाओंका हित है। इन कारणोंसे राजा नित्योद्योगी रहकर अर्थव्यवहार करे। उद्यम ही सिद्धिका एकमात्र उपाय है। अनुद्योग अनर्थका मूल है। आलस्यके कारण उद्योग न करनेपर प्राप्त तथा आगामी (प्राप्तव्य) दोनों प्रयोजनोंका निश्चित विनाश हो जाता है। उद्योगसे ही फल मिलता है और अर्थ सम्पत्ति प्राप्त होती है। उद्योग तीनों कालोंमें हितकारी है।

इस प्रकार चाणक्यने राजाका प्रजासे अलग स्वार्थी व्यक्तित्व मिटाकर उसे समाजसेवकका श्लाघनीय स्थान दिया है। चाणक्यकी साम्राज्य कल्पना स्वेच्छाचारी एकतन्त्र कहलानेवाले किसी व्यक्ति या दलमात्रका शासन नहीं है। उसकी साम्राज्य कल्पना तो सम्पूर्ण मनुष्यसमाजका स्वाधीन शासन है। चाणक्यके मन्तव्यानुसार राजामें विचारशील गृहस्थके समान व्यवस्था सम्बन्धी समस्त गुण होने चाहियें। उसे राष्ट्रव्यवस्थाके नामपर एक कौडी भी व्यर्थ नष्ट न होने देना चाहिये। उसे अपनी अगणित प्रजाको अपने पारिवारिक सदस्योंकी भांति बड़ी चिन्ता तथा सतर्कतासे सत्यके शासनमें रखना चाहिये। उसे प्रजाको सत्यके शासनमें रखनेके लिये स्वयं धर्मके मार्गपर चलना चाहिये और अपनी प्रजाके सामने अपने सत्याचरणोंका

सुदृष्टान्त उपस्थित करके लोगोंको सन्मार्ग पर चलनेके लिये उत्साहित करना चाहिये। उसे राष्ट्रीय कर्तव्यपालनमें प्रत्येक क्षण सचेत रहना चाहिये। विश्वासघाती शत्रुओंकी चेष्टाओंको व्यर्थ करनेके लिये पूरा सावधान रहना चाहिये। प्रजापर अनुचित करभार नहीं लादना चाहिये। प्रजा तथा राज-कर्मचारियोंके समस्त आचरण विश्वस्त गुप्तचरोंके द्वारा देखे भाले पडताले जाने चाहिये। प्रजामें गृहकलह नहीं होने देना चाहिये। प्रजापर राजकर्मचारियों तथा राजसभाके सदस्योंके अत्याचारोंको मिटाने तथा राजविद्रोहका दमन करनेके लिये प्रभावशाली प्रबन्ध रखना चाहिये। अपने राज्यकी रक्षाका सुदृढ प्रबन्ध करके पडोसी शत्रुराज्यको अपने वशमें रखना भी राजाका राष्ट्रीय कर्तव्य है। शत्रुओंके साथ मिलकर रहना या उन्हें अपना सहयोगी बनाना नीतिहीन आचरण है। चाणक्यकी यह नीति प्रत्येक कालमें सब देशोंके लिये मान्य है। भारतकी यही राजनीति है। भारतकी यह राजनीति वैदिक युगकी प्राचीनताका ठीक ही अभिमान करती है।

इसलिये कहता है कि चाणक्यने श्रुति स्मृति पुराणोंमें दण्डनीतिके नामसे उल्लिखित राजनीतिको अपने अर्थशास्त्रमें संकलित करके बृहस्पति, भरद्वाज, विशालाक्ष, वातव्याधि आदि आचार्योंके सिद्धान्तोंको भी उसमें संकलित किया है। उन्होंने समाजसंगठनके आदर्शको ही मनुष्यमात्रके धार्मिक जीवनका उत्स (मूल, झरना) मानकर साधु राजाको उस आदर्शका संरक्षक बनाया है। अपने राज्यमें जितेन्द्रियताकी रक्षा करना ही राजाका मुख्य कर्तव्य स्वीकार किया है। सभासदों, पुरोहितों, मन्त्रियों, सेनापतियों तथा दूत आदिके चरित्रोंको जितेन्द्रियताकी कसौटी पर कसनेके लिये तीक्ष्ण निरीक्षण करते रहना राजाका अनिवार्य कर्तव्य बताया है। यही उनकी राजनीतिकी वेदानुकूलता है। जितेन्द्रियता ही वेदका सर्वस्व है।

राजशक्तिको समाजकी अनिवार्य आवश्यकता बताया है। समाजमें राज-शक्ति न रहनेसे समाजकी मानवोचित कर्मण्यता नष्ट हो जाती और आलस्य तथा अपवित्रता समाजके देह और आत्मा दोनोंको नष्टभ्रष्ट कर डालते हैं।

जैसे मनुष्यकी व्यक्तिगत कामासक्ति उसकी दृष्टिको अंधा बना देती और उसे इन्द्रियोंके दास बनाकर छोडती है, इसी प्रकार राजाकी अजितेन्द्रियता राज्यमें बाह्य शत्रुओंको आनेका निमन्त्रण देकर राजाको पराधीन बना देती है। अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला राजा सागरपर्यन्त भूभागका अधिपति होता हुआ भी नष्ट हो जाता है। मन्त्रियोंकी अजितेन्द्रियता तथा अनुचित महत्वाकांक्षा भी राजशक्तिका प्रबल शत्रु होनेके साथ साथ देशपर विपत्ति आनेका भी प्रबल कारण होता है। इसलिये चाणक्यने मन्त्रियोंकी योग्यताके लिये सद्वंश, विद्या, दूरदृष्टि, ज्ञान, साहसिकता, वाग्मिता, बुद्धिकी प्रखरता, उत्साह, स्वाभिमान, चारित्रिक निर्मलता, आदर्शनिष्ठा, आत्मसंयम तत्परता तथा दृढचित्तताको कसौटीके रूपमें बताया है। मन्त्री लोग इन्हीं गुणोंके आधारपर समाजको सच्ची व्यावहारिक आध्यात्मिकता तथा सुश्रृंखलाके बंधनमें रख सकते हैं। इस आदर्शसे हीन मन्त्रियोंका देशद्रोही और राजद्रोही हो जाना अनिवार्य है।

उस समयके देशका यह सौभाग्य था कि समुद्रसे हिमालय तक सुविस्तीर्ण भारतीय साम्राज्यकी उर्वर भूमिमें समाजकी संगठित शक्तिसे धनसंपत उत्पन्न करके देशमें सुखशान्तिकी अविच्छिन्न गंगा बहानेका आचार्य चाणक्यका सुपना साकार हो गया था और उनके व्यावहारिक आध्यात्मके प्रचारके प्रभावसे देशमें धर्मराज्य स्थापित हो गया था। चन्द्रगुप्त उसका पुत्र बिन्दुसार तथा पौत्र अशोक चाणक्यकल्पित धर्मराज्यके स्थापक होने ही के कारण संसारभरके सम्मुख न्यायनिष्ठ शान्तिप्रिय राजचरित्रका आदर्श रखनेमें समर्थ हुए थे।

आर्थिक आधारोंपर समाजरचनाके दोष

आर्थिक आधारोंपर समाजका पुनर्निर्माण करना चाहनेवाले लोग संसारमें अधिक संख्यामें हैं। परन्तु ये लोग नहीं विचार पाते। आर्थिक आधारोंपर समाजका पुनर्निर्माण करनेसे देशमें स्वार्थी प्रवृत्तियोंको अनिवार्य रूपसे बढावा मिलता है और अन्तमें अव्यवस्था और पापको फैलनेसे रोका ही

नहीं जा सकता। इस कारण समाजका पुनर्निर्माण अर्थके आधारपर न करके सत्य तथा न्यायके आधारपर करना चाहिये। सत्य तथा न्यायके आधारपर समाजका पुनर्निर्माण करनेसे ही आदर्श राजचरित्रका निर्माण किया जा सकता है। न्याय तथा सत्यके आधारपर समाजका पुनर्निर्माण किये विना देशको आदर्श चरित्रवाला राजा नहीं मिल सकता। कौटल्य जो उन दिनों आसेतुहिमाचल भारतकी धूल छानता फिर रहा था उसमें उसका यही महान् उद्देश्य था कि लोगोंके सामने सत्य और न्यायके आधारपर समाजसंगठन करके देशको आदर्श राजा देकर व्यावहारिक रूपमें समझा दिया जाय कि देखो आदर्श राष्ट्रचरित्र तथा आदर्श राजचरित्र बनानेकी यही एकमात्र विधि है।

कौटल्यके सम्मुख भारतके बंधनहीन छिन्नभिन्न समाजकी दयनीय अवस्था उपस्थित थी। भारतके छोटे-छोटे गणराज्योंकी दुर्बलताओंने चाणक्यको व्यथित कर डाला था। वह अपने देशके समस्त गणराज्योंके सम्मिलनसे एक सुपरिचालित विशाल राज्यकी तथा उसीके साथ उस विशाल राज्यके संचालक सुयोग्य राजाकी आवश्यकता अनुभव कर रहा था। वह देख रहा था कि यदि देशके लिये कोई एक प्रतापी राजा न छांट लिया गया तो इतने विशाल मनुष्यसमाजका छिन्नभिन्न बने रहना अनिवार्य और नष्ट हो जाना निश्चित है। चाणक्यको मानवसमाजके ध्वंसको रोकनेके लिये वर्णाश्रमानुकूल दण्डनीतिके द्वारा समस्त समाजको संगठित करके नीतिमान बनाये रखनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

उन्हें दीखा कि किसी केन्द्रवर्ती राजाके हाथोंमें शक्ति दिये विना एक संस्कृतिवाले इस देशकी दण्डनीति प्रभावशाली नहीं रह सकती। वे यह भी भली प्रकार समझते थे कि देशकी दण्डनीतिका जहां शासितों तथा शत्रुओंके ऊपर प्रभावशाली रहना आवश्यक है वहां उसको शासकोंके ऊपर प्रभावशाली बनाकर रखना उससे अधिक आवश्यक है। दण्डनीतिके शासकोंके ऊपर प्रभावशाली बनकर रहनेसे ही शासनयन्त्र सुपरिचालित

रह सकता तथा शासित लोग नीतिमार्ग पर रह सकते हैं। यदि दण्डनीति शासक लोगोंके ऊपर अपना प्रभाव रखनेमें सफल नहीं हो सकेगी तो राज्य-संस्था अनिवार्य रूपसे नीतिहीन हो जायगी और समाजके बड़े लोग छोटोंको विध्वस्त कर डालेंगे। चाणक्यकी दृष्टिमें तत्कालीन भारतका अनेक गणराज्योंमें विभक्त रहना ही भारतकी सामूहिक शक्तिके प्रादुर्भूत होनेका विघ्न बना हुआ था।

उस समयके भारतीय गणराज्य शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंके प्रभावमें आये हुए थे और इसी कारण अपने आध्यात्मिक समझे हुए असामाजिक आदर्शोंको देशके राजनैतिक आदर्शसे भी अधिक महत्व दे रहे थे। इस कारण देशकी राजनीति भी पथभ्रष्ट हो रही थी। यह सब देखकर चाणक्यको साम्राज्यनिर्माणका यही महत्तर आदर्श उप-युक्त प्रतीत हुआ कि देशके समस्त गणराज्योंके ऊपर भी एक केन्द्रिय राज-दण्ड स्थापित करके देशके राजनैतिक आदर्शोंकी रक्षा की जाय। देशमें इन समस्त गणराज्योंको किसी एक राजदण्डके अधिकारमें लाये बिना राष्ट्रकी सामूहिक रक्षा नामका कर्तव्य राष्ट्रसे किसी भी प्रकार नहीं पलवाया जा सकता। चाणक्यको स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि प्रान्तीय या स्थान विशेषसे सम्बन्ध रखनेवाली संकीर्ण दृष्टि रखनेवाले गणराज्योंको राष्ट्र भरकी चिन्ता रख सकनेवाली किसी शक्तिमती प्रभुसत्ताके आज्ञापालक बनाये बिना वह साम्राज्यनिर्माण किसी भी प्रकार नहीं हो सकता जो इस सम-यके भारतीय राष्ट्रकी अनिवार्य आवश्यकता है। वे मानते थे कि देशभरके लोगोंमें अपने व्यक्तिगत जीवनके लिये उत्तरदायित्व पैदा हो जाना ही साम्राज्यनिर्माणकी मुख्य आधारशिला है। आर्य चाणक्यको देशमें इस उत्तरदायित्वको जगाना आवश्यक दीख रहा था।

नैतिकता ही मानवजीवनका सार है। मानवजीवनके सार नैतिकताको अपने व्यावहारिक कर्म-क्षेत्रमें सुरक्षित रखना ही समाजकल्याणकारी व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्वको राष्ट्रके सामने युक्तिपूर्वक उपस्थित करके राष्ट्रसे स्वीकृत करा लेना चाणक्यकी सफल नीति थी। वे

समझते थे कि मनुष्य हृदयपर विजय दिलानेवाला ब्रह्मास्त्र युक्ति ही है, बलात्कार नहीं। वे मनुष्यकी स्पष्ट ज्ञानशक्ति तथा तीक्ष्ण बुद्धिवृत्तिको ही ऐसा अव्यर्थ हथियार समझते थे जिससे बाह्य प्रतिकूल परिस्थितियोंको पराभूत किया जा सकता है। वे अपनी स्पष्ट ज्ञानशक्ति तथा सुतीक्ष्ण बुद्धिवृत्तिको ही सदा काममें लाते थे। आर्य चाणक्यमें इन अभूतपूर्व गुणोंने जैसा पूर्ण आत्मविकास पाया था संसारके इतिहासमें वैसा विकास पाने-वालोंका प्रायः अभाव पाया जाता है। चाणक्यने गुणजन्य आत्मविश्वासके कारण ही अपने तीनों महान् उद्देश्य पूरे किये थे। भारतमें जो राजनैतिक शक्तिका सूत्रपात हुआ वह चाणक्यकी बुद्धिके ही कारण हुआ। उसी सूत्र-पातके कारण भारत अशोकके समय पहली बार संसारको सफलताके साथ शान्तिप्रेम और भ्रातृभावका सन्देश सुनाने योग्य बना। बिन्दुसार तथा अशोक दोनोंके यशकी पृष्ठभूमि भी आर्य चाणक्यकी प्रतिभा ही थी। इस दृष्टिसे चाणक्यको न केवल भारतके प्रत्युत संसारभरके इतिहासके अत्यन्त महत्वपूर्ण युगका प्रवर्तक कहा जा सकता है।

चाणक्यने आदर्श राष्ट्र, आदर्श राजचरित्र तथा अखण्ड राष्ट्रनिर्माण नामक अपने तीनों महान् उद्देश्योंको पूरा करनेके लिये भारत पर होनेवाले विदेशी आक्रमणको व्यर्थ करना आभ्यन्तरिक देशद्रोहियोंको मिटाना तथा व्यक्ति-गत स्वार्थहीन आदर्श समाजको संगठित करना आवश्यक समझा और अपने सफल प्रयोगोंसे भारतवासियोंको इन सब बातोंकी व्यावहारिक शिक्षा दी। यदि वे देशद्रोहियोंको देशद्रोह करनेका अवसर देते रहते, देशको विदेशी आक्रमणोंकी संभावनाको न मिटा डालते, देश तथा उसके प्रत्येक ग्रामको विदेशियोंसे पृथक् पृथक् स्वतन्त्र रूपसे लोहा लेनेके लिये प्रस्तुत न कर देते, देशमें व्यक्तिगत स्वार्थभावनाको फूलने फलने देते तो देशसे राष्ट्रसेवा नामका मानवधर्म पलवाया नहीं जा सकता था। राष्ट्रसेवामें ये तीनों कर्तव्य अत्याज्यरूपसे राष्ट्रसेवामें सम्मिलित है। जिस राष्ट्रमें देशद्रोही लोग हैं जो राष्ट्र विदेशी आक्रमण या लूटको व्यर्थ नहीं बना सकता। जिस राष्ट्रके ग्राम शत्रुओंके मार्गमें पग पगपर प्रतिरोधके लिये सन्नद्ध नहीं होते, जिस राष्ट्रका मनुष्यसमाज अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंको समाजके महत्तम स्वार्थमें विलीन

करना नहीं जानता, जान लो कि उस राष्ट्रमें राष्ट्रसेवाका स्थान सूना पड़ा हुआ है। जान लो कि वह राष्ट्र असुरोंकी स्वेच्छाचारिताकी क्रीड़ाभूमि बन चुका है। आजके भारतवासीको चाणक्यसे राष्ट्रसेवाका यही महत्व-पूर्ण पाठ पढ़ना है।

अपने समाजसे अलग मनुष्यका कोई मूल्य या अस्तित्व नहीं है। मनुष्यका जो समाज है वही तो उसका राष्ट्र है। राष्ट्र ही राज्यसंस्थाका कर्णधार है। राष्ट्र ही राजाकी कल्पना निर्माण और नियुक्ति करता है। राजाकी भ्रान्ति तथा दुष्प्रवृत्तियोंको रोकना राष्ट्ररूपी राज्यसंस्थाके कर्णधारका ही काम है। यदि राष्ट्र अपनी राज्यसंस्था रूपी नौकाको खेनेमें थोड़ासा भी प्रमाद करेगा तो इस नौकाका डूब जाना तथा अपने सब यात्रियोंको डूबनेके लिये विवश करना निश्चित हो जायगा। इसीलिये कौटल्यने राष्ट्र-सम्मत जितेन्द्रिय राजाको समग्र राष्ट्रका प्रतिनिधित्व करनेका अधिकार दिया है और उसीके कंधोंपर सम्पूर्ण राष्ट्रका नैतिक तथा वैज्ञानिक दोनों प्रकारका उत्तरदायित्व सौंपा है। उनका यह सुदृढ विश्वास था कि जैसे संपूर्ण प्राणियोंके पदचिन्ह हाथीके पैरमें समा जाते हैं इसी प्रकार संसारके समस्त धर्म राजधर्मके उदरमें समा जाते हैं। राजधर्म समस्त धर्मोंका संरक्षक है। जिस देशका राजधर्म सुरक्षित रहता है उसीकी समस्त प्रजा धार्मिक रह सकती है। यदि राजधर्म सुरक्षित या व्यवस्थित नहीं रहता यदि वह लूला, लँगड़ा, अंधा, बहरा बनकर रहता है तो राजचरित्रका अनुकरण करने-वाली प्रजा धर्ममार्गपर नहीं रह सकती।

चाणक्यको जो भारतमें अखण्ड राष्ट्रका निर्माण करनेकी प्रेरणा मिली थी वह एक तो भारतपर बाह्यशत्रुओंके आक्रमणको हटाने, दूसरे उस आक्रमणमें आभ्यन्तरिक देशद्रोही शत्रुओंका सहयोग मिलना असंभव बना देनेकी आवश्यकतासे मिली थी।

भारतपर विदेशी आक्रमण होते ही भारतकी राजनैतिक रुग्णावस्था राष्ट्रवैद्य चाणक्यसे छिपी नहीं रह सकी। उन्होंने स्पष्ट देख लिया कि—

पश्चिमोत्तर तथा सिन्धके छोटे छोटे गणराज्य तथा वहांकी स्वतंत्र जातियां अपनी संगठन हीनतासे किसी भी महत्वाकांक्षी पशुबलके सामने सिर झुकानेको प्रस्तुत हैं। देशकी यह शोचनीय स्थिति देशके विज्ञ लोगोंको कांटेकी भाँति चुभ रही थी। यही कारण था कि देशकी आत्मरक्षाके नामपर देशके क्षुद्र क्षुद्र राज्योंको एक प्रबल शक्तिशाली साम्राज्यके रूपमें परिणत कर डालनेके प्रस्ताव (कल्पना) को सारे देशमें समर्थन भी मिलने लगा था और चाणक्य द्वारा निर्वाचित और शिक्षित चन्द्रगुप्तको केवल आधुनिक भारतका सबसे पहला सम्राट् ही नहीं किन्तु संसारभरका धर्मकी नींवपर सुप्रतिष्ठित सबसे पहले साम्राज्य प्रतिष्ठापकके रूपमें मान लेनेके लिये भूमि (वातावरण) भी प्रस्तुत हो चुकी थी।

आर्य चाणक्यके अनथक प्रयत्नोंसे भारतभरका वातावरण चन्द्रगुप्तके सम्राट् बननेके अनुकूल बन चुका था। इस अनुकूल वातावरणने चन्द्रगुप्तको राष्ट्रीय क्रान्तिका अग्रदूत तथा विजयी नेता बना डाला। उसने मगधके सिंहासनपर अति सुगमतासे अपना अधिकार प्रतिष्ठित करनेके पश्चात् अन्य भी बहुतसी समरयात्राओंमें विजय पाकर एक विशाल साम्राज्य बना लिया। वह न केवल छिन्नभिन्न भारतको अपितु भारतकी सीमासे बाहर तकके मनुष्यसमाजको एकताकी धर्मप्रधान डोरीमें बाँधनेमें सफल हो गया था। चन्द्रगुप्तके पश्चात् उसके पुत्र बिन्दुसार तथा पौत्र अशोकने देशमें इतिहासप्रसिद्ध नई राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करके मानवजातिकी उन्नतिके लिये भारतके धर्ममूलक राजनैतिक आदर्शको संसारके सामने ला खड़ा किया।

चाणक्यकी देशभक्तिका आदर्श ही अशोककी सच्ची देशभक्तिका कारण बना। चाणक्यको अशोकके महान् व्यक्तित्वकी भूमिका कहना अत्युक्ति नहीं है।

आचार्य कौटल्य राजचरित्र तथा मानवधर्ममें कोई भेद नहीं मानते थे। वे इन दोनोंको अभिन्न मानते थे। उनके विचारके अनुसार राजा न्यायका अवतार, धर्मका प्रवर्तक तथा मनुष्यताकी साक्षात् मूर्ति है। राष्ट्रमें धर्मकी

रक्षा राजाका ही उत्तरदायित्व है । न्यायपूर्वक प्रजाकी रक्षा ही राजधर्म है । उनकी दृष्टिमें विधाताने जो मानव सृष्टि बनाई है वह नैतिक आदर्शकी रक्षा ही के लिये बनाई है । आजके संसारने जो आदर्श अपना रक्खा है उसे तो पशुओंने भी अपना रक्खा है । इसे अपनानेमें मानवकी कोई विशेषता नहीं है । इसे अपनानेसे तो उसकी पशुता ही विकसित हुई है। इसमें उसकी मानवताके विकसित होनेकी कोई संभावना नहीं है । चाणक्यकी यह हार्दिक अभिलाषा थी कि संसारकी राजसंस्थायें मानवताको फूलनेफलने देनेवाले इसी प्राकृतिक नियमके आधारपर प्रतिष्ठित हों।

चाणक्य वर्णाश्रम धर्मके प्रबल समर्थक थे । वे देशकी राजनीतिको वर्णाश्रमधर्मके अनुकूल बनाये रखनेमें ही समाजका कल्याण समझते थे। उनका विश्वास था कि मनुष्यका राजनैतिक जीवन उसके नैतिक जीवनसे भिन्न नहीं होना चाहिये । उनके अनुसार राजनैतिक जीवन तथा नैतिक जीवनमें सुदृढ एकता होनी चाहिये । वे मानते थे कि राजसंस्था समाजको शृंखलामें तब ही रख सकती है जब वह अपने व्यवहारमें भी नैतिकताके आदर्शको अक्षुण्ण रखे । इस दृष्टिसे राजनीतिको मानवधर्मसे अलग रखना आचार्य कौटल्यके सिद्धान्तके विरुद्ध था । उनका विश्वास था ' धर्माय राजा भवति न कामकरणाय ' तू राजा इसलिये राजा नहीं बना कि राज्यैश्वर्य पाकर कामभोगोंमें फँस जाय । वह तो स्वयं धर्म करने तथा राष्ट्रमें धर्मकी स्थापना करनेके लिये राजा बना है ।

चाणक्यका राजा उत्तरदायित्वहीन स्वेच्छाचारी राजा नहीं है । चाणक्यके राजाका तो दुगना उत्तरदायित्व है । वह प्रजाको धर्मच्युत न होने देनेके लिये भी समाजके सामने उत्तरदायी है और स्वयं भी धर्मरत रहनेके लिये समाजके सामने उत्तरदायी है । न्याय ही प्रजा या सम्पूर्ण राष्ट्रमें शृंखला बनाये रखनेवाला धर्मबन्धन है । व्यक्ति समाजसे अलग अपना अस्तित्व नहीं रखता । व्यक्तिका कल्याण भी समाजके कल्याणसे अलग कोई वस्तु नहीं है । चाणक्यके निर्देशानुसार जीवन बितानेका इच्छुक व्यक्ति

अपने व्यक्तिगत सुखोंपर मरनेवाला भोग लोभी व्यक्ति नहीं है। वह तो अपनेको सामाजिक श्रृंखलाकी रक्षामें लगाये रखकर समाजमें अपना सम्मानपूर्ण स्थान बनाये रखनेके लिये तपस्वी जितेन्द्रिय जीवन बितानेके लिये बाध्य है। चाणक्यके सिद्धान्तमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता नामकी ऐसी कोई स्थिति नहीं है जो धर्मकी सीमाको लांघनेका दुःसाहस कर सकती हो। वे धर्मकी सीमाके भीतर ही व्यक्तिकी स्वतंत्रता मानते हैं।

चाणक्य प्रजाको जीवनरक्षा संबन्धी प्रत्येक आवश्यकता पूरी करनेकी प्रत्येक सुविधा देना राजाका कर्तव्य मानते हैं। उनके विचारके अनुसार राजा अपनेको जनताका सेवकमात्र समझे। समाजके प्रभावशाली ज्ञानी लोग अपनेको जनताके अभिभावक माने और बनकर रहें। राजा समाजके प्रभावशाली ज्ञानियोंका सहयोग पाये विना, स्वेच्छाचारसे राजशक्तिका प्रयोग न करें। कौटल्यकी राज्यसंस्था समाजको संत्रस्त, नपुंसक तथा नीतिहीन बनानेवाले दण्डभय (पशुशक्ति) पर आश्रित नहीं है किन्तु समाजके स्वतंत्र कर्तव्यपरायण तथा नैतिकतारूपी शान्तिके मार्गपर आरूढ कर देनेवाली बुद्धिशक्ति पर आश्रित है। राजाका प्रजाके सुख तथा कल्याणमें ही अपना सुख तथा कल्याण ढूंढनेवाला होना चाहिये। अपना व्यक्तिगत सुख राजा नाम पा जानेवालेका सुख नहीं रहता, किन्तु प्रजाका सुख ही राजाका सुख बन जाता है। कौटल्यके राजाका कर्तव्य है कि वह जीवनभर प्रजाके सम्मुख इन्द्रियविजयी होकर अपनी सच्ची कल्याणबुद्धि तथा समाजकी हितकामनाके प्रमाण जीवनभर उपस्थित किया करे। कौटल्यके अनुसार राजा ही राज्यका मुख्य नागरिक है। क्योंकि कौटल्यका राजा प्रजामेंसे योग्यतम व्यक्ति मानकर छांटा हुआ व्यक्ति है इसलिये उसमें नागरिकताके संपूर्ण गुण अपनी पूर्णावस्था तक विकास पाये हुए होने चाहिये। इसी कारण राजा राष्ट्रका मुख्य नागरिक है।

वह नागरिकतामें तो प्रजाके साथ मिला रहता है परन्तु राज्याधिकारका प्रयोग करते समय न्यायमूर्ति राजाका रूप धारण कर लेता है। वह नागरिकतामें प्रजाके साथ मिला रहकर ही राजभोगका अधिकारी बनता है।

कामासक्ति, क्रोधकी अधीनता, लोभग्रस्तता, दम्भ, मद्यरुचि, औद्धत्य आदि दोष राजाके परम शत्रु हैं। राजाको मृगया, जुआ, मद्यपान, कामभोग, आदि प्रलोभनोंसे पगपगपर बड़ी सावधानीसे अपनेको बचाये रखना चाहिये। राजा जनकल्याणके काममें त्रुटि करनेसे दण्डका भागी बन जाता है। अज्ञान और असंयम (अर्थात् अनुभवहीनता और स्वार्थ) ये दोनों राज्य-संस्थाको नष्ट करनेवाली व्याधि है। आत्मसंयम सीखना ही राजचारित्र निर्माणकी मुख्य सामग्री है। सच्चे राजाको मानवताके महान् आदर्शका उपासक होना चाहिये। मानवताके महान आदर्शका उपासक हुए बिना किसीको राजा बननेका अधिकार ही प्राप्त नहीं होता। राजाको राज्यके अनुभवी वृद्ध ज्ञानी लोगोंके संपर्कमें रहना चाहिये। इसलिये रहना चाहिये कि शासनकी जटिल समस्याओंका समाधान करनेमें अनुभवी वृद्धोंकी बुद्धि तथा अनुभवसे लाभ उठाया जाय। राजाको सदाचारी अनुभवी वृद्धोंके अनुभवोंसे लाभ उठानेवाला शिष्य बननेके लिये इन्द्रियविजयी भी बनना चाहिये। मनुष्यको सच्चा मनुष्य बनानेवाली संपूर्ण शिक्षा इन्द्रियविजय पर ही मुख्यतया आश्रित है।

राजा अपनेको योग्य राजा बनाये रखनेके लिये अपने आपको अटल दिनचर्याके कठोर बन्धनमें बांधकर रक्खे। वह अपने दिनके प्रत्येक भागको कर्तव्यसे भरपूर रक्खे और बड़ी श्रद्धासे दिनचर्याका पालन किया करे।

राजाकी दिनचर्या

दिनरातको सोलह नलिका (डेढ घंटा) में बांटकर दिनके आठ भागों (बारह घंटों) को कर्तव्योंसे भरा रक्खे। राज्यके आयव्ययका निरीक्षण नागरिकों तथा उनकी सुविधाओंकी देखभाल, स्नान, आत्मचिन्तन, वैदिक अनुष्ठान, भोजन, स्वाध्याय, राजस्व ग्रहण, राजकर्मचारियोंके कर्तव्योंका निरीक्षण, मंत्रियोंसे राजकार्योंकी आलोचना, गुप्तचरोंसे देशविदेशके समाचारोंका संग्रह, चित्तविनोद, हाथी, घोड़े, रथ तथा पदाति सेनाओंका निरीक्षण सेनापतिके साथ संग्रामसंबन्धी कार्यवाहियोंकी आलोचना करके दिनके अन्तमें

*

सन्ध्योपासना करे यह राजाका दैनिक कर्तव्य है। रातमें गुप्तचरोंसे देश-विदेशके समाचार सुनकर सायंकालीन स्नान, भोजन तथा स्वाध्याय समाप्त करके शयनगृहमें प्रवेश करे और चौथे या पांचवें याममें मधुर संगीतके साथ नींद छोड़कर उपस्थित दिनके भावी कर्तव्योंका चिन्तन करे। सूर्योदयसे पहले ही गुप्तचरोंको कर्तव्य सौंपकर पुरोहितों तथा आचार्योंसे आशीर्वाद लेकर वैद्य, सूपकार तथा ज्योतिषीसे स्वास्थ्यसंबन्धी आलोचना करे। इसके पश्चात् गोमाता, गोवत्स तथा हल जोतनेवाले बैलोंकी परिक्रमा तथा प्रणाम करके राजसभामें उपस्थित हो।

राजा ध्यान रक्खे कि राजसभामें कभी भी प्रार्थीको राजद्वारपर अनुचित प्रतीक्षा न करनी पड़े। राजदर्शनार्थीको दर्शनकी पूरी सुविधा न देनेसे जनताकी घृणाका पात्र बने राजा धर्मकार्यों, वैदिक अनुष्ठानों, गो-सेवा, तीर्थसेवा, शिशु, वृद्ध, रोगी, नारी तथा असहायआदिकी सेवाके लिये व्यक्तिगत रूपमें उद्यम करे। अत्यावश्यक कर्तव्योंको उसी क्षण करे। इस लिये करे कि सहजसाध्य कर्म भी समय बीत जानेसे दुःसाध्य हो जाते हैं। कर्तव्य तत्परता ही राजाकी धर्मनिष्ठा है कर्तव्य सुसम्पन्न करना ही उसका यज्ञ है। प्रजामें समदृष्टि रखना उसकी पवित्रता है। प्रजाके सुखमें ही उसका सुख है। उसकी समृद्धिमें ही उसकी समृद्धि है। राजा अपने व्यक्तिगत सुखको तबतक सुख न माने जबतक वह प्रजाके लिये भी सुखकर न हो। इसलिये राजा कर्तव्य परायणताको ही अपने राज्यैश्वर्यका मूल माने, इसके विपरीत कर्तव्य हीनताको राज्यका ध्वंस समझकर उससे बचे।

राजाकी दिनचर्या राजाके ऐन्द्रियक भोगोंको अवसर देनेवाली न रहकर प्रजाके कल्याण साधनके उद्देश्यको पूरी करनेवाली होनी चाहिये। राजा भी हो और प्रजाकी दृष्टिमें दुराचारी, अनैतिक, घृण्य, व्यक्तिगत सुखान्वेषी भी हो यह परस्पर व्याहत कल्पना है। यदि राजा सच्चे अर्थमें राजा है तो उसका प्रजापालनके अतिरिक्त व्यक्तिगत सुखान्वेषी बननेका तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्रजासे पूजा पाने योग्य समस्त गुणोंसे युक्त होना ही राजाकी

योग्यता है। अपने मंत्रियों तथा राजकर्मचारियोंको कर्तव्यके मार्गपर रखना उन्हें कर्तव्यमार्गसे तिलमात्र भी इधरसे उधर न होने देना राजाका ही उत्तरदायित्व है। राजाके पास इस उत्तरदायित्वको पालनेके लिये ऐसे विश्वासी गुप्तचर होने चाहिये जिनका काम राजाको राज्यसंस्थाकी अपवित्रताके विरुद्ध सावधान करना हो। धार्मिक राजा अविश्वास्य मंत्रियों, देशद्रोही प्रजाओं तथा शत्रुओंको उचित रूपमें दण्ड देनेके लिये जिस किसी उपायका सहारा लेना उचित समझे वही राष्ट्रहितकारी होनेसे सत्यानुमोदित हो जाता है। जितेन्द्रिय होकर सब प्रकारके अधार्मिक आचरणोंसे अपनेको बचाये रखना राजाका व्यक्तिगत कर्तव्य या पुरुषार्थ है। प्रजाहितकी दृष्टिसे दुष्टोंके साथ दुष्टता करके भी उनकी दुष्टताको तत्काल रोक देनेवाले सब प्रकारके शासकोचित व्यवहार करना राजधर्मके अनुकूल है।

समाजद्रोही, देशद्रोही प्रवृत्ति दण्डसे ही संयत रक्खी जा सकती है। जितेन्द्रिय लोग ही शासनदण्डका उचित प्रयोग कर सकते हैं। राज्यसंस्था ही एकमात्र वह शक्ति है जो दण्डप्रयोगसे मनुष्यकी समाजद्रोही प्रवृत्तियोंको संयममें रखकर उसे विवश कर सकती है कि राष्ट्रका प्रत्येक व्यक्ति सार्वजनिक कल्याण कर सकनेवाली नीतिको अपनाये।

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।

संसारके लोग दण्डभयसे ही कर्तव्य करते और अकर्तव्यसे बचते हैं। अपनी आभ्यन्तरिक प्रेरणासे कर्तव्य करते और अकर्तव्यसे बचनेवाले शुचि-लोग संसारमें होते तो हैं परन्तु दुर्लभ होते हैं। इसलिये राजा दण्डको सदा ही जगाये रक्खे। इसलिये रक्खे कि दण्ड ही एकमात्र ऐसा ब्रह्मास्त्र है जो राष्ट्रको तो सब प्रकारकी विपत्तियोंसे तथा शासकोंको कुशासनरूपी कर्तव्यभ्रष्टतासे बचा सकता है। इसलिये जबतक मनुष्य-समाज दण्ड धारिणी राज्यसंस्थाके रूपमें सुसंगठित नहीं हो जाता तबतक कोई भी राष्ट्र राष्ट्रीय जीवनका आनन्द नहीं भोग सकता।

न्यायकी रक्षा दण्डपर ही आश्रित है। यदि न्यायसंस्थाके साथ दण्डसंस्था न हो तो न्यायका कोई मूल्य नहीं रहता, दण्ड ही न्याय्य बातको माननेके

लिये विवश करता है। राष्ट्रमें न्यायका बलिदान हो जानेसे राष्ट्रका विनाश अवश्यंभावी हो जाता है। क्योंकि न्यायकी रक्षा ही राज्यकी रक्षा है इस लिये न्यायकी रक्षा ही राजा और राजसत्ताका सार है। भलेबुरेकी पहचान करना ही न्याय है। शासक शासित दोनोंके कल्याणका एक होना ही राज्यसंस्थाका न्याय है। कौटलीय अर्थशास्त्र न्यायके शासनको ही सत्यका प्रतीक मानता और उसकी रक्षाको ही राजधर्म बताता है। राज्यसंस्था प्रजाके कल्याणके लिये ऐसे नियम प्रचलित करे जो समस्त विश्वके माननीय अद्वेय विवेकका पूरा प्रतिनिधित्व करते हों। राजनियम बनानेवालोंमें न तो भ्रम हो न प्रमाद हो और न किसीका अधिकार छीननेकी लोभ या द्वेषमयी दुर्बुद्धि हो। भ्रमिष्ठ, प्रमादी, स्वार्थी, विप्रलिप्सु, अनुभवहीन लोग राजनियमोंके निर्माता तथा निर्वाहक न बनने पांय। राजनियम स्पष्ट भाषामें हों।

यद्यपि कौटल्यने राज्यशासनमें राजाका एकाधिकार स्वीकार किया है परन्तु उन्होंने राजाको जनताका सेवक बननेके बन्धनमें रखकर सिद्ध कर दिया है कि राजा राज्यपर जनताकी प्रभुता स्वीकार करे, राष्ट्रमें जनताके ही शासनको प्रभावशाली बनाकर रक्खे और अपने व्यक्तित्वको प्रजाकी सदिच्छाओंमें विलीन कर डाले। अपने व्यक्तित्वको जनमतमें विलीन करके राज्यशासन चलाना ही कौटल्यकी राज्यसंस्था या राजाका वास्तविक स्वरूप है। इस रूपमें कौटल्यका राजा तो वास्तवमें जनता ही है। जनताका असन्तोषभाजन हो जाना तो राजाकी अयोग्यता है।

शत्रुदमन ही कौटल्यके न्यायका स्वरूप है। राजा जितेन्द्रिय होनेपर ही न्यायनिष्ठ रह कर शत्रुदमन कर सकता है। दूसरे शब्दोंमें काम, क्रोध आदि आभ्यन्तरिक शत्रुओंपर विजय पाना ही राजाको न्यायपरायण बनानेवाली योग्यता है। न्यायी राजा शत्रुदमनके लिये जो कुछ काम करता है वही न्याय कहलाने लगता है। प्रजापालन ही राजाका राजधर्म है। प्रजापालनकी विद्या ही राजाकी दण्डनीति है। जब राजाको प्रजापालनके लिये शत्रुकी

प्रतारणा, हत्या आदि आवश्यक क्रूर (कठोर) उपायोंका अवलम्बन करना पड़ता है तब वह समाजके अन्यायपरायण शत्रुओंसे जो बर्ताव करता है वह न्यायकी परिभाषामें आजाता और समाजकल्याणकारी होजाता है। किसी कर्मकी सदोषता या निर्दोषता कर्मके बाह्य आकारमें न रहकर उसकी प्रेरक भावनामें रहा करती है। समाजकल्याणकी भावना स्वयं ही इतनी शुद्ध है कि पापियोंको दिया हुआ वधदण्ड उसकी पवित्रताको किसी भी रूपमें खण्डित नहीं कर सकता। पापियोंको दण्ड देनेवाला राजा अहिंसक ही रहता है।

हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते। (भगवद्गीता)
तत्पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मानुबन्धः। (नीतिवाक्यामृत)

यदि राजा अन्यायी लोगोंको उचित दण्ड देनेमें प्रमाद करता है तो वह शत्रुओंसे आक्रान्त हुए बिना नहीं रहता। राष्ट्र, समाज तथा व्यक्तियोंके शत्रुओंके विरुद्ध प्रभावशाली उपायोंका अवलम्बन करना ही प्रजापालन है। इसी दृष्टिसे उसे ' शठे शाठ्यं समाचरेत् ' की नीतिका अवलम्बन करना पड़ता है और उसके लिये उसे पूर्ण रूपसे कार्यकुशलता तथा प्रत्येक क्षण जागरूक रहना पड़ता है। कुछ लोगोंने चाणक्यके हृद्गत अभिप्रायको न समझकर उसे कुटिल नीतिवाला कहकर निन्दा की है और चाणक्यसंबन्धी सत्य छिपाया है। कुछ लोग आज भी उसकी उपेक्षा करना चाहते हैं। ये सब वे लोग हैं जो देशमें चाणक्यनीतिके मान्य हो जानेसे हानि उठानेकी सम्भावना देखते हैं। चाणक्य तो ' शठे शाठ्यं समाचरेत् ' या 'मायाचारो मायया वर्तितव्यः' की नीतिके प्रबल समर्थक थे। चाणक्य शठोंसे सदा ही शठता किया करते थे और करवाना चाहते थे। वे किसीकी शठताका समर्थन करनेको भी शठता मानते थे और भूलकर किसीकी शठताको अपना कोई समर्थन नहीं पाने देते थे। शठ लोग ऐसे चाणक्यकी निन्दा करें और उससे शत्रुता रक्खें तो इसमें आश्चर्य क्या है? वास्तविकता यह है कि चाणक्यकी निन्दा उनके निन्दकोंको ही शठ सिद्ध कर देती है।

जो बर्ताव शिष्टके साथ शिष्टाचार है दुष्टके साथ उसके विपरित अशिष्ट दीखनेवाला व्यवहार ही चाणक्यका शिष्टाचार है। उनके मतानुसार जिस शिष्टाचारको पानेका केवल शिष्टको अधिकार है उसे दुष्टको दे देना शिष्टके प्रति अशिष्ट व्यवहार है, सत्यका द्रोह है, अन्याय है तथा दुष्टका पक्षावलम्बन करना रूपी दुष्टता भी है। न्यायदण्ड ही राजदण्ड है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्तका प्रारम्भिक राजनैतिक जीवन पश्चिमोत्तर भारतके निवासी लगभग २० वर्षीय युवा अश्वक नामक क्षत्रिय जातिके छोटेसे अधिपतिके रूपमें प्रारंभ हुआ था। अन्तमें तो वह अपनी विचक्षण प्रतिभा, देशभक्ति, तथा अनन्य साधारण विक्रमके कारण न केवल भारतका सम्राट् बन गया था प्रत्युत पृथिवीका असुरभार उत्तम उतारनेवाले विष्णुका अवतार तक कहा जाने लगा था।

वाराहीमात्मयोनेस्तनुभवनविधामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना पीवरं राजमूर्तेः
स श्रीमान् बन्धुभृत्यश्चिरमवतु मही पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥

'जैसे प्रलयमें डूबी हुई पृथ्वीने कल्पके प्रारंभमें भूरक्षासमर्थ आदिवराह भगवानकी दंष्ट्रामें आश्रय लिया था, इसी प्रकार अब म्लेच्छोंसे उद्वेज्यमान भूमिने जिस चन्द्रगुप्त राजाके भुजाओंमें आश्रय लिया है वह चन्द्रगुप्तरूपधारी आदिविष्णु भारतभूमिकी रक्षा करे'। इसका अर्थ यह हुआ कि पृथिवीने म्लेच्छोंके आक्रमणसे बचनेके लिये विष्णुके अवतार चन्द्रगुप्तकी भुजाओंकी शरण ली थी। उसे अवतार माननेका कारण ही यह था कि म्लेच्छसंहारिणी शक्ति ही भारतमें वैष्णवी शक्ति मानी जाती रही है।

त्यक्तस्वधर्माचरणा निर्घृणाः परपीडकाः।
चण्डाश्च हिंसका नित्यं म्लेच्छास्ते ह्यविवेकिनः।

गोमांसखादको यस्तु विरुद्धं बहु भाषते
सर्वाचारपरिभ्रष्टो म्लेच्छ इत्यभिधीयते ।

अपना धर्माचरण त्याग देनेवाले दयाहीन, परपीडक, क्रूर, हिंसक, अविवेकी म्लेच्छ कहाते हैं। गोमांस खानेवाले आर्य मन्तव्योंके विरुद्ध बोलनेवाले आचारहीन लोग म्लेच्छ कहाते हैं। भारतीय भाषामें मनुष्य समाजमेंसे मनुष्यताको विलुप्त करनेवाले लोग आततायी, असुर, म्लेच्छ, राक्षस आदि नामोंसे कहे जाते हैं। इन नामोंसे कहे जानेवाले शत्रुओंको आततायीके रूपमें वध्य माना गया है। मनुष्यसमाजमें जो समय समयपर अवतार अवतीर्ण होते हैं वे इस असुरदलसंहारिणी शत्रुविनाशिनी शक्तिको लेकर ही होते हैं। यही अवतारकी परिभाषा है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ (भगवद्गीता)

भारतके लोगोंने जब कभी किसीको म्लेच्छदमन या असुरसंहार करते देखा है तब ही उन्होंने उसे अवतार नाम देकर मनुष्यसमाजमें सर्वोच्च पूज्य स्थान दिया है। इन अवतारोंके मनोंकी असुरसंहार करनेवाली भावना ही विष्णु है। 'मात्र हि विद्यते देवः।' विशिष्ट समाजसेवकोंका देह विराट् समाजकी सेवाका कर्मयन्त्र होनेसे समाजमें अवतार नामसे पूजा जाने लगता है। अवतार वैष्णवी शक्तिका यंत्र मात्र होता है। यन्त्रको यन्त्रीकी आवश्यकता होती है। यन्त्रीके विना यन्त्र होता ही नहीं। जब हम भारतकी भूमिसे असुरभार उतारनेके संबन्धमें अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहते हैं तब चन्द्रगुप्तको विष्णुके अवतार नामसे सम्मानित करते हैं। जब हम चन्द्रगुप्तको अवतारके नामसे सम्मानित करते हैं तब उसे चाणक्यसे अलग नहीं रख सकते। जब हम चन्द्रगुप्तको विष्णुका अवतार मानते हैं तब आचार्य चाणक्यको साक्षात् विष्णु कहना पड़ता है। विप्र चाणक्यकी राजनैतिक सूझबूझने चन्द्रगुप्तके देहमें आकर क्षात्ररूप धारण कर लिया था। आचार्य विष्णुगुप्तकी समस्त राजनैतिक योजनाओंको मूर्त रूप देना चन्द्रगुप्तका ही काम था।

आचार्य विष्णुगुप्त तथा चन्द्रगुप्तका यह मिलन वेद और धनुषका या ब्राह्म तथा क्षात्रशक्तियोंका अभूतपूर्व संगम था। चन्द्रगुप्तके जो शौर्यवीर्य रणक्षेत्रमें अवतीर्ण हुए थे और वहां जो उसने म्लेच्छोन्मूलन किया था उनके साथ पदपदपर चाणक्यकी प्रतिभा लगी हुई थी। वास्तवमें चन्द्रगुप्त चाणक्यके हाथका यन्त्र मात्र था। 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' वाली घटनाने एक बार भारतमें फिर अपनी पुनरावृत्ति की थी। चाणक्य यन्त्री थे और चन्द्रगुप्त उनके हाथका यन्त्र था। चन्द्रगुप्त की चारित्रिक श्रेष्ठताने उसकी इतनी बडी सहायता की थी जो सैकडों सेनाओंसे भी नहीं हो सकती थी। उसकी चारित्रिक श्रेष्ठताने शत्रुराज्यों तक की प्रजाको उसका भक्त बना दिया था। इससे उसे साम्राज्यविस्तारमें अकथनीय सहायता मिली थी।

कभी कभी विपत्तियां भी संपत्ति बरसाने लगती हैं। विपत्तियां सदा विनाश ही के लिये नहीं आतीं। सिकन्दरने जो भारतपर आक्रमण किया था, वही भारतमें चाणक्य तथा चन्द्रगुप्तके अवतारोंकी जोडीके प्रकट होनेका कारण बना था और उसी आक्रमणने भारतीय साम्राज्यके निर्माणका बीज भी बोया था। यदि सिकन्दरने भारतपर आक्रमण न किया होता तो नहीं कहा जा सकता कि चाणक्य और चन्द्रगुप्तकी जोडी भारतको मिलती या न मिलती। इस दृष्टिसे तो यह आक्रमण भारतके लिये एक महावरदान बन गया था। यह घटना हानिसे लाभ दिलानेवाली बन गई थी। सिकन्दरके आक्रमणने आर्य भारतकी प्राचीनतम आर्यसभ्यताके साथ पाश्चात्य अनार्य बर्बरताका संघर्ष उत्पन्न कर डाला था।

चन्द्रगुप्त नंद वंशका नहीं था

मुद्राराक्षस नाटकके निम्न उद्धृत प्रकरण देखनेसे मानना पडता है कि उसका नन्दोंसे कोई कौटुम्बिक सम्बन्ध नहीं था। उसे जो नन्दवंशका दासीपुत्र कहा जाता है वह मिथ्या कल्पनामात्र है।

१ अहो राक्षसस्य नन्दवंशे निरतिशयो भक्तिगुणः। स खलु कस्मिंश्चिदपि जीवति नन्दान्वयावयवे वृषलस्य साचिव्यं ग्राहयितुं न शक्यते। (अंक १)

राक्षस नन्दकुलमें अत्यन्त स्नेह रखता है। वह निश्चय ही नंदवंशके किसी भी व्यक्तिके जीतेजी चन्द्रगुप्तका मंत्री नहीं बनाया जा सकता।

२ राक्षसः— उत्सन्नाश्रयकातरेव कुलटा गोत्रान्तरं श्रीर्गता। (अंक ६)

लक्ष्मी आश्रयहीन कुलटासी बनकर दूसरे गोत्र (चन्द्रगुप्तके गोत्र) में चली गई। अर्थात् चन्द्रगुप्त नन्द गोत्रका नहीं था।

३ वज्रलोमा— नन्दकुलनगकुलिशस्य मौर्यकुलप्रतिष्ठापकस्य आर्यचाणक्यस्य। (अंक ४)

अजेय नन्दकुलरूपी पर्वतको भी छिन्नभिन्न कर डालनेवाले विनाशक वज्र तथा मौर्यकुलके प्रतिष्ठापक आर्य चाणक्यका इससे भी यह सिद्ध होता है कि यह नन्द वंशका नहीं था।

४ राजा (चन्द्रगुप्तः) किमतः परमपि प्रियमस्ति ?
राक्षसेन समं मैत्री राज्ये चारोपिता वयम्।
नन्दाश्चोन्मूलिताः सर्वे किं कर्तव्यमतः परम्॥ (अंक ७-१७)

राजा (चन्द्रगुप्त) कहने लगा— गुरुवर चाणक्य! इससे अधिक और क्या प्रिय हो सकता है? आपने राक्षससे मैत्री करा दी, मुझे सम्राट् बना दिया, सब नन्दोंको नष्ट कर डाला। इसके पश्चात् अब करना ही क्या है?

५ चन्द्रगुप्तकी राक्षससे प्रथम भेंटके समय राक्षसका व्यवहार बताता है कि उसने तब युवक मौर्य सम्राट्को प्रथम बार ही देखा था। यदि चन्द्रगुप्त मगधवासी तथा नन्द वंशका होता तो राक्षसको उससे पहलेसे ही पूर्ण परिचित होना चाहिये था। उसे उसको देखकर आश्चर्यान्वित नहीं होना चाहिये था।

राक्षसः— (विलोक्यात्मगतम्) सत्यं अये अयं चन्द्रगुप्तः ?
(अंक ७)

सचमुच क्या यही चन्द्रगुप्त है ?

६ सिकन्दरके आक्रमणके समय चन्द्रगुप्त पश्चिमोत्तर भारतमें था और ईरान जाकर उससे लडा था। वहां वह सिकन्दर विरोधी विद्रोहका नेतृत्व कर रहा था। वह उन दिनों कठिनतासे बीस वर्षका था। वह इतनी छोटी अवस्थामें मगधसे जाकर वहां इतने प्रभावशाली काम कभी नहीं कर सकता था। यदि वह मगधनिवासी होता तो यह गंभीर प्रश्न होता है कि इस बीस वर्षके युवकने सिंधु नदीके पश्चिमकी सब जातियोंको थोडे समयमें कैसे संगठित कर लिया? सुदूर मगधसे आये युवकके लिये सिन्धके आसपासके गणराज्योंका इस प्रकार अभूतपूर्व ढंगका आत्मसमर्पण समझमें आनेवाली बात नहीं है। वास्तविकता यह है कि इन लोगोंने अपनेमेंसे ही एकको शक्तिशाली पाकर उसके प्रति आत्मसमर्पण कर दिया था जो संयोगसे चन्द्रगुप्त था। इस प्रकार वह सिंधु नदीके आसपास कहींका निवासी था।

७ जब चन्द्रगुप्तकी सेनाओंने मगध पर आक्रमण किया था तब उसके साथ यवन, पारसीक, बाल्हीक, काम्बोज सेनायें भी लडनेके लिये आयी थीं। यदि वह मगधका निवासी होता तो इतनी छोटी अवस्थामें उसका इन प्रदेशोंसे सेना पा लेने योग्य प्रभाव होनेकी बात सहसा समझमें नहीं आती।

अस्ति तावत् शक-यवन-किरात-काम्बोज-पारसीक-बाल्हीक प्रभृतिभिः चाणक्य-मति-परिगृहीतैः चन्द्रगुप्त-पर्वतेश्वरबलैः उदधिभिरिव प्रलयोच्चालितसलिलैः समन्तात् उपरुद्धं कुसुमपुरम्। (अंक २)

‘ चन्द्रगुप्त तथा पर्वतेश्वरकी प्रलयमें उछलते जलोंवाले सागरोंके समान चाणक्य बुद्धि-संचालित शक, यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक, बाल्हीक आदि सेनाओंने कुसुमपुरको चारों ओरसे घेर लिया है। इन सब वर्णनोंसे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त नंद वंशका नहीं था। ’

चन्द्रगुप्तके शासनके विषयमें पाश्चात्य ऐतिहासिकोंके लेख तथा चन्द्रगुप्तकी राजसभामें सेल्यूकसकी ओरसे दूतके रूपमें नियुक्त होकर बहुत दिन भारतमें रहनेवाले मेगास्थनीजके विवरण ही प्रमाण रूपमें मिलते हैं। उन वर्णनोंके अनुसार चन्द्रगुप्तका राज्य सुव्यवस्थित राज्य था और प्रजा सुखी थी। प्रजाकी सुखसमृद्धि तथा शान्ति बता रही थी कि राष्ट्रमें चन्द्रगुप्तका व्यक्तित्व राज्य नहीं कर रहा था किन्तु चन्द्रगुप्तका आराध्य न्याय ही इस विशाल साम्राज्यको चला रहा था। उस समय भारतमें चोरी, डाके, लुण्ठन, व्यभिचार, देशद्रोह, चाटुकारिता, चुगली, ईर्ष्या, द्वेष, मिथ्या, महत्वाकांक्षा, प्रभुतालोभ नहीं था तथा मिथ्या प्रचारोंसे जनताको धोका देने तथा लोकमतका गला घोटनेके लिये पत्रकारिता तथा नेतापन नामवाली ठगीके व्यवस्था व्यवसायका तो नाम या चिह्न तक नहीं था।

चन्द्रगुप्त निश्चित समयपर न्यायालयमें उपस्थित होकर न्यायकी सुरक्षा तथा अन्याय मिटानेका सन्तोष स्वयं लिया करते थे। मेगास्थनीजके वर्णनके अनुसार चन्द्रगुप्त इतने कर्तव्यलीन रहते थे कि दिनमें सोते तक नहीं थे। न्यायालयमें प्रतिदिन नियमसे जाकर वहाँ घण्टों बैठकर काम करते थे। जनसाधारण स्वयं उनके समक्ष उपस्थित होकर अपने अभियोग उपस्थित किया करते थे। प्रजाको चन्द्रगुप्तके सम्मुख उपस्थित होनेके लिये किसी बिचौलियेको किसी प्रकारकी घूस नहीं देनी पडती थी। प्रजाका चन्द्रगुप्तसे व्यक्तिगत संपर्क होनेमें कोई रोकटोक नहीं थी। चन्द्रगुप्तकी दिनचर्या बताती है कि दिनभर शासनके कामोंमें लीन रहता था। वह ब्राह्ममुहूर्तमें शयन त्यागकर सबसे प्रथम राजमहलकी देखभाल करके न्यायालयमें जाया करता था। उस समय वहां न्यायार्थी लोग उपस्थित हुआ करते थे। उनसे मिलनेके लिये किसीको अनुचित प्रतीक्षा नहीं करनी पडती थी। किसी भी दर्शकके समयका अपव्यय न होनेके लिये उसकी बातपर ध्यान देकर उसे सन्तुष्ट किया जाता था।

उसके पश्चात् वे स्नानवन्दनादि करके भोजन करते थे। मध्याह्नके समय मन्त्रियोंके शासन विभागोंकी देखभाल तथा उनसे परामर्श करते

थे। इसके पश्चात् दो घण्टे खेल आदिसे चित्त विनोद किया करते थे। तीसरे पहर सेनाकी देखरेख करके सायंकालको राजाओं तथा राजदूतोंसे मिला करते थे। वे राजकार्यमें भ्रान्ति या टाल कभी नहीं करते थे। उन्होंने साम्राज्यकी शक्तिवृद्धि तथा जनसाधारणकी सुखसमृद्धिके लिये बहुतसी विशाल योजनाओंको कार्यरूपमें परिणत किया था। भारतकी चारों दिशाओंमें छायावाले वृक्षोंसे आच्छादित विशाल राजमार्ग बनवाये थे जिनपर थोडी थोडी दूरपर कूप तथा पान्थशालायें बनवाई थीं। राज्यभरमें यातायातकी सर्वत्र सुव्यवस्था थी। खेतोंमें जलसिंचनका उत्तम प्रबन्ध था। उन्होंने सौराष्ट्रकी सुदर्शन नामक झीलके समान बहुतसी झीलें तथा नहरें बनवाई थीं। पाटलिपुत्रकी अट्टालिकाओंकी शोभा संसारभरमें उत्तम थी।

चन्द्रगुप्तने नापने तोलनेके बाट सारे देशमें सुव्यवस्थित कराये थे। व्यवसायकी सुगमताके लिये सोने चांदीकी मुद्रा, यातायातकी सुविधा, मंडी बाजार आदिकी सुव्यवस्था भी की थी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी उन्नतिका भी सुप्रबन्ध किया था। जलाशय खुदवाने, खानों तथा जंगलोंकी उपजको उचित ढंगसे निकलवाने, पशुओंकी जाति (नसल) को उन्नत करने पर भी ध्यान दिया था। मनुष्यों तथा पशुओंकी चिकित्साके लिये चिकित्सालय तथा आतुरालय बनवाये थे। चन्द्रगुप्तका विशाल हृदय अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, चूहे आदि प्राकृतिक प्रकोपोंके विरुद्ध प्रबन्ध था। अनाथ बच्चों, स्त्रियों तथा दरिद्रोंका दुःख मिटानेके लिये सब समय सन्नद्ध रहता था। चन्द्रगुप्तने राष्ट्रियशिक्षाके विस्तारका विभाग अपने ही हाथोंमें रक्खा था। उनका शासनदण्ड अन्यायकी उत्पत्ति रोकनेके लिये सदा उद्यत रहता था। इस कामके लिये उन्होंने स्थान स्थानपर न्यायालय खोले थे जिनमें आजके न्यायालयों (कचहरियों) की भांति न्याय बेचा नहीं जाता था किन्तु न्याय किया जाता था। मौर्य कालमें न्यायपर बहुत बल दिया जाता था। जैसा कि आचार्य कौटल्यने अपने अर्थशास्त्रमें लिखा है कि राज्यकी नींव न्याय पर ही आश्रित है। न्यायके आगे राजका पुत्र तथा शत्रु दोनों एक समान हैं।

दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति
राज्ञः पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः ।
अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया
न्यायेन च चतुर्थेन चतुरन्तां महीं जयेत् । ३-१

दण्ड अकेला ही इस तथा परलोककी रक्षा करता है। वह सुप्रयुक्त होने पर प्रयोक्ताको उभयलोकका सुख भोग देता है, यदि वह पुत्र और शत्रुमें अपराधके अनुरूप निर्विशेष भावसे प्रयुक्त किया जाय। धर्मानुसार साक्षी वाक्यानुसार लोकाचारके अनुसार तथा न्यायानुसार लोकको न्याय-मार्गपर रखनेवाला राजा चतुःसमुद्रा भूमिको प्राप्त कर सकता अर्थात् सार्वभौम राजा बन सकता है।

पाश्चात्य इतिहासकारोंने चन्द्रगुप्तको मुक्तकंठसे जगतका सर्वश्रेष्ठ सम्राट् स्वीकार किया है। अधिक विस्तारमें न जाकर संक्षेपमें यही कहना पर्याप्त होगा कि चन्द्रगुप्त चाणक्यके अर्थशास्त्रका मूर्तिमान आदर्श था और उसकी राज्यव्यवस्था सर्वांगसुन्दर थी। उसकी राज्यव्यवस्थाकी सर्वांगसुन्दरताका प्राण या मुख्य कारण चन्द्रगुप्तका अनथक परिश्रम कर्तव्यनिष्ठा तथा प्रजा-वात्सल्य था।

'**प्रजाः पुत्रानिवौरसान्**।' राजा प्रजाके लिये सन्तानके समान स्नेह रक्खे यही आदर्श राजचरित्र है। चन्द्रगुप्त इस आदर्शका मूर्तिमान दृष्टान्त था। यद्यपि उस समय न तो आधुनिक ढंगके वैज्ञानिक आविष्कार थे और न शासनदण्डको सुदूर राष्ट्रके व्यक्तिकी रक्षाके लिये प्रत्येक न्यायार्थी अत्याचारिताके पास पहुँचानेवाले आधुनिक साधन उपलब्ध थे तो भी उन्होंने अपनी राज्यव्यवस्थामें लोककल्याणकारिणी, नवनवोन्मेषशालिनी प्रति-भाके बलसे इतनी नवीनतम सुविधायें पैदा कर ली थीं कि उसके लिये इतिहास उनकी शतमुखसे प्रशंसा कर रहा है। भारतके इस छोरसे उस छोरतक सुखशान्ति बरस रही थी। घरबार, राह, घाट आदिमें सर्वत्र नैतिकताका बोलबाला था। चन्द्रगुप्तकी सुव्यवस्थाके सम्बन्धमें इतिहास

विशारद लोग तो यहांतक कहते हैं कि देशमें चोरी डाकोंका नामतक शेष नहीं था। लोग चोरों तथा डाकुओंको भूल गये थे। लोग घरोंमें तालेतक लगानेकी आवश्यकता नहीं मानते थे। ऐसी परिस्थितिमें यदि कभी चोरी जैसी अस्वाभाविक घटना हो जाती थी तो राज्यव्यवस्थाको ही उस चोरीका अपराधी माना जाता था। गोतमधर्म सूत्रोंमें लिखा है कि क्षतिग्रस्त व्यक्तिकी हानि राजकोषसे पूरी की जाय।

उस समय जो प्रजासे राज कर लिया जाता था वह राजाके वेतनके रूपमें होता था। वह आधुनिक ढंगका प्रजाके जीवनका बीमा था। यदि राज्यव्यवस्था किसीके अपहारक लुण्ठनकारी या घातकका पता लगानेमें असफल रहती थी तो वह पाप राज्यव्यवस्थाको अपने सिर लेना पडता था और प्रजाकी धन, जन, हानि राजकोषसे भरनी पडती थी। बताइये शासन विभागका इतना महान् उत्तरदायित्व होनेपर अन्याय अपरिशोधित कैसे रह सकता था?

चन्द्रगुप्त इन्हीं सब प्रबन्ध सम्बन्धी विशेषताओंके कारण अपने समयके नहीं अपने इधर उधर दो तीन सहस्रवर्ष तकके राजाओंमें सबसे विलक्षण ऐतिहासिक पुरुष था। उसके पास कोई आनुवंशिक बडा राज्य नहीं था। वह किसी साम्राज्यका उत्तराधिकारी नहीं था। वह तो साम्राज्यका निर्माता था। उसने अपने बाहुबलसे केवल चौवीस वर्षमें इतने विशाल साम्राज्यका निर्माण किया और लगभग चौवीस वर्षतक उसपर निष्कंटक शासन किया। उसने अपनी युवावस्थामें ही सम्राट्पद पा लिया था।

सुविश्रब्धैरंगैः पथिषु विषमेष्वप्यचलता
चिरं धुर्येणोढा गुरुरपि भुवो यास्य गुरुणा
धुरं तामेवोच्चैर्नववयसि वोढुं व्यवसितो
मनस्वी दम्यत्वान् स्खलति न तु दुःखं वहति च।

अंक ३-३ (मुद्राराक्षस)

इनके प्रौढ गुरु चाणक्यने जो गुरुभार संभाल रक्खा था उसे ये अपने नवयौवनमें ही बडी सुन्दरतासे संभाल रहे हैं और विशेषता यह है कि कभी पथच्युत तथा खिन्न नहीं होते। सिकन्दरकी विजयके समय तो ये शैशव और यौवनके मध्यमें थे। मगधविजयके समय भी युवा ही थे। मगधविजयके पश्चात् चन्द्रगुप्तने भारतके अन्य बहुतसे भागोंपर भी विजय पा ली थी। उनसे युद्धस्थलसे अलग नहीं रहा जाता था। ये अपने हाथी- पर बैठकर सेनाके अग्रभागमें रहकर युद्ध किया करते थे। वे अपनी वीरता तथा साहसके कारण अपनी युवावस्थासे भी पहले पहले तो सिकन्दरपर फिर सेल्यूकसपर विजय पानेके कारण न केवल भारत तथा पंजाबकी वीर जातियोंपर प्रत्युत अपने साम्राज्यान्तर्गत परशियन यवन तथा मध्य एशि- याकी अन्य वीर जातियोंपर भी अपना पूर्ण प्रभाव स्थापित करनेमें समर्थ हुये थे। वे केवल विजेता ही नहीं प्रत्युत एक सफल शासक भी थे।

राज्ञि धर्मणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥ (मनु)

राजसिंहासनारूढ आदर्श नागरिक चन्द्रगुप्तके श्रेष्ठ चरित्रका उदाहरण प्रजामें पूरा पूरा प्रतिबिम्बित हुआ था। चन्द्रगुप्तके वरेण्य राजचरित्रका प्रजापर इतना सुन्दर प्रभाव पडा था कि प्रजा भी अपने राजाका चारित्रिक उदाहरण देख देखकर अपने व्यक्तिगत कल्याणको समाज कल्याणमें विलीन करना सीख गई थी और मुक्तहस्त होकर अपनी धनजन बुद्धिशक्तिको सार्वजनिक कल्याणमें समर्पित कर देनेमें अपनेको कृतार्थ मानने लगी थी। चन्द्रगुप्तको अपने साम्राज्य विस्तारमें जितनी बडी सहायता अपनी चारि- त्रिक श्रेष्ठतासे मिली थी उतनी और किसी सेना आदिसे नहीं। यह सर्वथा सत्य है कि यदि राजा उत्साही, कर्मण्य, बुद्धिमान तथा समाजसेवक हो तो अनुकरणमार्गी प्रजा उस जैसी बने विना नहीं रह सकती। 'स्वामि- संपत् प्रकृतिसंपदं करोति' (चाणक्यसूत्र १२)। इसके विपरीत यदि राजा अनुत्साही, अकर्मण्य, निर्बुद्धि और आत्मम्भरि हो तो अनुकरणमार्गी

प्रजा अवश्य ही उस जैसी बनकर रहती है। अकर्मण्य सुखिया (आराम-तलब) राजा शत्रुओंको आक्रमणका निमन्त्रण देनेवाला बन जाता है। इस दृष्टिसे राजाको अपने चरित्रके संबन्धमें पूरा सतर्क और सावधान रहना चाहिये।

कौटलीय अर्थशास्त्रमें राजाके कर्तव्य जिस रूपमें वर्णित हैं उसमें प्रजा-शक्तिका अक्षुण्ण रहना ही राजशक्तिका मूलाधार मान गया है। दूसरे शब्दोंमें कौटल्यका राजा ही असंख्य देशवासियोंकी हिताकांक्षाका एकीभूत स्वरूप तथा प्रजातंत्रका मुखिया अगुआ या नेता है। राज्यके प्रत्येक व्यक्तिका हित तो कौटल्यके राजाके व्यक्तिगत हितमें तथा कौटल्यके राजाका व्यक्तिगत हित राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिके व्यक्तिगत हितमें सम्मिलित है। कौटल्यके राजाको ऐसी कोई भी व्यक्तिगत सुखसुविधा भोगनेका अधिकार नहीं है जिसका प्रजाहितके साथ विरोध हो। प्रजाका धनशोषण करके राज्याधिकार भोगनेवाला राजा तो कौटलीय अर्थशास्त्रके अनुसार देशद्रोही है। देशद्रोही राजाको राज्यच्युत करके उसका अस्तित्व मिटाकर राष्ट्रको देशद्रोह नामक कलंकसे मुक्त रखना प्रजाका अधिकार स्वीकार किया गया है।

अविनीतस्वामिलाभादस्वामिलाभः श्रेयान्।

(चाणक्यसूत्र १५)

अयोग्य व्यक्तिको राजा बनानेकी अपेक्षा किसीको राजा न बनाकर जनतांत्रिक ढंगसे राजव्यवस्था कर लेना अच्छा है। इसका अर्थ यह हुआ कि आदर्श चरित्र व्यक्तिको ही राजा बनाना चाहिये। सम्राट् चन्द्रगुप्त कौटल्य वर्णित इस राजचरित्रका षोडशकला पूर्ण आदर्श था। यों भी कह सकते हैं कि कौटल्यवर्णित राजचरित्र चन्द्रगुप्तके ही व्यक्तित्वका एक सुन्दर चित्रण है। यदि आप इस सत्यकी साक्षी लेना चाहें तो सद्वंश जात अलौकिक बुद्धिमान, सुदीर्घदर्शी धार्मिक वीर, उत्साही, रणकुशल, कृतनिश्चय, स्वार्थत्यागी, निरन्तर कर्तव्यतत्पर सम्राट् चन्द्रगुप्तका कन्याकुमारीसे हिन्दूकुशतक तथा मकरानसे ब्रह्मदेशतक अपने भुजबल तथा बुद्धिबलसे बनाया विस्तृत भारत साम्राज्य इस सत्यको प्रमाणित करनेके लिये पर्याप्त है।

इतिहास लेखकोंका उत्तरदायित्व

प्रसन्नताकी बात है कि हमारे देशके कुछ इतिहास-संशोधक प्राचीन मिथ्या प्रचारोंके छिपाये अबतक प्रकाशमें न आये हुए चाणक्य चन्द्रगुप्तसे सम्बन्ध रखनेवाले समुज्ज्वल चरित्रको प्रकाशमें लाये हैं। परन्तु हमारी दृष्टिमें उनकी इस साहित्यसेवामें कुछ संशोधनीय त्रुटि रह गई हैं। उनकी इस साहित्यसेवासे कुछ इने गिने साहित्यसेवी ही अनुगृहीत हो पाये हैं। इन लोगोंने इस युगलमहापुरुषोंके चरित्रसंबन्धी गुप्त सत्योंका जो उद्‌घाटन किया है उससे इन्होंने न तो इन दोनों महापुरुषोंपर ही कोई कृपा की है और न अबसे सवादो सहस्र वर्षपूर्ववाले भारतीय मनुष्य समाजको ही अनुगृहीत किया है। नवीन साहित्यकी रचना केवल वर्तमान तथा भावी समाजके कल्याणकी दृष्टिसे की जाती है। इसलिये इन लोगोंके इतिहास लेखन नामक इस प्रयत्नका वर्तमान तथा भावी भारतका कल्याण करना ही एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये।

इतिहास संशोधक कहलाना मात्र लेखन-कलाकी सार्थकता नहीं है किन्तु साथ ही अपनी वर्तमान तथा भावी पीढीको राजनैतिक या चारित्रिक सत्परामर्श देकर अनुगृहीत करके धन्य होना ही ग्रन्थ-लेखनकी सफलता है। स्वभावसे प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन लोगोंकी इन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक खोजोंसे वर्तमान या भावी भारतको कोई लाभ पहुंचाया नहीं? यदि पहुंचाते तो किस दृष्टिसे और नहीं पहुंचा तो उसका कारण इस इतिहास लेखनकी कौनसी त्रुटि हुई? इन सब बातोंकी आलोचना करना ही इतिहास संशोधकोंकी साहित्यसेवाका लक्ष्य होना चाहिये। इसलिये होना चाहिये कि इन दोनोंको लैखिक या मौखिक श्रद्धांजलि अर्पण कर देना ही हमारे इस अभागे देशके लिये पर्याप्त नहीं है। इन दोनों महापुरुषोंने समाजसेवाके जिस कामको जीवनका कर्तव्य तथा उद्देश्य मानकर इस मुमूर्षु देशको संजीवनी सुधा पिलाई थी और इसका जीर्णोद्धार किया था, क्या हमारे देशके इतिहास शोधकोंकी साहित्यसेवा भारतवासियोंके

मनोंमें इनकी समाजसेवाको अपनानेकी प्रवृत्ति पैदा कर रही है? यह निश्चित है कि इन दोनोंकी देशसेवकताको जान लेने या इन दोनोंको किन्हीं रंगमंचोंके दृश्योंके रूपमें देख लेनेमात्रसे भारतवासियोंकी देशसेवक बन जाना संभव नहीं है। निश्चय ही इन लोगोंकी साहित्यसेवाका सार्व-जनिक कल्याणके साथ कोई सम्बन्ध दिखाया जाना चाहिये था जो दिखाया नहीं गया।

हम अपने देशके साहित्यिकोंसे पूछना चाहते हैं कि आप लोग चाणक्य चन्द्रगुप्तसम्बन्धी जिस सत्यको प्रकाशमें लाये हैं उसे समाजोपयोगी क्रियात्मक रूपमें पहले तो समाजके सामने उपस्थित करना और फिर उसे क्रियात्मक रूप देना भी आपका ही कर्तव्य है या नहीं? या इसके लिये देशको अलग कोई प्रबन्ध करना होगा? यदि आप लोग उसे क्रियात्मक रूप देनेके साथ अपना कोई संबन्ध रखना नहीं चाहते तो हमें कहने दीजिये कि आपकी साहित्यसेवा निर्वीर्य और निष्फल है। वास्तविकताके संसारमें किसी सत्यको अनुपयोगी रह जाने देकर उसे केवल प्रकाशमें ले आनेवाली फल्गु साहित्यसेवाका कोई मूल्य नहीं है। साहित्यसेवा ऐसी होनी चाहिये कि वह फलप्रसू हो, और वह जिस सुप्त समाजको लक्ष्यमें रहकर की गई हो उसे झकझोरकर जगाकर खड़ा कर दे। तब ही उसे साहित्यसेवाका यश दिया जा सकता है।

बरसाती कीड़ोंके समान साहित्यसर्जन कर देना मात्र साहित्यसेवा नहीं है किन्तु देशके मनको दबा बैठनेवाले अज्ञानपर शस्त्रक्रिया करके देशको मानसिक दृष्टिसे नीरोग बननेका अवसर देना ही साहित्यसेवाकी धन्यता है। किसी सत्यको समाजोपयोगी बना देनेपर ही साहित्यिक साहित्यिक कहानेका अधिकारी बनता है। साहित्यसेवीका मुख्य काम किसी सत्यको समाजोप-योगी बना देना ही है। सच्चा साहित्यसेवी वही है जो समाजका अच्छेद्य अंग है। सच्चे साहित्यसेवीको समाजके हानिलाभ तथा मानसिक उत्थान पतनसे हर्ष और विषाद दोनों होते हैं और इसीलिये वह अपने समाजमें

जिस सत्यकी न्यूनता पाता है उसीको अपने समाजका अंग बनानेमें अपनी संपूर्ण शक्ति लगा डालता है। सच्चे साहित्यिककी समाजसेवा, कटुसत्योंको प्रकाशमें लाने तथा वर्तमानमें देशको पतित बनानेवाले शक्तिशाली असत्यके खण्डनके संकटमें पडनेसे बचकर अपनी पुस्तकोंमें केवल अर्धसत्य लिख देने मात्रसे पूरी नहीं होती। सच्चा साहित्यकार जिस सत्यको अपने समाजसे पलवाना चाहे उसे समाजसे पलवाना तथा उसे स्वयं भी पालना अपना कर्तव्य मानता है।

आर्य चाणक्य इसी अर्थमें अर्थशास्त्र ग्रन्थके साहित्यकारके रूपमें हमारे सामने उपस्थित हैं। आर्य चाणक्य प्रत्येक सच्चे ग्रन्थकारके आदर्श हैं। उन्होंने अपनी लेखनीसे जो कुछ लिखा है वह उन्होंने करके भी तो दिखाया है। ओ हमारे देशके साहित्यकारो! आप लोग आर्य चाणक्यकी साहित्यसेवाके साथ अपनी साहित्यसेवाकी तुलना तो करके देखिये कि आप लोगोंने अपनी साहित्यसेवामें उसे उपयोगी व्यावहारिक रूपमें उपस्थित करने तथा उसे वर्तमानमें उपयोगी बनानेवाला पहलू अपूर्ण क्यों रख दिया?

हमारे कुछ इतिहास संशोधकोंने सवादो सहस्रवर्ष पूर्वके इतिहासके आनुपूर्वी समाचार न देनेवाले तत्कालीन लेखकोंके संबन्धमें खेद प्रकट किया है। इन लोगोंने इस संबन्धमें जो खेद प्रकट किया है और उस समयके ऐतिहासिकोंको सत्य समाचार न देनेका दोषी ठहराया है वह सत्यका आविष्कार करना चाहनेवाले वर्तमान ऐतिहासिकोंके लिये स्वाभाविक है। परन्तु सोचना तो यह है सवा दो या ढाई सहस्रवर्ष तो बहुत लम्बा काल है। पाठक अन्तर्दृष्टिसे देखें कि आपके देखते देखते वर्तमान भारतका इतिहास भी तो मिथ्या आवरणसे ढका जा रहा है और लोगोंसे छिपाया जा रहा है। अबसे तीस वर्ष पूर्व स्वतंत्रता आन्दोलनका इतिहास तथा सात वर्ष पूर्व राज्यलोलुप देशद्रोहियोंकी वे राज्यलिप्सु प्रवृत्तियाँ भी तो वर्तमान तथा भावी पीढियोंसे गुप्त रक्खी जा रही हैं जिन प्रवृत्तियोंका

दुष्परिणाम आजके भारतको सर्वत्र सुतीक्ष्ण कटुताके साथ भोगना पड रहा है और भावी भारतको न जाने कबतक भोगना पडता रहेगा। आजके भारतीय इतिहाससेवी लोग इस बातका उत्तर दें कि वर्तमानमें की जाती हुई इस ऐतिहासिक राष्ट्रिय चोरीके अपराधके प्रकाशमें न आनेका उत्तर-दायित्व आप लोगोंपर नहीं है तो किसपर है ?

ऐतिहासिकोंका वर्तमान कर्तव्य

एक ओर तो चाणक्यकालीन भारतका गौरवपूर्ण इतिहास है और दूसरी ओर वर्तमान भारतकी देशद्रोही असामाजिक प्रवृत्ति हैं। इन परस्पर विरुद्ध प्रवृत्तियोंकी उपस्थितिमें इतिहासपर लेखनी उठानेवालोंका कर्तव्य है कि वे भारतके गौरवमय अतीतको तथा अधःपतित वर्तमानको तुलना-त्मक ढंगसे देशके सामने लायें, देशके असामाजिकता रोगकी औषधके रूपमें चाणक्य चन्द्रगुप्तके वास्तविक आदर्शको उसके सामने उपस्थित करें और पूरा बल लगा दें कि देश उस आदर्शको ग्रहण करके आत्मसुधार करे। जबतक हमारे साहित्यिक लोक अपनी साहित्यसेवामें इस दृष्टिकोणको नहीं अपनायेंगे तबतक किसी भी साहित्यसेवीको साहित्यसेवा ऊखर-वपन या वन्ध्य प्रयत्न हुए बिना नहीं रहेगी। वर्तमान ढंगके साहित्यिकका साहित्य विचारशील पाठकके मनमें चाणक्य चन्द्रगुप्तके संबन्धमें कुछ निर्वीर्य (अकार्यकारी) श्रद्धामात्र उत्पन्न करके कर्तव्यहीन होकर खडा हो जाता है और अपने पाठकोंको भारतको जगानेसे संबन्ध रखनेवाला अगला कर्तव्य बतानेके संबन्धमें किंकर्तव्यमूढ होकर इस प्रकार बगले झांकने लगता है मानो इन लोगोंके साहित्यका देशके वर्तमानके सुधारके साथ कोई संबन्ध ही नहीं। देशहितैषी लोग भारतके साहित्यसेवियोंसे पूछना चाहते हैं कि क्या आप लोग अपने भारतकी सच्ची सेवा करनेकी दृष्टिसे अपने इस अपराध (सेवापराध) का परिमार्जन करनेके लिये अपनी साहित्य कलाका सदुपयोग करना अपना कर्तव्य मानेंगे ?

वर्तमान भारतको चाणक्य चन्द्रगुप्तके इतिहाससे सच्चे राष्ट्रसेवकका आदर्श लेना है और उसे भारत सन्तानकी सुरक्षाके लिये सुरक्षित रखना

है। परन्तु जिन षड्यंत्रकारियोंने वर्तमान भारतके सच्चे इतिहासको मिथ्याकी चादरसे ढक डाला है वे लोलुप लोग चाणक्य चन्द्रगुप्तकी निःस्पृह देशसेवाके आदर्शकी उपेक्षा करनेमें ही अपना व्यक्तिगत लाभ समझते हैं। यदि देश अपनी आँखोंसे काम ले तो निश्चय ही ये लोग राज्यलोभी और देशद्रोही माने जाय। इन लोगोंने जनतासे विश्वासघात करके राज्य हथियानेका कुदृष्टान्त ही देशके सामने उपस्थित किया है और 'राजा कालस्य कारणम्' के अनुसार देशभरपर चरित्र हीनताकी छाप लगा डाली है। ये लोग तो अपनी करनी कर चुके। अब भारतके ऐतिहासिकोंके सिर राष्ट्रीय आदर्शकी रक्षा करनेके कर्तव्यको करनेका अवसर आ खड़ा हुआ है। राष्ट्रीय आदर्शकी रक्षा करनेका उत्तरदायित्व इन राज्यलोभी लोगोंके भरोसे पर नहीं छोड़ा जा सकता। छोड़ दिया जाय तो देशका निश्चित अकल्याण होना है। इस समय भारतके ऐतिहासिकोंका कर्तव्य है कि वे इन आदर्शघातियोंका भंडाफोड़ करें और भारत सन्तानके सम्मुख चाणक्यकी राष्ट्र-सेवावाले निर्मल आदर्शको सदाके लिये उज्ज्वल तथा अमिट बनाकर सुरक्षित कर डालें।

हमारे देशके साहित्यसेवी जाने कि चाणक्य चन्द्रगुप्तका पदानुसरण ही वीर पूजा है। किन्हीं महापुरुषोंका नाम रट लेना मात्र या उन्हें शाब्दिक श्रद्धांजलि अर्पण कर देना मात्र वीर पूजा नहीं है। श्रद्धेय वीर जैसा वीर बन जाना ही सच्ची वीर पूजा है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' जैसे देव बनकर ही देव पूजा होती है इसी प्रकार वीर बनकर वीरका गुणगान होता है। वीर बने विना वीरका गुणगान करना तो वीरताका उपहास है। साहित्यकी सार्थकता यह है कि वह समाजका सच्चा कल्याण करनेवाला अभिन्न साथी बने और उसके हितमें रत रहे। ऐसे आदर्श साहित्यनिर्माणसे बचनेवाले साहित्यिक कुसाहित्य उत्पन्न करनेके कारण देशद्रोही हैं।

सिकन्दरकी नृशंसता भारतके प्राचीन तथा वर्तमान साहित्यिकोंकी दृष्टिमें कठोरतम भाषामें निंदनीय है और सिकन्दरके संपूर्ण मनुष्य समा-

जका शत्रु होनेसे उसे भारतके प्रवेशाधिकार न देनेवाले चाणक्य चन्द्रगुप्त हार्दिक कृतज्ञताके साथ पूज्य हैं। परन्तु आश्चर्यकी बात है कि वर्तमान साहित्यिकोंकी आँखोंके सामने उससे भी कहीं अधिक तीव्रताके साथ निंदनीय, अपने नीतिहीन निर्णयोंसे भारतमाताके वक्षस्थलपर नृशंसताके नायक सिकन्दर जैसी ही क्रूर नृशंसता करनेवाले भारतके ही अन्नजलसे परिपुष्ट, राज्यलोभी, कृतघ्न, असुर लोग उन्हीं वर्तमान साहित्यिकोंके द्वारा वंदनीय सिद्ध नहो किए जा रहे हैं। समझमें नहीं आता कि इन साहित्यकोंकी दृष्टि इन लोगोंसे कौनसा उत्कोच लेकर इस प्रत्यक्ष सत्यकी ओरसे अंधी हो गई है कि चन्द्रगुप्त चाणक्यके जीवनव्यापी भगीरथ प्रयत्नसे सुनिर्मित अखंड भारतको खंड खंड करके, उनके आदर्शको पैरोंतले रौंदकर, सिकन्दरके ही प्रतिनिधि बनकर भारतमाताके मातृत्वको कलंकित करनेवाले लोग आज भारतके दोनों खण्डोंमें राज्याधिकारसे मतवाले होकर भारतकी छातीपर मनमाने अत्याचार बढा रहे हैं। इस गंभीर प्रश्नका उत्तर प्रत्येक सुसाहित्यिक अपने हृदयसे ले और भारतमाताके प्रति अपना कर्तव्य पूरा करे। यदि यह वह नहीं करेगा तो सिकन्दरकी नृशंस आसुरिकताको छिपाकर उसे वीर नामसे प्रचार करनेवाले प्राचीन कुसाहित्यिकों जैसा अपराध वर्तमान साहित्यिकोंके सिरपर भी चढा ही रहेगा।

वर्तमान भारत

चाणक्यने जो भारतको दक्षिण सागरसे हिमालय तक अखण्ड राष्ट्र-निर्माणका आदर्श दिया था, उसके सर्वथा विपरीत दो विद्यमान खण्डोंमें विभक्त आजके भारतका दयनीय चित्र वर्तमान भारतकी राजनैतिक प्रतिभाको कलंकित करनेवाला अपमान है। आज भी भारतवासिके मनमें स्वभावसे निम्न प्रश्न उपस्थित होते हैं और अपना समाधान चाहते हैं—

१ चाणक्यके सुयोग्य शिष्य आदर्श सम्राट् चन्द्रगुप्तने राज्यशासन संबन्धी जो कुशलता दिखाई थी आजके शासनपदारूढ भारतवासीने उस कुशलताको अपनाया है या पददलित किया है? इसका उत्तर भारतवासीको अपने विवेकसे लेना है।

२ चाणक्यकालीन भारतके घर घरमें जो सुखशान्ति विराज रही थी भारतके वायुमण्डलमें प्रेमकी जो मधुरध्वनि प्रतिक्षण गूँजगूँजकर देशभरमें अमृत बरसाती फिर रही थी क्या आजके भारतवासीको वह सौभाग्य प्राप्त है ? या वह उससे वंचित होकर दुर्भाग्यकी चरमसीमामें पहुंचकर हाय हाय कर रहा है ? इस प्रश्नका उत्तर भी भारतवासीको अपनी आँखोंके सामने विद्यमान समाजके चित्रमेंसे लेना है ।

३ चाणक्यने जिन देशद्रोहियोंको मिटाकर भारतकी स्वतन्त्रताको निष्कंटक बनाया था क्या आजके स्वतंत्र कहलानेवाले भारतने अपने देशद्रोही मिटा डाले ? या वे भारतकी छातीपर मूंग दल रहे हैं ? क्या आजके भारतमें सुखशान्तिको निष्कंटक बनानेवाला कोई चाणक्य या चन्द्रगुप्त है ? इन प्रश्नोंका उत्तर भी विचारशील भारतसंतानको अपने हृदयसे लेना है ।

४ क्या वर्तमान भारतने अपने पडोसी राष्ट्रको वशमें कर लिया है या अपनेको ही दो रगडते झगडते खण्डोंमें बांटकर पडोसमें शत्रु पैदा कर लिया है ? इस बातका उत्तर भारतकी राजनैतिक सूझ बूझ पर कलंक पोतनेवाली विदेशी षड्यन्त्रकी सफलताके रूपमें सबकी आंखोंके सामने विद्यमान है ।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त जैसे कर्मठ लोगोंका इतिहास ताश और शतरंजके खेलोंके समान कुछ समय काटनेके लिये पढनेकी वस्तु नहीं है ।

> इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदः ।

इतिहास तथा पुराण ज्ञानदाता वेदोंमें पांचवां वेद है ।

> इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
> बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

वेदको इतिहासपुराणोंके द्वारा समझनेका प्रयत्न करो । वेद इतिहासपुराणोंसे अपरिचितोंसे भय मानता है कि यह मुझपर प्रहार करेगा । यह मुझे न समझकर अनर्थ करेगा ।

इतिहाससे देशके वर्तमानको उज्ज्वल भूतसे तोलकर आत्मनिरीक्षण करनेका अवसर मिलता है उससे अपनी भूलें सुधारने तथा भूतकालीन सदुपायोंका अवलम्बन करनेका सुअवसर हाथ आता है। इतिहाससे पाठकोंको उपयोगी बातें अपनानेका अवसर प्राप्त होता है। इन दोनों महापुरुषोंका इतिहास आज सवादो सहस्र वर्ष बीत जानेपर भी अपने सदा नवीन रूपमें संसारभरको ज्ञानज्योति देते रहनेके लिये सदा ही मार्ग दीपके रूपमें खड़ा है और रहेगा। इन दोनों महाशयोंके सम्मुख योरोपके हिरणाकुश सिकन्दर जैसे असुरका आक्रमण उतना चिन्तनीय विषय नहीं था जितना भारतमें देशप्रेम या मनुष्यताका अभाव उनकी चिन्ताका विशेष विषय बन गया था।

प्रभुताका लोभी ही देशद्रोह है, देशद्रोह नामके रोगका जो मूलस्वरूप है वही तो प्रभुता लोभ है। वेदज्ञ चाणक्यने पर्वतकको उसके प्रभुतालोभरूपी देशद्रोहका दण्ड मृत्युके रूपमें देना उचित समझा था। विदेशी आसुरी शक्तिकी सहायता या कृपासे स्वदेशका शासनाधिकार लेकर स्वदेशवासियोंकी मनुष्यताको पददलित तथा विनष्ट करके अपनी राज्य लोलुपताको चरितार्थ करना ही तो देशके साथ द्रोह है। इस देशद्रोहका मूल व्यक्तिगत स्वार्थान्धतामें विद्यमान है। व्यक्तिगत स्वार्थान्धता मानवको दूसरे मानवके साथ प्रेमबन्धनमें आबद्ध नहीं रहने देती। अपने व्यक्तिगत स्वार्थको राष्ट्रकल्याणमें विलीन कर डालनेकी भावना ही राष्ट्रियता है। राष्ट्रियताके साथ व्यक्तिगत स्वार्थकी संकीर्ण दृष्टिका जन्मवैर है। व्यक्तिगत स्वार्थ भावनाका नाम ही वह मात्स्यन्याय या जिसकी लाठी उसकी भैंस है जिसके संबन्धमें चाणक्यने मनुष्यसमाजको सावधान किया था। आजका भारवासी उसी व्यक्तिगत स्वार्थ भावनाके प्रभावमें आकर आसुरी राजका आखेट बना है।

अबसे सवादो सहस्र वर्ष पूर्व सिकन्दर तथा चन्द्रगुप्तने संसारके सामने दो विपरीत आदर्श उपस्थित किये थे। सिकन्दर तो आसुरीवृत्ति लेकर

शस्त्रबलके आधारसे मनुष्यसमाजको संत्रस्त करके प्रभुतालोभी लुटेरा बनकर यूनानके राजसिंहासन पर आरूढ हुआ था। वह अपनी बीस वर्षके अवस्थासे लेकर संसारभरकी मानवता पर लगातार असंख्यों आक्रमण करके भूमाताको रक्तसे रंगकर मानव हृदयको मर्माहत बनाकर बारह वर्ष तक अपनी हिंसक जन्तुओंकी-सी हिंस्र क्रियाओंसे संसारके सामने पाश्चात्य साम्राज्यवादका दुष्ट दृष्टान्त उपस्थित करके केवल बत्तीस वर्षकी अवस्थामें हाथ मलमलकर पछताता हुआ संसारसे चल बसा था। इसके सर्वथा विपरीत भारतीय साम्राज्यके प्रतिष्ठापक चन्द्रगुप्तने सिकन्दरके आक्रमणोंसे आहत न केवल भारतवासियोंको अपितु भारतके पड़ौसी राष्ट्रोंतकको शान्ति और सम्मानके साथ जीवन बितानेकी सुविधा देनेकी पक्की विश्वस्त सान्त्वना देकर केवल चौबीस वर्षकी अवधिमें विद्रोहहीन, स्वगुणमुग्ध, सुसंगठित साम्राज्य बनाकर मनुष्यताका संरक्षक बनकर संसारभरको राष्ट्रनिर्माणकी कलाका व्यावहारिक पाठ सिखाया था।

आज चन्द्रगुप्त तथा उनके निर्देशक आर्य चाणक्यको बीते लगभग सवा दो सहस्र वर्ष बीत चुके। आज हम संसारमें क्या देख रहे हैं? पाश्चात्य जगतने आजतक सिकन्दरका आदर्श नहीं छोड़ा। पाश्चात्य जगत् आजकल भी सिकन्दरके आदर्शको अपनाकर परराज्यलोलुपताकी पाशविक लीला करता ही चला जा रहा है और लोकसंहारक अस्त्रशस्त्रोंका आविष्कार कर करके संहारकी मूर्ति बना बैठा है। दुःखके साथ स्वीकार करना पड़ता है कि भारतने भी चाणक्यके आर्य आदर्शको पददलित कर डाला है। चाणक्य चन्द्रगुप्तकी ब्राह्मक्षात्र जोड़ीने भारतमें जिस शक्तिमान आत्मविश्वासी साम्राज्यका निर्माण किया था आज उसके स्थानपर निर्बल पारस्परिक लूट-खसोट-हिंसा-द्वेषसे परिपूर्ण राष्ट्रियताहीन वैदेशिक शस्त्रबलकी सहायताके प्रतीक्षक बना हुआ भारत है। आजके भारतकी राष्ट्रिय भ्रान्तिके दुष्परिणामको प्रत्यक्ष देखकर कौन विचारशील भारत सन्तान अपनेको स्वतंत्र माननेका सुपना देख सकता है?

आजका पाश्चात्यप्रभावित भारत पाश्चात्योंके सर्वक्षेत्रीय अन्धानुकरणमें ही अपना अहोभाग्य मान रहा है। अनुकरण करनेवाला अपने अनुकर्तव्यका दास होता है। अपने अनुकर्तव्यका दास बन जाना ही दासताकी सर्वमान्य परिभाषा है। मनुष्यताको पददलित करनेकी प्रवृत्ति ही दास मनोवृत्ति है। दास मनोवृत्ति ही देशद्रोह है। भारतवर्षमें जो दासमनोवृत्ति घर कर गई है यही तो भारतवासिका देशद्रोह है। पाश्चात्योंका अन्धानुकरण ही भारतवासिका देशद्रोह है। अंधा भारतवासी अपनी इस पाश्चात्यानुकरणी मनोवृत्तिको देशद्रोह न समझकर प्रत्युत उसीमें अपना सौभाग्य मानकर अपना कितना अकल्याण कर रहा है ? यह न समझकर इस पतनको भी उत्थान मान रहा है। यह कितने परितापका विषय है कि आजके भारतको अपना संविधान बनानेके लिये संस्कृति और परम्परामेंसे कोई ग्राह्य तत्व हाथ नहीं आया। जब कि पाश्चात्य जगत्के विचारशील विद्वान् चाणक्यकी राजकल्पना तथा चरित्रनिर्माणके सिद्धान्तोंको अत्यन्त सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। आज चाणक्य हम लोगोंकी अज्ञानजन्य अकृतज्ञतासे भारतमें न पूजकर विदेशी विद्वानोंमें पूज रहा है। आजका भारत मनुष्यतासे हीन होकर योरोप, अमेरिकावाली उन्नतिका चरमोत्कर्ष पानेके उभयभ्रष्ट बनानेवाले सुपने देख रहा है।

आजके पाश्चात्यानुगामी भारतको यह कैसे समझाया जाय कि मनुष्यता ही किसी भी राष्ट्रका प्राण या जीवनी शक्ति होती है। मनुष्यताके अभावमें समस्त भौतिक संपत्तियें मुरदेका शृंगार बन जाती हैं। मनुष्यतासे हीन होकर भौतिक उन्नति, राष्ट्रसेवा, विश्वशान्ति, समाजसेवा आदि नामोंसे देशके मानवसमाजको ठगा ही ठगा जाता है। सेवा तो मनकी होती है। मनको शान्ति पानेकी कला न सिखाकर कुछ उज्ज्वलवेषी लोगोंका गन्दे मोहल्लोंमें जाकर कुछ समय झाडू लगानेका अभिनय मात्र करके दीन लोगोंसे ताली पिटवाले या जयघोष करवा लेना मात्र राष्ट्रको उन्नतिका मार्ग दिखानेवाली सेवा नहीं है। राष्ट्रके मनका अज्ञानपनसे उद्धार करना ही सेवा है। लोगोंके दुःखदायी अज्ञानको मिटाकर उन्हें स्वाभिमानी

उन्नचेता मनुष्यता-प्रेमी अन्यायके असहिष्णु बना देनेवाले ज्ञानालोकमें पहुँचा देना ही राष्ट्रकी सच्ची सेवा है।

यदि भारतवासी अपना कल्याण चाहें तो वे अबसे सवादो सहस्र वर्ष पूर्व भारतमें अपनी दैवीक क्रीडा कर चुकनेवाली चाणक्य चन्द्रगुप्तकी राजनैतिक प्रतिमाको हृदयसे अपनाये।

आर्य अनार्य साम्राज्योंकी तुलनात्मक आलोचना

तथा

भारतीय राष्ट्रको आर्यराष्ट्र न बनने देनेवाले वर्तमान, साम्यवाद, समाजवाद आदि अनार्य राजनैतिक वादोंके प्रभावसे बचनेका सुझाव

अनार्य सम्राटोंका अग्रणी सिकन्दर विश्वसम्राट् बननेकी महत्वाकांक्षा लेकर लुटेरोंका विशाल दल संगठित करके, दूसरे राष्ट्रोंकी स्वतंत्रता छीना करता था। स्थाली पुलाकन्यायके अनुसार ❀ अपने क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थोंसे दूसरोंकी स्वतंत्रता छीनना ही अनार्य साम्राज्योंका निर्माण करानेवाली मूल प्रेरणा थी। चाणक्यका शिष्य चन्द्रगुप्त 'ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रम्' ब्रह्मशक्तिके नियन्त्रणमें काम करनेवाली क्षात्रशक्तिसे सुसज्जित आर्य सम्राटोंका प्रतीक था। उसने भारत तथा उसके पड़ौसके उन छोटे छोटे राज्योंको, जो स्वयं अपनी रक्षातक करनेमें असमर्थ थे या जो राजधर्म विहीन होकर अपनी प्रजा पर अत्याचार या लूटका ठेकामात्र लिये बैठे थे, प्रजाके प्रति कर्तव्य पालनेवाले शक्तिशाली साम्राज्यका प्रसन्न अनुवर्ती अंग बनाकर मानव समाजको सच्ची स्वतंत्रताका अधिकारी बना लिया था। जहांतक अपनी शक्ति जा सके वहांतक प्रजाकी सेवा करनेवाली वैधानिक राज्यव्यवस्थाकी स्थापना करना ही आर्य (भारती) साम्राज्यकी कल्पनाका प्रेरक था। जहाँ अनार्य साम्राज्य आततायीपनका प्रतीक है वहाँ आर्य साम्राज्य आततायीपनका प्रतिरोधक

❀ नोट— बटलोईके एक चावलकी परखसे समस्त चावलोंके परिपाक अपरिपाकको समझ लेनेकी पद्धतिके अनुसार।

तथा न्याय राज्यका संस्थापक था। जहाँ अनार्य साम्राज्य दूसरोंकी स्वतंत्रता छीनता पाया गया है वहाँ आर्य साम्राज्यका लक्ष्य किसीकी स्वतंत्रता छीनना नहीं था। किन्तु स्वतन्त्रताको सुरक्षित करके मानवसमाजका आशीर्वाद और साधुवाद पाना ही इसका एकमात्र ध्येय था।

आर्य साम्राज्यका उद्देश्य राष्ट्रके प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारके चोरों तथा उन राष्ट्रकण्टकोंको निर्मूल करना था जो विश्वके स्वतन्त्र मानव परिवारोंका विरोध किया करते थे। आर्य साम्राज्योंकी समरयात्राका उद्देश्य विजित राष्ट्रोंको हताश, निराश तथा सुख सम्पत्तिहीन बना डालना नहीं था किन्तु विजित राष्ट्रोंको तुरन्त निरापद बनाकर अभय दान देकर उनकी लूट तथा उसपर अत्याचारको असंभव बनाना और उन्हें अपनी मातृहितैषिणी छत्रछायामें लेना होता था। संसारके इतिहासके पास जैसे अनार्य साम्राज्योंकी समर यात्राके विरुद्ध भयंकर अभियोग होनेपर भी उसके पास आर्य चन्द्रगुप्तकी समरयात्राके विरोधमें अत्याचार या लुण्ठन आदिका किसी प्रकारका कोई अभियोग नहीं है। प्रत्युत इतिहासके पास तो विजित राष्ट्रोंकी चन्द्रगुप्तके प्रति प्रगट की गई सामूहिक कृतज्ञताका ही उल्लेख मिलता है। इसलिये मिलता है कि चन्द्रगुप्तके साम्राज्यका स्वरूप विजित जनताको अपने विराट् परिवारमें सम्मिलित करके उसके ऊपर विजित जनताके निर्वाचित जनसेवकोंको स्थानिक शासनके परिचालनका भार सौंप देना होता था। चन्द्रगुप्तका साम्राज्य प्रजाको वे समस्त सुखसुविधा पहुँचानेका उत्तरदायित्व लेता था जो (सुखसुविधा) मानव हृदयको स्वभावसे प्यारी प्यारी होती है और इसीलिये राज्यव्यवस्थाको प्रजातंत्रका नाम दे देती हैं। चन्द्रगुप्त प्रत्येक विजित देशकी सादिच्छाओंका पूरा प्रतिनिधित्व करता था। इसलिये उसका साम्राज्य एकतन्त्र दीखनेपर भी प्रजातंत्र था।

मैगास्थनीज तथा पाश्चात्य इतिहासकारोंके उन वर्णनोंसे, जो उन्होंने चन्द्रगुप्तके साम्राज्यकी सुव्यवस्थाके संबन्धमें किये हैं स्पष्ट जाना जा सकता है कि उस समयकी प्रजा चन्द्रगुप्तके सुप्रबन्धसे इतनी सुशिक्षित

हो गई थी कि वह आत्मकल्याणको सुरक्षित रखनेके लिये पर्याप्त मात्रामें समर्थ तथा जागरूक बन चुकी थी।

'**प्रकृतिसम्पदा ह्यनायकमपि राज्यं नीयते।**' (चाणक्यसूत्र)

प्रजा यदि राज्य प्रबन्धसे परिचित हो जाय या बना दी गई हो तो किसी कारण राजाके न रहनेपर भी राष्ट्रव्यवस्था अक्षुण्ण रहती चली जाती है। प्रजाको सन्तुष्ट तथा सुशिक्षित करके प्रजाकी सदिच्छाओंसे ही राज्य-व्यवस्थाका संचालन करनेका यह ढंग चन्द्रगुप्तके पुत्र बिन्दुसार तथा पौत्र अशोक तक सुरक्षित रहा। परन्तु साम्राज्य संचालकोंके अहिंसावादी बौद्ध धर्ममें दीक्षित हो जानेपर दण्डव्यवस्थाके ढीला पडनेपर ही साम्राज्य छिन्नभिन्न होगया। उस स्थितिको देखकर गीताके '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।**' इस मन्तव्यकी स्मृति बलात आ खडी होती है।

राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः।
न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणादिकं वा॥

(नीतिवाक्यामृतं ५-२)

दुष्ट निग्रह तथा शिष्टपालन ही राजाओंके धर्म हैं। सिर मुंडाना या जटा धारण करना आदि उनके धर्म नहीं हैं।

व्रतचर्यादिकं धर्मो न भूपानां सुखावहः।
तेषां धर्मः प्रदानेन प्रजासंरक्षणेन च। (भागुरि)

व्रतचर्या आदि राजाओंके लिये सुखकारक नहीं है। उनका धर्म तो प्रजाको अभयदान तथा उसकी रक्षा ही है।

भारतीय आर्य साम्राज्यके ये तीनों आनुवंशिक सम्राट् इस आदर्शको सुरक्षित रखकर प्रजाकी सेवा करके न केवल मानवसमाजको कृतार्थ कर गये किन्तु स्वयं भी धन्य होकर गये। साम्राज्य स्थापनाका यही आर्य आदर्श था। यह आदर्श आजके पाश्चात्य साम्राज्यवादसे सर्वथा विपरीत प्रकारका है। यह कितना बडा दुर्भाग्य है कि भारत भी कालकी कुटिलगतिसे इस आदर्शको राष्ट्रियरूपमें अपनाकर नहीं रख सका। वह फिर पहलेके ही समान आदर्शहीनतामें जा डूबा।

चाणक्य मनुष्यकी पशुशक्तिका उपासक नहीं था। वह तो मानव हृदयकी शान्तिका उपासक और पुजारी था। वह लोगोंकी मानसिक शान्तिको ही राष्ट्रका बल माननेवालोंमें था। आजका पाश्चात्य अनार्य साम्राज्यवाद जडदेहकी भोगाकांक्षा या भोगकंडूतियोंका उपासक है। जडदेहोंकी भोगेच्छाके ऊपर अपनी समाजव्यवस्था बना लेना दुष्परिणामी कल्पना है। इसलिये देहोंकी भोगेच्छाओंके आधारपर समाजव्यवस्था बनानेके संबन्धमें आजके पाश्चात्यानुकरणी भारतको सावधान रहना है। जडदेहोंकी भोगेच्छा ही इन अनार्य साम्राज्योंकी पृष्ठभूमि है।

वर्तमान राजनैतिक साम्यवाद, समाजवाद आदि अनार्यवादोंकी आलोचना

चाणक्य वेदान्तप्रतिपादित आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिके उपासक थे। अनार्य साम्राज्योंकी निन्दा करनेवाला पाश्चात्य समाजवादी और साम्यवादी एक ओर तो साम्राज्यवादकी निन्दा करता और दूसरी ओर जडदेहकी उस भोगाकांक्षा या भोगवादको छोडनेको उद्यत नहीं है जो अनार्य साम्राज्यवादका मूल है। पाश्चात्योंके समाजवाद और साम्यवाद तथा उनके अनार्य साम्राज्य सबकी भोग ही एकमात्र आधारशिला है। पाश्चात्य या पाश्चात्य ढंगका समाजवादी और साम्यवादी अपने भोगवादी पाश्चात्य वातावरणके आनुवंशिक दोषसे पराभूत होकर जडदेहकी भोगेच्छासे आगे सोचनेमें नितान्त पंगु है। भोगवाद पाश्चात्य देशोंकी मज्जा तक जा पहुँचा चुका हुआ असाध्य रोग है। इसके विपरीत चाणक्य त्यागवादी भारतका सुपूत था।

वह तो मनुष्यकी सुखेच्छाको ही दुःख माननेवाले लोगोंमेंसे था। वह सुखेच्छाके नियन्त्रण पर ही साम्राज्यकी प्रतिष्ठा करनेवाला था। वह सुखेच्छाको ही पापका मूल मानकर उसे राजशक्तिसे नियन्त्रित करना चाहता था। वह मनुष्यकी सुखेच्छाके नियन्त्रणमें आजानेको ही समाजकी शान्तिकी

कुंजी माननेवाले क्रान्तदर्शी विद्वानोंमेंसे था। वह मनुष्यकी भोगाकांक्षाको खुलकर खेलने देनेमें समाजका अकल्याण मानता था। वह मनुष्यका कल्याण इस बातमें देखता था कि मानवकी भोगाकांक्षाका समाज हितमें उपयोग किया जाय। वह मनुष्यकी भोगाकांक्षाको समाजको समाजका अहित करनेकी स्वतंत्रता देनेको किसी भी रूपमें प्रस्तुत नहीं था। वह मनुष्यकी व्यक्तिगत भोगाकांक्षाको समाज कल्याणमें विलीन कर देनेवाली या उसे (व्यक्तगत भोगेच्छाको) समाज कल्याणका अविरोध बना लेनेवाली व्यक्तिगत—और समाज दोनोंहीका कल्याण कर सकनेवाली आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिमें ही मनुष्यका परमार्थ पा लेना या अखण्डशान्ति मिल जाना समझता था। इसके विपरीत अनार्य साम्राज्यवादों तथा अनार्य राजनैतिक पार्टियोंने सिकन्दरवाला वही भोगवाद अपना रक्खा है जो जडदेहकी भोगेच्छाका दास है और इसीसे पराये रक्तका प्यासा बने विना नहीं रहा जा सकता। आधुनिक अनार्य साम्राज्यवाद सिकन्दरवाले साम्राज्यवादका ही भौतिक विज्ञानों तथा नृशंस क्रूरताओंसे समुपबृंहित आधुनिक संस्करण मात्र है।

साम्यवादी या समाजवादी कहानेवाले कुछ उन विद्वान् नामधारियोंने जो अपने आपको पाश्चात्य साम्राज्यवादका विरोधी उद्घोषित करते हैं, धनोपार्जन तथा धनभोगमें सार्वजनिक समानाधिकारका काल्पनिक (अव्यावहारिक) सिद्धान्त पैदा करके उलझन पैदा करती है। परन्तु इन लोगोंने भोगाकांक्षाके समाजघातक दूषणका आद्योपान्त विचार नहीं किया। भोगाकांक्षाका यही प्रधान दूषण है कि वह कभी भी तृप्त होना नहीं जानती। भोगेच्छु मानव भोगमें असमर्थ तो हो सकता है परन्तु तृप्त कभी नहीं हो सकता। भोग और अतृप्तिका नित्य साथ है मनुष्यकी अतृप्ति ही अत्याचारिणी राक्षसी है। अतृप्ति समाजका भयंकर शत्रु है। भोगेच्छाने संसारमें आजतक कभी भी तृप्ति, उदारता और मानवताका मुंह नहीं देखा। क्योंकि भोगाकांक्षा रूपी आग सदा ही अतृप्त रहनेवाली आग और मनुष्यको पररक्तपिपासु अनुदार पशु बनाकर रखनेवाली दुष्ट अभिलाषा है इसलिये

पहले मनुष्यसे उस आगमें ईंधन डलवानेका सिद्धान्त मान लेना और फिर उसी मनुष्यसे यह आशा भी करना कि वह अपनी इच्छा या कानूनके भयसे समानताके सिद्धान्तमें बंधकर रहे यह एक असंभव मूढ कल्पना है। यह तो मांसलोलुप सिंहके सामनेसे उसका मांस उठा लेनेवाली अत्यन्त उत्तेजक कल्पना है। यह तो खुल्लमखुल्ला भोगको ही जीवनका लक्ष्य मान लेना और मानवसमाजको मनुष्यताकी ओर प्रोत्साहित न करके भोग-संग्रहमें प्रोत्साहित करना है।

मनुष्यको भोगसंग्रहमें प्रोत्साहित करना उसे उस भोगाकांक्षाकी ओर ले जाना है जिसका कोई अंत नहीं है जिसकी भूख कभी मिटती नहीं जो भयंकरसे भयंकर पाप करनेसे डरती नहीं। जिसे संसारभरको अपनी वध्य आखेट बनानेमें कोई संकोच होना संभव नहीं। भोगाकांक्षाको छूट मिल जाना सचमुच समाजघाती कल्पना है। भोगाकांक्षाका खुलकर खेलने देनेसे समाजमें पारस्परिक घातप्रतिघात आदि अनेक अचिकित्स्य उलझने पैदा हो जाती है। इसलिये पहले तो भोगाकांक्षाको मान्यता देना और फिर उससे समानताकी सीमामें बंध कर रहनेकी आशा बाँधना अव्यावहारिक लक्ष्य है। इस दृष्टिसे इन साम्यवादियों और समाजवादियोंका लक्ष्य अव्यावहारिक है। इसलिये हम इन अव्यावहारिक लक्ष्यवाले साम्यवादी समाजवादियोंको पाश्चात्य साम्राज्यवादियोंका ही नामान्तर करना चाहते हैं और इसे समाजके लिये उतना ही कलहवर्धक तथा अशान्त बना डालनेवाला पा रहे हैं जितना कि पाश्चात्य साम्राज्यवादियोंको पाते हैं। कैसे पाते हैं सो भी ध्यान देकर सुन लीजिये—

ये लोग एक ओर तो साम्राज्यवादियोंकी परराष्ट्रपर आक्रमण करनेवाली ध्वंसात्मक युद्धनीतिका विरोध करके संसारको अपनी ओर आकृष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं और दूसरी ओर विश्वशान्ति या छोटे बड़े भिन्न भिन्न राष्ट्रोंके पारस्परिक शान्तिपूर्ण सहावस्थानके एक खोखले सिद्धान्तका आविष्कार करके संसारकी भोली जनताको ठगते चले जा रहे हैं। जो पार्टी

भिन्न भिन्न देशोंमें उचित अनुचितका विचार त्यागकर किसी भी उपायसे शासक जाति बन गई है उन सबके साथ न लडनेका समझौता करके अपने देशकी जनता पर प्रभुता करते रहने या वहांकी जनताकी लूटका ठेका लिये रहने और उसपर अपनी शोषणनीति चलाते रहनेमें निष्कंट बने रहना ही इन लोगोंके विश्वशान्ति नामके पलाश कुसुमायमान निर्गन्ध सुन्दर ध्येयकी परिभाषा है। इन लोगोंकी विश्व-शान्तिके पेटमें स्वार्थलोलुपता काम कर रही है। इन लोगोंकी विश्वशान्ति केवल इतना चाहती है कि संसारभरकी शासक जाति बनी हुई प्रभुतालोभी पार्टियां परस्पर संगठित रहें, अपने अपने अधिकार क्षेत्रमें निर्विघ्न मनमाना अत्याचार करती रहें उनके ऐसा करनेमें कोई किसीको न टोके, कोई किसीका प्रतिद्वन्द्वी न बने और ये लोग विश्वकी अत्याचारित जनताके घरोंमें राष्ट्रकी आभ्यन्तरिक अशान्तिकी आग अनन्तकाल तक सुलगाते रहनेमें स्वतन्त्र रहें।

आपने भोगवादियोंकी विश्वशान्तिका खोखलापन देखा। वह वास्तवमें अशान्ति ही है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण देखना चाहें तो भारतको देख लीजिये– भारत जैसे प्राकृतिक सीमाओंसे सुरक्षित अनादिकालसे अखण्ड राष्ट्रको राज्यलोभी दो पार्टियोंके अप्रजातांत्रिक समझौतेने दो विद्यमान खण्डोंमें बाँट कर राष्ट्रकी प्रभु जनताको अकथनीय अत्याचारोंका आखेट बना डाला और उसे अनाथालयों जैसे दूषित शरणार्थी नामसे कलंकित करके उसपर मनमाना शासन करते हुए उसकी मनुष्यताको विकसित न होने देनेवाला अशान्तिकारक निर्विरोध राजकीय षड्यन्त्र चल रहा है। संसारकी वर्तमान राजनीतिके अनुसार यह षड्यन्त्र भी भोगवादी शासक जातियोंकी विश्वशान्तिमें सम्मिलित माना जा रहा है। अपने स्वेच्छाचारी शासनकी सुगमताके लिये राष्ट्रकी वास्तविक स्वामिनी जनताको मनुष्यतासे हीन, अनैतिक, चाटुकार, निःशस्त्र, नपुंसक, पेट पूजक बनाकर रखना प्रभुतालोभी राजनीति नहीं है तो क्या है? इन लोगोंकी भौतिक उन्नतिकी आपात मनोरम योजनायें अपने दुधारु पशुओंके लिये अच्छा चारा उपजा-

नेकी व्यवस्थासे अधिक मूल्य नहीं रखती। किंबहुना हम स्पष्ट देख रहे हैं कि समाजवाद या साम्यवाद, पाश्चात्य साम्राज्यवादका ही आधुनिक अनुभवके आधारपर गठित आधुनिक संस्करण है। पाश्चात्य साम्राज्यवादके आधुनिक संस्करण इस समाजवाद, साम्यवाद या स्पष्ट शब्दोंमें प्रभुतावादने भोगवादी लोगोंमें पारस्परिक विवाद उत्पन्न कर डाला है। देशकी जनताको अनेक विद्यमान दलोंमें बाँटा दिया है और संसारको सदाके लिये अशान्तिकी आगमें जलते भुनते रहनेका ही मार्ग दिखाया है। बात यह है कि समाजको भोगोंका भूखा बनाये रखनेवाला यह हीनवाद आवश्यकता पडनेपर भोगोंका विरोध करनेवाली स्वाभिमानके नामपर भोगोंपर लात मार सकनेवाली सच्ची समाजसेवा करना ही नहीं चाहता। यह तो जिस किसी प्रकार समाजका प्रभु बन कर रहना चाहता है। सारी ही राजनैतिक पार्टियाँ समाजका प्रभु बन जाना चाहती है। भोगवादको लक्ष्य मान लेनेमें यह दोष है कि भोगेच्छाको न तो कभी मानवोचित संयम सिखाया जा सकता है और न कभी उसे तृप्त किया जा सकता है। जो मानवको मानव बनाये रखनेके लिये अत्यावश्यक है।

भोगेच्छाको अस्वीकृत तो किया जा सकता है परन्तु उसे संयत और तृप्त नहीं किया जा सकता। भोगेच्छाको दूसरोंका भाग छीनने तथा उनपर अन्याय ढानेसे रोक देनेवाली कोई शक्ति संसारमें नहीं है। जो समाज व्यवस्था देहकी भोगाकांक्षाको अपना मूलाधार बनानेको भूलकर लेती है वह कभी भी समाजमें शान्तिकी रक्षा नहीं कर सकती। देहकी भोगेच्छाकी तृप्तिको लक्ष्य बनाना समाजघाती डरावनी स्थिति है। देहकी भोगेच्छाकी तृप्तिको लक्ष्य बना लेना समाजको अनैतिक बनाकर अशान्त बना डालना है। इसके विपरीत शान्तिको मानवजीवनका लक्ष्य बना लेना समाजको नैतिकताके मार्गपर चलाना तथा उसे संयमकी सीमामें रखना है। शान्तिको मानवजीवनका लक्ष्य बनानेका ही दूसरा नाम सम्पत्तिपर मनुष्यका व्यक्तिगत अधिकार न रहना और उसका समाजके सार्वजनिक

सुखाधिकारमें चला जाता है। शान्तिको जीवनका लक्ष्य बनानेको ही संप-त्तिका समविभाजन भी कहा जाता या कहा जा सकता है।

आधुनिक भारतीय प्रजातंत्र भी उन भोगवादी सिद्धान्तोंपर आधारित तथा संगठित हुआ है जो (सिद्धान्त) लोगोंको राज्यसंस्थाको अप्रजा-तांत्रिक ढंगसे हथियानेकी छूट देते हैं। यही कारण हुआ है कि यह आधु-निक भारतीय प्रजातंत्र राज्यसंस्थाको अप्रजातांत्रिक ढंगसे हथियानेवाले संगठन (पार्टी) का भोगक्षेत्र बन गया है। इस संगठनके नेताओंका उद्देश्य देशका नैतिक उत्कर्ष साधना या देशके मनको स्वाभिमानी बनाना नहीं है किन्तु देशको राज्यसंस्थाका दास बनाये रखनेके लिये उसके सामने भोगसंग्रहकी वे खोखली योजनायें बना बनाकर रखते चले जाना है जो केन्द्रसे परिचालित होकर इन लोगोंकी क्रमिक भौतिक महत्वाकांक्षाओंमें ईंधन जुटानेके लिये जनकल्याणके मनोहर नामसे अपनायी गई हैं।

यद्यपि देशकी जनता ही समस्त संपत्तियोंकी उत्पादक है तो भी वह अपने भोगी स्वार्थी शासकोंको कमा कमाकर खिलानेवाली मजदूर तथा उन्हींकी उच्छिष्ट बूंदोंको चाटनेवाली भिखारिन बनी हुई है। वह इन-लोगोंके नन्दनकाननके भी कान काटनेवाले कोठी, बंगलों तथा राजप्रासा-दोंको ही अपने जीवनका लक्ष्य मान बैठी है। देशकी प्रभुतालोभी पार्टि-योंकी कृपा आजके भारतवासीके सामने कोई भी मानवोचित आदर्श नहीं छोड़ा है। इन लोगोंके भोगपरायण कुदृष्टान्तोंने देशके आध्यात्मिक आद-र्शको देशके सामने आनेसे केवल रोका ही नहीं है प्रत्युत उसपर घातक प्रहार भी किये हैं। जनता इनके भोगनेसे बचीखुची जूठनको संग्रह कर-नेमें पारस्परिक कलहों, ईर्ष्याओं तथा प्रतिहिंसाओंमें डूब गई है और समा-जका कल्याण कर सकनेवाली नैतिकताकी जंजीरोंको निर्दयताके साथ तोड़ फेंकनेमें दिनरात लगी हुई है।

अपनी फूंसकी झोंपड़ीमें ही पूर्णकाम होकर राष्ट्रसेवाका अनुपम आनन्द लेनेवाले भारत पर कुदृष्टि डालनेवाली वैदेशिक शक्तियोंको धक्का देकर पीट

पीटकर देशसे बाहर निकाल डालनेवाले अपने ही बुद्धिबलसे तत्कालीन भारतीय साम्राज्यके निर्माण तथा स्थापनामें प्रमुख भाग लेनेवाले महामंत्री चाणक्यकी पर्णकुटीसे आधुनिक भारतमें प्रजातंत्री मंत्रियोंके नन्दनवनकी शोभाकी भी हँसी उडानेवाले राजप्रासादों तथा इन लोगोंको मिलनेवाले इस निर्धन देशके प्राण सोख लेनेवाले लम्बे-चौडे वेतन-भत्ते आदि अगणित सुविधाओंकी तुलना तो करके देखिये और फिर निर्णय कीजिये कि प्रजातंत्रका बाना पहननेवाले आपके देशके प्रजातंत्रका वास्तविक स्वरूप क्या है? भारतका वर्तमान प्रजातंत्र नक्कारेकी चोट यह घोषणा कर रहा है कि यह राज्यसंस्था राष्ट्रकी सेवाके लिये नहीं बनाई गई किन्तु राष्ट्रको ही राज्य-संस्थाकी सेवाके काममें लाया जा रहा है। पाठक आइये, सम्राट् चन्द्र-गुप्तके महामन्त्रीके निवासस्थानपर प्रजातंत्री दृष्टि डालें। कवि विशाखदत्त चाणक्यकी कुटीका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

इदमार्यचाणक्यस्य गृहं यावत् प्रविशामि (नाट्येन प्रवि-श्यावलोक्य च) अहो राजाधिराजमंत्रिणो गृहविभूतिः!! कुतः?

अब मैं आर्य चाणक्यकी कुटीमें चलूँ (कुटीके भीतर जाकर देखकर) ओहो! राजाधिराजके मंत्रीके घरकी ऐसी निराली छटा!

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्।

(अंक ३, श्लोक १५, मुद्राराक्षस)

इसमें एक ओर कंडे तोडनेके लिये पत्थरका टुकडा पडा है, दूसरी ओर चाणक्यसे शिक्षा पानेवाले बाल विद्यार्थियोंकी लाई हुई कुशायें बिछी हुई हैं इसके जीर्णशीर्ण भीतोंवाले झुके हुए छप्पर पर होमाग्निकी समिधायें सूख रही हैं।

ऊपर हम पाश्चात्य साम्राज्यवादके विरोधमें जन्म लेनेवाले पाश्चात्य समाजवादको उसीका नामान्तर कहकर उसके दोष दिखा आये हैं और

भारतपर उसके दुष्प्रभावका दिग्दर्शन करा आये हैं। परन्तु चाणक्य चन्द्रगुप्तने जिस समाजवादका प्रचार किया था वह बड़ेसे बड़े राज्याधिकारीको भी स्वेच्छाचारकी छूट न देनेवाला प्रत्युत उसे सर्वथा निर्मूल करनेवाला और सच्चे अर्थोंमें प्रजातांत्रिक साम्राज्यका निर्माण करनेवाला था।

आजका भारतीय प्रजातंत्र भिन्न भिन्न स्वेच्छाचारी प्रान्तीय संगठनोंकी पारस्परिक स्वेच्छाचारिताओंका ही समर्थन करनेवाला तेजोहीन समूहमात्र है। केन्द्र प्रान्तोंके किये किसी अन्याय पर उसे रोकने टोकनेका सामर्थ्य नहीं रखता। स्वेच्छाचारका दमन ही समाजवाद है। और स्वेच्छाचारका दमन ही सच्चे प्रजातंत्रका ध्येय भी है। चाणक्य तथा चन्द्रगुप्तके इतिहासका अध्ययन तब ही सार्थक हो सकता है जब प्रजातंत्रके इस ध्येयको ठीक ठीक समझा जाय और उसे अपने देशकी राजसत्तामें व्यावहारिक रूप भी दिया जाय। यदि प्रजातन्त्रके इस ध्येयको व्यावहारिक रूप नहीं दिया जायगा तो चाणक्य चन्द्रगुप्त दोनोंने उन दिनों सिकन्दरको भारतमें न घुसने और न ठहरने देकर भारतको जिस रोगसे बचाया था भारतभूमि उसी रोगकी उपजाऊ भूमि बने बिना नहीं रहेगी और गाँवोंसे लेकर केन्द्र तक सम्पूर्ण शासन व्यवस्थाका सिकन्दरका ही भारतीय संस्करण बनना अनिवार्य हो जायगा।

मनुष्यकी भोगान्धता केवल बाहरवाले संसारमें ही अशान्ति नहीं फैलाती वह मनुष्यके पारिवारिक सम्बन्धोंको भी बिगाड़ती है। भोगान्ध व्यक्ति अपने पारिवारिकोंसे अपनी व्यक्तिगत सुखेच्छा पूरी करनेके अतिरिक्त उनके साथ कोई भी पारमार्थिक निःस्वार्थ कर्तव्यका पवित्र सम्बन्ध रखना नहीं चाहता। भोगान्ध व्यक्तिकी मनोवृत्ति दूषित होती है। वह अपने पारिवारिकोंको भी केवल अपने स्वार्थका साधन बनाना चाहता है। उसकी इस दूषित मनोवृत्तिके कारण उसके परिवारके किसी भी सदस्यकी एक दूसरेसे कोई सहानुभूति नहीं रहती। भोगान्ध व्यक्तियोंसे संचालित इस प्रकारके परिवार कुछ दिन आपसमें लड़ झगड़कर छिन्न भिन्न हो जाते हैं।

ऐसे परिवारका पुत्र पिता पर होनेवाले अत्याचारको अपने पर हुआ अत्याचार मानकर उसके प्रतिकारके लिये उद्यत नहीं होता। इसी प्रकार भ्राता आदि अन्य सब पारिवारिक किसी व्यक्ति पर होनेवाले अत्याचारके कर्तव्यहीन नपुंसक तटस्थ द्रष्टामात्र बनकर खड़े देखते रह जाते हैं। परिवारोंमेंसे ही तो राष्ट्र बनते हैं। देशके परिवार जिस मनोवृत्तिके होते हैं राष्ट्र भी वैसा ही बन जाता है। परिवार भोगवादी होंगे और भोगवादके प्रभावसे परस्पर सहयोग नहीं कर रहे होंगे तो देशको सेवक कहांसे मिलेंगे? इस प्रकारके भोगवादी परिवारोंके मिलनसे बननेवाले राष्ट्र निर्बल राष्ट्र होते हैं। इस प्रकारके राष्ट्र कुछ स्वार्थी महत्वाकांक्षी लोगोंकी लूट, हिंसा, द्वेष आदि दोषोंको चरितार्थ करनेके क्षेत्र मात्र बन कर रह जाते हैं। आपके वर्तमान भारतका भी यही राष्ट्रीय चित्र है।

भोगके लिये जो कोई उद्यम किया जाता है उस (उद्यम) का कोई भी नैतिक आधार नहीं होता। नैतिकताका प्रश्न उठते ही भोग प्रयोजनवाले उद्देश्योंको वहां ठहरनेका साहस ही नहीं होता। जो उद्यम समाजके कल्याणकी दृष्टिसे किये जाते हैं वे ही नैतिकताकी भित्तिपर दृढतासे खड़े रह सकते हैं। अपनी भोगेच्छाको अवैध ढंगसे परितृप्त करनेकी भावना ही अनैतिकता बन जाती है। भोगेच्छा ही अनैतिकताकी जननी है। भोगेच्छाका नियन्त्रण तथा अवहेलनाके द्वारा समाजकल्याणमें उपयोग करना ही नैतिकता है। समाजकल्याणको स्वीकार कर लेनेवाली कर्तव्य-बुद्धि ही नैतिकताकी अभ्रान्त परिभाषा है। आर्योंकी समाजव्यवस्थाका आदर्श इसी नैतिकताकी भित्ति पर आधारित है।

आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति ही भारतीय समाजव्यवस्थाका आदर्श है। आर्य चाणक्यने अपने निःस्पृह कर्मठ जीवनके उदाहरणसे सामाजिक आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति नामवाली आध्यात्मिकताका यही व्यावहारिक राजमार्ग भारतको दिखाया है। उसने अपनी व्यक्तिगत सुखेच्छाको समाजकी सुखसुविधा (शान्ति) में विलीन कर डाला था। अपनी व्यक्तिगत सुखेच्छाको समाजकी सुखशान्तिमें विलीन कर डालना ही आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति है

और इसीको सुखेच्छाकी पूर्ण परितृप्ति भी कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें सुखेच्छा त्याग देनेके रूपमें सुखरूपताको अपना लेना ही मनुष्यकी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति है। समाजमें इस आदर्शको मूर्तिमान कर डालना ही आर्य चाणक्यकी व्यावहारिक आध्यात्मिकता थी और इसीको वे लोककल्याणकारिणी राजनीति भी कहते थे। आर्य चाणक्य आध्यात्मिकता तथा राजनीतिको अभिन्न मानते थे। उन जैसे बुद्धिमानकी दृष्टिमें वे दोनों एक थे। उनके मन्तव्यानुसार राजनीति तथा आध्यात्मिकताको एक (अभिन्न) समझ लेना ही ज्ञानकी स्थिति है। राजनीतिको आध्यात्मिकतासे अलग समझ लेना ही भोगाकांक्षा है, व्यक्तिगत सुखान्वेषण है और साथ ही राष्ट्रद्रोह भी है। दूसरे शब्दोंमें राजनीतिसे अलग रहकर आध्यात्मिक बननेकी भावना अपने हितको समाजके हितसे अलग समझनेवाली निन्दित प्रवृत्ति है। इस प्रकारकी भावना अत्याचारी आसुरी शक्तिके साथ क्रियात्मक सहानुभूति भी है और देशद्रोह भी है।

आजके संसारमें प्रायः भोगलक्ष्यवाले संगठन होते हैं। भोगलक्ष्यवाले संगठन सदा ही राष्ट्रमें भोगाग्नि सुलगाते हैं, द्वेष फैलाते हैं, देशको भिन्न भिन्न स्वार्थी दलोंमें बांटते हैं, और परिणामस्वरूप शान्तिका द्रोह करनेवाले हो जाते हैं। इस प्रकारके संगठन मनुष्यसमाजकी एकताको नष्ट कर डालते और उसे छिन्नभिन्न करके शक्तिहीन बना डालते हैं। इस प्रकारके भोगलक्ष्यवाले संगठन लोगोंकी मनुष्यताको तो पैरों तले रौंद देते हैं और उन्हें एक दूसरेका लुटेरा तथा सामाजिक दृष्टिसे अंधा बना देते हैं। इस लिये बना देते हैं कि अंधोंका शोषण तथा आखेट दोनों ही सुगम होते हैं। समाजके धूर्ततम लोग इस प्रकारके संगठनोंका नेतृत्व किया करते हैं।

ये लोग उज्ज्वलवेषी धूर्त होते हैं और कानूनकी पकडमें न आकर अपने आप सामाजिक अपराध करते रहनेकी छूट पा लेते हैं। ये लोग कानूनसे भी ऊंचा पद लेकर रहते हैं। ये कानूनके अनुसार नहीं चलते। ये तो कानूनको अपने अनुसार चलाते हैं। प्रबन्ध सब जटिलताओंको सुलझानेके लिये जब चाहते हैं कानूनमें संशोधन कर या करा लेते हैं। ये लोग चोर नामसे

अविख्यात राष्ट्रीय चोर होते हैं। जब इस प्रकारके संगठन राज्यसत्तामें हाथ डालते हैं तब इन लोगोंका उद्देश्य राष्ट्रमें स्वेच्छाचार कर परवाना पा लेना तथा उसे बढाते चले जाना होता है। इसके विपरीत समाजद्वेषिणी भोगाकांक्षाको मिटा डालनेके लिये बननेवाले, समाजकी सुखशान्तिमें ही अपनी व्यक्तिगत सुखशान्तिको विलीन कर डालनेवाले, संयमके सर्वकल्याणकारी मार्ग पर चलनेवाले संगठन, समाजको शक्तिमान बनानेवाले होते हैं और सदा ही शान्तिकी उपासना करते रहते हैं। इस प्रकारके संगठन भोगवादी स्वेच्छाचारके अत्यन्त विरोधी होते हैं। वे मानवकी भोगाकांक्षाको निवृत्तिके मार्गपर ले चलना चाहते हैं। और मानवकी भोगाकांक्षाका भी समाजकल्याणमें उपयोग कर लेना चाहते हैं। सच्चे संगठन वे होंगे जो समाजमें सुखशान्ति बरसानेमें अपना संपूर्ण बल लगा देते हैं। वे चाणक्य प्रतिपादी त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) के उपासक समाजमेंसे स्वेच्छाचारको हटाकर न्याय राज्यकी स्थापना कर देते हैं।

त्रिवर्गके संबन्धमें चाणक्यके निम्न गंभीर विचार है कि—

सुखका मूल धर्म है। सुख धर्मसे ही उत्पन्न होता है। अधर्मसे उत्पन्न होनेवाला सुख सुखाभास है। अधर्मसे सुख चाहना मनुष्यकी बुद्धिका प्रमाद है और दुःखोंको नोतना है। दूसरे शब्दोंमें दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति ही सुख है। दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति रूपी सुख ही मानव जीवनमें पाने योग्य स्थिति या मानव जीवनका लक्ष्य है।

धर्मका मूल अर्थ है। धर्म अर्थसे उत्पन्न होता है। सदुपायोंसे अर्जित अर्थ ही अर्थ है। सदुपायोंसे अर्जित अर्थ ही धर्मका उत्पादन कर सकता है। असदुपायोंसे अर्जित धन मनुष्य जीवनके लिये महान् अनर्थ बन जाता है। असदुपायोंसे उपार्जित धनसे धर्मोत्पत्तिकी कोई आशा नहीं है। धर्मोत्पादक अर्थ धर्मानुकूल राज्यव्यवस्था होनेसे पैदा होता है। 'राजानं प्रथमं विन्धात्ततो भार्यां ततो धनम्' यदि राज्यव्यवस्था धर्मानुकूल न हो तो देशकी वह आर्थिक व्यवस्था जिससे समाजकी धर्मानुकूल जीवनयात्रा चल सकती है, नष्टभ्रष्ट हो जाती है।

राज्यका मूल इन्द्रिय विजय है। व्यक्तिगत भोगेच्छापर पूर्ण प्रभुत्व ही राजा या राज्याधिकारियोंकी राज्यसंस्था चलानेकी मुख्य योग्यता है। राज्यका लाभ तथा रक्षा दोनों ही काम इन्द्रियविजयसे होते हैं। दूसरे शब्दोंमें सच्चे सुखकी जो अन्तिम साधना है वही तो इन्द्रियविजय है। मनुष्य इन्द्रियविजय कर लेने पर अपने मनोराज्यका सम्राट् बन जाता है। कामको मनसिज कहा जाता है। काम मनोराज्यसे उत्पन्न होता है। कामपूर्तिके साधन सुखदायी, दुःखदायी भेदसे दो प्रकारके होते हैं। कामप्राप्तिके सदिच्छा तथा दुरिच्छा ये दो साधन हैं। सदिच्छा कामपूर्तिका त्रिवर्गानुसारी सुखद साधन है। इन्द्रियविजय पा लेने पर उत्पन्न होनेवाली इच्छा ही शास्त्रीय काम है। इन्द्रियोंकी दासता करके अर्थोपार्जन करना दुरिच्छा है। इन्द्रियोंकी दासता करके भोगोपार्जन करना शास्त्रविगर्हित कामका रूप है। सदुपायोंसे उपार्जित धन सदिच्छाको पूरी करनेका साधन बन जाता या बन सकता है। सदुपायोंसे उपार्जित धनका सत्यके लिये सदुपयोग होना अनिवार्य होता है। धनका सत्यके लिये सदुपयोग ही मानवधर्म है।

मनुष्यका जो वांछनीय सुख है वह उसे मानवधर्म पा लेनेसे ही मिलता है। यही मनुष्यसमाजका सामाजिक आदर्श है। मनुष्यसमाजमें इस सच्चे आदर्शको प्रतिष्ठित रखना ही मनुष्यमात्रका व्यक्तिगत धर्म है। मनुष्यका यह व्यक्तिगत धर्म समाजको सामूहिक सुख देनेवाले धर्मसे अलग कोई धर्म नहीं है। मनुष्य समाजका धर्मके मार्गपर आरूढ हो जाना ही त्रिवर्गकी प्राप्ति है। त्रिवर्ग प्राप्ति ही मोक्ष है। यों भी कह सकते हैं कि त्रिवर्ग प्राप्ति ही मोक्षरूपमें परिणत हो जाती है। दुःखरहित स्थितिका नाम ही तो मोक्ष है। इन्द्रियोंके बन्धनसे अतीत रहना ही जीवन्मुक्तिकी दुःखरहित स्थिति या मोक्षलाभ है। समाजका जो उच्चतम आदर्श है वही तो मोक्ष है। पाठक जाने कि संपूर्ण समाजको इस उच्चतम आदर्श पर ले चलना ही तो आर्य राजनीति है। मनुष्य भोगलोलुप होकर जीवन न बिताये किन्तु अखण्ड सुखको अपनी मुट्ठीमें करके भोगबन्धनको त्यागकर जीवन बिताये अर्थात् लोगोंके साथ व्यवहार करे। इसीको मनुष्यका अपने व्यक्तिगत कल्याणको समाज-कल्याणमें विलीन कर देना भी कहते हैं। यही उदार

ब्राह्मी स्थिति भी कहाती है और यही आर्य राजनीति भी है। सुखदायी मानवधर्म यही है कि ज्ञानी मनुष्य अपने जीवनको समाजकी आँखोंके सामने ध्रुवनक्षत्र या पाठ्यग्रन्थके रूपमें समुज्ज्वल करके रक्खे।

मनुष्य सदिच्छासे प्रेरित होकर सदुपायोंसे धनोपार्जन करके उस धनको सत्यकी सेवामें लगाकर (अर्थात् उस धनसे मानवोचित कर्तव्य करके) सुखरूप सत्यमयी स्थितिको पा जाता है। मनुष्यके जीवन व्यापार प्रत्येक क्षण सत्याश्रित रहें यही धर्म, अर्थ तथा कामके त्रिवर्गको पानेका अभिप्राय है। सच्चे आर्यको केवल जीवन धारण करनेके लिये ही अर्थोपार्जन नहीं करना है किन्तु उसे इसलिये अर्थोपार्जन करना है कि वह सत्यके लिये जीवित रहना चाहता है। विद्यमान व सत्यके लिये जीवित रहनेकी अवस्थाके नष्ट होते ही अर्थोपार्जन त्याग बैठता है। तब उसके सामने सत्यके लिये आत्मबलिदानकी स्थिति आ खडी होती है। सत्यके लिये जीवित रहना ही आर्योंके अर्थोपार्जनका उद्देश्य है। सत्यके लिये अर्थोपार्जन अनिवार्य रूपसे अपने व्यक्तिगत सुखका साधन न बनकर समाजके सार्वजनिक सुखका साधन बन जाता है। यही सत्यके लिये अर्थोपार्जन ही आदर्श राष्ट्रकी आधारशिला है।

अथ चाणक्य–सूत्राणामकारादिक्रम–सूची

आ

॥ शिवमस्तु ॥

चाणक्यसूत्राणिकी शीर्षक सूची

शीर्षक सूची	पृष्ठ

शीर्षक सूची	पृष्ठ

शीर्षक सूची	पृष्ठ
अनुभवीके सत्संगसे लाभ	१५६
दुष्टोंका नीच स्वभाव	१५८
बुद्धिमानका कृतज्ञ स्वभाव, पापियोंकी निर्लज्जता	१५९
उत्साहके लाभ	१६१
विक्रम ही राजधन, आलस्यसे विनाश	१६४
पुरुषार्थीका कर्तव्य, विश्वासके अपात्र	१६६
कार्यसिद्धमें वैरीका सहयोग हानिकारक	१६७
वैरी विश्वासका अपात्र	१६८
संबन्धका आधार	१६९
शत्रुको मित्रतासे ठगनेकी अवधि, शत्रुको असहाय छोड देनेका समय	१७१
शत्रुको बलवान दीखनेके आयोजन करो	१७२
शत्रुका स्वभाव, अधीन शत्रुका विश्वास मूढता, राजकर्मचारियोंके दुराचार रोकना राजाका स्वहितकारी कर्तव्य	१७३
एक कर्मचारीके पापसे संपूर्ण राजव्यवस्था दूषित	१७३
सदाचार शत्रुविजयका अमोघ साधन	१७५
नीचोंका स्वभाव	१७६
नीचको समझाना अकर्तव्य, नीचका विश्वास अकर्तव्य	१७७
नीच स्वभाव	१७८
अपमान करना अकर्तव्य	१७९
निरपराधोंको कष्ट मत दो	१८१
अपमान सहनेवालोंपर अत्याचार मत करो	१८४
मन्त्रसभामें निर्बुद्धिको मत बैठाओ	१८८
परिणामसे हितबुद्धि पहचानो	१८९
ऐश्वर्यका फल	१९०
मूढोंका दानक्लेश	१९२
बडेसे बडा ऐश्वर्य असंयमीको नहीं बचा सकता	१९३
क्षुद्र सदा त्याज्य	१९५
संसर्गके अयोग्य, दुष्टोंके गुण भी दोष, सच्ची बुद्धि	१९६
मित भोजनका परिणाम	१९७
नीरोग रहनेका उपाय	१९९
वार्धक्यमें व्याधिकी उपेक्षा अकर्तव्य, अजीर्णमें भोजनकी हानि	२०१
व्याधिकी हानिकारकता, दानकी मात्राका आधार	२०२
अनुचित घनिष्ठता बढानेवालोंसे सावधान रहो, लोभसे हानि	२०४
अनेक कर्तव्योंमेंसे एक छांटनेका आधार	२०५

शीर्षक सूची	पृष्ठ

शीर्षक सूची	पृष्ठ

शीर्षक सूची	पृष्ठ
ब्रह्मज्ञान ब्राह्मणोंका अलंकार	३२९
कर्तव्यपालन मानवमात्रका अहंकार	३३०
अलंकारोंका भी अलंकार	३३१
भुजबलसे निरुपद्रव बनाये देशमें रहो	३३३
सच्चा देश	३३४
राजनियम श्रद्धासे पालो	३३५
राजा राष्ट्रभरसे धर्मपालन करानेवाला जीवित देवता	३३६
राजशक्तिका व्यापक कर्मक्षेत्र	३३७
राजदर्शनका आचार	३३८
गुरुदर्शन तथा देवदर्शनका आचार	३४०
राजाके पारिवारिकोंका सत्कार	३४१
राजपरिषत्की गतिविधिसे परिचित रहो	३४२
राजधन अग्राह्य, पिताका स्वर्ग	३४३
सन्तानके प्रति पिताका कर्तव्य	३४४
ग्रामीण स्वार्थके बलिदानकी स्थिति	३४५
कौटुम्बिक स्वार्थके बलिदानकी स्थिति, पुत्रत्यागकी स्थिति, सर्वत्यागकी स्थिति	३४६
गुणवान् पुत्रके लाभकी प्रशंसा	३४८
सच्चा पुत्र	३५०
सच्चा पुरुष	३५२
सुपुत्र विना सुखकी असंभवता, भार्यात्वकी सफलता	३५३
ब्रह्मचर्यविनाशकी स्थिति	३५४

शीर्षक सूची	पृष्ठ
पत्नीत्वका सदुपयोग	३५७
विनाशका पूर्वचिन्ह, सुखदुःख जीवनकी अनिवार्य स्थिति	३५८
सुखदुःख स्वोत्पादित	३५९
साधुका उपकारकके प्रति आत्मविक्रय	३६१
अपात्रका उपकार अकर्तव्य	३६३
अनार्यकी अकृतज्ञताका कारण	३६४
उपकारकके प्रति साधुकी कर्तव्यशीलता, देवापमान अकर्तव्य	३६५
घटनास्थलके प्रत्यक्ष दर्शनका महत्व	३६६
सार्वजनिक जलोंके प्रति कर्तव्य	३६८
नग्नता असामाजिक स्थिति, ज्ञान देहोत्पादक समाजके अनुसार	३६९
वैभवकी भलाई बुराई बुद्धिपर निर्भर	३७१
क्रोधके उत्तरमें क्रोध मत करो, जितेन्द्रिय समाजके मूल्यवान् धन	३७३
परदाराभिगामी समाजकी शान्तिका शत्रु, अन्नदानका माहात्म्य	३७४
धर्मका मूलाधार	३७६
धर्मद्रोह अकर्तव्य	३७७
स्वर्गका साधन	३७८